श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

(आलोचनात्मक भूमिका तथा आशुबोधिनी हिन्दी व्याख्या
एवं आवश्यक टिप्पणियों सहित)

भूमिकालेखक एवं व्याख्याकार—
आचार्य-डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री
रीडर तथा अध्यक्ष
स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग
श्री मु० म० टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया

प्रकाशक:—
भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर
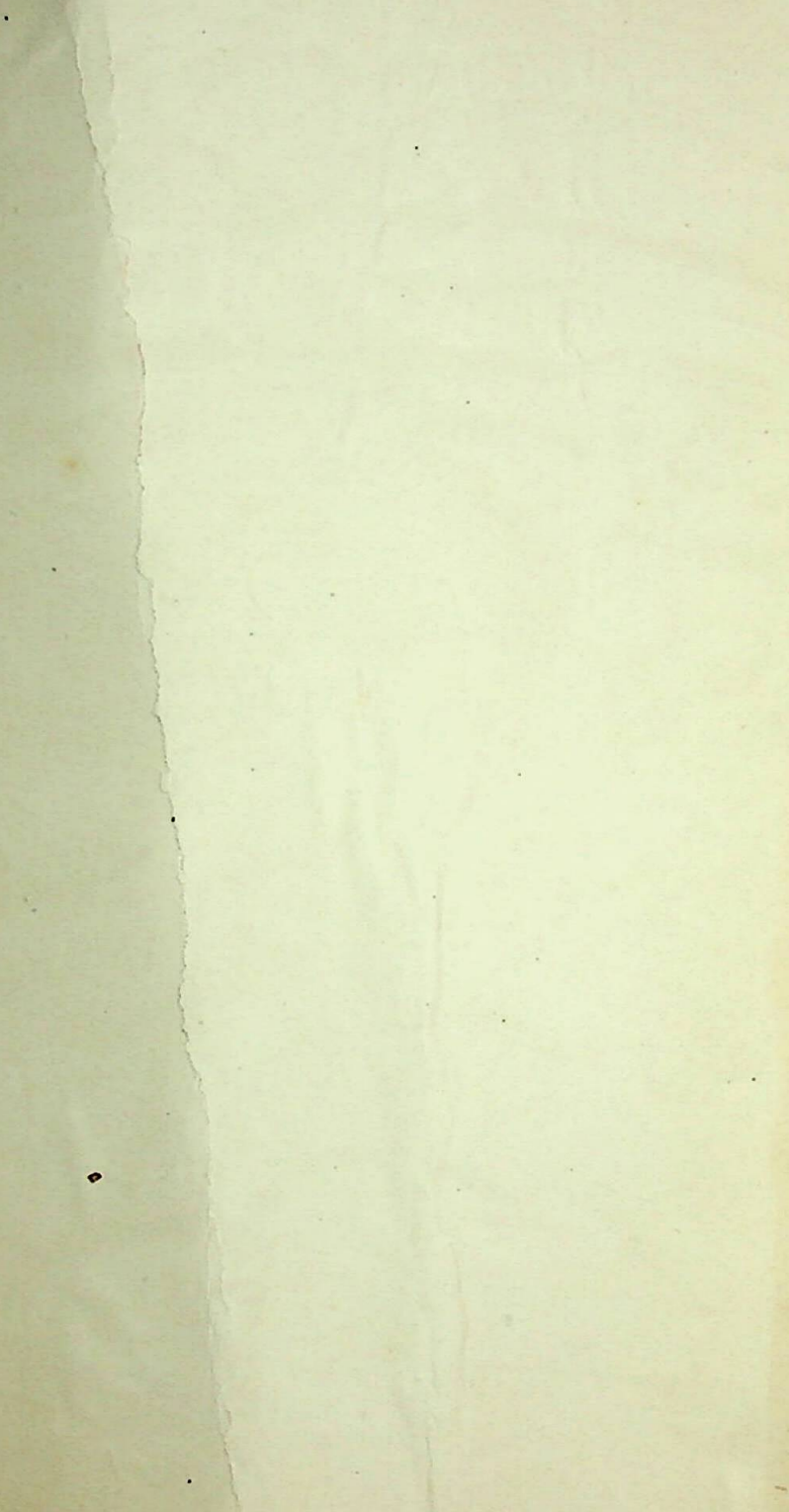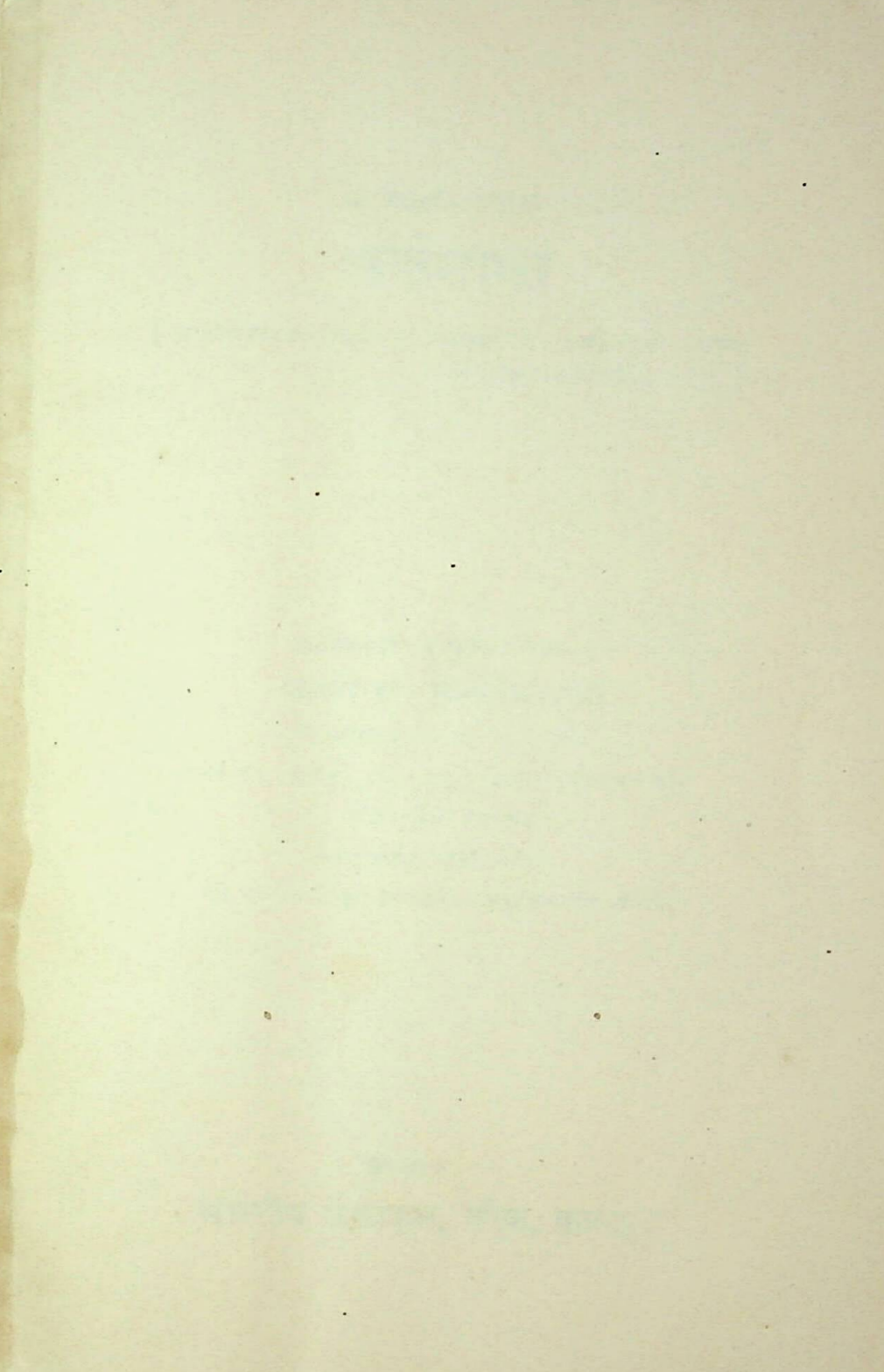
श्री केशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

[आलोचनात्मक भूमिका तथा "आशुबोधिनी" नामक हिन्दी व्याख्या
—एवं आवश्यक टिप्पणियों सहित]

व्याख्याकार एवं भूमिका लेखक—

आचार्य डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

'शिरोमणि', बी० ए० एम० एस०,

एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (हिन्दी), पी-एच० डी०

रीडर तथा अध्यक्ष

स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग

श्री मु० म० टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया

प्रकाशक :—

भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर

प्रकाशक :—

भारतीय प्रकाशन

चौक, कानपुर

मूल्य—[illegible] रुपये

प्रथम संस्करण—१९७६

मुद्रक :—

नर्मदा प्रेस

ए. २/७९, त्रिलोचनघाट, वाराणसी।

प्राक्कथन

यह तो सर्वविदित ही है कि हमारी राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' है। विश्व की अन्य समृद्ध भाषाओं के सदृश अपनी इस भाषा को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाना हम भारतवासियों का महान् कर्त्तव्य है। इसका प्रमुख साधन है भाषा के साहित्यिक-भंडार को सर्वाङ्गपूर्ण एवं वैभवशाली तथा लोकप्रिय बनाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जो प्रयत्न चल रहे हैं वह तो प्रशंसनीय हैं ही; साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी देवभाषा-संस्कृत के साहित्यिक वैभव को हिन्दीभाषा के माध्यम से समाज के समक्ष सुन्दररूप में प्रस्तुत करें। इसी बात को ध्यान में रखते हुए संस्कृत-साहित्य एवं दर्शन के कुछ उच्चश्रेणी के ग्रन्थों पर विस्तृत हिन्दी व्याख्याओं को लिखने के लिए मेरे अनेक विद्वान् मित्रों द्वारा मुझे विवश किया गया। परिणामस्वरूप अब तक ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, अभिज्ञानशाकुन्तल, कुमारसंभव, (पंचमसर्ग), रघुवंश (द्वितीय सर्ग), नैषधचरित (प्रथमसर्ग), विश्रुतचरित, चन्द्रलोक (पंचममयूख) तथा शिशुपालवध (प्रथमसर्ग) नामक ग्रन्थों पर आलोचनात्मक भूमिकाओं सहित विस्तृत हिन्दी व्याख्यायें लिखी जा चुकी हैं। साथ ही काव्यमीमांसा, अभिज्ञानशाकुन्तल एक अध्ययन, मुद्राराक्षस की आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका संस्कृत रचना भाग–१, वैदिक साहित्य का इतिहास (प्रश्नोत्तर रूप में) तथा नाट्यकला की दृष्टि से महाकवि कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन (मेरा अपना शोध-प्रबन्ध) नामक मौलिकग्रन्थों की रचना भी की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास आदि मौलिक ग्रन्थ और वेणीसंहार नाटक की विस्तृत हिन्दी व्याख्या भी शीघ्र ही प्रेस में जाने को है। आज इस "तर्कभाषा" नामक न्यायशास्त्रीय दार्शनिक-ग्रन्थ की विशद हिन्दी व्याख्या आप सभी के बीच प्रस्तुत है। इस पुनीत कार्य के लिए मैं अपने विद्वान मित्रों का चिर ऋणी रहूँगा।

यद्यपि इस छोटे से ग्रन्थ पर लगभग १५–२० व्याख्यात्मक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। मेरे परमपूज्य गुरुदेव आचार्य विश्वेश्वर ने भी इसकी विस्तृत व्याख्या लिखकर हम सभी को लाभान्वित किया है। किन्तु फिर भी मेरे विद्वान् मित्रों का मुझसे वारंबार अनुरोध था कि मैं इस 'तर्कभाषा' पर भी

विस्तृत व्याख्या लिखूँ। यद्यपि मैंने उनसे कहा कि मेरे गुरुदेव नें ही इसकी व्याख्या लिखने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। अतएव इस ग्रन्थ की व्याख्या लिखना एक प्रकार से पिष्टपेषण ही होगा किन्तु फिर भी उनका अनुरोध था कि आप अपनी शैली में इसकी और भी अधिक विस्तृत व्याख्या लिखने का कष्ट कीजिए। मैं अपने शुभचिन्तक मित्रों के अनुरोध को ठुकरा न सका। परिणाम स्वरूप उक्त ग्रन्थ की विशद व्याख्या आपके समक्ष प्रस्तुत है।

गतवर्ष ४ जुलाई १९७५ को मेरे मध्यमपुत्र प्रिय विश्वमित्र का २७ वर्ष की अल्पायु में एक आकस्मिक दुर्घटना के कारण अचानक ही देहावसान हो गया था जिसके कारण मेरा मन सत्र के प्रारम्भ से ही अत्यन्त क्षुब्ध, दुःखी तथा शोकसंतप्त था और मेरी इच्छा न थी मैं तर्कभाषा जैसे गम्भीर ग्रन्थ पर अपनी लेखनी का प्रयोग करूँ। किन्तु मेरे मित्रों तथा हितैषियों ने सदैव यही कहा कि उक्त ग्रन्थ पर लेखनी का प्रयोग होने से आपके मन को शान्ति प्राप्त होगी। अतः इसे अवश्य लिखें और उसी अपने दिवंगत पुत्र को इस पुस्तक को समर्पित भी कर दें। मुझे विवश होकर तदनुसार करना ही पड़ा।

इस पुस्तक की व्याख्या लिखने में मुझे अनेक विद्वानों एवं आचार्यों द्वारा लिखित अनेक व्याख्या-ग्रन्थों आदि का आश्रय लेना पड़ा है। एतदर्थं मैं उन सभी लेखकों के प्रति अपना हार्दिक आभार तथा कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मुझे अपने विचारशील एवं अध्ययनशील मित्रों पर पूर्ण विश्वास है कि वे इसमें विद्यमान न्यूनताओं से मुझे अवगत कराने की अनुकम्पा अवश्य करेंगे ताकि उनका समाधान भी मेरे द्वारा आगामी संस्करण में किया जा सके। साथ ही मेरा उनसे यह अनुरोध भी है कि वे इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यदि किसी नूतन भाव अथवा विचार आदि को इसमें समाविष्ट कराने की आवश्यकता समझते हों तो उसमें भी मुझे सूचित करने का कष्ट करें। उनके द्वारा प्राप्त सुझावों, प्रेरणाओं आदि के लिए मैं सदैव उनका कृतज्ञ रहूँगा।

यदि इस नवीन व्याख्या से विभूषित यह ग्रन्थ इसके अध्येताओं द्वारा आदर एवं सन्तोष का भाजन बन सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

नागपञ्चमी — विनीत

३१-७-७६ — **सुरेन्द्रदेव शास्त्री**

———

विद्वान् लेखक

आचार्य डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

"तर्कभाषा तथा 'आशुबोधिनी' व्याख्या की सूची"

पृष्ठ

❀ तर्कभाषा तथा 'आशुबोधिनी' व्याख्या की सूची समाप्त ❀

समर्पण

स्वकीय दूरदर्शी, मितभाषी, सत्यवादी,
होनहार, समझदार, व्यवहार-कुशल
मातृपितृभक्त
प्रभुभक्त
आत्मज—
प्रिय विश्वमित्र को सस्नेह समर्पित
कि जो २७ वर्ष की अल्पायु में, अकाल में
ही सहसा कालकवलित कर लिया गया।

सुरेन्द्रदेव शास्त्री
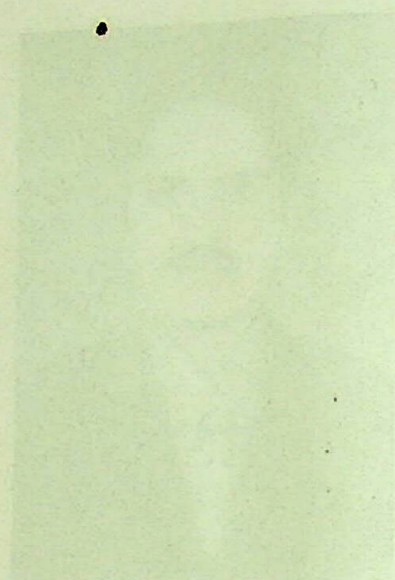
श्री केशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

की

भूमिका

भारतवर्ष सृष्टि के प्रारम्भ से ही ज्ञान-प्रधान देश रहा है। शास्त्रीय-दृष्टि से यहाँ के ऋषियों तथा ज्ञानप्रेमी सज्जनों ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को ही सर्वदा प्रधानता प्रदान की है। ऐसी ज्ञान-प्रधान विद्याओं में "अन्वीक्षिकी" नाम की विद्या का स्थान सर्वप्रथम आता है। इस अन्वीक्षिकी के सम्बन्ध में न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र के वात्स्यायनकृत भाष्य में उद्धृत की गयी निम्नलिखित उक्ति सर्वथा सत्य ही प्रतीत होती है :—

"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रमः सर्वधर्माणां सेयमन्वीक्षिकी मता॥"

इस 'अन्वीक्षिकी' को सभी विद्याओं का प्रकाशक, सभी प्रकार के कर्मों का साधक तथा सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय कहा गया है।

प्रत्यक्षदृष्ट तथा शास्त्रश्रुत विषयों के तात्विक स्वरूप को अवगत कराने वाली विद्या को ही 'अन्वीक्षिकी' नाम से कहा जाता है। इसी विद्या को दूसरे शब्दों में न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र नाम से पुकारा गया है, जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा भी है :—

"प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी–न्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्" [न्याय प्रथमसूत्र भाष्य]।

न्याय तथा न्यायप्रणाली के आधार पर अन्य विषयों का प्रतिपादन किये जाने से अन्वीक्षिकी को न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र कहा गया है।

वात्स्यायन के अनुसार 'न्याय' मानवीय-विचारों की उस प्रणाली का नाम है कि जिसमें वस्तुतत्व के निर्धारण हेतु सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है—"प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः"।

न्यायशास्त्र का आदिग्रन्थ है—न्यायसूत्र, जिसे न्यायदर्शन नाम से पुकारा जाता है। यह महर्षि गौतम की निजी कृति है कि जिसका निर्माण

सांसारिक त्रिविध दुःखों से पीड़ित प्राणिवर्ग के कल्याणार्थ किया गया था।

किसी विषय को लेकर पवित्र जिज्ञासाभाव से अथवा जय-पराजय की इच्छा से विद्वान् पुरुषों के मध्य जो परस्पर शास्त्रचर्चा हुआ करती है उस ही के क्रमशः नाम हैं "वाद" और "जल्प"। इन्हीं वाद और जल्प अथवा शास्त्रचर्चा के स्वरूप को परिष्कृत, नियमित तथा परिमार्जित करने में ही न्यायशास्त्र की सम्पूर्ण शक्ति व्यय हुयी है। इसके अतिरिक्त न्यायशास्त्र का जो अवशिष्ट अंश रह जाता है वह शरीर आदि से व्यतिरिक्त नित्य 'आत्मा' की सत्ता को सिद्ध करने में व्यय हुआ है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय दो ही बनते हैं। इन दोनों प्रतिपाद्य विषयों में एक साध्य अथवा प्रतिपाद्य है और दूसरा है साधक अथवा प्रतिपादक। इन दोनों में भी शरीर आदि से व्यतिरिक्त नित्य 'आत्मा' की सत्ता सिद्ध करना ही न्यायशास्त्र अथवा न्यायदर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

दर्शन शब्द 'दृश्' (देखना) धातु से निष्पन्न होता है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाता है अथवा साक्षात्कार किया जाता है उसी का नाम दर्शन है। इन दर्शनों के अध्ययन से साधक-पुरुष आत्म-साक्षात्कार अथवा परमात्मा का साक्षात्कार किया करता है। अतः इन न्याय आदि शास्त्रों को 'दर्शन' नाम से भी कहा जाता है।

दर्शन को 'जीवन की व्याख्या' कहा जा सकता है। जीवन के सभी पहलुओं के साथ 'दर्शन' का सम्बन्ध है। जीवन से सम्बन्धित किसी ज्ञान-विज्ञान को दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दर्शन जीवन को सुखी एवं कल्याणमय बनाने का उपाय भी प्रस्तुत करता है। वह मानव-जीवन के लक्ष्यीभूत चतुर्थ पुरुषर्थ (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु साधनों को भी बतलाता है।

अतएव यह कहा जाना उपयुक्त ही है कि दर्शन सम्पूर्ण मानव-जाति की सामान्य-सम्पत्ति है।

न्यायदर्शन अथवा न्यायशास्त्र के दो युग—

रचना की दृष्टि से न्यायशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक भाग के अन्तर्गत मूल सूत्र आते हैं तथा द्वितीय भाग में भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका आदि का समावेश होता है। प्रत्येक भाग के निर्माण में शताब्दियाँ लगी हैं। भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका आदि तो पृथक्-पृथक् ग्रन्थ हैं। अतः नइके ऊपर तो शताब्दियों का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता

है। किन्तु 'मूलसूत्र' तो पृथक्-पृथक् ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं। वह तो एक ही ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। अतः उस पर शताब्दियों का प्रभाव सरलता से देखा नहीं जा सकता है। फिर भी जिन संघर्षों में होकर न्यायसूत्रों को अन्तिम स्वरूप प्राप्त हो सका है उनका प्रभाव छिपाया नहीं जा सकता है।

(१) साध्यप्रधान युग—

नित्य-आत्मा के अस्तित्व को स्थापित करना ही उपनिषदों का ध्येय रहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगभग उपनिषद्काल के आस-पास ही न्यायशास्त्र का भी सूत्रपात हुआ होगा। अतएव न्यायशास्त्र के इस काल को 'साध्यप्रधान' अथवा 'अध्यात्मप्रधान' युग के नाम से कहा जा सकता है। इस युग में पूर्ण जिज्ञासाभाव के साथ शङ्का-समाधान किया जाया करता था। इसमें जय अथवा पराजय की भावना नहीं रहा करती थी। जिज्ञासु जन श्रद्धापूर्वक, समित्पाणि होकर, जिज्ञासाभाव के साथ आत्मतत्त्ववेत्ता ऋषियों के आश्रम में उपस्थित हुआ करते थे। इस प्रकार के अनेक प्रसङ्गों की चर्चा उपनिषदों में उपलब्ध होती है। ऋषिगण भी अपने सम्पूर्ण अनुभवों को अत्यधिक प्रेमभाव के साथ उन जिज्ञासुओं के हृदयों में उड़ेल दिया करते थे। यदि एक बार में उक्त विषय को नहीं समझ पाते थे तो दूसरे दिन उस विषय को दूसरे प्रकार से तथा तीसरे दिन तीसरे प्रकार से समझाया जाता था। आत्मतत्त्व के ज्ञान को प्राप्त करना ही एकमात्र उद्देश्य था। चाहे उसकी प्रक्रिया किसी भी प्रकार की रही हो—

"यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा।।"

यह था प्राचीनन्याय का प्रथम युग कि जिसे 'साध्यप्रधानयुग' के नाम से कहा गया है।

(२) साधनप्रधान युग—

प्रथमयुग के पश्चात् आत्मवाद के साथ ही साथ अनात्मवाद का भी श्रीगणेश हुआ। आत्मा तथा अनात्मा से सम्बन्धित यह विवाद जब स्पष्टरूप से पक्ष-प्रतिपक्ष रूप में सामने आया और उसके साथ ही वादी एवं प्रतिवादी की जय अथवा पराजय की भावना का पुट लगा तो उसने एक नवीन युग का रूप धारण कर लिया। अल्पकाल में ही वाद-विवाद की इस कला ने एक स्वतन्त्र-शास्त्र का रूप धारण कर लिया। परिणामस्वरूप उनके लिए स्वतन्त्र परिभाषाओं तथा स्वतन्त्र नियमों का भी निर्माण किया गया।

परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन नैयायिकों की दृष्टि में आत्मतत्व-विवेचन रूप न्यायशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य-विषय तो पीछे रह गया और साध्य के स्थान पर साधन के निर्माण में ही सम्पूर्ण शक्ति लग गयी। इस नवीन-युग की भावनाओं के मध्य सुसंस्कृत होकर न्यायशास्त्र जिस रूप में हम लोगों के समीप आया उसी को वर्त्तमान समय में 'न्यायदर्शन' नाम से कहा जाता है। इसमें साध्य की अपेक्षा साधन पर तथा प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण पर अधिक बल दिया गया है। अतएव इस युग को 'साधनप्रधान-युग' कहना उपयुक्त ही है।

इस प्रकार न्यायशास्त्र के उपर्युक्त दो रूपों को दो नामों से कहा गया है। प्राचीन-न्यायशास्त्र के लिए "अन्वीक्षिकी" शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में विशेषरूप से उपलब्ध होता है। यह 'अन्वीक्षिकी' शब्द न्याय-शास्त्र के 'साध्यप्रधानयुग' की भावना को ही अभिव्यक्त करता है। अन्वीक्षिकी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वयं भाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है—

"प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा,
तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्" ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष (योगि-प्रत्यक्ष) तथा आगम (आप्त-वचन) द्वारा पूर्णरूपेण ज्ञात अर्थ (आत्मतत्व) का (युक्तियों द्वारा सांसारिक लोगों के) ज्ञान प्राप्त करने का ही नाम 'अन्वीक्षा' है। इस अन्वीक्षण के आधार पर प्रवृत्त हुयी विद्या का नाम आन्वीक्षिकी अथवा न्यायशास्त्र पड़ा।

'अन्वीक्षिकी' शब्द के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त (अन्वीक्षिकी) शब्द के अभ्यन्तर आत्मतत्व के निरीक्षण सम्बन्धी भावना पूर्णरूपेण ओतप्रोत है। अतएव यह शब्द 'साध्यप्रधानयुग' की भावना को ही अभिव्यक्त करता है।

उपर्युक्त 'अन्वीक्षिकी' शब्द के अतिरिक्त न्यायशास्त्र के वादविद्या, तर्कविद्या आदि अन्य नाम भी मनुस्मृति, स्कन्दपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। किन्तु ये सभी नाम न्यायशास्त्र के "साधनप्रधानयुग" के ही परिचायक है। स्वयं "न्याय" शब्द भी 'साधनप्रधान-युग' का ही परिचायक प्रतीत होता है। जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन ने 'न्याय' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा भी है—

"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"।

न्यायशास्त्र के प्रणेता—

न्यायशास्त्र के प्रणेता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। क्योंकि संस्कृत-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में न्यायशास्त्र के प्रणेता के बारे में विभिन्न नामों से उल्लेख प्राप्त होता है।

(१) पद्मपुराण[1] स्कन्दपुराण[2], नैषधचरित[3], गान्धर्वतन्त्र[4] तथा विश्वनाथ-वृत्ति[5] आदि ग्रन्थों में न्यायशास्त्र के प्रणेता के रूप में महर्षि गौतम का नाम उपलब्ध होता है।

(२) इसके विपरीत न्यायभाष्य[6], न्यायवार्तिक[7], न्यायवार्तिक[8]तात्पर्य-टीका तथा न्यायमंजरी[9] आदि न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों में 'न्यायशास्त्र' को 'अक्षपाद' की कृति बतलाया गया है।

---

१. "कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। गौतमेन तथा न्यायं, सांख्यन्तु कपिलेन वै"॥ (पद्मपु०, उत्तरखण्ड अ० २६३)।

२. "गौतमः स्वेन तर्केण खण्डयन् तत्र तत्र हि॥"
(स्कन्दपु०, कालिका खण्ड, अ० १७ ॥)।

३. "मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥" नैषध सर्ग १९ ॥

४. गौतमप्रोक्तशास्त्रार्थनिरताः सर्व एव हि।
शार्गालीं योनिमापन्नाः सन्दिग्धाः सर्वकर्मसु॥"
(गान्धर्वतन्त्र-प्राणतोषिणीतन्त्र में उद्धृत)

५. "एषा प्रवरगोतमसूत्र वृत्तिः, श्री विश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजचञ्चरीक-श्रीमच्छिरोमणिवचः प्रचयैरकारि॥"
(न्यायसूत्र, विश्वनाथवृत्ति)

६. "योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्त्तयत्॥"
(न्यायभाष्य, विजयनगरम्-संस्कृतसीरीज)

७. "यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥"
(न्यायवार्तिक)

८. "अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयस हेतौ शास्त्रे प्रणीते... इत्यादि"
(न्या० वा० तात्पर्यटीका)

९. अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः॥" (न्यायमञ्जरी प्रथम परि०)।

(३) महाकविभास द्वारा रचित 'प्रतिमानाटक' में न्यायशास्त्र के प्रणेता के रूप में "मेधातिथि"[1] का नाम उपलब्ध होता है।

इस प्रकार न्यायशास्त्रके प्रणेता के सम्बन्ध में तीन नाम उपस्थित होते हैं (१) गौतम (२) अक्षपाद और (३) मेधातिथि।

यदि उपर्युक्त तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हों तब तो इसकी प्रामाणिकता को ही सिद्ध कर देना है। यदि तीनों व्यक्ति भिन्न-भिन्न हों तो यह निर्णय करना कठिन ही होगा कि न्यायशास्त्र का रचयिता कौन है? इस जटिल प्रश्न के समाधान में महाभारत के निम्नलिखित वचन से पर्याप्त सहायता मिलती है :—

"मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ।।

महाभा०, शान्तिपर्व अध्याय २६५–४५ ।।

उपर्युक्त श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि गौतम और मेधातिथि——दो नाम नहीं हैं–ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं इनमें से एक शब्द तो वंश का बतलाने वाला है और दूसरा नाम का बोधक है। किन्तु अक्षपाद और गौतम को एक मानकर समस्या का हल किया जाना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यह मान लेना ही उचित होगा कि न्यायशास्त्र में क्रमिकविकास में गौतम तथा अक्षपाद—दोनों का महत्वपूर्ण भाग रहा होगा। जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि प्राचीन 'न्याय' के विकास में आत्मप्रधान (साध्यप्रधान) और तर्कप्रधान (साधनप्रधान) दो युग स्पष्टरूप से प्रतीत होते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में यह मान लिया जाय कि साध्यप्रधान अथवा प्रमेयप्रधान अथवा अध्यात्मप्रधान युग के निर्माता गौतम हुये होंगे और प्रमाणप्रधान (साधनप्रधान) युग के प्रवर्त्तक 'अक्षपाद। वर्तमान काल में उपलब्ध न्यायसूत्रों में प्रमेय का प्राधान्य न होकर प्रमाण का ही प्राधान्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह अक्षपाद द्वारा किये हुए प्रतिसंस्कार का ही परिणाम है। इससे पूर्व गौतम द्वारा निर्मित न्यायसूत्र उपनिषदों के समान प्रमेयप्रधान ही था। अतः हो सकता है कि अध्यात्म ज्ञानरूप उपनिषदों से न्याय विद्या को पृथक करने हेतु ही अक्षपाद ने उसको

१. भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये। मानवीयं धर्मशास्त्रं; माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च ।।" (प्रतिमानाटक-पंचम अङ्क)

प्रमाणप्रधान बनाया हो। अतः यह कहा जाना अनुपयुक्त न होगा कि प्राचीन न्याय का निर्माण महर्षि गौतम और अक्षपाद इन दोनों महापुरुषों के प्रयत्न का ही सम्मिलित परिणाम है।

अथवा यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो कि जिसने न्यायशास्त्र के रचयिता को एक स्थान पर गौतम नाम से तथा अन्यत्र अक्षपाद नाम से अभिहित किया हो। तो ऐसे व्यक्ति वाचस्पति मिश्र हैं कि जिन्होंने न्यायशास्त्र के रचयिता को उक्त दोनों नामों से अभिहित किया है। न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका के आरम्भ में उन्होंने लिखा है :—

"अथ भगवता अक्षपादेन निश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते"—इत्यादि वाक्य से निश्रेयस (मोक्ष) के हेतुभूत न्यायशास्त्र को अक्षपाद-प्रणीत कहा है तथा "न्यायसूत्री निबन्ध" में—

"यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
श्रीगौतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥
संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ।
एतस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः॥"

उपर्युक्त वाक्य के द्वारा न्यायशास्त्र को गौतममुनि की चिरन्तन सुन्दर-वाणी (सुगवी) कहा है।

अतएव इस आधार पर यह मानना होगा कि उक्त दोनों नामों में से 'गौतम' यह उनका स्वाभाविक नाम था तथा 'अक्षपाद' यह औपाधिक नाम।

प्राचीन-न्याय-साहित्य

यद्यपि यह निश्चितरूप से कह सकना संभव नहीं है कि 'न्यायशास्त्र' का प्रारम्भ कब से हुआ किन्तु फिर भी गोल्डस्टकर तथा उसके आधारभूत पाणिनि-सूत्रों के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि न्यायशास्त्र निश्चितरूप से पाणिनि से पूर्व का है। न्यायशास्त्र सम्बन्धी सर्वाधिक प्राचीनग्रन्थ 'न्यायसूत्र' ही है। परन्तु वर्त्तमान युग में प्राप्त 'न्यायसूत्र' को देखकर यह कह सकना संभव नहीं है कि 'न्यायसूत्र' ठीक इसी रूप में पाणिनि से पूर्व भी रहा होगा। इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि जिनसे विदित होता है कि 'न्यायसूत्रों' के अनेक सूत्र ऐसे हैं कि जिन्हें अत्यन्त आधुनिककालीन कहा जा सकता है। जिन सूत्रों के द्वारा बौद्ध-सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है उनको तो बौद्धकाल के पश्चात् का ही मानना होगा। कुछ सूत्रों को उदाहरणार्थ देखिये :—

माध्यमिक सूत्र

न संभवः स्वभावस्य युक्तः प्रत्यय हेतुभिः।
स्वभावः कृतको नाम भविष्यति पुनः कथम् ॥
माध्यमिकसूत्र अ० १५ पृ० ९३

न्यायसूत्र

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वाद्।
व्याहत्वादयुक्तम्।
न्यायसूत्र अ०, ४, १, ३९-४० इत्यादि।

इस विषय पर भलीभाँति विचार करने पर परिणाम यही निकलता है कि 'न्यायसूत्रों' की रचना किसी एक काल में नहीं हुयी। सर्वप्रथम आचार्य गौतम द्वारा अध्यात्म-प्रधान न्यायसूत्रों की रचना की गयी। इसके अनन्तर अध्यात्मप्रधान उपनिषद्-विद्या से न्यायविद्या को पृथक करने की दृष्टि से तथा न्यायसूत्र के प्रमेय-प्रधान स्वरूप के स्थान पर प्रमाण-प्रधान स्वरूप को लाने की दृष्टि से उसका परिवर्तित स्वरूप सामने आया। पुनः बौद्ध-काल में उनमें कुछ प्रक्षेप और परिवर्धन आदि होकर 'न्यायशास्त्र' का वर्त्तमान स्वरूप निर्मित हुआ।

"न्यायसूत्रों" के पश्चात् न्यायशास्त्र का दूसरा पुरानाग्रन्थ 'वात्स्यायन-भाष्य' है जिसका रचना-काल ४०० विक्रमी (जैकोवी के आधार पर ३०० तथा अन्य आलोचकों के अनुसार ४०० वि०) के आसपास का स्वीकार किया गया है। ४०० विक्रमी से लेकर १००० विक्रमी तक के ६०० सौ वर्षों के समय में न्यायशास्त्र सम्बन्धी जिस महान् साहित्य की रचना हुयी उस सम्पूर्ण न्याय-साहित्य का आधार ग्रन्थ 'न्यायसूत्र' तथा 'वात्स्यायन-भाष्य' ही है। अन्य जो कुछ भी एतत्सम्बन्धी साहित्य रचा गया वह सभी या तो इन्हीं ग्रन्थों के समर्थन में अथवा इन्हीं की टीका-प्रटीका आदि के रूप में लिखा गया है। अतः इस सभी साहित्य को "प्राचीन-न्याय-साहित्य' नाम से पुकारा जाता है।

यद्यपि १००० विक्रमी के पश्चात् भी उक्त प्राचीन न्याय-साहित्य का निर्माण तो १७ वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में चलता तो अवश्य रहा किन्तु किसी मौलिक-ग्रन्थ की रचना नहीं की जा सकी। इस काल में भी प्रायः न्याय-सूत्रों की टीका-प्रटीका ही लिखी जाती रही। अतः ४०० विक्रमी से १००० विक्रमी तक जिस न्यायसाहित्य का निर्माण हुआ उसे अवश्य ही महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

(१) भाष्यकार वात्स्यायन—

प्राचीन न्याय के आचार्यों में प्रमुख स्थान 'वात्स्यायन' का ही है। इन्होंने गौतम के न्यायसूत्र पर एक भाष्य की रचना की है जिसे 'न्यायभाष्य' तथा 'वात्स्यायन-भाष्य' नामों से कहा जाता है। यह अत्यन्त उच्चकोटि का भाष्य है जिसे सभी टीकाकारों ने अपना आधार बनाया है तथा पश्चाद् भावी सभी विद्वानों ने स्वीकार भी किया है।

ये 'वात्स्यायन' कौन हैं यह भी एक विवादपूर्ण प्रश्न है। यद्यपि न्याय-भाष्यकार ने स्वयं अपने को 'वात्स्यायन' नाम से निर्दिष्ट किया है :—

"योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरः।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्त्तयत्॥"

वार्तिककार 'भारद्वाज' द्वारा भी अपने 'न्यायवार्तिक' ग्रन्थ के अन्त में उक्त नाम से ही न्यायाभाष्यकार को स्मरण किया गया है—

"यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्॥"

वाचस्पतिमिश्र द्वारा भी "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" के आरम्भ में भाष्यकार वात्स्यायन को "पक्षिलस्वामी" के नाम से निर्दिष्ट किया गया है—

"अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थं वार्तिकारम्भः" ?

हेमचन्द्र (जैन) ने तो अपने ग्रन्थ "अभिधानचिन्तामणि" के मर्त्यं-काण्ड में भाष्यकार वात्स्यायन के आठ नामों का निर्देश किया है—

"वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥"

इसके अनुसार तो वात्स्यायन, मल्लनाग, चाणक्य, चणकात्मज आदि आठों नाम एक ही व्यक्ति के प्रतीत होते हैं। साथ ही यह द्रविड़देशवासी भी प्रतीत होता है जिसकी राजधानी काञ्जीपुर (वर्तमान काञ्चीवरम्) थी। इसी दृष्टि से उसके नामों में 'द्रामिल' भी एक नाम है साथ ही 'पक्षिल-स्वामी' नाम भी उस ही देशवासी का नाम प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त स्वयं वात्स्यायन ने न्यायदर्शन के २।१।४०वें सूत्र में उदाहरणरूप में भात बनाने का वर्णन किया है जो कि उक्त देश का विशिष्ट भोजन है। इन सभी बातों से यह सिद्ध होता है कि वात्स्यायन द्रविड़ देशवासी ही थे।

इसी प्रकार पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेषकोश, ब्रह्मवर्ग में निम्नलिखित वचन उपलब्ध होता है जिससे उपर्युक्त नामों में से अधिकांश नामों आदि की पुष्टि होती है—

"विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रामिलोंऽशुकः।
वात्स्यायनो मल्लिनागपक्षिलस्वामिनावपि ॥"

'अभिधानचिन्तामणि' में उल्लिखित नामों में 'कौटिल्य' और 'चणकात्मज' यह दो नाम भी हैं। आर्य चाणक्य का नाम तो भारतीय इतिहास में नन्दवंश के उन्मूलक तथा मौर्यसाम्राज्य के संस्थापक के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। "कौटिल्य" भी उन्हीं का दूसरा नाम है। अब यदि 'अभिधानचिन्तामणि' के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जायं कि उक्त आठों नाम एक ही व्यक्ति के हैं तब तो यह स्वीकार करना ही होगा कि आर्य चाणक्य ही वात्स्यायन नाम से न्यायशास्त्र के भाष्यकर्त्ता हैं।

इसकी पुष्टि निम्नलिखित उद्धरण से भी होती है :—

"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥"

यह श्लोक वात्स्यायनभाष्य के प्रथमसूत्र के अन्त में आर्य चाणक्य द्वारा निर्मित "कौटिल्य अर्थशास्त्र" नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। अतः यह उपर्युक्त बात का ही पोषक है।

कामशास्त्र के आधारभूत कामसूत्र के रचयिता भी 'वात्स्यायन' ही माने जाते हैं। अतः यदि 'अभिधानचिन्तामणि' के आठों नाम एक ही व्यक्ति के स्वीकार कर लिये जाँय तो यह भी स्वीकार करना होगा कि "न्यायभाष्य", "कौटिल्य अर्थशास्त्र" तथा "कामसूत्र" तीनों के निर्माता एक ही हैं।

किन्तु श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण इत्यादि कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं।

वात्स्यायन का काल—

यद्यपि वात्स्यायन के काल के सम्बन्ध में कोई ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है कि जिसके आधार पर उनके समय के बारे में कोई निश्चित बात कही जा सके, किन्तु फिर भी निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर उनके काल के बारे में एक धारणा तो बनाई ही जा सकती है :—

५०० विक्रम-संवत् के आसपास विद्यमान रहने वाले प्रसिद्ध बौद्ध-दार्शनिक "दिङ्नाग" ने अपनी रचना "प्रमाणसमुच्चय" में 'वात्स्यायन-भाष्य' के अनेक अंशों की आलोचना तथा खंडन किया है। इससे इतना तो निश्चित

हो ही जाता है कि वात्स्यायन' दिङ्नाग से पूर्ववर्ती अर्थात् ५०० विक्रम-संवत् से पहले ही हुये होंगे।

दूसरे प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिक हैं—'वसुबन्धु' जिनका काल ४८० विक्रमसंवत् स्वीकार किया गया है। उन्होंने अनुमान सम्बन्धी जिस प्रणाली तथा उसके अवयवों का जो निरूपण किया है वह प्रणाली 'वात्स्यायन भाष्य' में प्रदर्शित प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। यह निश्चित है कि यदि यह प्रणाली वात्स्यायन के समय में विद्यमान रही होती तो वे उसकी आलोचना अवश्य ही करते। इससे भी यह निश्चित हो जाता है कि वात्स्यायन'वसुबन्धु'के भी पूर्ववर्ती हैं।

इसके साथ ही, जैसा कि पहले लिखा भी जा चुका है, यह भी कहा जा सकता है कि न्यायसूत्रों में अनेक ऐसे (प्रक्षिप्त) सूत्र हैं जिनमें बौद्ध-सिद्धान्तों का निर्देश किया गया है तथा 'माध्यमिक-सूत्र' और 'लङ्कावतार' ही जिनका आधार है। अतः 'वात्स्यायन' का समय उक्त ग्रन्थों के पश्चात् का ही स्वीकार करना होगा।

इसके अतिरिक्त अभी हम "भाष्यकार वात्स्यायन" शीर्षक प्रसङ्ग में "प्रदीपः सर्वविद्यानाम्" इत्यादि उद्धरण उद्धृत कर चुके हैं। यह श्लोक चाणक्य निर्मित अर्थशास्त्र का श्लोक है। ऐतिहासिक विद्वानों ने चाणक्य का समय ३०० वि० सं० स्वीकार किया है। अतः न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का समय चतुर्थशताब्दी वि० सं० स्वीकार किया जाना उपयुक्त ही होगा।

इसी प्रकार न्यायदर्शन ५।२।१० सूत्र में उपलभ्यमान "दशदाडिमानि, षडपूपा." यह वाक्य द्वितीय शती में विद्यमान पतञ्जलि के महाभाष्य का वाक्य है। इस आधार पर भी वात्स्यायन का काल तृतीय शताब्दी अथवा चतुर्थ शताब्दी का प्रारम्भिक काल स्वीकार किया जा सकता है।

इनके पश्चात् प्राचीन न्याय-साहित्य के प्रणेताओं में वार्तिककार श्रीउद्योतकर, श्रीवाचस्पतिमिश्र, श्रीउदयनाचार्य आदि अनेक आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनकी संक्षिप्त तालिका यह है :—

ग्रन्थनाम	रचयिता	समय
न्यायसूत्र	गौतम	(अनिर्णीत)
टीकाएँ—		
१. न्यायभाष्य	वात्स्यायन	३०० ई०
२. न्यायवार्तिक	उद्योतकर	६३५ ,,
३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र	८४० ,,
४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका-परिशुद्धि	उदयनाचार्य	९८४ ,,

५. न्यायमंजरी	जयन्त भट्ट	१०००ई०
६. न्यायनिबन्धप्रकाश	वर्धमान	१२२५ ,,
७. न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ	×
८. न्यायसूत्रोद्धार	वाचस्पतिमिश्र (द्वितीय)	१४५० ,,
९. न्यायरहस्य	रामभद्र	१६३० ,,
१०. न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम	१७०० ,,
११. न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ	१६३४ ,,
१२. न्यायसंक्षेप	गोविन्द खन्ना	१६ ० ,,

मध्य-न्याय-साहित्य

प्राचीन-न्याय-साहित्य का परिचय अभी संक्षेप में दिया जा चुका है। नव्य न्याय का परिचय भी आगे देना ही है। इन दोनों के मध्य में न्याय-साहित्य का एक स्तर और आ जाता है कि जिसे 'मध्य-न्याय' का नाम दिया जा सकता है। इसको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) बौद्ध-न्याय और (२) जैन-न्याय। बौद्ध और जैन दोनों ही भारतवर्ष के दो प्रसिद्ध धर्म हैं। इनका प्रारम्भ ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हुआ था, ऐसा ऐतिहासिकों द्वारा स्वीकार किया जाता है।

बौद्ध-न्याय का प्रारम्भ विक्रम की पञ्चम शताब्दी में आचार्य दिङ्नाग (४५०-५२०) से तथा जैन-न्याय का प्रारम्भ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (४८०-५५०) से माना जाता है। इनसे पूर्व उपर्युक्त दोनों धर्मों का लगभग एक हजार वर्षों से भी अधिक का इतिहास है। इस दीर्घकाल में दोनों धर्मों के दार्शनिक प्रगति पर्याप्त मात्रा में हुयी। इस बीच बौद्धधर्म में सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक तथा योगाचार नाम से चार दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हो चुका था तथा नागार्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु सदृश दार्शनिक यहाँ उत्पन्न हो चुके थे। इसी भाँति जैनधर्म में भी उपास्वाति सदृश महान् दार्शनिकों द्वारा "तत्वार्थाधिगम सूत्र" जैसे प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की जा चुकी थी। वस्तुतः यह इन दोनों धर्मों का प्रमेयप्रधान-युग था। इसका कारण था महात्मा बुद्ध तथा महावीर स्वामी द्वारा संचालित दोनों धर्मों का प्रमेयप्रधान होना। अतः प्रारम्भिक एक हजार वर्षों के काल में बौद्ध-न्याय अथवा जैन-न्याय की पृथकरूपेण उपलब्धि हमें होती है। विक्रम की पञ्जम शताब्दी में आकर बौद्धों में आचार्य दिङ्नाग ने "प्रमाण-समुच्चय" ग्रन्थ और जैनों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने "न्यायावतार"

नामक ग्रन्थ की रचनाकर क्रमशः 'बौद्धन्याय' तथा 'जैनन्याय' के स्वतन्त्र-स्वरूप को जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी कारण आचार्य दिङ्नाग तथा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर को क्रमशः बौद्धन्याय एवं जैनन्याय का जन्मदाता अथवा प्रवर्त्तक स्वीकार किया जाता है।

बौद्धन्याय के निर्माता आचार्यों में दिङ्नाग के पश्चात् आचार्य परमार्थ, शङ्करस्वामी, धर्मपाल, शीलभद्र, धर्मकीर्ति आदि ३३-३४ आचार्यों का नाम आता है जिन्होंने या तो न्यायशास्त्र पर भाष्य किया अथवा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया।

इसी प्रकार जैन-न्याय के निर्माता आचार्यों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के पश्चात् आचार्य जिनभद्र गणी, सिद्धसेन गणी, समन्तभद्र, अकलङ्कदेव, विद्यानन्द आदि ३७-३८ आचार्यों का नाम आता है कि जिन्होंने या तो न्यायशास्त्र पर टीकाग्रन्थों का निर्माण किया अथवा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर जैनधर्मावलम्बियों को न्यायसम्बन्धी सिद्धान्तों से अवगत कराया।

इस बौद्ध तथा जैन न्याय सम्बन्धी साहित्य की गणना "मध्य-न्याय" के अन्तर्गत की गयी है।

नव्य-न्याय

(भारतवर्ष में) बौद्ध-धर्म के पतन के पश्चात् भारतीय इतिहास का एक नवीन-युग प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पूर्णरूपेण पड़ा। भारतीय-संस्कृति के अङ्गभूत दर्शन भी इस प्रभाव से बच न सके। परिणाम यह हुआ कि दार्शनिक-क्षेत्र के एक भाग न्याय-साहित्य के निर्माण में भी उसने एक नवीन प्रकार का परिवर्त्तन ही उत्पन्न कर दिया। दशम तथा एकादश शताब्दियों के काल को तो उक्त परिवर्त्तन का संक्रमणकाल ही कहा जाता है। इस काल में निर्माण होने वाले न्याय-साहित्य की शैली ही बदल गयी। परिणामस्वरूप १२ बारहवीं शताब्दी में अत्यधिक परिवर्त्तन आ गया। इसी कारण इस काल में उद्भूत न्याय-साहित्य को "नव्यन्याय" शब्द द्वारा कहा जाने लगा।

इस 'नव्य-न्याय' की दो प्रमुख विशेषतायें हैं कि जो उसे प्राचीन-न्याय से पृथक् करती हैं। इन दोनों प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम प्राचीन न्याय-साहित्य का अतिसंक्षिप्तस्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दें ताकि उनको नव्यन्याय की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के समझने में किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न करना पड़े।

प्राचीन न्याय का सम्पूर्ण-साहित्य सूत्रों पर ही आधारित है। तत्कालीन ग्रन्थों में या तो साक्षात् रूप से गौतमकृत सूत्रों की व्याख्या की गयी अथवा उन सूत्रों के भाष्य की टीका-प्रटीका की गयी। साथ ही सूत्रों के क्रम का आश्रय लेकर उनमें प्रतिपादित पदार्थों को सूत्रनिर्माता की भावनाओं के अनुसार ही समझाने का प्रयास किया गया। प्राचीन युगीन न्यायसाहित्य के ही अङ्गभूत मध्यन्याय-काल में बौद्धों के खण्डन में विस्तृत न्याय-साहित्य का निर्माण हुआ किन्तु (उदयनकृत "न्यायकुसुमाञ्जलि" तथा "आत्मतत्व-विवेक" को छोड़कर) सबका समावेश सूत्रक्रम के अनुसार की जाने वाली व्याख्या-पद्धति के अभ्यन्तर ही रहा। इस काल में सूत्रों का त्याग कर स्वतन्त्र-ग्रन्थ निर्माण की पद्धति का जन्म नहीं हो सका था।

नव्य-न्याय की प्रथम प्रमुख विशेषता—

यह है कि उसमें प्राचीन सूत्र-पद्धति की उपेक्षा की गई है तथा स्वतन्त्ररूप से ग्रन्थों का निर्माण किया गया है। [यह बात केवल 'न्याय' के ही सम्बन्ध में ही नहीं कही जा सकती है। इस पद्धति का प्रभाव तो व्यवहार आदि शास्त्रों में भी, जिस साहित्य का निर्माण इस काल में किया गया, उस पर स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण आज हमें 'नवीन व्याकरण', प्राचीन व्याकरण' तथा 'नवीन वेदान्त' 'प्राचीन देदान्त' आदि भेद उपलब्ध होते हैं।]।

द्वितीय-विशेषता—

यह है कि पदार्थों के महत्व में अपेक्षित परिवर्त्तन कर दिया गया है। न्याय में वर्णित सोलह पदार्थों में से जिनका महत्व प्राचीन पद्धति में अधिक था, उनका महत्व नव्य-न्याय की नवीन पद्धति अति स्वल्प हो गया है तथा जिनका महत्व स्वल्प था, नवीन-पद्धति में उनका महत्व अत्यधिक हो गया है। जैसे कि—प्राचीन न्याय में सम्पूर्ण पंचम अध्याय केवल 'जाति' और 'निग्रहस्थान' इन दो पदार्थों के वर्णन से ही भरा पड़ा है; किन्तु नव्य न्याय में उनका वर्णन केवल नाममात्र को ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन न्याय में अवयवों आदि का वर्णन स्वल्पमात्रा में ही उपलब्ध होता है तथा नव्यन्याय में उनका वर्णन अधिक विस्तार के साथ उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के अतिरिक्त 'नव्यन्याय' की एक तृतीय-विशेषता भी है और वह है—"प्रकरण ग्रन्थों की रचना"। 'प्रकरण-ग्रन्थ' एक पारिभाषिक शब्द है। इसका लक्षण है :—

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।।"

अर्थात् जो शास्त्र के एक अंश (भाग) का प्रतिपादन करने वाले तथा आवश्यकतानुसार ग्रन्यशास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ के भेद को 'प्रकरण-ग्रन्थ' कहा जाता है ।

'नव्य न्याय' की उपर्युक्त पद्धति में अनेक प्रकरण-ग्रन्थों की रचना हुयी है । इन प्रकरण-ग्रन्थों को निम्नलिखित चार भागों (अथवा प्रकारों) में विभक्त किया जा.सकता है :—

(i) प्रथम प्रकार के प्रकरणग्रन्थ वे हैं कि जिनमें केवल एक 'प्रमाण' नामक पदार्थ का ही निरूपण किया गया है । साथ ही अवशिष्ट १५ पदार्थों का उस ही में अन्तर्भाव कर दिया गया है। ऐसे ग्रन्थों में श्री 'भासर्वज्ञ' (१००० ई०) का 'न्यायसार' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है । 'भासर्वज्ञ' संभवतः कश्मीर के निवासी थे तथा एक अच्छे दार्शनिक भी थे ।

केवल 'प्रमाण' पदार्थ के निरूपण की यह शैली बौद्ध-न्याय-साहित्य से ली गयी होगी । उक्त शैली को अपनाकर 'भासर्वज्ञ' ने प्रचलित पद्धति के अनुसार ही न्याय के पदार्थों का प्रतिपादन कर दिया है । उन्होंने केवल प्राचीन-न्याय-पद्धति को ही परिवर्तित नहीं किया है, न्याय के अनेक सिद्धान्तों को भी परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है । उदाहरणार्थ प्रमाण पदार्थ के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन भेद ही प्रस्तुत किये हैं जब कि न्याय में इन तीन के अतिरिक्त उपमान को भी प्रमाण का एक चतुर्थ भेद स्वीकार किया गया है । 'भासर्वज्ञ' कृत प्रमाणों का यह विभाजन सांख्य और जैन सिद्धान्त से अधिक मिलता-जुलता है क्योंकि उन्होने भी प्रमाणों के तीन ही भेद स्वीकार किये हैं ।

नव्यन्याय की पद्धति पर आधारित उक्त ग्रन्थ की रचना दशम-शताब्दी में हुयी तथा इस ग्रन्थ ने अपने अनुरूप सम्मान को भी प्राप्त किया । इस ग्रन्थ की १८ टीकायें लिखी गयीं ।

(ii) द्वितीय प्रकार के 'प्रकरणग्रन्थ' वे हैं कि जो प्रधानरूप से न्याय के ग्रन्थ होते हुये भी वैशेषिक-दर्शन के पदार्थों का भी समावेश कर लेते हैं। ऐसे ग्रन्थों में 'श्रीवरदराज' की "तार्किकरक्षा" तथा केशवमिश्र की "तर्कभाषा" की गणना की जा सकती है । इन दोनों लेखकों ने न्याय के सोलह पदार्थों का वर्णन किया है । साथ ही 'वैशेषिक' के द्रव्यादि पदार्थों

का अन्तर्भाव न्याय के 'प्रमेय' नामक पदार्थ में कर लिया है। उक्त दोनों लेखकों का समय क्रमशः— लगभग ११५० तथा १२७५ है।

(iii) तृतीय प्रकार के प्रकरणग्रन्थ वे हैं कि जिनमें प्रधानरूप से वैशेषिक के पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है किन्तु उनमें न्यायदर्शन के 'प्रमाण' पदार्थ का भी पूर्णरूपेण समावेश हो गया है। इनमें कुछ प्रकरणग्रन्थ ऐसे हैं कि जिनमें 'प्रमाण' का अन्तर्भाव 'वैशेषिक' के 'गुण' प्रकरण में कर लिया गया है तथा कुछ प्रकरणग्रन्थ इस प्रकार के हैं कि जिनमें 'प्रमाण' का अन्तर्भाव 'आत्मा' नामक द्रव्य के प्रकरण में कर लिया गया है। न्याय तथा वैशेषिक के पदार्थों को उपर्युक्तरूप में सम्मिलितकर प्रतिपादन करने की शैली का श्रीगणेश श्रीउदयन के पश्चात् विशेषरूप से हुआ। आचार्य उदयन ने अपनी "लक्षणावली" नामक कृति में वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों का वर्णन किया है। इसमें न्याय के 'प्रमाण'नामक पदार्थ का वर्णन नहीं है। इससे पहले केवल प्रशस्तपाद भाष्य में ही प्रमाण नामक पदार्थ का भी निरूपण उपलब्ध होता है। इस तृतीय प्रकार के प्रकरणग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थों की गणना की जा सकती है :—

(i) वल्लभाचार्य (१२ वीं शताब्दी) की "न्यायलीलावती"।

(ii) अन्नंभट्ट (१६२३) का "तर्कसंग्रह"।

(iii) विश्वनाथ न्यायपंचानन (१६३४) का "भाषापरिच्छेद"।

(iv) जगदीश तर्कालङ्कार (१७ वीं शती) का "तर्कामृत"।

(v) लौगाक्षिभास्कर (१७ वीं शती) का "तर्ककौमुदी"।

(iv) चतुर्थ प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं कि जिनमें कुछ तो न्याय-दर्शन के तथा कुछ में वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 'शशधर' (द्वादश शती) का "न्यायसिद्धान्तप्रदीप" नामक ग्रन्थ आता है। इसमें न्याय और वैशेषिक के विषयों का पूर्णरूपेण वर्णन न कर उन दोनों के कुछ प्रमुख विषयों का ही वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत माधवाचार्य (चतुर्दश शती) की रचना "सर्वदर्शन-संग्रह" की भी गणना की जा सकती है।

नव्य-न्याय-पद्धति के प्रवर्त्तक श्री गङ्गेशोपाध्याय—

श्री गङ्गेश अथवा गङ्गेशोपाध्याय ही नव्य-न्याय के प्रवर्त्तक अथवा जन्मदाता हैं। इन्होंने "तत्वचिन्तामणि" जैसे ग्रन्थ की रचना की थी। इनका काल १२०० ई० के लगभग स्वीकार किया गया है। नव्यन्याय के साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान 'तत्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ को ही

प्राप्त है। इस ग्रन्थ को ही नव्यन्याय का आधारभूत ग्रन्थ माना जाता है। न्यायशास्त्र के इतिहास में इस ही ग्रन्थ ने वस्तुतः एक नवीनयुग को जन्म दिया है। इस ग्रन्थ में केवल चार खण्ड ही है तथा प्रत्येक खण्ड में १-१ प्रमाण का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस भाँति इसमें न्याय-अभिमत प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों का निरूपण है।

यह कथन पूर्णरूपेण सत्य है कि १२ वीं शती से आज तक न्यायशास्त्र का जो संस्कार, परिष्कार तथा विस्तार हुआ है तथा उक्त अवधि में संस्कृत-वाङ्मय की अन्य शाखाओं के ग्रन्थों में जो नवीनता और विचार सम्बन्धी गम्भीरता पाई जाती है उस सभी का श्रेय 'श्री गङ्गेशोपाध्याय' द्वारा रचित ग्रन्थ "तत्वचिन्तामणि" को ही है।

नवीन तथा प्रामाणिक सिद्धान्तों की स्थापना के कारण ही इनको "सिद्धान्तदीक्षागुरु" कहा जाता था।

प्रकरण-ग्रन्थों सम्बन्धी उक्त प्रकरण में हमने प्रायः न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया है। साथ ही दोनों के पदार्थों आदि का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। अतः यह आवश्यक है कि दोनों दर्शनों के जो मान्य सिद्धान्त हैं उनमें क्या-क्या समानता है तथा क्या-क्या असमानता है? इसका भी संक्षेप में यहाँ उल्लेख कर दिया जाय। इससे पाठकों को प्रकरण सम्बन्धी विशेषताओं को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

न्याय तथा वैशेषिक के मान्य-सिद्धान्तों की समानता—

श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'भारतीयदर्शनशास्त्र' में लिखा है कि" न्याय के दार्शनिक-सिद्धान्त बहुत अंश तक वैशेषिक से लिये गये हैं किन्तु न्याय का अपना मुख्य विषय प्रमाण-निरूपण है"। इस बारे में कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि "वैशेषिक के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये ही न्याय का उद्भव हुआ होगा।"

इन उपर्युक्त कथनों से यही ध्वनि निकलती है कि दोनों के मान्य-सिद्धान्तों में अत्यधिक समानता है। दोनों ही दर्शन वस्तुवादी हैं। दोनों ही जड़ जगत् तथा आत्मा (जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही) की सत्ता को स्वीकार करते हैं। जड़ जगत् में पृथ्वी आदि चारों को परमाणुरूप तथा कार्य रूप दोनों ही प्रकार का माना गया है। साथ ही परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हुये उससे द्व्यणुक आदि के क्रम से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम भी स्वीकार किया गया है।

प्राचीन न्याय का सम्पूर्ण-साहित्य सूत्रों पर ही आधारित है। तत्कालीन ग्रन्थों में या तो साक्षात् रूप से गौतमकृत सूत्रों की व्याख्या की गयी अथवा उन सूत्रों के भाष्य की टीका-प्रटीका की गयी। साथ ही सूत्रों के क्रम का आश्रय लेकर उनमें प्रतिपादित पदार्थों को सूत्रनिर्माता की भावनाओं के अनुसार ही समझाने का प्रयास किया गया। प्राचीन युगीन न्यायसाहित्य के ही अङ्गभूत मध्यन्याय-काल में बौद्धों के खण्डन में विस्तृत न्याय-साहित्य का निर्माण हुआ किन्तु (उदयनकृत "न्यायकुसुमाञ्जलि" तथा "आत्मतत्व-विवेक" को छोड़कर) सबका समावेश सूत्रक्रम के अनुसार की जाने वाली व्याख्या-पद्धति के अभ्यन्तर ही रहा। इस काल में सूत्रों का त्याग कर स्वतन्त्र-ग्रन्थ निर्माण की पद्धति का जन्म नहीं हो सका था।

नव्य-न्याय की प्रथम प्रमुख विशेषता—

यह है कि उसमें प्राचीन सूत्र-पद्धति की उपेक्षा की गई है तथा स्वतन्त्ररूप से ग्रन्थों का निर्माण किया गया है। [यह बात केवल 'न्याय' के ही सम्बन्ध में ही नहीं कही जा सकती है। इस पद्धति का प्रभाव तो व्यवहार आदि शास्त्रों में भी, जिस साहित्य का निर्माण इस काल में किया गया, उस पर स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण आज हमें 'नवीन व्याकरण', प्राचीन व्याकरण' तथा 'नवीन वेदान्त' 'प्राचीन वेदान्त' आदि भेद उपलब्ध होते हैं।]।

द्वितीय-विशेषता—

यह है कि पदार्थों के महत्व में अपेक्षित परिवर्त्तन कर दिया गया है। न्याय में वर्णित सोलह पदार्थों में से जिनका महत्व प्राचीन पद्धति में अधिक था, उनका महत्व नव्य-न्याय की नवीन पद्धति अति स्वल्प हो गया है तथा जिनका महत्व स्वल्प था, नवीन-पद्धति में उनका महत्व अत्यधिक हो गया है। जैसे कि—प्राचीन न्याय में सम्पूर्ण पंचम अध्याय केवल 'जाति' और 'निग्रहस्थान' इन दो पदार्थों के वर्णन से ही भरा पड़ा है; किन्तु नव्य न्याय में उनका वर्णन केवल नाममात्र को ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन न्याय में अवयवों आदि का वर्णन स्वल्पमात्रा में ही उपलब्ध होता है तथा नव्यन्याय में उनका वर्णन अधिक विस्तार के साथ उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के अतिरिक्त 'नव्यन्याय' की एक तृतीय-विशेषता भी है और वह है—"प्रकरण ग्रन्थों की रचना"। 'प्रकरण-ग्रन्थ' एक पारिभाषिक शब्द है। इसका लक्षण है :—

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥"

अर्थात् जो शास्त्र के एक अंश (भाग) का प्रतिपादन करने वाले तथा आवश्यकतानुसार अन्यशास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ के भेद को 'प्रकरण-ग्रन्थ' कहा जाता है।

'नव्य न्याय' की उपर्युक्त पद्धति में अनेक प्रकरण-ग्रन्थों की रचना हुयी है। इन प्रकरण-ग्रन्थों को निम्नलिखित चार भागों (अथवा प्रकारों) में विभक्त किया जा सकता है :—

(i) प्रथम प्रकार के प्रकरणग्रन्थ वे हैं कि जिनमें केवल एक 'प्रमाण' नामक पदार्थ का ही निरूपण किया गया है। साथ ही अवशिष्ट १५ पदार्थों का उस ही में अन्तर्भाव कर दिया गया है। ऐसे ग्रन्थों में श्री 'भासर्वज्ञ' (१००० ई०) का 'न्यायसार' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। 'भासर्वज्ञ' संभवतः कश्मीर के निवासी थे तथा एक अच्छे दार्शनिक भी थे।

केवल 'प्रमाण' पदार्थ के निरूपण की यह शैली बौद्ध-न्याय-साहित्य से ली गयी होगी। उक्त शैली को अपनाकर 'भासर्वज्ञ' ने प्रचलित पद्धति के अनुसार ही न्याय के पदार्थों का प्रतिपादन कर दिया है। उन्होंने केवल प्राचीन-न्याय-पद्धति को ही परिवर्तित नहीं किया है; न्याय के अनेक सिद्धान्तों को भी परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ प्रमाण पदार्थ के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन भेद ही प्रस्तुत किये हैं जब कि न्याय में इन तीन के अतिरिक्त उपमान को भी प्रमाण का एक चतुर्थ भेद स्वीकार किया गया है। 'भासर्वज्ञ' कृत प्रमाणों का यह विभाजन सांख्य और जैन सिद्धान्त से अधिक मिलता-जुलता है क्योंकि उन्होने भी प्रमाणों के तीन ही भेद स्वीकार किये हैं।

नव्यन्याय की पद्धति पर आधारित उक्त ग्रन्थ की रचना दशम-शताब्दी में हुयी तथा इस ग्रन्थ ने अपने अनुरूप सम्मान को भी प्राप्त किया। इस ग्रन्थ की १८ टीकायें लिखी गयीं।

(ii) द्वितीय प्रकार के 'प्रकरणग्रन्थ' वे हैं कि जो प्रधानरूप से न्याय के ग्रन्थ होते हुये भी वैशेषिक-दर्शन के पदार्थों का भी समावेश कर लेते हैं। ऐसे ग्रन्थों में 'श्रीवरदराज' की "तार्किकरक्षा" तथा केशवमिश्र की "तर्कभाषा" की गणना की जा सकती है। इन दोनों लेखकों ने न्याय के सोलह पदार्थों का वर्णन किया है। साथ ही 'वैशेषिक' के द्रव्यादि पदार्थों

का अन्तर्भाव न्याय के 'प्रमेय' नामक पदार्थं में कर लिया है। उक्त दोनों लेखकों का समय क्रमशः—लगभग ११५० तथा १२७५ है।

(iii) तृतीय प्रकार के प्रकरणग्रन्थ वे हैं कि जिनमें प्रधानरूप से वैशेषिक के पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है किन्तु उनमें न्यायदर्शन के 'प्रमाण' पदार्थ का भी पूर्णरूपेण समावेश हो गया है। इनमें कुछ प्रकरणग्रन्थ ऐसे हैं कि जिनमें 'प्रमाण' का अन्तर्भाव 'वैशेषिक' के 'गुण' प्रकरण में कर लिया गया है तथा कुछ प्रकरणग्रन्थ इस प्रकार के हैं कि जिनमें 'प्रमाण' का अन्तर्भाव 'आत्मा' नामक द्रव्य के प्रकरण में कर लिया गया है। न्याय तथा वैशेषिक के पदार्थों को उपर्युक्तरूप में सम्मिलितकर प्रतिपादन करने की शैली का श्रीगणेश श्रीउदयन के पश्चात् विशेषरूप से हुआ। आचार्य उदयन ने अपनी "लक्षणावली" नामक कृति में वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों का वर्णन किया है। इसमें न्याय के 'प्रमाण'नामक पदार्थ का वर्णन नहीं है। इससे पहले केवल प्रशस्तापाद भाष्य में ही प्रमाण नामक पदार्थ का भी निरूपण उपलब्ध होता है। इस तृतीय प्रकार के प्रकरणग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थों की गणना की जा सकती है :—

(i) वल्लभाचार्य (१२ वीं शताब्दी) की "न्यायलीलावती"।

(ii) अन्नंभट्ट (१६२३) का "तर्कसंग्रह"।

(iii) विश्वनाथ न्यायपंचानन (१६३४) का "भाषापरिच्छेद"।

(iv) जगदीश तर्कालङ्कार (१७ वीं शती) का "तर्कामृत"।

(v) लौगाक्षिभास्कर (१७ वीं शती) का "तर्ककौमुदी"।

(iv) चतुर्थ प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं कि जिनमें कुछ तो न्याय-दर्शन के तथा कुछ में वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 'शशधर' (द्वादश शती) का "न्यायसिद्धान्तप्रदीप" नामक ग्रन्थ आता है। इसमें न्याय और वैशेषिक के विषयों का पूर्णरूपेण वर्णन न कर उन दोनों के कुछ प्रमुख विषयों का ही वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत माधवाचार्य (चतुर्दश शती) की रचना "सर्वदर्शन-संग्रह" की भी गणना की जा सकती है।

नव्य-न्याय-पद्धति के प्रवर्त्तक श्री गङ्गेशोपाध्याय—

श्री गङ्गेश अथवा गङ्गेशोपाध्याय ही नव्य-न्याय के प्रवर्त्तक अथवा जन्मदाता हैं। इन्होंने "तत्वचिन्तामणि" जैसे ग्रन्थ की रचना की थी। इनका काल १२०० ई० के लगभग स्वीकार किया गया है। नव्यन्याय के साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान 'तत्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ को ही

प्राप्त है। इस ग्रन्थ को ही नव्यन्याय का आधारभूत ग्रन्थ माना जाता है। न्यायशास्त्र के इतिहास में इस ही ग्रन्थ ने वस्तुतः एक नवीनयुग को जन्म दिया है। इस ग्रन्थ में केवल चार खण्ड ही है तथा प्रत्येक खण्ड में १-१ प्रमाण का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस भाँति इसमें न्याय-अभिमत प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों का निरूपण है।

यह कथन पूर्णरूपेण सत्य है कि १२ वीं शती से आज तक न्यायशास्त्र का जो संस्कार, परिष्कार तथा विस्तार हुआ है तथा उक्त अवधि में संस्कृत-वाङ्मय की अन्य शाखाओं के ग्रन्थों में जो नवीनता और विचार सम्बन्धी गम्भीरता पाई जाती है उस सभी का श्रेय 'श्री गङ्गेशोपाध्याय' द्वारा रचित ग्रन्थ "तत्वचिन्तामणि" को ही है।

नवीन तथा प्रामाणिक सिद्धान्तों की स्थापना के कारण ही इनको "सिद्धान्तदीक्षागुरु" कहा जाता था।

प्रकरण-ग्रन्थों सम्बन्धी उक्त प्रकरण में हमने प्रायः न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया है। साथ ही दोनों के पदार्थों आदि का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। अतः यह आवश्यक है कि दोनों दर्शनों के जो मान्य सिद्धान्त हैं उनमें क्या-क्या समानता है तथा क्या-क्या असमानता है? इसका भी संक्षेप में यहाँ उल्लेख कर दिया जाय। इससे पाठकों को प्रकरण सम्बन्धी विशेषताओं को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

न्याय तथा वैशेषिक के मान्य-सिद्धान्तों की समानता—

श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'भारतीयदर्शनशास्त्र' में लिखा है कि" न्याय के दार्शनिक-सिद्धान्त बहुत अंश तक वैशेषिक से लिये गये हैं किन्तु न्याय का अपना मुख्य विषय प्रमाण-निरूपण है"। इस बारे में कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि "वैशेषिक के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये ही न्याय का उद्भव हुआ होगा।"

इन उपर्युक्त कथनों से यही ध्वनि निकलती है कि दोनों के मान्य-सिद्धान्तों में अत्यधिक समानता है। दोनों ही दर्शन वस्तुवादी हैं। दोनों ही जड़ जगत् तथा आत्मा (जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही) की सत्ता को स्वीकार करते हैं। जड़ जगत् में पृथ्वी आदि चारों को परमाणुरूप तथा कार्य रूप दोनों ही प्रकार का माना गया है। साथ ही परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हुये उससे द्व्यणुक आदि के क्रम से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम भी स्वीकार किया गया है।

दोनों ही दर्शन उत्पत्ति से पूर्व कारणों में कार्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। दोनों ही में तीन प्रकार के कारणों को स्वीकार किया गया है (१) समवायि (२) असमवायि और (३) निमित्त। दोनों ही दर्शनों में शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को विभु (परम महत् परिमाण से युक्त), नित्य तथा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार किया गया है। दोनों ही दर्शन पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होना मानते हैं। दोनों के सिद्धान्तानुसार बन्ध तथा मोक्ष दोनों ही यथार्थ है। दोनों के द्वारा यह भी स्वीकार्य है कि आत्मा (जीवात्मा) के जन्म आदि का कारण अदृष्ट (धर्माधर्म) ही है। दोनों ही दर्शनों में धर्म एवं धर्मी के भेद को स्वीकार करते हुये धर्मों की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

दोनों के मान्यसिद्धान्तों सम्बन्धी असमानता—

उपरिवर्णित समानता के होने पर भी दोनों के मतों में पर्याप्त असमानता भी है। (१) न्याय में प्रमाणादि षोडशपदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति मानी गयी है तथा वैशेषिक में द्रव्य आदि ६ पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के तत्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति को माना गया है। (२) दोनों दर्शनों में पदार्थ-विवेचन सम्बन्धी क्रम भिन्न-भिन्न हैं। वैशेषिक की रूपरेखा द्रव्य आदि सप्त पदार्थों पर आधारित है तथा न्याय की प्रमाण आदि १६ पदार्थों पर। (३) न्याय के अनुसार समवाय-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हुआ करता है किन्तु वैशेषिक के मतानुसार उसका ग्रहण अनुमान द्वारा किया जाता है। (४) वैशेषिक दो नित्य तथा विभु द्रव्यों के संयोग को स्वीकार नहीं करता है किन्तु न्याय इसको स्वीकार करता है। (५) वैशेषिक दर्शन केवल दो ही प्रमाणों को स्वीकार करता है (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान। तथा अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं दो में स्वीकार करता है, जब कि न्याय चार प्रमाणों को स्वीकार करता है। (६) अनुमान के निरूपण में वैशेषिक 'हेतु' के (पक्षसत्व आदि) तीन रूपों को ही स्वीकार करता है और उस ही आधार पर तीन ही प्रकार के हेत्वाभासों को भी मानता है किन्तु न्याय में 'हेतु' के पंचरूपों को स्वीकार किया गया है और तदनुसार पाँच हेत्वाभासों को भी। (७) पाकजोत्पत्ति के सम्बन्ध में न्याय 'पिठरपाकवादी है और वैशेषिक 'पीलुपाकवादी'। इनके अतिरिक्त कुछ छोटी मोटी अन्य असमानताएं भी हैं।

'तर्कभाषा' ग्रन्थ भी एक प्रकरणग्रन्थ है—

प्रकरणग्रन्थों के चार प्रकारों के विवेचन के प्रसङ्ग में (द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत) हम यह लिख चुके हैं कि 'तर्कभाषा' भी एक प्रकरणग्रन्थ है। यह

न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय का ऐसा प्रकरणग्रन्थ है कि जिसमें न्याय के षोडश पदार्थों का ही प्राधान्य है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक में ही यह कह दिया गया है कि "बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशमल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन"— अर्थात् जो आलसी बालक थोड़े से ही अध्ययन के द्वारा न्यायशास्त्र में प्रवेश करना चाहता है। इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि लेखक (श्रीकेशव-मिश्र) का उद्देश प्रधानरूप से न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का ही विवेचन करना है। साथ ही उन्होंने न्यायाभिमत प्रमाण आदि १६ पदार्थों का क्रमिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। अतः इस पुस्तक की रूपरेखा का प्रमुख आधार न्यायशास्त्र ही है। किन्तु न्याय के 'प्रमेय' नामक पदार्थ के विवेचन में वैशेषिक के द्रव्य आदि सप्त पदार्थों का विस्तृत विवेचन तो किया ही है, साथ ही पृथिवी आदि ९ द्रव्यों, रूप आदि २४ गुणों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है। अतएव यह कहना उचित ही होगा कि केशवमिश्र द्वारा रचित 'तर्कभाषा' में प्रधानरूप से न्याय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये आनुषङ्गिक रूप से वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का भी समावेश कर लिया गया है। अतः "तर्कभाषा" को द्वितीय प्रकार की श्रेणी का प्रकरण-ग्रन्थ मानना सर्वथा उचित ही है।

तर्कभाषा नाम की तीन पुस्तकें—

तर्कभाषा नाम की तीन पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। इन तीनों के रचयिता भी तीन हैं। तथा प्रत्येक का १-१ पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय से सम्बन्ध है। बौद्ध-सम्प्रदाय सम्बन्धी 'तर्कभाषा' के लेखक 'मोक्षाकर गुप्त' (११००) हैं। जैन-सम्प्रदाय सम्बन्धी 'तर्कभाषा' के लेखक जैनविद्वान् श्री यशोविजय (१६८८ ई०) हैं। और तीसरी 'तर्कभाषा' का सम्बन्ध ब्राह्मण सम्प्रदाय से है कि जिसके लेखक श्री केशवमिश्र हैं। इस 'तर्कभाषा' की रचना, बौद्ध विद्वान् मोक्षाकर गुप्त की 'तर्कभाषा' से १७५ वर्ष पश्चात् तथा यशो-विजय की जैन 'तर्कभाषा' से लगभग चारसौ वर्ष पूर्व श्री केशवमिश्र द्वारा की गयी थी।

श्री केशवमिश्र का समय तथा परिचय—

अन्य ग्रन्थकारों के ही समान तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने भी अपना परिचय देने का कोई प्रयास नहीं किया है। उनका थोड़ा सा परिचय उनके शिष्य 'गोवर्धनमिश्र' द्वारा हमें अवश्य प्राप्त होता है। 'गोवर्धनमिश्र' ने अपने गुरु श्री केशवमिश्र की इस तर्कभाषा पर 'तर्कभाषाप्रकाश' नामक एक टीका लिखी है। टीका के प्रारम्भ में उन्होंने निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

"विजयश्रीतनूजन्मा गोवर्धन इति श्रुतः।
तर्कानुभाषां तनुते विविच्य गुरुनिर्मिताम् ॥"

इस श्लोक में गोवर्धनमिश्र ने अपना परिचय देते हुए 'तर्कभाषा' को अपने गुरु द्वारा रचित बतलाया है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि श्री केशवमिश्र, गोवर्धनमिश्र के गुरु थे। इसके आगे गोवर्धनमिश्र ने एक निम्नलिखित श्लोक और भी लिखा है कि जिसमें उन्होंने अपने गुरु केशवमिश्र का परिचय देने का प्रयास किया है—

"श्री विश्वनाथानुज-पद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
तनोति तर्कानधिगत्य सर्वान् श्री पद्मनाभाद्विदुषो विनोदम् ॥"

इस श्लोक के अनुसार श्री केशवमिश्र के पिता का नाम बलभद्र था। उनके दो बड़े भाई थे जिनके नाम क्रमशः थे—'विश्वनाथ' और 'पद्मनाभ'। 'केशवमिश्र' ने अपने बड़े भाई 'पद्मनाभ' से तर्कशास्त्र का अध्ययन कर इस तर्कभाषा की रचना की थी।

केशवमिश्र के बड़े भाई 'पद्मनाभ मिश्र' भी एक उच्चकोटि के नैयायिक विद्वान् थे उन्होंने वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य पर श्री उदयनाचार्य द्वारा लिखित 'किरणावली' नामक टीका पर 'किरणावलीप्रकाश' नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। उक्त 'किरणावली' नामक टीका पर ही 'गङ्गेशोपाध्याय के शिष्य श्री 'वर्धमानोपाध्याय' (१२५० ई०) ने भी 'किरणावली प्रकाश' नाम की ही टीका लिखी है। किन्तु 'पद्मनाभ' ने 'वर्धमानोपाध्याय' द्वारा रचित 'किरणावली-प्रकाश' की अपेक्षा स्वरचित 'किरणावलीप्रकाश' की कुछ विशेषताओं का उल्लेख अपने निम्नलिखित श्लोक में किया है—

"उपदिष्टा गुरुचरणैरस्पृष्टा वर्धमानेन।
किरणावल्यामर्थास्तन्यन्ते पद्मनाभेन ॥"

अर्थात् अपने गुरु जी द्वारा उपदिष्ट ऐसे अर्थों का कि जिनको किरणावलीप्रकाश नामक टीका के लेखक 'वर्धमानोपाध्याय' ने अपने ग्रन्थ में स्पर्श तक भी नहीं किया है उनको हम अर्थात् इस नवीन 'किरणावली-प्रकाश' नामक व्याख्या के लेखक (पद्मनाभमिश्र) अपने इस ग्रन्थ में विस्तार से लिख रहे हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि 'पद्मनाभमिश्र' या तो 'वर्धमानोपाध्याय' के समकालीन थे अथवा उनके बाद के थे। पद्मनाभमिश्र ने अपनी व्याख्या बाद में लिखी है। इससे प्रतीत होता है कि पद्मनाभमिश्र वर्धमानोपाध्याय के पश्चात् ही हुये होंगे। ऐसी स्थिति में पद्मनाभमिश्र का

समय १२५०–१२७५ ई० के मध्य अथवा उसके आस-पास का स्वीकार किया जा सकता है तथा इसी आधार पर उनके छोटे भाई श्री केशवमिश्र का भी समय १२७० से १२९० के बीच अथवा उसके आस-पास का मान लेना उचित ही है। अथवा उनका १३वीं शती के तृतीय अथवा चतुर्थ चरण में विद्यमान होना भी उचित ही जान पड़ता है।

सुरेन्द्र देव शास्त्री
एम० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी);
पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
रीडर तथा अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग
श्री यु०म०टाउन (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय,
बलिया

नागपंचमी
दिनाङ्क. ३१-७-७६

— ——

॥ ओ३म् ॥

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

उपोद्धातः

अथ श्रीमदाचार्यसुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा विरचिता
'आशुबोधिनी' हिन्दीव्याख्या ।

ग्रन्थ-प्रयोजन—

मननशील होना मनुष्य का स्वभाव है। इसी कारण वह किसी भी कार्य को करने में विचारपूर्वक प्रवृत्त हुआ करता है। जैसा कि निरुक्त ३।१।७ में कहा भी गया है—"मत्वाकर्माणि सीव्यति"। किसी कर्म में उसकी यह प्रवृत्ति "इष्टसाधनता" तथा "कृतिसाध्यता" के ज्ञान के आधार पर ही हुआ करती है। "इदं मदिष्टसाधनम्" अर्थात् यह कार्य मेरा इष्टसाधन है, इससे कर्मरूप इष्टसाधन अर्थात् 'प्रयोजन' का ज्ञान प्राप्त होगा। "इदं मत्कृतिसाध्यम्" अर्थात् यह कार्य मेरे प्रयत्नों द्वारा साध्य है। मनुष्य जब यह समझ लेता है कि मैं इस कार्य को करने में समर्थ हो सकता हूँ तभी वह उस कार्य के करने में प्रवृत्त हुआ करता है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा मनुष्य को 'विषय' 'अधिकारी' 'सम्बन्ध' तथा 'प्रयोजन' इन चारों का ज्ञान मनुष्य को प्राप्त हो जाता है। 'इदं' पद द्वारा 'विषय का, मत्, पद द्वारा 'अधिकारी' का, 'इष्ट' पद द्वारा प्रयोजन' का तथा 'साधनम्' अथवा 'साध्य' पद द्वारा सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अनुबन्धचतुष्टय :—

उपर्युक्ति इन्हीं (१) विषय (२) अधिकारी (३) प्रयोजन तथा (४) सम्बन्ध को शास्त्रकारों ने "अनुबन्धचतुष्टय" नाम से कहा है। इन्हीं चारों का ज्ञान होने से किसी कार्य (कर्म) के करने में प्रवृत्ति होती है। अतएव

जिनका ज्ञान प्राप्त होने पर किसी कार्य के करने में प्रवृत्ति हो उसी को 'अनुबन्ध' नाम से कहा गया है:—

"प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्" ।

किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन आरम्भ करते समय (१) इसके पढ़ने का अधिकारी कौन है ? (२) इसके अन्तर्गत कौन-सा विषय निबद्ध है ? (३) इसमें वर्णित विषय तथा पुस्तक का क्या सम्बन्ध है ? तथा (४) इसके अध्ययन करने का क्या प्रयोजन है ? ये चार प्रश्न उत्पन्न होते हैं । इन चारों प्रश्नों में से प्रत्येक के उत्तर को 'अनुबन्ध' तथा चारों को सम्मिलित कर देने को ही "अनुबन्धचतुष्टय" कहा जाता है । इनका वर्णन 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है:—

"तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि"

जब तक कोई भी व्यक्ति यह नहीं जान सकेगा कि अमुक ग्रन्थ का विषय क्या है ? मैं इस विषय को समझ सकता हूँ अथवा नहीं ? इसके अध्ययन करने से मुझे लाभ होगा अथवा नहीं ? तब तक उसकी प्रवृत्ति उस ग्रन्थ के अध्ययन में नहीं हो सकती है । इसी बात को ध्यान में रखते हुये "वाचस्पत्यम्" में कहा गया है।—

"ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥"

अर्थात विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध आदि का ज्ञान होने पर ही अधिकारी [श्रोता अथवा अध्ययनकर्त्ता] व्यक्ति किसी भी ग्रन्थ के श्रवण अथवा अध्ययन आदि में प्रवृत्त हुआ करता है । अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन चारों [विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन] का प्रतिपादन कर देना आवश्यक है । इसी मर्यादा का अनुसरण करते हुये तर्कभाषाकार श्री 'केशवमिश्र' ने अपने ग्रन्थ तर्कभाषा की रचना का प्रयोजन का कथन करते हुये ग्रन्थ का आरम्भ इस प्रकार किया है:—

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशं,—
अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा,
प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ॥

(यः) जो (अलसः) आलसी [कठोर परिश्रम कर सकने में असमर्थ] (बालः) बालक ["ग्रहणधारणपटुर्बालो न तु स्तनन्धयः" अर्थात् जो इस (शास्त्र) के विषय को ग्रहण और धारण कर सके ऐसा बालक, दुधमुँहा

बच्चा नहीं। अथवा "अज्ञो भवति वै बालः" अर्थात् जो (शास्त्र) के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सका है अथवा अज्ञानी को ही बालक शब्द द्वारा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र के ज्ञान से रहित व्यक्ति] (अपि) भी (अल्पेन) थोड़े से (श्रुतेन) श्रवण [अर्थात् गुरु के मुख द्वारा श्रवण अथवा अध्ययन] से (न्यायनये) न्यायशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों में (प्रवेशम्) प्रवेश [अर्थात् उनका अध्ययन करना अथवा उनका परिचय प्राप्त करना] (वाञ्छति) चाहता है (तस्य) उसके (कृते) लिये (एषा) यह (संक्षिप्तयुक्तत्यन्विततर्कभाषा) संक्षिप्त युक्तियों से युक्त तर्कभाषा [प्रस्तुत ग्रन्थ] [मया] मेरे [केशव मिश्र] द्वारा (प्रकाश्यते) प्रकाशित की जा रही है।

न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का सरलता के साथ ज्ञान प्राप्त करना ही इस ग्रन्थ का 'प्रयोजन' है। न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादन किये जाने योग्य प्रमाणादि सोलह पदार्थ ही इसके "विषय" हैं। न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक जिज्ञासु व्यक्ति ही इसका "अधिकारी" है। तथा इस ग्रन्थ का विषय के साथ 'प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव' और अधिकारी के साथ 'बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध' है। इस भाँति उपर्युक्त श्लोक द्वारा पूर्ववर्णित "अनुबन्धचतुष्टय" की सूचना उपलब्ध हो जाती है।

इस ग्रन्थ का नामकरण—

तर्कभाषा के रचयिता ने इस ग्रन्थ का नाम 'तर्कभाषा' रखा है। "तर्काः भाष्यन्ते अनया" के अनुसार इस ग्रन्थ में तर्क (तर्कशास्त्र) का विवेचन करना ही ग्रन्थकार को अभीष्ट है। विद्वानों द्वारा इस "तर्क" शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूपों की की गयी है। न्यायसूत्रकार ने अपने षोडश पदार्थों के अन्तर्गत 'तर्क' नामक एक पदार्थ को भी स्वीकार किया है और उसका लक्षण "अविज्ञाततत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः" (न्या० सू० १. १. ४०) इस प्रकार किया है। इस ग्रन्थ के नाम में विद्यमान 'तर्क' शब्द का ग्रहण उक्त पारिभाषिक शब्द के रूप में नहीं किया गया है। चिन्नंभट्ट के मतानुसार प्रमाण आदि षोडश पदार्थों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही 'तर्कशास्त्र' है। कुछ व्याख्याकारों ने व्युत्पत्ति के आधार पर 'तर्क' शब्द का अर्थ 'पदार्थ' किया है। [गौरीकण्ठ द्वारा तर्कभाषाप्रकाशिका में—] "तर्क्यन्ते तर्कसहकृतप्रमाणजन्यप्रमितिविषयी क्रियन्ते इति तर्काः पदार्थाः"। प्राचीन टीकाकार श्री गोवर्धन मिश्र के अनुसार भी "तर्काः षोडशपदार्थाः" तर्क शब्द का अर्थ षोडश पदार्थ ही है। अन्नंभट्ट ने भी 'तर्कसंग्रहदीपिका' में तर्क शब्द का उक्त अर्थ ही किया है। न्याय सम्बन्धी कुछ अन्य ग्रन्थों के नाम भी "तर्क"

शब्द के आधार पर ही रखे गये हैं। उदाहरण के लिये—तर्कसंग्रह (अन्नंभट्ट), तर्कामृत (जगदीश तर्कालङ्कार) तर्ककौमुदी (लौगाक्षि भास्कर) इत्यादि। अतएव वास्तविकता यही प्रतीत होती है कि न्यायशास्त्र का एक नाम 'तर्क' भी प्रचलित हो गया था। अतः यदि 'तर्क' शब्द को प्रमाणादि षोडश पदार्थों का उपलक्षण कह दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। इस आधार पर "तर्कभाषा" की व्युत्पत्ति यही होगी—

"तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः प्रमाणादिषोडशपदार्थाः, ते भाष्यन्ते अनया इति तर्कभाषा"।

अर्थात् प्रमाणादि षोडश (१६) पदार्थों का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम भी 'तर्कभाषा' रखा गया। अतः इस ग्रन्थ का 'तर्कभाषा' नाम सार्थक ही है। नाम सार्थक ही है।

प्राचीन तथा नवीन शैलियों में लिखित ग्रन्थों में से 'तर्कभाषा' की गणना किसमें ?

व्याकरण, वेदान्त तथा न्याय आदि शास्त्रों में प्राचीन (प्राच्य) तथा नवीन (नव्य) नाम से दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध होता है। इसी आधार पर प्राचीन व्याकरण, नवीन व्याकरण; प्राचीन वेदान्त, नव्य वेदान्त; प्राचीन न्याय एवं नव्यन्याय आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

व्याकरण का मूल-आधार पाणिनिकृत "अष्टाध्यायी" के सूत्र हैं। वेदान्त-दर्शन का मूल-आधार बादरायण व्यास कृत 'वेदान्तसूत्र' हैं। इसी प्रकार न्यायदर्शन के मूलभूत आधार अक्षपाद गौतमकृत "न्यायसूत्र" हैं। इन विषयों पर जिन ग्रन्थों की रचना की गयी उनमें दो प्रकार की पद्धति को अपनाया गया है। प्रथम पद्धति को अपनाने वाले ग्रन्थकारों ने सूत्रक्रम का अवलम्बन करके उनकी व्याख्या में ही अपने ग्रन्थों की रचना की। जैसे—व्याकरण में 'काशिका' 'महाभाष्य' इत्यादि, वेदान्त में आचार्य शङ्कर अथवा आचार्य रामानुजकृत भाष्य, न्याय में "वात्स्यायन-भाष्य', 'न्यायवार्तिक'आदि-आदि। ये सभी ग्रन्थ सूत्रक्रम के आधार पर ही लिखे गये हैं। इस पद्धति को प्राचीन-पद्धति कहा जा सकता है। दूसरी पद्धति के ग्रन्थ इस प्रकार के हैं कि जिनमें सूत्रक्रम का ध्यान तो नहीं रखा गया है किन्तु उस शास्त्र के विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्ररूप से किया गया है। यथा—व्याकरण में "सिद्धान्त-कौमुदी" आदि, वेदान्त में 'अद्वैतसिद्धि' तथा 'चित्सुखी' आदि, तथा न्याय में 'तर्कभाषा' 'मुक्तावली' आदि। इस पद्धति को नवीन-पद्धति कहा जा सकता है। इन दोनों प्रकार की पद्धतियों (शैलियों) का निरूपण आचार्य विश्वेश्वर ने अपने ग्रन्थ 'दर्शनमीमांसा' के अध्याय एक में इस प्रकार किया है :—

"द्वैधं दर्शनसाहित्यं नूतनप्रत्नभेदतः ।
प्रत्नं सूत्रक्रमापेक्षि तदुपेक्षि च नूतनम् ॥
सूत्रवार्तिकभाष्यादि क्वचिट्टीकापरम्परा ।
प्रत्नं दर्शनसाहित्यं नूतनं च तथेतरत् ॥
सूत्रक्रमं परित्यज्य स्वतन्त्रैर्विबुधैस्ततः ।
ग्रन्था येऽत्र कृतास्ते तु साहित्ये नूतने मताः ॥ इत्यादि ॥

इस लक्षण के अनुसार 'तर्कभाषा' की गणना नवीन-शैली में लिखे गये ग्रन्थों के अन्तर्गत की जा सकती है । अतः यह ग्रन्थ 'नव्यन्याय' से सम्बन्धित कहा जायगा ।

नवीन शैली में लिखे गये 'प्रकरण-ग्रन्थ'—

नव्य (नवीन) शैली में भी सभी शास्त्रों से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ इस प्रकार के पाये जाते हैं कि जिनमें उस-उस शास्त्र के केवल एक देश का ही प्रतिपादन किया गया है अर्थात् शास्त्र के सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन नहीं किया गया है । ऐसे ग्रन्थों को "प्रकरण-ग्रन्थ" नाम से कहा जाता है । इसका लक्षण—

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥ पाराशर उपपुराण अ० २८–२१ ॥

. तर्कभाषा में न्याय के प्रमुख पदार्थों का ही विवेचन किया गया है ।

"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्नि-श्रेयसांधिगमः ॥ न्या० सू० १।१।१॥"

इति न्यायस्यादिमं सूत्रम् ।

अस्यार्थः–प्रमाणादिषोडशेपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति ।

ये प्रमुख पदार्थ १६ हैं कि जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इसमें न्याय के सम्पूर्ण विषयों का वर्णन नहीं किया गया है । अतएव इसे न्याय का "प्रकरणग्रन्थ" मानना ही उचित है । न्यायप्रधान प्रकरणग्रन्थों में न्याय के 'प्रमाण' आदि सोलह पदार्थों का तो मुख्यरूप से वर्णन किया ही गया है । साथ ही 'प्रमेय' नामक द्वितीय पदार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' नामक प्रमेय में "वैशेषिक-दर्शन" में प्रतिपादित छः पदार्थों का भी अन्तर्भाव कर उनका वर्णन किया गया है । "तर्कभाषा" में भी इसी शैली का आश्रय लिया गया है । अतएव इसे न्याय प्रधान प्रकरणग्रन्थों की श्रेणी में रखना उचित ही है ।

उपर्युक्त विवरण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि प्रस्तुत 'तर्कभाषा' नव्यन्याय का न्यायप्रधान प्रकरणग्रन्थ है । इसके अतिरिक्त न्याय-

शास्त्र के सिद्धान्तों में प्रवेश कराना ["न्यायनयेप्रवेशम्"] इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। अतएव न्यायशास्त्र के प्रथमसूत्र को उद्धृत करते हुये तर्क भाषाकार 'न्याय' के प्रतिपाद्य-विषय और उसके प्रयोजन आदि का निरूपण करते हैं :—

(१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) संशय (४) प्रयोजन (५) दृष्टान्त (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति (१६) निग्रहस्थान—इन सोलह के तत्वज्ञान से निश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है [न्यायसूत्र १।१।१]।

(इति) इस प्रकार यह (न्यायस्य) न्याय [दर्शन] का (आदिमम्) प्रथम (सूत्रम्) सूत्र है।

[सूत्र—यह एक अति संक्षिप्त वाक्य हुआ करता है कि जिसके अन्तर्गत महान् अर्थ अन्तर्निहित रहा करता है। सूत्र का लक्षण है :—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

(अस्य) इसका (अर्थः) अर्थ है [कि] (प्रमाणादि षोडशपदार्थानाम्) प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के (तत्वज्ञानात्) तत्त्वज्ञान [यथार्थज्ञान] से (मोक्षप्राप्तिः) मोक्ष की प्राप्ति (भवति-इति) होती है।

[उपर्युक्त १६ पदार्थों के तत्त्व (स्वरूप) का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। तर्कभाषाकार द्वारा आगे कथित "तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्" के आधार पर तत्वज्ञान का अर्थ सम्यक् ज्ञान है। इस तत्वज्ञान के साधन हैं—
(१) श्रवण(२) मनन और (३) निदिध्यासन (चिन्तन)। कहा भी गया है:—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा सततं ध्येयम्, एते दर्शनहेतवः ॥"

गुरु द्वारा उस तत्त्व का वेदों के वाक्यों द्वारा श्रवण कर, दार्शनिक सिद्धान्तों की कसौटी के आधार पर मनन कर पुनः निदिध्यासन (चिन्तन) कर जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है वह सब 'तत्त्वज्ञान' शब्द से ग्रहण किया जाता है। इसी को निश्रेयस (मोक्ष) का साधन बतलाया गया है।

इस प्रकार प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के यथार्थज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह स्पष्ट हो जाता है। कुछ टीकाकारों ने "तत्त्वज्ञान" का अर्थ 'शास्त्र' भी किया है। उनके अनुसार 'तत्त्वज्ञान' की व्युत्पत्ति होगी:—

"तत्त्वं ज्ञायते अनेनेति तत्त्वज्ञानं शास्त्रम्—न्या० वृ० १।१।१॥"

इस आधार पर शास्त्र को साक्षात् रूप से मोक्ष का प्रयोजक स्वीकार किया जा सकता है। इन प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति

हो जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि इनका तत्त्वज्ञान होते ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है अपितु इस तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान की निवृत्ति अथवा नाश हो जाता है और अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने पर क्रमशः मोक्ष की उपलब्धि हुआ करती है। इसी बात को न्याय के द्वितीय सूत्र में स्पष्ट भी किया गया है:—

["दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः ॥ न्या० सू० १।१।२॥"

[इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्वज्ञान का प्रमुख साधन शास्त्र है।]

न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तावद्भवति यावदेषामुद्देशलक्षण परीक्षा न क्रियन्ते। यदाह भाष्यकारः—

"त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति ॥"

न्या० सू० वा० भा० १।१।२॥

प्रमाण आदि [षोडश] पदार्थों का तत्त्वज्ञान [यथार्थज्ञान] अथवा सम्यग्ज्ञान तब-तक नहीं हो सकता है जब-तक इनके (१) उद्देश्य (२) लक्षण और (३) परीक्षा नहीं कर ली जाती है। जैसा कि [न्यायदर्शन के] भाष्यकर्त्ता [वात्स्यायन] ने कहा है:—

"इस [न्याय] शास्त्र की तीन प्रकार से प्रवृत्ति होती है—
(१) उद्देश (२) लक्षण और (३) परीक्षा।"

शास्त्र-प्रवृत्ति के भेद

[त्रिविधाशास्त्र-प्रवृत्ति]

अभी यह कहा जा चुका है कि तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तत्त्वज्ञान का साधन "न्यायशास्त्र" है किन्तु इस शास्त्र में वर्णित प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के कथनमात्र से अथवा अध्ययन कर लेने मात्र से तो तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता, अपितु शास्त्र में पदार्थों का युक्तियुक्त विवेचन किया जाता है और तभी शास्त्र तत्त्वज्ञान का साधन बन पाता है। शास्त्र में इस विवेचन की प्रक्रिया को ही 'शास्त्र-प्रवृत्ति' नाम से कहा गया है। न्यायशास्त्र में अपनायी गयी यह प्रवृत्ति तीन प्रकार की है—(१) उद्देश (२) लक्षण और (३) परीक्षा। न्यायशास्त्र में इन तीनों की उपयोगिता पूर्णरूप से है। इनके स्वरूप का विवेचन आगे किया जायगा। नाम मात्र से पदार्थ का कथन कर देना ही 'उद्देश' है। यदि उद्देश ही न किया जाय तो फिर लक्षण किसका किया जायगा ? अतः पदार्थों के सम्यक् विवेचन के निमित्त सर्वप्रथम उनका 'नाम' द्वारा कथन करना (उद्देश) परमावश्यक है किन्तु नाममात्र से कथन कर दिये जाने के अनन्तर यदि उनके

स्वरूप का विवेचन (लक्षण) न किया जाय तो उस पदार्थ का ज्ञान ही प्राप्त न हो सकेगा। अतः लक्षण की अनिवार्यता भी स्पष्ट ही है। तत्पश्चात् यदि किये गये लक्षण की परीक्षा न की जाय—अर्थात् लक्षण उस पदार्थ में घटता है वा नहीं यह न देखा जाय तो पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के बारे में सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में पदार्थों का तत्वज्ञान भलीभाँति न हो सकेगा। अतः लक्षण की परीक्षा भी परमावश्यक ही है। इस भाँति न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति (विवेचन की प्रक्रिया) के ये तीन अङ्ग माने गये हैं।

इन तीनों अङ्गों में सर्वप्रथम स्थान पर उद्देश को इसलिये रखा गया है कि धर्मी का नाममात्र द्वारा कथन किया जाना ही उद्देश है तथा धर्मी और धर्म इन दोनों में धर्मी की ही प्रधानता हुआ करती है। इसी प्रकार परीक्षा से पूर्व अर्थात् द्वितीय स्थान पर लक्षण को इस कारण रखा गया है कि लक्षण के विषय में विचार करने का ही नाम 'परीक्षा' है।

इस "त्रिविधप्रवृत्ति" का प्रतिपादक सर्वप्रथम भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा ही किया गया है। उन्होंने लिखा है "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः"। यहाँ 'अस्य' [इस (शास्त्र) की] शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह "त्रिविधा प्रवृत्ति" न्यायशास्त्र में ही स्वीकार की गयी है, अन्यशास्त्रों में नहीं। न्याय के 'समान तंत्र' कहे जाने वाले "वैशेषिक-दर्शन" में भी यह प्रवृत्ति दो ही प्रकार की वर्णित है (१) उद्देश (२) लक्षण। कहीं-कहीं अत्यन्त श्रद्धाप्रधान [बौद्ध-जैनादिकों के] ग्रन्थों में तो 'उद्देश' नामक एक ही प्रकार की प्रवृत्ति उपलब्ध होती है।

न्याय की इस त्रिविधप्रवृत्ति के अतिरिक्त 'न्यायवार्तिककार' श्री उद्योतकराचार्य तथा 'न्यायमञ्जरीकार' जयन्त भट्ट ने प्रवृत्ति सम्बन्धी एक चतुर्थ-प्रकार 'विभाग' के सम्बन्ध में भी विचार किया है। उनका कथन है कि न्यायशास्त्र में कहीं पर तो पहले पदार्थ का लक्षण कर तब उनके विभागों का वर्णन किया गया है (जैसे—'छल' आदि का) और कहीं पदार्थ के प्रकारों (विभागों) का वर्णन कर तब उनके लक्षण तथा परीक्षा का क्रम रखा गया है। जैसे—प्रमाणों का विभाग करने के पश्चात् "प्रत्यक्ष" आदि का लक्षण किया गया है। अतः 'विभाग' नामक चतुर्थप्रवृत्ति का भी माना जाना उचित है।

इस शङ्का का निराकरण करते हुये उन्होंने स्वयं ही कहा है कि विभाग (वर्गीकरण) का अन्तर्भाव उद्देश्य में ही हो जाता है "उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्" ॥ न्या० वा० १।१।२ ॥ तथा न्यायमजरी पृष्ठ १२ ॥ क्योंकि दोनों का लक्षण समान है। नाममात्र से पदार्थों के कथन का ही नाम

'उद्देश' है। 'विभाग' में भी विभक्त पदार्थों के नाममात्र का ही कथन होता है। अतः 'विभाग' का अन्तर्भाव उद्देश में किया जाना उचित ही है।]

उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा के रूप में जिस न्यायशास्त्रीय 'त्रिविधप्रवृत्ति' का वर्णन ऊपर किया गया है उसमें 'उद्देश' आदि के स्वरूप (लक्षण) का सोदाहरण विवेचन करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम्। तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम्। लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्। यथा—गोः सास्नादिमत्त्वम्। लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्ये।

(१) नाममात्र से पदार्थ (वस्तु) का कथन किया जाना ही 'उद्देश' कहलाता है। और यह कथन इस [प्रमाण–प्रमेय–आदि रूप प्रथम] सूत्र में कर दिया गया है। (२) असाधारणधर्म का कथन किया जाना ही 'लक्षण' कहलाता है। जैसे—गाय का [लक्षण] सास्नादिमत्व [गाय के गले के नीचे की ओर जो खाल लटकती रहा करती है उसी का नाम 'सास्ना' अथवा गलकम्बल है। 'सास्ना' गाय के अतिरिक्त किसी अन्य प्राणी के नहीं हुआ करती है। अतएव गाय का यही असाधारण (विशिष्ट) धर्म हुआ। इसी का नाम 'लक्षण' है।] (३) जिसका लक्षण किया गया है [अर्थात् लक्षित] वह लक्षण उसमें (लक्ष्य में) घटता है वा नहीं ? इस विचार का नाम ही 'परीक्षा' है। अतः [उद्देश्य सम्बन्धी प्रवृत्ति की पूर्ति "प्रमाणप्रमेयादि···" प्रथमसूत्र में ही हो जाने के पश्चात्] (प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थम्) प्रमाण इत्यादि (सोलह पदार्थों) के तत्त्वज्ञान के निमित्त (एते लक्षणपरीक्षे) [उनकी] यह लक्षण और परीक्षा (कर्तव्ये) करनी चाहिये।

सोदाहरण उद्देश का लक्षण—

"नाममात्रेण वस्तुसंकीर्त्तनम्" उद्देश का लक्षण किया गया है। उदाहरण-रूप में प्रमाणादि षोडश पदार्थों को रखा गया है। उद्देश के लक्षण में विद्यमान प्रत्येक पद की सार्थकता है। यदि इनमें से एक भी पद निकाल दिया जाय तो उद्देश का लक्षण अन्यत्र भी चला जायेगा। 'मात्र' शब्द को यदि निकाल दिया जाय और "नाम्ना वस्तुसंकीर्तनम्" इतना ही उद्देश का लक्षण किया जाय तो 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' में भी यह लक्षण चला जायेगा क्योंकि यहाँ भी नाम लेकर वस्तु का (पदार्थ का) कथन किया गया है। 'मात्र' शब्द रखने पर उक्त लक्षण 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' में नहीं जायेगा क्योंकि इसमें केवल नाम-मात्र का कथन न होकर प्रमाण के स्वरूप का भी विवेचन विद्यमान है। यदि उद्देश्य के उपर्युक्त लक्षण में से 'नाममात्रेण' पद हटा दिया जाय और

'वस्तुसंकीर्त्तनम्' इतना ही उद्देश का लक्षण किया जाय तो इस लक्षण में लक्षण तथा परीक्षा दोनों में ही 'अतिव्याप्ति' दोष आ जायेगा। अतिव्याप्ति का लक्षण है—"अलक्ष्यवृत्तित्वमव्याप्तिः" अर्थात् जो धर्म अलक्ष्य (लक्ष्य से भिन्न) में रहे वह 'अतिव्याप्ति' दोष से उक्त होगा। क्योंकि "वस्तुसंकीर्त्तनम्" ही उद्देश का लक्षण मान लेने पर 'लक्षण' और 'परीक्षा' दोनों के लक्षणों में भी वस्तु का निरूपण (प्रतिपादन) तो होता ही है। 'नाममात्रेण' पद रखने पर यह दोष नहीं आयेगा क्योंकि वहाँ नाम मात्र से वस्तु का कथन करने के अतिरिक्त उनका लक्षण कथन आदि भी होता है। इसी प्रकार 'वस्तु' शब्द को उद्देश के लक्षण में से हटा देने पर भी लक्षण अन्य स्थलों पर भी चला जायेगा। अतः तर्कभाषाकार द्वारा किया गया उद्देश का उक्त लक्षण ठीक ही है। इसी प्रकार का लक्षण 'वात्स्यायनभाष्य' तथा 'न्यायकन्दली' आदि ग्रन्थों में भी विद्यमान है। वात्स्यायन ने यह लक्षण किया है:—"तत्र नामधेयेन पदार्थ मात्रस्याभिधानमुद्देशः" ॥ न्या० वा० भाष्य १।१।२॥

सोदाहरण लक्षण का लक्षण—

उद्दिष्ट पदार्थों का लक्षण किया जाता है। इससे पूर्व कि हम 'लक्षण' के स्वरूप का प्रतिपादन करें, यह जान लेना भी आवश्यक है कि लक्षण का प्रयोजन क्या है ?

लक्षण के प्रयोजन—

लक्षण के दो प्रयोजन स्वीकार किये गये हैं—१–व्यावृत्ति २–व्यवहार—"व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।" 'व्यावृत्ति' का अर्थ है भेद अथवा भिन्नता। जिस वस्तु का लक्षण अभीष्ट होता है उसके कुछ समान जाति वाले (सजातीय) पदार्थ होते हैं और कुछ भिन्न जाति के (अर्थात् विजातीय) पदार्थ हुआ करते हैं। लक्षण के द्वारा लक्षित-वस्तु का सजातीय एवं विजातीय दोनों ही प्रकार के पदार्थों से भेद दिखला दिया जाता है। यह लक्षण का प्रथम प्रयोजन है। इसी का "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः" इन शब्दों द्वारा कथन किया गया है। जैसे—गौ का लक्षण–सास्नादि मान् होना है। गौ का लक्षण उसे सजातीय भैंस आदि (चतुष्पाद) से तथा विजातीय मनुष्य, मयूर आदि (द्विपद) अथवा वृक्ष आदि पदार्थों से भिन्न (पृथक्) करता है क्योंकि इन सभी में सास्ना (गलकम्बल) आदि नहीं होती है। लक्षण का दूसरा प्रयोजन है 'व्यवहार'। उपर्युक्त 'सास्नादिमत्व' धर्म अथवा लक्षण ही 'गौ' व्यवहार का प्रवर्त्तक भी है। इस प्रकार लक्षण के दोनों प्रयोजनों का संक्षेप में कथन कर अब 'लक्षण' के स्वरूप के बारे में विचार करना है:—

तर्कभाषाकार ने लक्षण का लक्षण करते हुये उसके स्वरूप का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—"लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्"। अर्थात् असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। यदि यहाँ पर 'असाधारण' विशेषण का ग्रहण न किया गया होता और 'धर्मवचनम्' इतना ही कहा गया होता तो यह लक्षण सजातीय और विजातीय पदार्थों की व्यावृत्ति न कर पाता और न ही व्यवहार का ही निमित्त बनता। क्योंकि साधारण धर्म तो दूसरे पदार्थों से व्यावृत्ति करने में समर्थ नहीं होता है। जैसे "प्राणी होना" (प्राणधारित्व) भी गाय का एक धर्म है, यह उसका साधारण धर्म है। यह साधारण धर्म जिस भाँति गौ में विद्यमान है उसी प्रकार भैंस, मनुष्य आदि अन्य प्राणियों में भी विद्यमान है। अतः असाधारण–(विशिष्ट) धर्म-कथन को ही लक्षण माना गया है। असाधारण धर्म अथवा विशिष्ट धर्म वह है कि जो केवल लक्ष्य [जैसे सास्नादिमत्व धर्म गौ में] में ही रहे, लक्ष्यभिन्न [महिष (भैंस) आदि] में न रहे। यह असाधारण धर्म तीन प्रकार के वैशिष्ट्यों से युक्त होता है:—(१) वह लक्ष्य में अवश्य विद्यमान रहता है। (२) सभी लक्ष्यों में उसकी विद्यमानता रहा करती है और (३) लक्ष्य से भिन्न में नहीं रहा करता है।

यदि उपर्युक्त तीनों विशेषताओं से वह विपरीत है तो अवश्य ही वह लक्षण (१) असंभव (२) अव्याप्ति और (३) अतिव्याप्ति दोषों से युक्त होगा। इसी कारण कहा गया है कि लक्षण का इन तीनों दोषों से रहित होना आवश्यक है:—

"असंभवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरूपदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्"।

"सास्नादिमत्व" [अर्थात् सास्नादि से युक्त होना] गौ का असाधारण धर्म है। यह उपरि-कथित तीनों प्रकार के दोषों से रहित है। प्रथम दोष 'असंभव' है। "लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः" अर्थात् जो धर्म लक्ष्यमात्र में न पाया जाय वह 'असम्भव' दोष कहलाता है। अथवा जहाँ लक्षणरूप में कहा गया धर्म लक्ष्य में कहीं भी विद्यमान न रहता हो वहाँ 'असम्भव' दोष होता है। जैसे कोई कहे—"एकशफत्वं गोर्लक्षणम्" अर्थात् जो एकशफ अथवा खुर वाली होती है वह गाय होती है। यह लक्षण गौ का कभी भी नहीं हो सकता है क्योंकि गाय तो द्विशफ (दो खुरों वाली [अर्थात् गाय का खुर बीच से चिरा हुआ होने के कारण दो खुर वाला कहलाता है]) होती है। ऊँट का पूरा एक खुर होता है जिसके कारण वह रेत में आसानी से चल सकता है। अतः ऊँट एक खुर वाला प्राणी कहलाता है। किन्तु गाय एक शफ (खुर) वाला प्राणी न होकर द्विशफ (दो खुरों वाला) प्राणी है। अतएव यदि कोई 'एकशफत्व' को—गौ का लक्षण बनाना चाहे तो यह लक्षण एक भी गौ में न

मिलेगा। लक्ष्यमात्र में (अर्थात् सारी गायों में) ही अविद्यमान रहेगा। अतः 'एकशफत्व' गाय का लक्षण कभी भी नहीं हो सकता है।

इसी भाँति जो धर्म लक्ष्य के एक अंश (भाग) में न पाया जाता हो वहाँ 'अव्याप्ति' नामक द्वितीय दोष होता है। ["लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः"] ऐसा 'अव्याप्ति' दोषपूर्ण लक्षल भी लक्षण नहीं कहा जा सकता। जैसे कोई कहे "शावलेयत्वं गोर्लक्षगम्" अर्थात् चितकबरा होना गाय का लक्षण है। तो यह भी गाय का लक्षण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लक्ष्य 'गौ' के एक बहुत बड़े भाग में अर्थात् अनेक गौओं में यह शावलेयत्व अथवा चितकबरा-पन नहीं पाया जाता है। अतः यह लक्षण 'अव्याप्ति' दोषपूर्ण होगा और गौ का लक्षण न बन सकेगा।

तृतीय दोष "अतिव्याप्ति" है। लक्षण के रूप में कहा गया जो धर्म लक्ष्य से भिन्न अलक्ष्य (भैंस आदि) में भी पाया जाता हो वहाँ 'अतिव्याप्ति' नामक दोष विद्यमान रहा करता है। इसका लक्षण है "अलक्ष्यवृत्तित्वमति-व्याप्तिः"। जैसे कोई कहे "शृङ्गित्वं गोर्लक्षणम्" अर्थात सींग वाली होना गाय लक्षण है तो यह कथन भी 'अतिव्याप्ति' दोष से परिपूर्ण होने के कारण गाय का लक्षण न बन सकेगा। यद्यपि गाय के सींग होते हैं (अतः यहाँ असंभव दोष नहीं है), सभी गायों के सींग होते हैं (अतः यहाँ अव्याप्ति दोष भी नहीं है) तथापि गाय से भिन्न जो भैंस आदि हैं उनमें भी यह लक्षग चला जायगा क्योंकि सींग तो भैंस आदि के भी हुआ करते हैं। यहाँ केवल 'गौ' ही लक्ष्य है, भैंस आदि लक्ष्य नहीं हैं, वे लक्ष्य से भिन्न अर्थात् अलक्ष्य हैं। अतः 'शृङ्गित्व' संपन्न होने से उनमें भी गाय का उक्त लक्षण चला जायगा। फलतः यह लक्षण 'अतिव्याप्ति' दोषपूर्ण होगा।

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि (१) असंभव, (२) अव्याप्ति और (३) अतिव्याप्ति इन तीनों दोषों से रहित धर्म ही लक्षग होता है। गाय का "सास्नादिमत्व" धर्म उपर्युक्त तीनों हो दोषों से रहित है। सभी गायों के गले के नीचे 'सास्ना" हुआ करती है। अतः 'असंभव' दोष रहित यह लक्षग है। 'सास्ना' किसी गाय में होती हो और किसी में नहीं, ऐसा भी नहीं है। अतः 'अव्याप्ति' दोष भी यहाँ नहीं आता है। इसके अतिरिक्त गाय से भिन्न जो भैंस आदि प्राणी (अलक्ष्य) हैं उनमें भी सास्ना नहीं होती है। अतः यह धर्म लक्ष्य भिन्न (अलक्ष्य) में भी विद्यमान नहीं रहता है। अतः इस लक्षण में 'अतिव्याप्ति' नामक दोष भो नहीं आता है। इस भाँति "सास्नादि-मत्त्व" धर्म तीनों दोषों से रहित है। यह गौ का असाधारण धर्म है। अतः यही गाय का वास्तविक लक्षण हुआ।

गौ के उपर्युक्त लक्षण में 'गौ' लक्ष्य है। इस गौ में रहने वाली 'गोत्व' जाति ही लक्ष्यतावच्छेदक है। सास्नादिमत्व धर्म गोत्व के साथ निश्चितरूप से रहता है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि "यत्र-यत्र सास्नादिमत्वं तत्र तत्र गोत्वम्" अर्थात् जहाँ-जहाँ सास्नादिमत्व होता है वहाँ वहाँ गोत्व होता है। अथवा "यत्र यत्र गोत्वं तत्र तत्र सास्नादिमत्वम्" अर्थात् जहाँ जहाँ गोत्व होता है वहाँ वहाँ सास्नादिमत्व होता है। ऐसे धर्म को लक्ष्यतावच्छेदकसम नियत धर्म अथवा असाधारण धर्म कहा जाता है।

अतएव 'अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मोलक्षणम्' अथवा "लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्" अथवा "असाधारणधर्मवचनम् लक्षणम्" इन तीनों को ही 'लक्षण' का 'लक्षण' कहा जा सकता है।

'परीक्षा' का सोदाहरण लक्षण—

जिस (पदार्थ) का लक्षण किया जाता है वह 'लक्षित' कहलाता है। परीक्षा में यह विचार करना पड़ता है कि "स्वयं किया गया हुआ लक्षण लक्षित वस्तु में पूर्णरूपेण घटता है अथवा नहीं ? (२) दूसरे आचार्यों अथवा सम्प्रदायवेत्ताओं अथवा व्याख्याकारों ने जो लक्षण किसी लक्षितवस्तु के किये हैं वे कहाँ तक युक्तिसंगत हैं ? (३) इस प्रकार के अन्यों द्वारा किये गये लक्षण लक्षितवस्तु में पूर्णरूपेण घटते हैं वा नहीं ? उदाहरण के लिये–अभी आगे प्रमाण का ही लक्षण 'प्रमाकरणं प्रमाणम्" आ रहा है। उसकी भली-भाँति परीक्षा की जायगी कि यह लक्षण लक्षित पदार्थों में पूर्णरूपेण घटता अथवा नहीं ? अन्य आचार्यों द्वारा किये गये "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' (मीमांसकों द्वारा कथित) आदि लक्षण युक्ति-संगत है वा नहीं ? तथा वे लक्षित पदार्थों में पूर्णरूपेण घटित होते हैं अथवा नहीं ?

उपर्युक्त विवेचन द्वारा उद्देश लक्षण तथा परीक्षा रूप त्रिविधा शास्त्रप्रवृत्ति का स्पष्टीकरण भली-भाँति हो गया है। इन तीनों के द्वारा ही किसी पदार्थ का विशदविवेचन किया जाना संभव है।

प्रथमसूत्र द्वारा १६ पदार्थों की गणना "उद्देश" रूप में की जा चुकी है। अब आगे इन सभी पदार्थों के क्रमशः लक्षण किये जाते हैं तथा उन लक्षणों की परीक्षा भी करनी है। इसीलिये मूल में कहा भी गया है—
तेनैते लक्षणपरीक्षे..............कर्तव्ये"।

(१) प्रमाणानि

प्रमाणम्

तत्रापि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते। प्रमाकरणं प्रमाणम्। अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं, प्रमाकरणं लक्षणम्।

[प्रथमसूत्र द्वारा न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य प्रमाण आदि १६ पदार्थों की गणना की जा चुकी है। ये षोडश पदार्थ ही उद्देश्य हैं कि जिनका नाममात्र द्वारा परिगणन किया जा चुका है। इस सूत्र में वर्णित १६ पदार्थों में सर्वप्रथम 'प्रमाण' को रखा गया है। अतः सर्वप्रथम उसी का लक्षण किया गया है। न्यायसूत्रकार ने प्रमाण सामान्य का लक्षण किसी सूत्र द्वारा नहीं किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसके भाष्यकार 'वात्स्यायन' ने 'प्रमाण शब्द का निर्वचन ही उसका लक्षण है। अतएव न्यायसूत्रकार द्वारा उसका अलग से लक्षण नहीं किया है'। इस प्रकार के भाव को अभिव्यक्त करते हुये निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं:—

"उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोद्धव्यम्। प्रमीयते अनेक इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः॥ न्या० भा० १।१।३॥"

अर्थात् 'उपलब्धि (=प्रमा अथवा ज्ञान) के साधन अर्थात् करण को 'प्रमाण' कहते हैं। यह बात 'प्रमाण'—संज्ञा के निर्वचन (व्युत्पत्ति) के सामर्थ्य से ही समझ लेना चाहिये। "प्रमीयते अनेन" [अर्थात् जिसके द्वारा प्रमा की जाती हैं। इस व्युत्पत्ति से प्रमाण शब्द 'करण' अर्थ को बतलाता है। अभिप्राय यह है कि 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से करण में ल्युट् (अन्) प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द सिद्ध होता है। अतएव प्रमा का करण अर्थात् साधन ही 'प्रमाण' कहा जाता है। 'प्रमाण' पद के इस निर्वचन द्वारा ही प्रमाण का सामान्य लक्षण हो जाता है। अतः सूत्रकार ने उसका सामान्य लक्षण पृथक सूत्र द्वारा नहीं किया। किन्तु यह ग्रन्थ (तर्कभाषा) तो अल्प प्रयास से ही स्पष्ट बोध कराने की दृष्टि से लिखा गया है। अतएव तर्कभाषाकार ने उपर्युक्त 'वात्स्यायन' भाष्य के आधार पर प्रमाण का सामान्य लक्षण निम्नलिखित रूप में करते हुये लिखा है:—]

(तत्रापि) उन [प्रमाणादि षोडश पदार्थों] में भी (प्रथमम्) प्रथम (उद्दिष्टस्य) उद्देश रूप में कथित [सर्वप्रथम कहे गये हुये] (प्रमाणस्य) प्रमाण का (तावत् लक्षणं उच्यते) लक्षण सबसे पहले कहा जा रहा है। (प्रमाकरणम्) प्रमा [यथार्थ अनुभव (यथार्थज्ञान)] का करण (प्रमाणम्) प्रमाण है। (अत्र च) और इस

[लक्षण] में (प्रमाणम्) प्रमाणम् [यह पद] (लक्ष्यम्) लक्ष्य [अर्थात् जिसका लक्षण करना है वह] है और (प्रमाकरणम्) प्रमा का करण [यह पद] (लक्षणम्) लक्षण [अंश] है ।

[तत्त्वज्ञान के निमित्त न्यायशास्त्र में पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है । इसमें वर्णित १६ पदार्थों के अन्तर्गत विद्यमान 'आत्मा' आदि (प्रमेय) का तत्त्वज्ञान ही निश्रेयस (मोक्ष) का प्रमुख साधन है । फिर उन आत्मा आदि प्रमेयों के तत्त्वज्ञान का ही वर्णन किया जाना चाहिये था किन्तु उन आत्मा आदि प्रमेयों के वर्णन से भी पूर्व प्रमाणों का वर्णन यहाँ क्यों किया जा रहा है ?

उक्त शंका के निराकरण के निमित्त यहाँ इतना ही कहा जाना उपयुक्त होगा कि प्रमेयों का ज्ञान प्रमाणों द्वारा ही संभव है । ऐसी स्थिति में प्रमेयों से पूर्व प्रमाणों का कथन किया जाना उचित ही है ।]

"प्रमाकरणं प्रमाणम्" यह प्रमाण सामान्य का लक्षण किया गया है । अतः यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है :—

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यम्, करणस्य फलवत्त्वनियमात् । सत्यम् । प्रमैव फलं, साध्यमित्यर्थः । यथा छिदा-करणस्य परशोश्छिदैव फलम् ।

[प्रश्न] (ननु चेत्) अच्छा, यदि (प्रमायाः करणम्) प्रमा का करण [अर्थात् साधन] (प्रमाणम्) प्रमाण है (तर्हि) तो (तस्य) उस [करण अथवा साधन] का [फलम्] फल (वक्तव्यम्) बतलाना चाहिये । [क्योंकि] (करणस्य) करण [साधन] का (फलवत्त्वनियमात्) फलवान् होना नियम होने से [अर्थात् करण अथवा साधन फल से युक्त हुआ करता है, ऐसा नियम है ।]

[उत्तर] (सत्यम्) ठीक है, [साधन अथवा करण का कोई फल अवश्य हुआ करता है । (प्रमा एव फलम्) [अतः] प्रमा ही [प्रमाणरूप करण अथवा साधन का] फल है । (साध्यम् इति-अर्थः) कहने का अभिप्राय [अर्थ] यह है कि [वह] प्रमा ही साध्य है [जो जिसका साधन हुआ करता है वही उसका फल भी हुआ करता है । प्रमा का करण अथवा साधन प्रमाण है तो उसका फल 'प्रमा' ही होगी] (यथा) जैसे—(छिदाकरणस्य) छेदन (काटने) के करण अथवा साधनभूत (परशोः) फरसे का (छिदा एव फलम्) फल छेदन [काटना] ही होता है । इसी भाँति प्रमा के करण अर्थात् प्रमाण का फल प्रमा ही समझना चाहिये] ।

[कहने का तात्पर्य यह है प्रमाण के द्वारा प्रमा रूप कार्य किया जाता है । यहाँ प्रमाण [अर्थात् प्रमा का करण] ही साधन है और 'प्रमा' ही साध्य है ।]

इस भाँति प्रमाण के सामान्य-लक्षण का विवेचन किया गया। प्रमाण के उक्त लक्षण में दो पद आये है (१) प्रमा (२) करण। प्रमाण को भलीभाँति समझने के लिये इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान होना भी आवश्यक है। अतः अब यहाँ "प्रमा" के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं अथवा 'प्रमा' का लक्षण बतलाते हैं :—

प्रमा

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम् ?

उच्यते। यथार्थानुभवः प्रमा। यथार्थ इत्यर्थानां संशय विपर्ययतर्क-ज्ञानानां निरासः। अनुभव इति स्मृतेर्निरासः।

ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्।

[प्रश्न] (पुनः) फिर [वह] [प्रमा का] प्रमा क्या है (यस्याः) कि जिसका (करणम्) करण (प्रमाणम्) प्रमाण [कहा जाता] है ?

[उत्तर] (उच्यते) कहते हैं—(यथार्थानुभवः) यथार्थ अनुभव [का नाम ही] (प्रमा) प्रमा है। (यथार्थ इति) [यहाँ] यथार्थ इस [पद] से [ज्ञान रूप] (संशय-विपर्यय-तर्क ज्ञानानाम्) संशय, विपर्यय तथा तर्क नामक (अयथार्थानाम्) अयथार्थों का (निरासः) निराकरण हो जाता है [कि जिससे संशय, विपर्यय और तर्क नामक ज्ञान में प्रमा का लक्षण न चला जाय।] (अनुभवः इति) अनुभव इस [पद] से (स्मृतेः) स्मृति का (निरासः) निराकरण हो जाता है [अभिप्राय यह है कि उक्त लक्षण में 'अनुभव' पद इसलिये रखा गया है कि जिससे स्मृति में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय।]।

[ज्ञान के दो भेद हैं (१) अनुभव और (२) स्मृति उनमें से—] (ज्ञात विषयम्) ज्ञातविषयक (ज्ञानम्) ज्ञान को (स्मृतिः) स्मृति कहा जाता है [अर्थात् स्मृति वह ज्ञान है कि जिनका विपय पहले से ही ज्ञात रहता है।] और (स्मृतिव्यतिरिक्तम्) स्मृति से भिन्न (ज्ञानम्) ज्ञान को (अनुभवो नाम) अनुभव नाम से कहा जाता है।

["प्रमाकरणं प्रमाणम्" यह 'प्रमाण' का सामान्य-लक्षण किया जा चुका है। उसके स्पष्टीकरण के निमित्त 'प्रमा' का लक्षण करना परमावश्यक है। अतः "यथार्थानुभवः प्रमा" यह प्रमा का लक्षण किया। इस लक्षण में "प्रमा" यह पद लक्ष्य है तथा "यथार्थानुभवः" यह अंश लक्षण है। लक्षण के इस अंश में भी दो पद विद्यमान हैं (१) यथार्थ और (२) अनुभव। किसी लक्षण में किस पद की क्या उपयोगिता है इस विचार को ही 'पदकृत्य कहा जाता है। अतः 'पदकृत्य' की दृष्टि से

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त लक्षण में विद्यमान दोनों पदों की उपयोगिता अथवा उनका विशिष्ट प्रयोजन (अथवा अभिप्राय) क्या है ? इससे पूर्व कि हम 'पदकृत्य' की दृष्टि से उक्त लक्षण का विचार करें, यह जान लेना आवश्यक है कि 'ज्ञान' तथा 'अनुभव' हैं क्या ?

ज्ञान के प्रकार:—

ज्ञान को दो प्रकार का माना गया है (१) अनुभव और (२) स्मृति। इनमें से ज्ञातविषयक ज्ञान को [अर्थात् जिस ज्ञान का विषय पहले से ही ज्ञात हो ऐसे ज्ञान को] 'स्मृति' कहा जाता है तथा उससे भिन्न अज्ञातविषयक ज्ञान को 'अनुभव कहा जाता है। 'ज्ञातविषयक ज्ञान' भी दो प्रकार का हुआ करता है। इनमें से प्रथम प्रकार को 'स्मृति' तथा द्वितीय प्रकार को 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से कहा जाता है।

स्मृति—

किसी वस्तु (घट, पट, आदि) को जब हम देखते हैं अथवा किसी भाँति उसे जान लिया करते हैं तब उसके ज्ञान से हमारी आत्मा में एक सूक्ष्म सा भाव उस वस्तु के विषय में रह जाता है जिसे भावना नामक सत्कार अथवा केवल 'संस्कार' कहा जाता है यही स्मृति का बीज (कारण) है। वस्तु का ज्ञान तो स्थिर नहीं रहा करता है किन्तु वह संस्कार बराबर बना रहा करता है। कालान्तर में जब किसी कारणवश यह संस्कार उद्बुद्ध हो जाया करता है तब बिना किसी बाह्य इन्द्रिय इत्यादि की सहायता के उस वस्तु का पुनः ज्ञान होने लगा करता है। यही ज्ञान 'स्मृति' नाम से कहा जाता है ? यह 'स्मृति' सदैव ज्ञातविषय की ही हुआ करती है। इसी कारण तर्कभाषाकार ने इसका लक्षण किया है। "ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः।" स्मृति का कारण सदा संस्कार का उद्बोध ही हुआ करता है। अतः संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" यह भी स्मृति का एक अन्य लक्षण माना जा सकता है। स्मृति को उत्पन्न करने वाले संस्कार के उद्बोधक सादृश्य, चिन्ता अदृष्ट आदि ही स्मृति के बीज कहे जाते हैं—"सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः"—तर्कभाषा संस्कार प्रकरण।

जब हम पूर्वदृष्ट पदार्थ के सदृश किसी पदार्थ को देखते हैं तो हमें पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति हो आती है कि ऐसा पदार्थ अथवा व्यक्ति हमने अमुक स्थल पर देखा था। ऐसी स्मृति में सादृश्य ही संस्कार का उद्बोधक हुआ करता है। कभी किसी वस्तु या बात आदि को भूल जाने पर सोचने (चिन्ता या चिन्तन करने) से उसका स्मरण हो

आया करता है। यहाँ चिन्ता अथवा सोचना ही संस्कार का उद्बोधक और स्मृति का उत्पादक है। कभी 'अदृष्ट' वश, सादृश्य अथवा चिन्ता के विना भी, संस्कार का उद्बोधन और स्मृति हो जाया करती है। जैसा कि महाकवि श्रीहर्ष ने लिखा है :—

"अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्"। नैषध १।१।३९॥

प्रत्यभिज्ञा—

ज्ञातविषयक ज्ञान का दूसरा प्रकार है "प्रत्यभिज्ञा" हमने कल सोमदत्त को देहली में देखा था और आज हम उसे यहाँ देख रहे हैं। अतः हमें ज्ञात होता है कि यह वही सोमदत्त है (सोऽयं सोमदत्तः) इस दूसरे प्रकार ज्ञातविषयक ज्ञान का ही नाम 'प्रत्यभिज्ञा' है। 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ है—प्रत्यक्षपूर्विका स्मृति अथवा स्मृतिपूर्वक प्रत्यक्ष। न्यायकोष के आधार पर—"अतीतावस्थावच्छिन्नवस्तुग्रहणम्" अर्थात् पूर्वज्ञात अवस्था के द्वारा अवशिष्ट वस्तु आदि का ग्रहण किया जाना ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। वैसे प्रत्यभिज्ञा का लक्षण यह किया गया है :—

"तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा"

अर्थात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' दोनों का अवगाहन करने वाली प्रतीति ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। तत्ता' (तत्+ता तदा भाव) का अर्थ तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वकाल और पूर्वकाल-सम्बन्ध है। 'इदन्ता' का अर्थ तद्देश और एतत्कालसम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसमें पूर्वदेश और पूर्वकाल तथा वर्तमान देश और वर्त्तमान काल इन दोनों की प्रतीति हो, उस प्रतीति को ही 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है। अथवा यों कहिये कि पूर्वदेश, काल तथा वर्त्तमान देश, काल से सम्बद्ध वस्तु के रूप की प्रतीति का ही नाम 'प्रत्यभिज्ञा' है। उदाहरण के लिये—"सोऽयं सोमदत्तः" अर्थात् यह वही सोमदत्त है कि जिसे हमने पहले देहली में देखा था, इसमें 'सः' पद 'तत्ता' पूर्वदेश और पूर्वकाल के सम्बन्ध का द्योतक तथा 'अयम्' पद 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश और एतत्काल के सम्बन्ध (अर्थात् वर्त्तमान देश और वर्त्तमान काल के सम्बन्ध) का बोधक है। अभिप्राय यह कि 'सः' पद सोमदत्त की पूर्वदृष्टि देश, काल आदि विशिष्ट अवस्था को और 'अयम्' पद सोमदत्त की वर्त्तमान देश, काल आदि विशिष्ट अवस्था को बतलाता है। अतः उक्त उदाहरण में 'तत्ता रूप पूर्वदेश, पूर्वकाल के सम्बन्ध का द्योतक 'सः' अंश स्मरणात्मक है तथा उसका जनक पूर्वदर्शन जन्य संस्कार का उद्बुद्ध हो जाना ही है।

इसके विपरीत 'अयं, पद द्वारा बोधित वर्त्तमान देश और वर्त्तमान कालरूप 'इदन्ता' अंश प्रत्यक्षात्मक है तथा उसका जनक इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रत्यभिज्ञा' स्मृति तथा अनुभव दोनों से सम्बन्धित ज्ञान है। इसके उत्पन्न होने में संस्कार तथा इन्द्रियार्थसंनिकर्ष दोनों ही कारण हैं। संस्कारजन्य होने से यह ज्ञातविषयक ज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' के एक अंश में 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति' का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। इसके निवारण के लिये कुछ अन्य विद्वानों ने स्मृति का लक्षण "संस्कार मात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" किया है। इस लक्षण में विद्यमान 'मात्र' पद द्वारा 'प्रत्यभिज्ञा ज्ञान' में स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञान के तीन भेद हो जाते हैं (१) अनुभव (२) स्मृति (३) प्रत्यभिज्ञा। किन्तु तर्कभाषाकार ने ज्ञान के ही दोनों ही प्रकारों का वर्णन किया है (१) अनुभव (२) स्मृति। अतएव अन्य (बदरीनाथ शुक्ल आदि) व्याख्याकारों ने लोकानुभव के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को 'अनुभव' की श्रेणी से रखकर 'प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत उसका अन्तर्भाव स्वीकार किया है। इससे प्रतीत होता है कि तर्कभाषाकार को भी यही अभीष्ट रहा होगा और इसी कारण उन्होंने ज्ञान को दो प्रकार का स्वीकार किया होगा।

अनुभव—

स्मृति से भिन्न ज्ञान को 'अनुभव' कहा गया है। यह भी दो प्रकार का होता है (१) यथार्थ (२) अयथार्थ। जो वस्तु या पदार्थ जिस प्रकार का होता है उसको उस ही रूप में ग्रहण करना "यथार्थ" अनुभव कहलाता है [इसी को दूसरे शब्दों में यथार्थज्ञान अथवा 'प्रमा' कहा जाता है।]। इसी बात को ध्यान में रखते हुये तर्कभाषाकार ने भी बुद्धि के प्रकरण में "यथार्थोऽर्था-विसंवादी (अर्थ [वस्तु, पदार्थ] के अनुरूप ज्ञान यथार्थ है।)" यह 'यथार्थाऽनुभव' का लक्षण किया है। यथार्थ से भिन्न रूप में ग्रहण करना 'अयथार्थ ज्ञान' अथवा 'अप्रमा' कहा जाता है। अर्थात् जो अर्थ (वस्तु या पदार्थ आदि) जिस प्रकार का है उसका अनुभव यदि उस ही रूप में न हो तो उस अनुभव को 'अयथार्थ' कहा जायगा। इसी को स्पष्ट करते हुये तर्क-भाषाकार ने आगे लिखा है :—"अयथार्थः तु अर्थव्यभिचारी' अर्थात् 'अय-थार्थअनुभव' तो अर्थ के अनुरूप नहीं हुआ करता है।

अथार्थ-अनुभव के तीन प्रकार—अयथार्थ-अनुभव तीन प्रकार का होता है। (१) संशय, (२) विपर्यय और (३) तर्क। 'तर्कभाषा' में इन तीनों के लक्षण किये गये हैं। उसके अनुसार इन तीनों का विवरण निम्न लिखित है:—

(१) संशय—"एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः" अर्थात् किसी एक पादर्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का ज्ञान होना ही 'संशय' कहलाता है। जैसे—अन्धकार में अथवा धुंधले से प्रकाश में किसी पेड़ के ऊँचे से ठूँठ को देखकर यह संशय होता है कि "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" अर्थात् क्या यह स्थाणु (ठूँठ) है अथवा पुरुष है ? यह संशयात्मक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है क्योंकि यह ज्ञान वस्तु के अनुरूप ज्ञान नहीं है। यथार्थ-अनुभव तो वस्तु के अनुरूप ही होता है तथा निश्चयात्मक हुआ करता है।

(२) विपर्यय—"विपर्ययस्तु अतस्मिन् तद्ग्रहः" अर्थात् जो वस्तु जैसी न हो उसे उस रूप में जान लेना अथवा समझ लेना ही 'विपर्यय' कहलाता है। इसी को दूसरे शब्दों में भ्रम अथवा भ्रान्ति भी कहा जाता है। जैसे-कोई व्यक्ति दूर से चमकती हुयी सीपी (शुक्तिका) को देखकर उसे रजत (चाँदी) समझ लेता है। यहाँ पर जो वस्तुतः चाँदी नहीं है उसमें इस प्रकार का अनुभव हो रहा है कि 'यह चाँदी है'। अतः यह अनुभव 'विपर्यय' है। इसी प्रकार रस्सी (रज्जु) सर्प का ज्ञान होना भी निपर्यय अथवा भ्रान्ति है। यद्यपि यह ज्ञान निश्चितता से पूर्ण होता है किन्तु फिर भी जो वस्तु जैसी है उसका ज्ञान उस ही रूप में नहीं होता है। अतः इसको अयथार्थ ज्ञान ही कहा जायेगा।

(३) तर्क—'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः" अनिष्ट की प्राप्ति 'तर्क' कहलाती है। जब दो पदार्थों में से एक की विद्यमानता होने पर दूसरे का होना निश्चित होता है। तो एक के विद्यमान होने की कल्पना (ऊहा) करते ही दूसरे पदार्थ की सत्ता (न चाहते हुये भी।) स्वीकार करनी पड़ा करती है। यही अनिष्ट की प्राप्ति 'तर्क' नाम से कही जाती है। जैसे—कि हम सभी इस बात को महानस (रसोई) में प्रतिदिन देखकर जान जाते हैं कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है। पर्वत इत्यादि में निकलते हुये धूम को देखकर हमने किसी से कहा कि इस पर्वत में अग्नि है। किन्तु उस व्यक्ति ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब हमने यह तर्क दिया कि 'यदि धूम वह्नि का व्याप्य न होता तो वह्नि से उत्पन्न भी न होता'। इस तर्क को यथार्थ—अनुभव नहीं कहा जाता है क्योंकि यह पदार्थ के स्वरूप के अनुरूप निश्चयात्मक—अनुभव की श्रेणी में नहीं आता है। अपितु अनिष्ट की ही प्राप्ति कराता है। यहाँ "पर्वत में अग्नि है' इसी प्रकार का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता है। तर्क के आधार पर उसको स्वीकार करना पड़ता है। अतएव यह कहा जाना उचित ही है कि 'तर्क' निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था का नाम है। तर्क केवल

एक पक्ष का समर्थनमात्र करता है उसका निश्चय नहीं करता है कि यह पदार्थ ऐसा ही है। अतएव अनिश्चयात्मक होने के कारण तर्क को यथार्थज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार ज्ञान तथा 'अनुभव' दोनों के बारे में विस्तार से विचार किया गया। अब प्रमा के लक्षण "यथार्थानुभवः प्रमा" के बारे में विचार कर लेना है। 'यथार्थानुभवः' प्रमा के इस लक्षण में 'यथार्थ' और अनुभव इन दो पदों का समावेश है। लक्षण में किस पद के रखने का क्या 'प्रयोजन' है? इसके जानने का सीधा-सा मार्ग यह है कि उस पद को लक्षण में से हटा दिया जाय और तब देखा जाय कि इसका क्या प्रभाव होता है? तब उस पद के रखने की वास्तविक उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त हो जावेगा। 'प्रमा' के उक्त लक्षण में से 'यथार्थ' पद को हटा देने से "अनुभवः प्रमा" केवल इतना ही लक्षण अवशिष्ट रह जावेगा तथा इस लक्षण की उपर्युक्त संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञानों में भी अतिव्याप्ति हो जावेगी। और इनसे सम्बन्धित ज्ञानों को भी 'प्रमा' मान लिया जावेगा ये सभी ज्ञान अयथार्थ हैं। अतः संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान में 'प्रमा' के लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये 'यथार्थ' पद का रखा जाना परमावश्यक है।

इसी भाँति यदि 'प्रमा' के लक्षण में से 'अनुभवः' यह पद निकाल दिया जाय तो "यथार्थज्ञानं प्रमा" इतना ही प्रमा का लक्षण शेष रह जायगा। और तब यह लक्षण 'स्मृति' में भी चला जायेगा। अतएव 'स्मृति' में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'अनुभव' पद का रखा जाना भी आवश्यक है।

विशेष—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि जो पदार्थ जिस प्रकार का है उसको उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थज्ञान अथवा 'प्रमा' कहा जाता है। उससे भिन्नरूप में ग्रहण करना अयथार्थज्ञान अथवा "अप्रमा" कहा जाता है। इसी अयथार्थज्ञान अथवा अप्रमा के संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान इन तीन भेदों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। "नैयायिकों ने उक्त 'अप्रमा' का लक्षण करते हुये लिखा है—"तदभाववतितत्प्रकारकं ज्ञानमप्रमा" अर्थात् 'तदभाववति-रजतत्वाभाववति' जिसमें रजतत्व का अभाव हो उस शुक्ति (सीप) आदि में तत्प्रकारक अर्थात् रजतत्वविशिष्ट ज्ञान का होना ही 'अप्रमा' है। अतः इस प्रकार के ज्ञान का नाम 'अयथार्थज्ञान' अथवा 'अप्रमा' है। इसी को 'मिथ्याज्ञान' नाम से भी कहा जाता है। यही 'विपर्यय' ज्ञान है।

इसके अलवा 'संशय' तथा 'तर्क' को भी अयथार्थज्ञान ही कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ का अपना एक निश्चितस्वरूप हुआ करता है। उस निश्चित स्वरूप के आधार पर जो उस पदार्थ का ग्रहण है वही उसका 'यथार्थ-ज्ञान' है—"तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थोऽनुभवः"। किन्तु 'संशय' में पदार्थ का निश्चयात्मक रूप से ग्रहण नहीं हुआ करता है। अतः अनिश्चय से परिपूर्ण 'संशय' ज्ञान भी "तदभाववति तत्प्रकारकम्" होने से अयथार्थज्ञान अथवा अप्रमा की ही श्रेणी में आता है।

इसी प्रकार 'तर्क' भी निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था का नाम है। कहने का अभिप्राय यह है कि तर्क केवल एक पक्ष का समर्थन मात्र करता है। यह निश्चय नहीं करता कि यह पदार्थ ऐसा ही है। अतः अनिश्चया-त्मक ज्ञान होने के कारण इसकी भी गणना 'अयथार्थज्ञान अथवा अप्रमा के अन्तर्गत की जाती है।]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि 'यथार्थ अनुभव' का ही नाम 'प्रमा' है। इस यथार्थ अनुभव (प्रमा) के 'करण' को ही 'प्रमाण' कहा गया है। यथार्थानुभवरूप प्रमा की उत्पत्ति ही प्रमाणरूप करण का 'साध्य' अथवा 'फल' है। इस भाँति 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' प्रमाण के इस लक्षण में से 'प्रमा' की व्याख्या संपन्न हुयी। अब लक्षण का दूसरा पद 'करण' है। उसका भी स्पष्टीकरण किया जाना आवश्यक है। अतः अब उसी 'करण' की व्याख्या करते हैं :—

करणम्

किं पुनः करणम् ? साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधक-तमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः।

प्रश्न—(पुनः) फिर [प्रमाण के लक्षण में विद्यमान] (करणम्) 'करण' का (किम्) क्या अर्थ है ?

उत्तर :—(साधकतमम्) अतिशयित साधक [अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कारण] (करणम्) 'करण' कहलाता है। (अतिशयितम्), अतिशयित (साधकम्) साधक ही (साधक+तमम्) साधकतम है। (प्रकृष्टम्) [किसी कार्य का] (प्रकृष्टम्) प्रकृष्ट [सर्वोत्कृष्ट] (कारणम्) कारण [करण है] (इत्यर्थः) यह अर्थ है।

[आचार्य पाणिनि ने भी 'करण' का लक्षण करते हुये लिखा है—"साध-कतमं करणम्" (अष्टा० १।४।४२।।) इसमें 'साधकतमम्' यह लक्षण भाग है और 'करणम्' लक्ष्यभाग। यहाँ पर 'साधक' का अर्थ 'कारण' है। 'तमप्'

प्रत्यय का प्रयोग अतिशय' अर्थ में किया जाता है। अतः 'अतिशयितं साधकं साधकतमम्' यह 'साधकतम' शब्द की व्युत्पत्ति हुयी। 'साधकतम' शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्ट कारण'। अतः यह अर्थ हुआ कि किसी कार्य के प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कारण को करण कहते हैं।

इस स्थल पर ('प्रकृष्टं कारणं' में) 'प्रकृष्ट' शब्द का स्पष्टीकरण तर्कभाषाकार द्वारा नहीं किया गया है। अतः इस ग्रन्थ के कुछ अन्य टीकाकारों ने 'करण' के स्वरूप को अन्य प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'करण' शब्द की एक प्रसिद्ध परिभाषा भी उपलब्ध होती है :—

"व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्"

अर्थात् व्यापार से युक्त असाधारण कारण को करण कहा जाता है। कारण भी दो प्रकार के हुआ करते हैं (१) साधारण कारण (२) असाधारण कारण। साधारण कारण वे होते हैं कि जो प्रत्येक कार्य के प्रति कारण हुआ करते हैं। जैसे—न्यायदर्शन तथा वैशेषिकदर्शन के अनुसार ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न, देश, काल आदि सभी कार्यों के कारण हैं। यही कारण 'साधारण कारण कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कारण इस प्रकार के हुआ करते हैं कि जो किसी कार्य के प्रति 'निमित्त' हुआ करते हैं। जैसे घट के निर्माण में कुम्भकार, मिट्टी, चाक तथा चाक को चलाने वाला दण्ड आदि। ये सभी 'घट' के 'असाधारण' कारण कहे जाते हैं क्योंकि ये किसी अन्य कार्य 'पट' आदि के कारण नहीं हुआ करते हैं। अतः निष्कर्ष यह है कि जो सभी कार्यों के प्रति कारण हो सकें वे साधारण-कारण तथा जो किसी विशिष्ट कार्य के ही प्रति कारण हों उन्हें असाधारण कारण कहा जाता है। इन असाधारण कारणों में भी जो कारण 'व्यापार' से युक्त हुआ करता है उसी को 'करण' कहा जाता है। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह 'व्यापार' क्या है? अथवा व्यापार किसे कहते हैं?

तर्कभाषाकार ने अवान्तर व्यापार का लक्षण करते हुये लिखा है :— "तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः" अर्थात् जो स्वयं तत् अर्थात् उस (करण) से उत्पन्न हो और तज्जन्य अर्थात् उस (करण) से उत्पन्न होनेवाले (जन्य = कार्य, फल) का जनक हो वह अवान्तर-व्यापार कहलाता है। [यह व्यापार सर्वदा करण तथा फल अथवा कार्य के मध्य में ही रहा करता है अतः उसे अवान्तर (अर्थात् मध्य में रहने वाला व्यापार कहा गया है।] इसी व्यापार को केवल 'व्यापार' नाम से भी कहा जाता है। अतः यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जो करण से उत्पन्न होता है तथा करण से उत्पन्न होने वाले (कार्य अथवा फल) का जनक (उत्पादक) होता है वह 'व्यापार'

कहलाता है। उदाहरणार्थ—जब कोई व्यक्ति फरसे द्वारा लकड़ी को काटता है। तो वहाँ फरसा 'करण' है तथा छिदा (कटना) 'फल' है। फरसा तथा वृक्ष का संयोग ही व्यापार है। यह संयोग स्वयं फरसे (करण) से उत्पन्न (अथवापरशुजन्य) होता है और 'कटने' रूप कार्य का जनक है जो कि फरसे द्वारा किया जा रहा है।

इस स्थल पर यह भी ध्यान रखने योग्य है कि करण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः करण के स्वरूप का वर्णन करते हुये यह भी कहा गया है कि करण वह कारण है कि जिसके विद्यमान रहने पर फल की अप्राप्ति नहीं रहा करती है—"फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्"। यही कारण का प्रकर्ष है। अतः प्रकृष्ट कारण ही "करण" है।]

कारण का लक्षण—

"प्रमाकरणं प्रमाणम्" प्रमाण के इस लक्षण के प्रसङ्ग में करण का लक्षण अभी किया जा चुका है। और उसमें यह बतलाया गया है कि प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) कारण का ही नाम 'करण' है। अतः यह आवश्यक है कि हम यह भी समझ लें कि 'कारण' किसे कहते हैं। तभी यह समझ सकेंगे कि प्रकृष्ट-कारण अर्थात् करण क्या है? अतः यहाँ कारण के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत है :—

कारणम्

ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते किन्तत्कारणमिति। उच्यते। यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्। यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।

[प्रश्न—] (साधकम्) साधक [और] (कारणमिति) कारण ये तो (पर्यायः) पर्यायवाचक हैं। (तदेव) यही (न ज्ञायते) ज्ञात नहीं है कि (तत्कारणम्) वह कारण (किम् इति) क्या है?

[उत्तर—] (उच्यते) कहते हैं। (यस्य) जिसका (कार्यात्) कार्य से (पूर्वभावः) पहले होना (भावः = सत्ता) (नियतः) नियत हो [अर्थात् कार्य अर्थात् उत्पन्न होने वाले घट आदि पदार्थ से पूर्व सत्ता निश्चित हो] (च) और जो (अनन्यथासिद्धः) अन्यथासिद्ध न हो (तत्) वह (कारणम्) 'कारण' कहलाता है। (यथा) जैसे (तन्तुवेमादिकम्) तन्तु [धागा, डोरा] तथा वेमा [वस्त्र बुनने का साधनरूप दण्ड विशेष] इत्यादि (पटस्य) पट [वस्त्र] के (कारणम्) कारण हैं।

[इस भाँति यह 'कारण' का सामान्य लक्षण हुआ, अर्थात् "यस्य कार्यात् पूर्वभावः नियतः अनन्यथा सिद्धः च"। 'कारण' के इस लक्षण अंश में "यस्य कार्यात् पूर्वभावः" जिसकी कार्य से पूर्व सत्ता [विद्यमानता] हुआ

करती है, कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि कारण तथा कार्य दोनों की स्थिति पृथक् २ है। 'कारण' की सत्ता पहले होती है और कार्य की बाद में। सभी आचार्यों ने इस बात को स्वीकार किया है कि कारणों के होने पर ही कार्य हुआ करता है। इसी कारण उक्त लक्षण में कारण को कार्य से 'पूर्वभावी' कहा गया है। जैसे पट (वस्त्र) कार्य है। उसके कारण हैं—तन्तुवाय, तन्तु, तुरी वेम आदि। ये सभी कारण पट से पूर्व ही विद्यमान रहा करते हैं। अतः कारण पूर्वभावी होता है और कार्य पश्चाद् भावी। इस विवरण से कारण एवं कार्य का भेद स्पष्ट हो जाता है।]

'कारण' के उपर्युक्त लक्षण में 'नियतः' और 'अन्यथासिद्धश्च' ये दो विशेषण पद रखे गये हैं। इन दोनों पदों के रखने का विशिष्ट प्रयोजन है। यदि "यस्य कार्यात् पूर्वभावः" इतना ही कारण का लक्षण किया गया होता तो इस लक्षण में 'अतिव्याप्ति' नामक दोष आ जाता। इसी दोष के निवारण के लिये उक्त लक्षण में "नियतः" तथा "अनन्यथासिद्धः" इन दो पदों को रखा गया है।]

अब पहले कारण के लक्षण में "नियत" पद को रखने के प्रयोजन का उल्लेख करते हैं :—

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः।

(यद्यपि) यद्यपि (पटोत्पत्तौ) पट [वस्त्र] की उत्पत्ति [के समय] में (दैवात्) दैवयोग से (आगतस्य) आये हुये (रासभादेः) गर्दभ आदि का (पूर्वभावो) पूर्वभाव [पहले विद्यमान होना] (विद्यते) हो सकता है (तथापि) फिर भी (असौ) वह (नियतः न) निश्चित नहीं है [अर्थात् जब-जब भी जहाँ-जहाँ भी कपड़ा बने तब-तब रासभ [गर्दभ] की उपस्थिति अवश्य ही विद्यमान रहे यह बात अनिवार्य नहीं है।]।

["नियत" शब्द का अर्थ है—'अवश्यंभावी'—नियमपूर्वक अथवा निश्चितता के साथ विद्यमान रहने वाला। यदि इस पद को कारण के लक्षण में से हटा दिया जाय तो 'कारण का केवल" यस्य कार्यात् पूर्वभावः तत्कारणम्" इतना ही लक्षण किया जाय तो घट, पट आदि कार्यों की उत्पत्ति से पूर्व अचानक आ उपस्थित हुयीं सभी वस्तुएँ घट, पट आदि कार्यों के कारण की श्रेणी में आ जावेंगी। जैसे—यदि घट, पट आदि की उत्पत्ति से पहले संयोगवश कोई गर्दभ (रासभ) आदि अन्य प्राणी आ जाय तो उसकी भी घट, पट आदि कार्यों से पूर्व सत्ता विद्यमान रहने से उसे भी—'कार्यात् पूर्वभावी' मानना ही होगा। अतः गर्दभ को भी घट, पट आदि का कारण मानना

होगा। किन्तु वास्तविकता यह है कि वह गर्दभ घट, पट आदि का कारण नहीं है। अतः कारण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा। इसी दोष के निवारण हेतु 'नियत' पद को लक्षण में रक्खा गया है। 'नियत' पद रखने पर जो वस्तु कार्य की उत्पत्ति से पूर्व नियमपूर्वक रहती है अर्थात् कार्य में जिसकी उपयोगिता निश्चित है—अनिवार्य है, उसही को कारण कहा जा सकता है। अथवा यदि यह कहा जाय कि जिसकी पूर्वसत्ता के बिना कार्य की उत्पत्ति का होना सम्भव नही है वही कारण है, तो यह अनुपयुक्त न होगा। दैवात् [संयोगवश] आये हुये रासभ [गर्दभ] आदि की पूर्वसत्ता तो है किन्तु वह नियत नहीं है अर्थात् जब-जब भी घट, पट आदि का निर्माण हो तब-तब रासभ [गर्दभ] आदि की पूर्वविद्यमानता अवश्य हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः 'नियत' पद को लक्षण में रखने से रासभ आदि में कारण का लक्षण नहीं जायगा। तन्तु वेमा आदि की पूर्वसत्ता होना नियत है अर्थात् जब भी पट की उत्पत्ति होगी तो उससे पूर्वतन्तु वेमा आदि का होना अनिवार्य होगा। अतः नियतपूर्वभावी होने से तन्तु वेमा आदि को पट का कारण कहना टीक ही है। किन्तु रासभादि 'पूर्वभावी' होते हुये भी 'नियतपूर्वभावी' न होने से 'कारण' की श्रेणी में नहीं आ सकते।]

तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरव प्रसङ्गात्।

तेन अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्ध नियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्।

अब कारण के उक्त लक्षण में विद्यमान "अनन्यथासिद्ध" पद की उपयोगिता पर विचार करते हैं—[पट (वस्त्र) की उत्पत्ति में] (तन्तुरूपस्य) तन्तुरूप का (नियतः) नियत (पूर्वभावः) पूर्वभाव (अस्ति एव) तो है ही (किन्तु) किन्तु [वह] (अन्यथासिद्धः) अन्यथासिद्ध [होने से पट के प्रति कारण नहीं हो सकता] है। (पटरूपजननोपक्षीणत्वात्) पट के रूप के उत्पादन में ही उसकी [उपयोगिता अथवा शक्ति की] समाप्ति हो जाने से। (पटं प्रति अपि) [अतः] पट के प्रति भी [तन्तुरूप के] (कारणत्वे) कारणत्व स्वीकार करने में (कल्पनागौरवप्रसङ्गात्) कल्पना-गौरव का प्रसङ्ग आ जाने से।

(तेन) इस [कारण] से (अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्) अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व [यह] (कारणत्वम्) कारणत्व अर्थात् कारण का लक्षण है। और (अनन्यथासिद्ध नियतपश्चाद् भावित्वम्) अनन्यथासिद्ध नियत पश्चाद् भावित्व [ही] (कार्यत्वम्) कार्यत्व का अर्थात् कार्य का लक्षण है।

["अनन्यथासिद्ध" का अर्थ है कि जो अन्यथासिद्ध न हो। जो निश्चितरूप से पूर्ववर्त्ती तो हो किन्तु उसकी पूर्ववर्त्तिता किसी अन्य पदार्थ की पूर्ववर्त्तिता पर आश्रित हो, उसे 'अन्यथासिद्ध' कहा जाता है। जिस पदार्थ का कारणत्व किसी अन्य कार्य के उत्पादक के रूप में समाप्त न हुआ हो वह 'अनन्यथासिद्ध' कहा जाता है। अभिप्राय यह है प्रत्येक कारण में कार्य को उत्पन्न करने की एक शक्ति हुआ करती है। वह शक्ति जब किसी एक कार्य के करने में प्रयुक्त हो चुकी होती है तो वह कारण किसी अन्य कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' कहा जाता है। जैसे तन्तु पट का कारण है। जब उन तन्तुओं से 'पट' रूप कार्य हो चुका तो अब वे तन्तु पट में विद्यमान 'पटरूप' के प्रति 'अन्यथासिद्ध' ही कहे जावेंगे। अतः कारण के लक्षण में "अनन्यथासिद्ध" पद इसी कारण रखा गया कि जिससे 'अन्यथासिद्ध' कारणों का पुनः ग्रहण न किया जा सके। यदि 'अनन्यथासिद्ध' पद को कारण के लक्षण में से हटा दिया जाय तो 'कारण' का लक्षण यह होगा—"यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतः तत्कारणम्"। और इस लक्षण के आधार पर 'तन्तुरूप' भी 'पट का कारण हो जायगा। क्योंकि यह तो सर्वसम्मत है कि 'तन्तु' 'पट' का कारण है। वह पट का नियतपूर्वभावी है। तन्तु में "तन्तुरूप" भी विद्यमान है। यह तन्तुरूप भी 'पट' की उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान है अर्थात् 'पट' से नियत-पूर्वभावी है। अतः उक्त लक्षण के आधार पर तन्तुरूप को भी पट का कारण मानना होगा। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तन्तुरूप को पटरूप का कारण माना गया है क्योंकि पटरूप के ही उत्पादन में तन्तुरूप का उपयोग समाप्त हो जाता है और उसे पट का कारण स्वीकार नहीं किया जाता। अतः उक्त लक्षण के आधार पर तन्तुरूप को पट का कारण मान लेने पर लक्षण में 'अतिव्याप्ति' नामक दोष आ जायगा। अतएव इसी दोष के निराकरण के निमित्त लक्षण में "अनन्यथासिद्ध" पद का प्रयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है तन्तुरूप पटरूप का ही कारण है। 'तन्तुरूप' की कारणता 'पटरूप' के प्रति ही समाप्त हो चुकी है। इस भाँति यह स्पष्ट है कि 'तन्तुरूप' पट के प्रति 'अन्यथासिद्ध' है अतः अन्यथासिद्ध होने के कारण वह 'पट' के प्रति कारण नहीं हो सकता।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि यदि तन्तुरूप को पट तथा पटरूप दोनों का कारण मान लिया जाय तो क्या हानि है?

इसके उत्तर में तर्कभाषाकार का कहना है—"पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्"। अर्थात् तन्तु आदि को पट का कारण स्वीकार कर लिये जाने पर ही 'पट' कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। फिर जब 'पट' कार्य

की उत्पत्ति हो ही गयी तो 'तन्तुरूप' को भी पट का कारण मानना कल्पना-गौरव ही है अर्थात् ऐसा मानने की कोई उपयोगिता नहीं है। साथ ही कल्पना-गौरव भी एक प्रकार का दोष ही है। 'तन्तुरूप' को 'पट' का कारण मानना पूर्णतया अनुपयुक्त तथा असंगत ही है।

कल्पना-गौरव—'चिन्नंभट्ट' ने "कल्पना-गौरव" का स्पष्टीकरण करते हुये लिखा है :—

"समर्थाल्पकल्पना कल्पनालाघवम्, समर्थानल्पकल्पना कल्पना-गौरवम्।"

अर्थात् जहाँ अल्प-कल्पना ही किसी तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ होती है वहाँ 'कल्पनालाघव' तथा जहाँ अल्पकल्पना से ही कार्य हो रहा हो वहाँ और अधिक कल्पना का किया जाना "कल्पनागौरव" कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि कारण के लक्षण में 'नियत' तथा 'अनन्यथासिद्ध' पदों का रखा जाना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्कभाषाकार द्वारा किया गया 'कारण' का लक्षण पूर्णतया युक्तिसंगत ही है अतएव तर्कभाषाकार का यह कथन सही ही है कि:—

अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्"

तथा

"अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्"।

'कारण' के उपर्युक्त लक्षण में "अनन्यथासिद्ध" पद का अपना विशिष्ट महत्व है। अतः इस पद को भलीभाँति समझने के लिये "अन्यथासिद्ध" पद को समझ लेना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। इस दृष्टि से यहाँ विश्वनाथ कृत न्यायमुक्तावली में प्रतिपादित पाँच प्रकार के अन्यथासिद्धों को स्पष्ट किया जा रहा है :—

"येन सह पूर्वभावः, कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यक पूर्वभाविनः॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥
तृतीयन्तु भवेद्व्योम, कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥ न्यायसि॰मु॰ १९-२२।

(१) प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण है:—"येन सह पूर्वभावः" अर्थात् जिस धर्म के साथ कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव होता है वह धर्म

कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है जैसे—'घट' का एक कारण 'दण्ड' भी है। उसकी कारणता दण्डत्व धर्म विशिष्ट प्रकार के दण्ड में (अर्थात् कुम्भकार के चाक घुमाने वाले दण्ड में विद्यमान है। अर्थात् उस दण्ड में दण्डत्व-धर्म भी है। घट के प्रति दण्ड का पूर्वभाव नियत है और उस दण्ड के साथ दण्डत्व-धर्म भी। किन्तु यह दण्डत्वधर्म घट के प्रति अन्यथा-सिद्ध है—"दण्डत्वादिकम् आदिमम्"।

(२) द्वितीय 'अन्यथासिद्ध' का लक्षण है—"कारणमादाय वा यस्य (पूर्वभावः) किसी कार्य के प्रति किसी पदार्थ आदि का नियतपूर्वभावित्व का ज्ञान उसके कारण के द्वारा होता है सो वह पदार्थ उस कार्य के प्रति "अन्यथा सिद्ध" होता है। कहने का तात्पर्य यह है जिसका कार्य के साथ स्वतन्त्ररूप से अन्वय व्यतिरेक न हो, अपितु अपने कारण के द्वारा अन्वय व्यतिरेक हो उसे "अन्यथासिद्ध' कहा जाता है। जैसे—घट के प्रति दण्डरूप (दण्डका रूप) का स्वतः अन्वय व्यतिरेक न होकर अपने कारण दण्ड के द्वारा ही अन्वय व्यतिरेक होता है। अथवा घट कार्य के प्रति दण्ड भी कारण है। उस दण्ड में दण्डरूप भी विद्यमान है। दण्ड घट का नियतपूर्वभावी है। अतः हम यह समझते हैं कि दण्डरूप भी घट का नियतपूर्वभावी है। किन्तु यह दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। "घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्।

(३) तृतीय 'अन्यथासिद्ध' का लक्षण—"अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्व-भाव विज्ञानम्"। अर्थात् किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर ही जिस [पदार्थ] का [प्रस्तुत] कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना जा सके वह पदार्थ प्रस्तुतकार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होगा। उदाहरण—आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। उसकी सिद्ध शब्द के समवायिकारण के रूप में अनुमान द्वारा ही होती है। अतः अन्य अर्थात् शब्द के प्रति पूर्वभाव अर्थात् कारणरूप में विद्यमान 'आकाश' की सिद्धि होने पर ही घट के प्रति उसका पूर्वभाव जाना जा सकता है। अतः घट के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है—"तृतीयं तु भवेद्व्योम"।

(४) चतुर्थ अन्यथासिद्ध का लक्षण—"जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते (पूर्वभावः)। जनक अर्थात् कारण के प्रति पूर्ववृत्तिता अर्थात् कारणत्व के बिना जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना न जा सके अर्थात् जो कारण का भी कारण हो वह चौथा अन्यथासिद्ध है। जैसे—कुम्हार (कुम्भकार) के प्रति पूर्वभाव को जाने बिना कुम्भकार के पिता का घट के प्रति पूर्वभाव नहीं जाना जा सकता है। अतः कुम्भकार का पिता घट के प्रदि 'अन्यथासिद्ध' है:—"कुलालजनकोऽपरः"।

(५) पंचम अन्यथासिद्ध का लक्षण--"अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यक-पूर्वभाविनः"। अर्थात् आवश्यक नियत पूर्वभावी के अतिरिक्त जो भी पदार्थ होते हैं वे सभी अन्यथासिद्ध होते हैं। जैसे—'पट' की उत्पत्ति के प्रति दैवात् आया हुआ गर्दभ—"पञ्चमो रासभादिः।"

इस प्रकार 'मुक्तावलीकार' ने पाँच प्रकार के "अन्यथासिद्ध" कहे हैं। किन्तु इन सभी में पाँचवा ही मुख्य है। इसी कारण तर्कभाषाकार द्वारा इस पञ्चम अन्यथासिद्ध को ही ध्यान में रखते हुये शेष चार प्रकार के अन्यथासिद्धों से पृथक् विशेषरूप से 'नियत' पद द्वारा सूचित किया गया। अन्यथा "अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वं कारणत्वम्"। इतना ही कारण का लक्षण किया जा सकता था। कारण के इस लक्षण में 'नियत' पद के रखने की आवश्यकता न पड़ती। क्योंकि उसका काम 'अनन्यथासिद्ध' पद से ही पूरा हो गया होता। किन्तु उसके इस विशिष्ट महत्त्व के कारण ही कारण के लक्षण में उक्त पद का समावेश किया गया है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के अन्यथासिद्धों के अन्तर्गत विद्यमान तृतीय अन्यथा-सिद्ध के उदाहरण में 'आकाश को प्रस्तुत किया है :—"तृतीयं तु भवेद् व्योम"। किन्तु यह उदाहण उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि 'आकाश' को तो सभी कार्यों के प्रति साधारण कारण माना गया है। जैसा कि इस ग्रन्थ की अगली ही पंक्ति में ("नित्यविभूनां व्योमादीनां...इत्यादि में") में कहा गया है। अतः मुक्तावलीकार द्वारा तृतीय अन्यथासिद्ध के उदाहरण में 'आकाश' को न रखकर कोई अन्य उदाहरण ही देना उचित था।

"शब्दं प्रति अकारणत्वप्रसङ्गात्" मानने पर आकाश को अन्य कार्यों के प्रति अन्यथासिद्ध कहा जा सकता है। उक्त स्थिति में आकाश, शब्द के प्रति तो कारण रहेगा ही; किन्तु कार्यमात्र के प्रति अन्यथासिद्ध हो जायगा।

इस प्रकार सोदाहरण कारण के लक्षण का वर्णन कर तर्कभाषाकार अब यह बतलाते हैं कि दूसरों द्वारा प्रस्तुत किये गये कारण के लक्षण पूर्णतया अनुपयुक्त हैं :—

यत्तु कश्चिदाह कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणमिति, तदयुक्तम्। नित्यविभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारण-त्वप्रसङ्गात्।

जो किसी ने कहा है कि "कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्" [अर्थात् कार्य के द्वारा जिसके अन्वय व्यतिरेक का अनुसरण किया जाता है"।] यह कारण का लक्षण है वह अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कहने पर नित्य और विभु [सर्वव्यापक] आकाश, काल आदि पदार्थों का किसी काल अथवा देश में

व्यतिरेक (अभाव) संभव न होने से उनमें अकारणत्व प्राप्त होने लगेगा अर्थात् आकाशादि कारण न कहे जा सकेंगे।

कहने का अभिप्राय यह है कि यदि मीमांसक आदि द्वारा किया गया "कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्" यह कारण का लक्षण स्वीकार कर लिया जाय तो नित्य तथा सर्वव्यापक आकाश आदि पदार्थों का किसी देश अथवा किसी भी काल में अभाव संभव न होने से उनमें कारण का यह लक्षण नहीं जा सकेगा। अतः 'अव्याप्ति' दोष से युक्त यह लक्षण उचित प्रतीत नहीं होता है।

[मीमांसक आदि द्वारा कारण का यह लक्षण माना गया है कि— "कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्'। इसका अभिप्राय यह है कि "कार्येण अनुकृतौ, अन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत्कारणम्" अर्थात् कार्य जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करता है उसको 'कारण' कहा जाता है। किसी के होने पर किसी अन्य का होना (तत्सत्वे तत्सत्ता, अन्वयः) 'अन्वय' कहलाता है तथा किसी के न होने पर किसी अन्य का न होना (तदभावे तदभावः। व्यतिरेकः) 'व्यतिरेक' कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार कारणता का निर्णय, 'अन्वय' एवं 'व्यतिरेक के आधार पर ही किया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिसके होने पर कार्य होता है तथा जिसके न होने पर कार्य नहीं होता है वह 'कारण' कहलाता है। जैसे–मिट्टी (कारण) के होने पर घट (कार्य) होता है (अन्वय) तथा मिट्टी (कारण) के न होने पर घट (कार्य) नहीं होता। अतः मिट्टी को घट का कारण कहा गया। इसी आधार पर कुछ लोगों ने कारण का 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह लक्षण माना है।

अन्य नैयायिकों की दृष्टि से "कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्" कारण का यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि आकाश, काल आदि जो नित्य तथा विभु (सर्वव्यापक) पदार्थ हैं उनमें कारण का यह लक्षण नहीं जायेगा। क्योंकि आकाश, आदि पदार्थ नित्य हैं उनका किसी भी देश अथवा काल में 'अभाव' संभव नहीं है। 'आकाशसत्वे शब्दसत्त्वम्" इस 'अन्वय' के आधार पर यह तो बन जायेगा कि आकाश के होने पर शब्द होता है किन्तु "आकाशाभावे शब्दाभावः" अर्थात् आकाश का अभाव होने पर शब्द भी नहीं होता, यह व्यतिरेक न बन सकेगा क्योंकि आकाश एक नित्य तथा सर्वव्यापक पदार्थ है कि जिसका किसी भी भाँति अभाव संभव नहीं है। किसी पदार्थ का अभाव दो दृष्टियों से हो सकता है (१) काल की दृष्टि से अर्थात् कालिक और (२) देश की दृष्टि से अर्थात् दैशिक। जैसे—घट, पट इत्यादि पदार्थ अनित्य हैं। उनका कालिक अभाव हुआ करता है। कोई घट इस काल में विद्यमान है, कालान्तर में उसका अभाव हो जाय, यह संभव है। किन्तु आकाश तो नित्य

है, सर्वदा विद्यमान रहने वाला है, उसका अभाव तो कभी भी संभव नहीं है। इसी भाँति उसका दैशिक अभाव भी संभव नहीं है। घट इत्यादि पदार्थ तो 'परिच्छिन्न' परिमाण वाले हैं। अतः उनका दैशिक अभाव संभव है। क्योंकि यदि वह घट एक देश में विद्यमान है तो दूसरे देश (स्थान) में उसका अभाव होना संभव ही है। किन्तु आकाश तो विभु अर्थात् सर्वव्यापक है—सभी मूर्त्तद्रव्यों अथवा पदार्थों से संयुक्त है। क्योंकि ऐसा नियम है कि जो विभु होता है वह सभी मूर्त्तद्रव्यों से संयुक्त हुआ करता है—"विभुत्वं सर्वमूर्त्तद्रव्य-संयोगित्वम्"। अतः किसी भी देश में आकाश का अभाव होना संभव नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिक अथवा दैशिक किसी भी दृष्टि से आकाश का अभाव होना संभव नहीं है। फिर व्यतिरेक 'आकाशाभावे शब्दाभावः' बन ही नहीं सकता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में कारण का लक्षण 'आकाश' में घटित ही न हो सकेगा।

'व्योमादीनां' में आदि शब्द से—ईश्वर, आत्मा, दिक् आदि नित्य एवं विभु पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। कारण का उपर्युक्त लक्षण इन पदार्थों में भी घटित न होगा। इन सभी को शब्द आदि का कारण माना जाता है। अतः 'अव्याप्ति' दोषग्रस्त होने से कारण का "कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्" यह लक्षण अनुपयुक्त ही है।]

कारण के प्रकार—

तच्च कारणं त्रिविधम्। समवायि—असमवायि—निमित्त भेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्। यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।

तर्कभाषाकार स्वाभिमत कारण के लक्षण को स्पष्टकर तथा दूसरों द्वारा किये गये कारण के लक्षण की अनुपयुक्तता को स्पष्ट कर अब कारण के भेदों को बतलाते हैं:—

(च) और (तत्) वह (कारणम्) कारण (त्रिविधम्) तीन प्रकार का है—(१) समवायि कारण (२) असमवायि कारण और (३) निमित्त कारण (भेदात्) भेदों से।

(तत्र) उनमें से (यत्) जिसमें (समवेतम्) समवायसम्बन्ध से (कार्यम्) कार्य (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है (तत्) उसको (समवायिकारणम्) समवायिकारण कहा जाता है। (यथा) जैसे (तन्तवः) तन्तु (पटस्य) पट के (समवायि कारणम्) समवायि कारण हैं। (यतः) क्योंकि (तन्तुषु एव) तन्तुओं में ही (पटः) पट [कार्य] (समवेतः) समवाय सम्बन्ध से (जायते) उत्पन्न होता है, (तुर्यादिषु) तुरी आदि में (न) नहीं।

इस प्रकार तर्कभाषाकार ने कारण के (१) समवायि, (२) असमवायि, और (३) निमित्त ये तीन भेद ही स्वीकार किये हैं। किन्तु 'वाक्यवृत्ति' में प्रमुखरूप से दो प्रकार के कारणों को माना है (१) साधारण कारण (२) असाधारण कारण (२) असाधारण कारण इनमें से (१) ईश्वर तथा उसके (४] ज्ञान (३) इच्छा और (४) कृति, (५) प्रागभाव (६) आकाश (७) काल (८) दिक् इन आठों को कार्यमात्र के प्रति 'साधारण कारण'' कहा गया है। यत्र-तत्र 'प्रतिबन्धक संसर्गाभाव' को भी कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माना जाने से ९ साधारण कारण हो जाते हैं।

'योगदर्शन' के व्यासभाष्यकार' ने भी उत्पत्ति आदि भेदों की दृष्टि से नौ प्रकार के कारणों का उल्लेख किया है :—

"उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।'
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥"

श्री 'उदयनाचार्य' ने भी अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि' में नित्य और विभु आकाश आदि को कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माना है। अतः न्यायमुक्तावलीकार श्री विश्वनाथ ने जो 'आकाश' को तृतीय अन्यथासिद्ध का उदाहरण माना है वह उचित प्रतीत नहीं होता है।

साधारण-कारणों में जो लोग आकाश के स्थान पर धर्माधर्म [अदृष्ट] को साधारण कारण के रूप में स्वीकार करते हैं उनकी दृष्टि में 'आकाश' साधारण कारण नहीं बनता है। जब साधारण कारण नहीं बनेगा तो स्वयं ही वह अन्यथासिद्ध की श्रेणी में आ जायगा ?] । जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसे 'समवायि' कारण कहते हैं। जैसे पट का समवायि कारण तन्तु है, घट का समवायि कारण मिट्टी है।

'समवाय' का अर्थ है जो अपृथक् सिद्ध हों अर्थात् जो कभी भी पृथक् न हो सकें। जैसे पट तथा तन्तु, घट और मिट्टी। तन्तुओं के रहने पर ही 'पट' की स्थिति रहेगी—तन्तुओं के न रहने पर पट भी न रहेगा। इसी भाँति मिट्टी के रहने पर घट।

समवायि कारण से भिन्न जो कारण हुआ करते हैं उनके साथ कार्य का समवाय-सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। समवायि कारणों से भिन्न कारणों के साथ कार्य का संयोग-सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे तुरी, वेमा आदि के साथ 'पट' का 'संयोग' सम्बन्ध है और ये पट के निमित्त कारण होते हैं।

इस भाँति यह स्पष्ट हो गया कि पट का समवायि कारण तन्तु है क्योंकि तन्तुओ में ही समवाय सम्बन्ध के द्वारा पट की उपपत्ति हुआ करती है। इस मन्तव्य में अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि—

ननु तन्तुसम्बन्ध इव तुर्यादि सम्बन्धोऽपि पटस्य विद्यते। तत्कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ?

सत्यम्। द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति। तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। अन्ययोस्तु संयोग एव।

[प्रश्न]—(ननु तन्तु सम्बन्ध) तन्तु [के साथ] सम्बन्ध के (इव) समान ही (तुर्यादि) तुरी आदि के साथ (अपि) भी (पटस्य) पट का (सम्बन्धः) सम्बन्ध (विद्यते) विद्यमान है। (तत्) तो फिर (तन्तुषु एव) तन्तुओं में ही (समवेतः) समवाय सम्बन्ध से (पटः) पट (कथम्) क्यों (जायते) उत्पन्न होता है ? (तुर्यादिषु) तुरी आदि में (न) नहीं।

[उत्तर—]—[यह] (सत्यम्) सत्य है [कि पट का तुरी तथा तन्तु दोनों ही के साथ सम्बन्ध है किन्तु] (सम्बन्धः) सम्बन्ध (द्विविधः) दो प्रकार का होता है (संयोगः) (१) संयोग (समवायः च इति) और (२) समवाय। (तत्र) उनमें से (अयुतसिद्धयोः) दो अयुतसिद्धों [अपृथक् सिद्धों पदार्थों] का (सम्बन्धः) सम्बन्ध (समवायः) समवाय [होता है]। (अन्ययोः तु) किन्तु जो अन्य दो [पदार्थों] का [सम्बन्ध है वह] (संयोग एव) संयोग ही है।

प्रश्नकर्त्ता का भाव यह है कि जब पट (वस्त्र) की उत्पत्ति होती है तब समवायि, असमवायि और निमित्त इन तीनों कारणों से सम्बद्ध ही पट उत्पन्न हुआ करता है। अतः 'पट' का सभी कारणों के साथ समान सम्बन्ध है। तब यह कैसे समझ लिया जाय कि पट केवल तन्तुओं में ही समवेत रहा करता है, तुरी, वेमा आदि में नहीं ?

इसके उत्तर में तर्कभाषाकार का कथन है कि आपकी यह बात ठीक है कि सभी कारणों के साथ कार्य का सम्बन्ध हुआ करता है। किन्तु सर्वत्र कार्य का कारण के साथ समवाय नामक सम्बन्ध ही हो, यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि सम्बन्ध तो दो प्रकार का माना गया है (१) समवाय (२) संयोग। इन दोनों के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेने पर यह स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है कि 'तन्तुओं में ही पट समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, तुरी, वेमा आदि में नहीं। अतः तन्तु ही पट के समवायि कारण हो सकते हैं, तुरी आदि नहीं।

उपर्युक्त दोनों प्रकारों के सम्बन्धों को स्पष्ट करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम पहले 'सम्बन्ध' के सामान्य लक्षण को समझ लें। तर्कभाषाकार ने सम्बन्ध का लक्षण इस प्रकार किया है:—

"सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च" (त० भा० अभावप्रकरण)।

[सम्बन्ध कम से कम दो पदार्थों में हुआ करता है। जिन पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध हुआ करता है उन्हें 'सम्बन्धी' कहा जाता है।] सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है। दोनों पर आश्रित रहा करता है तथा एक हुआ करता है। सम्बन्ध का यह लक्षण संयोग तथा समवाय दोनों ही सम्बन्धों में घटता है। पहले संयोग सम्बन्ध में घटा कर देखिये—[उदाहरण के द्वारा]—मेज तथा पुस्तक के ही सम्बन्ध को ले लीजिये। इन दोनों का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है तथा यह सम्बन्ध मेज तथा पुस्तक दोनों से भिन्न है। किन्तु यह संयोग सम्बन्ध रहता मेज में भी है और पुस्तक में भी (अर्थात् दोनों में रहता है।) साथ ही यह सम्बन्ध है एक ही।

समवाय सम्बन्ध का लक्षण—'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः" अर्थात् दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध कहलाता है। [सम्बन्ध का साधारण लक्षण भी इसमें घटित होता है। अर्थात् यह सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में आश्रित होता है, दोनों सम्बन्धियों से भिन्न हुआ करता है तथा एक होता है।] जिन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ दूसरे के ही आश्रित रहता है अर्थात् जिनमें से एक को दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है वे दोनों पदार्थ 'अयुतसिद्ध' कहलाते हैं तथा ऐसे दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही 'समवाय-सम्बन्ध' कहलाता है। यह सम्बन्ध नित्य तथा एक माना गया है। जैसे—तन्तु और पट का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। ये दोनों पृथक् नहीं किये जा सकते हैं। अतः अयुतसिद्ध हैं और इन दोनों का सम्बन्ध समवाय कहलाता है।

अयुतसिद्ध से भिन्न अर्थात् युतसिद्ध (जो पृथक्-पृथक् हो सकें) पदार्थों का सम्बन्ध 'संयोग' कहा जाता है। युतसिद्ध उन वस्तुओं को कहा जाता है जिनका स्वरूप एक दूसरे पर आश्रित हुये बिना ही पृथक्-पृथक् स्थित रहा करता है। जैसे मेज और पुस्तक आदि]।

'अयुतसिद्ध' की व्याख्या

अभी यह बतलाया जा चुका है कि "अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः"। समवाय के इस लक्षण में 'अयुतसिद्ध' पद पूर्णतया अपरिचित है। अतः इसको स्पष्ट करते हुये कहते हैं:—

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

[प्रश्न–] (पुनः) फिर (कौ) कौन से दो [पदार्थ] (अयुतसिद्धौ) अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अर्थात् किन दो को 'अयुतसिद्ध' कहा जाता है?

[उत्तर–] (ययोः) जिन दो [पदार्थों] के (मध्ये) मध्य में से (एकम्) एक (अविनश्यत्) अविनश्यत् अवस्था में (अपराश्रितम्) दूसरे के आश्रित (एव) ही (अवतिष्ठत) रहा करता है (तौ) वे दोनों [परस्पर] (अयुतसिद्धौ) अयुतसिद्ध [कहलाते] हैं। (तदुक्तम्) इसी से कहा भी गया है:—

(तौ एवं द्वौ) उन ही दो को (अयुतसिद्धौ) अयुतसिद्ध (विज्ञातव्यौ) समझना चाहिये, (ययोः द्वयोः) जिन दोनों में से (एकम्) एक (अनश्यत्) अविनश्यत अवस्था में (अपराश्रितमेव) दूसरे के आश्रित ही (अवतिष्ठते) रहा करता है।

[जो दो पदार्थ पृथक्-पृथक् सिद्ध अथवा निष्पन्न हुआ करते हैं वे युतसिद्ध कहलाते हैं। यथा-मेज और पुस्तक आदि। ये दोनों पदार्थ एक दूसरे के किसी प्रकार के आश्रय के बिना, अपने-अपने स्वरूप में पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं। अतः ये दोनों युतसिद्ध की श्रेणी में आते हैं। जब हम मेज के ऊपर पुस्तक को रख देते हैं तब मेज और पुस्तक इन दो युतसिद्ध वस्तुओं का जो सम्बन्ध होता है उसे 'संयोग' सम्बन्ध कहा जाता है।

जो युत (पृथक्) सिद्ध नहीं होते हैं वे अयुतसिद्ध (अपृथक्सिद्ध) कहलाते हैं। ऐसे अयुतसिद्ध पदार्थ कभी भी अलग-अलग नहीं रहा करते हैं, एक दूसरे के आश्रित ही रहा करते हैं। अतएव अयुतसिद्ध का लक्षण किया गया है:—

"ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ"

अर्थात् जिन दो पदार्थों में एक [पदार्थ] अविनश्यत् अवस्था में दूसरे पर ही आश्रित रहा करता है ऐसे वे दोनों पदार्थ 'अयुतसिद्ध' कहलाते हैं।

अयुतसिद्ध के इस लक्षण में दो पदों की महती उपयोगिता है १–एकम् २–अविनश्यत्। यदि अयुतसिद्ध का इतना "ही लक्षण करें कि "जो दो [पदार्थ] कभी भी पृथक्-पृथक् न रहें, एक दूसरे के आश्रित ही रहें–उन्हीं को अयुतसिद्ध कहा जाता है। इतना ही लक्षण मानने पर यह दोष उत्पन्न हो जायगा कि तन्तु और पट को अयुतसिद्ध कहा गया है। तन्तुओं के बिना पट का अस्तित्व नहीं रह सकेगा किन्तु पट के विना भी तन्तुओं की स्थिति विद्यमान रह सकती है। अतएव इन दोनों को अयुतसिद्ध कैसे कहा जा सकेगा? इस दोष के निराकरण हेतु उक्त लक्षण में 'एकम्' पद को रखा गया है। अतः अब लक्षण होगा—जिन दो पदार्थों में एक [पदार्थ] अविनश्यत् अवस्था में दूसरे पर आश्रित ही रहा करता है वह दोनों पदार्थ अयुतसिद्ध कहलाते हैं। इसके अनुसार जिन दो पदार्थों को 'अयुतसिद्ध'

माना जाता है उनमें से केवल एक का ही दूसरे पर आश्रित रहना आवश्यक है। दोनों का सदा साथ बना रहे—यह आवश्यक नहीं है। अब तन्तु और पट इन दो पदार्थों को ही देखिये। तन्तुओं से पट का निर्माण होता है। अतः पट तन्तु पर आश्रित हैं, वह तन्तुओं के आश्रय के बिना रह नहीं सकता। इसी कारण लक्षण में 'अपराश्रितं एव' का प्रयोग किया गया है। किन्तु पट के कारण जो तन्तु हैं वे पट पर आश्रित नहीं है। पट का निर्माण हुये बिना भी उनकी स्थिति रहा करती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अयुतसिद्ध दो पदार्थों में से केवल एक ही दूसरे पर आश्रित रहा करता है, दोनों परस्पर आश्रित नहीं रहा करते हैं। अतः अयुतसिद्ध के लक्षण में 'एकम्' पद का रखा जाना पूर्णतया आवश्यक है।

अब यदि 'ययोर्मध्ये एकं अपराश्रितं एवं अवतिष्ठते" अर्थात् जिन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ दूसरे पर आश्रित ही रहता है—इतना ही 'अयुतसिद्ध' का लक्षण किया जाय [अर्थात् यदि लक्षण में 'अविनश्यत्' पद को न रखा जाय।] तो भी अयुतसिद्ध का लक्षण पूर्ण न कहा जा सकेगा तथा इस लक्षण की अनेकस्थलों पर 'अव्याप्ति' भी होगी। "लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः" अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न जाय उस लक्षण को 'अव्याप्ति' दोष से पूर्ण कहा जाता है। अतः 'अविनश्यत्' पद को लक्षण में स्थान न देने से 'अयुतसिद्ध' का उक्त लक्षण 'अयुतसिद्ध' के पाँच भेदों में से प्रथम चार भेदों में नहीं जा सकेगा। अब यहाँ अयुतसिद्ध के पाँच भेदों का वर्णन कर देना भी आवश्यक है ताकि उक्त लक्षण में अव्याप्ति सम्बन्धी दोष को भलीभाँति समझा जा सके।

यह तो हम पहले ही बतला चुके हैं कि जिन दो पदार्थों में से एक पदार्थ दूसरे के आश्रित ही रहा करता है अर्थात् एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से अलग करके नहीं रखा जा सकता है उन्हीं दोनों को 'अयुतसिद्ध' कहा जाता है। ऐसे दोनों पदार्थों में परस्पर समवाय-सम्बन्ध हुआ करता है। समवाय सम्बन्ध से युक्त अयुतसिद्ध के पाँच भेद ये हैं :—

(१) अवयव-अवयवी—अवयव का अर्थ होता है अंश, भाग अथवा अङ्ग। अवयवी का अर्थ है—अवयवों से युक्त अङ्गी (एक विशिष्ट प्रकार का द्रव्य अथवा उत्पन्न हुआ पदार्थ)। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से जब तन्तुओं के संयोग से पट बनता है तो तन्तुओं का समुदायमात्र ही पट नहीं कहा जाता है अपितु पट नाम का एक अवयवी (जन्यद्रव्य) ही पैदा हो जाता है जिसको तन्तुओं से भिन्न कहा जाता है। तन्तु उस पट के समवायि कारण हैं तथा अवयव कहलाते हैं और 'पट' कार्य है जिसे अवयवी कहा जाता है। तन्तु तथा पट दोनों अयुतसिद्ध हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि तन्तुओं (अवयवों)

में पट (अवयवी) समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अतः यह भी स्पष्ट हो गया कि अवयवी अवयवों में आश्रित होकर ही रहा करता है।

(२) गुण-गुणी—घट, पट इत्यादि में रूप आदि गुण रहा करते हैं। अतः घट, पट आदि गुणी कहलाते हैं तथा घटरूप, पटरूप आदि गुण। "गुणोऽस्यास्तीति गुणी" अर्थात् गुण जिसके आश्रित रहा करते हैं वह गुणी कहलाता है। घटरूप तथा पटरूप आदि घट, पट आदि के आश्रित रहा करते हैं अतः घट, पट आदि को गुणी कहा जाता है।

गुण 'अविनश्यत्' अवस्था में ही गुणी के आश्रित रहा करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में घट, पट आदि गुणी हैं—कारण हैं तथा घटरूप, पटरूप आदि गुण हैं—कार्य। नैयायिकों के मतानुसार गुण नाश के कई कारण माने गये हैं। जैसे—आश्रय (गुणी-कारण) के नाश होने से अथवा विरोधी गुणों के उत्पन्न हो जाने से किसी गुण का नाश हो जाता है। कारण अथवा गुणी के नाश होने से गुण का भी नाश होने सम्बन्धी उदाहरण देखिये—घट, पट आदि (गुणी) के नष्ट होने से उनमें (घट, पट में) स्थित घटरूप, पटरूप आदि गुणों का नाश भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में घट अथवा पट का नाश ही कारण है घटरूप अथवा पटरूप का नाश ही कार्य है। कार्य की अपेक्षा कारण का नियतपूर्वभावी होना निश्चित ही है। अतः पहले घट अथवा पट का नाश होकर और तत्पश्चात् घटरूप अथवा पटरूप का। इस प्रक्रिया में एक क्षण का अन्तर माना जाता है। "प्रथमक्षण में निर्गुण द्रव्य की ही उत्पत्ति होती है तथा द्वितीयक्षण में उसमें गुण उत्पन्न होते हैं।" इस सिद्धान्त के आधार पर प्रथमक्षण में द्रव्य का नाश होता है और द्वितीयक्षण में उसके गुणों का। अतः प्रथमक्षण में घट, पट आदि का नाश होने के पश्चात् ही घटरूप, पटरूप आदि का नाश हुआ करता है। जिस क्षण में घट, पट आदि का नाश होता है वह क्षण घटरूप, पटरूप आदि के नाश की दृष्टि से 'विनश्यदवस्था' ही है क्योंकि उस क्षण घटरूप अथवा-पटरूप के नाश की सामग्री (अर्थात् घट अथवा पट का नाश) समीपस्थ रहा करती है। इस "विनश्यत्" अवस्था में गुणी में गुण आश्रित नहीं रहा करता है। अतः गुण को निराश्रित ही कहा जायगा। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण तथा गुणी दोनों में से एक (अर्थात् गुण) 'अविनश्यदवस्था' में ही गुणी के आश्रित रहा करता है। अतः गुण और गुणी दोनों अयुतसिद्ध हैं तथा उनका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है।

(३) क्रिया क्रियावान्—उछालना, लुढ़कना आदि कर्मों को ही क्रिया कहा गया है। जिसके अन्दर क्रिया रहा करती है उसे क्रियावान् कहा जाता है। क्रियावान् में ही क्रिया रहा करती है। जैसे—क्रियावान् गेंद में 'लुढ़कना'

क्रिया विद्यमान रहती है। इस क्रिया को गेंद से अलग नहीं किया जा सकता है। अतः क्रिया और क्रियावान् का सम्बन्ध भी अयुतसिद्ध है तथा इन दोनों का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध ही है।

किन्तु एक अवस्था ऐसी भी आ जाती है जब कि क्रिया को आश्रयविहीन अवस्था में भी रहना पड़ा करता हैं। गुणों के नाश के सदृश ही क्रिया-नाश के भी अनेक कारण हो सकते हैं। जब आश्रय (क्रियावान्) के नष्ट होने से क्रिया का नाश हुआ करता है वहाँ पहले क्षण में आश्रय अर्थात् क्रियावान् का विनाश होगा और अगले (द्वितीय) क्षण में क्रिया का नाश। अतः ऐसी स्थिति में एक क्षण के लिये क्रिया को निराश्रित अवस्था में ही रहना पड़ता है। अतः यहाँ भी 'अयुतसिद्ध' का 'अविनश्यत्' पद से युक्त लक्षण ही घटता है। इस लक्षण के आधार पर क्रिया और क्रियावान् भी अयुतसिद्ध हैं और इनका भी समवाय सम्बन्ध ही है।

(४) जाति और व्यक्ति—व्यक्तिरूप गौ आदि में रहने वाली 'गोत्व' आदि जाति को गौ से अलग नहीं किया जा सकता है। अतः जाति और व्यक्ति भी अयुतसिद्ध हैं। 'जाति' को दूसरे शब्दों में 'सामान्य' भी कहा जाता है। जो पदार्थ, अनेक वस्तुओं आदि में एकाकार की प्रतीति का कारण है उसी का नाम जाति अथवा सामान्य है। सभी गायों में "यह गौ है" "यह गौ है" इस प्रकार की एकाकार अथवा समान आकार की प्रतीति हुआ करती है। इस प्रतीति का जो निमित्त अथवा कारण है उसी को 'जाति' अथवा 'सामान्य' नाम से कहा जाता है। यह 'गोत्व' आदि जाति भी सदा अपृथक् रूप में गौ आदि के साथ रहा करती है। अतः जाति और व्यक्ति भी अयुतसिद्ध हैं।

किन्तु एक समय ऐसा भी आता है कि जब गौ आदि व्यक्ति का नाश भी हो जाता है किन्तु गोत्व जाति तो नित्य है [जाति को नित्य माना गया है।]। एक दो गौओं के नष्ट हो जाने से उसका नाश नहीं होता है। यह 'गोत्व' जाति तो सभी गौओं में एक ही होती है तथा वह अवशिष्ट सभी गौओं में विद्यमान रहती ही है। अतः 'जाति' सदैव 'व्यक्ति' के आश्रित रहा ही करती है। अतः ये दोनों अयुतसिद्ध हैं तथा दोनों का सम्बन्ध भी समवाय-सम्बन्ध है।

(५) नित्यद्रव्य और विशेष—न्याय और वैशेषिक में ९ द्रव्यों को नित्य माना गया है (१) आकाश (२) काल (३) दिक् (४) आत्मा (५) मन तथा पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु [इन चारों के परमाणु भी चार प्रकार के हैं तथा वे पृथक्-पृथक् हैं। अतः ये ४ प्रकार के परमाणु हुये। ४+५=९] इन आकाश आदि नौ नित्यपदार्थों में रहने

वाला, अन्तिम भेदकधर्म "विशेष" नाम से कहा जाता है। यह 'विशेष' नामक पदार्थ उपर्युक्त नवो नित्यद्रव्यों में सदा विद्यमान रहा करता है। अतएव नित्यद्रव्य और विशेष ये दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं। इन दोनों का भी सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है।

इस स्थल पद 'विशेष' नामक पदार्थ को समझ लेना भी आवश्यक है। 'विशेष' का अर्थ है "भेदकधर्म"। यह भेदकधर्म सभी नित्यद्रव्यों में रहा करता है। इसी के आधार पर उनके परस्पर भेद की प्रतीति भी हुआ करती है। 'जाति' अथवा 'सामान्य' के आधार पर हमें दस घटों (व्यक्तियों) में घटत्व सामान्य के आधार पर 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार की प्रतीति हुआ करती है तथा साथ ही दस घट व्यक्तियों के परस्पर भेद का भी ज्ञान प्राप्त होता है। एकाकार की प्रतीति का कारण तो 'जाति' अथवा 'सामान्य' हुआ। फिर परस्पर भेद की प्रतीति का भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। यह प्रश्न हो सकता है कि एक घड़ा दूसरे घड़े से क्यों भिन्न-भिन्न है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि उनके अवयव भिन्न-भिन्न हैं। घड़े के अवयवों को 'कपाल' कहा जाता है। तब यही कहा जायगा कि दोनों घड़ों के कपालों में भिन्नता है अतः घड़ों में भी भिन्नता है। फिर कपालों के विषय में भी यही प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि उनमें क्यों भिन्नता है? उत्तर फिर भी यही होगा कि उन कपालों के अवयव भिन्न भिन्न हैं। अतः भिन्न-भिन्न अवयवों अर्थात् भिन्न-भिन्न कपालिकाओं से निर्मित होने के कारण कपालों में भिन्नता है। किन्तु जिज्ञासा इस उत्तर से भी समाप्त नहीं होती और पुनः प्रश्न होता है कि उन कपालिकाओं की भिन्नता का क्या कारण है। उत्तर वही है कि उनका निर्माण भिन्न अवयवों अर्थात् भिन्न-भिन्न क्षुद्र कपालिकाओं से हुआ है। अतएव कपालिकायें परस्पर भिन्न हैं। इस भाँति घट का विश्लेषण करते-करते हम 'द्व्यणुक' तक पहुँच जाते हैं। जिज्ञासा यहाँ भी शान्त नहीं होती और प्रश्न उत्पन्न होता है कि दो द्व्यणुकों में परस्पर भिन्नता क्यों है? इसका उत्तर यही होगा कि उनके अवयव अर्थात् परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। इसी कारण भिन्न-भिन्न परमाणुओं से निर्मित होने के कारण द्व्यणुक भी भिन्न-भिन्न हैं। अब परमाणुओं के विषय में भी वही प्रश्न उत्पन्न होता है कि उनमें भिन्नता क्यों है? परमाणु तो नित्य है, उसके अवयव होते ही नहीं। फिर उन परमाणुओं की भिन्नता का क्या कारण है? जैसे कि पृथिवी के ही दो परमाणुओं को ले लीजिये। उनके गुण समान हैं, अवयव उनके होते ही नहीं। फिर उनका परस्पर भेद क्यों है? इसी प्रकार न्याय तथा वैशेषिक के अनुसार आत्मायें अनेक हैं। उनमें परस्पर भेद किस आधार पर किया जाय?

अतः इन परमाणु, आत्मा आदि नित्यपदार्थों में कोई भेदकधर्म अवश्य होना चाहिये। इसी भेदकधर्म को 'वैशेषिक' दर्शन में "विशेष" नामक पदार्थ कहा गया है। इसी विशेष' नामक पदार्थ का प्रतिपादन किये जाने के आधार पर ही इस दर्शन का नाम भी "वैशेषिक" पड़ा। एक परमाणु की दूसरे परमाणु के साथ भिन्नता इस कारण है कि उनमें रहने वाला 'विशेष' भिन्न-भिन्न है; 'विशेष' का स्वरूप ही "स्वतो व्यावृत्त" माना गया है। इस भाँति परमाणु आदि नित्यद्रव्यों में रहने वाला, अन्तिम भेदकधर्म 'विशेष' ही है। प्रत्येक परमाणु के अन्तर्गत विद्यमान यह 'विशेष' एक दूसरे से भिन्न और स्वतो व्यावृत्त ही है। अतः इसके पश्चात् कोई अन्य 'भेदकधर्म' नहीं है। 'विशेष' ही अन्तिम भेदकधर्म है तथा वही सदा नित्यद्रव्य परमाणु आदि में आश्रित रहा करता है। कभी भी नित्य द्रव्यों से पृथक् नहीं रहा करता। अतः "ययोर्मध्ये एकं अपराश्रितमेवावतिष्ठते" इतने ही लक्षण के आधार पर 'नित्यद्रव्य तथा विशेष' को अयुतसिद्ध कहा जा सकता है। किन्तु यदि 'अविनश्यत्' पद भी लक्षण में जुड़ा रहे तब भी इनकी अयुतसिद्धता में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि 'विशेष' नामक पदार्थ नित्य है तथा वह सर्वदा 'अविनश्यदवस्था' में ही रहा करता है। इस भाँति 'अयुतसिद्ध' का पूरा लक्षण इन दोनों में घट जाता है। अतः ये दोनों (नित्य द्रव्य और विशेष) अयुत-सिद्ध हैं तथा इनका सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध कहा जाता है।

हमने पृष्ठ ३६ पर यह कहा था कि अयुतसिद्ध के उपर्युक्त लक्षण में यदि 'अविनश्यत्' पद नहीं रखा जाय तो लक्षण में 'अव्याप्ति' नामक दोष आ जायगा इसी बात को यहाँ स्पष्ट करते हैं :—

कहने का अभिप्राय यह है कि 'अयुतसिद्ध' के उपर्युक्त लक्षण में से 'अविनश्यत् पद को हटा देने से अयुतसिद्ध का "ययोर्मध्ये एकमपराश्रित-मेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ" केवल इतना ही लक्षण शेष रह जायगा तथा फिर यह लक्षण 'अयुतसिद्ध' के उपर्युक्त प्रदर्शित किये गये पाँच में से प्रथम तीन भेदों में घटित न हो सकेगा।

'विनश्यत्ता' अवस्था में 'विनश्यत्ता' का अर्थ है—"विनश्यत् + ता अर्थात् विनश्यतां भावो विनश्यत्ता। विनाशे ध्वंसे यानि कारणानि तेषां सामग्री पौष्कल्यं तस्य संनिधिरेव सांनिध्यमित्यर्थः"। अर्थात् विनाश की कारणसामग्री का सान्निध्य। अभिप्राय यह है कि जिस क्षण में पदार्थ के विनाश के सभी कारण सन्निहित हो जाया करते हैं वह उसकी विनश्यता अथवा विनश्यदवस्था कही जाती है। फलस्वरूप जब समवायि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है तो कारण नाश की अवस्था का ही नाम 'विनश्यदवस्था' है। जैसे तन्तुओं के नाश से पट का नाश अथवा पट के नाश से पटरूप का नाश।

अतः तन्तु-नाश का क्षण ही पट की विनश्यदवस्था है अथवा पट-नाश का क्षण ही पटरूप के नाश की विनश्यदवस्था है। इस अवस्था में पट तन्तु के अथवा पटरूप पट के आश्रित नहीं रहा करता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि कारण सदा कार्य से पूर्ववर्त्ती होता है [जिसका विस्तृत निरूपण पहले किया जा चुका है।] अतः पट-नाश का कारण जो तन्तु-नाश है अथवा पट-रूप के नाश का कारण जो पट-नाश है वह अवश्य ही पट-नाश अथवा पटरूप-नाश के पूर्व क्षण में रहा करते हैं। ऐसी स्थिति में पटनाश का कारण तन्तु-नाश अथवा पटरूप के नाश कारण पट नाश पूर्व क्षण में होगा और तन्तु-नाश अथवा पट-नाश का कार्य पट-नाश अथवा पट-रूप-नाश अगले [उत्तर] क्षण में। ऐसी दशा में जब पूर्वक्षण में तन्तु-नाश अथवा पटनाश हो जायगा तो एक क्षण के लिये पट को अथवा पटरूप को निराश्रित अर्थात् बिना किसी आश्रय के ही रहना होगा। अतः 'अयुतसिद्ध' का "ययोर्मध्ये एकम-पराश्रितमेवावतिष्ठते" यह लक्षण उक्त विनश्यदवस्था में न घट सकेगा। इस प्रकार 'अवयव-अवयवी'—[तन्तुनाश से पट-नाश] तथा 'गुण-गुणी' [पटनाश से पटरूप-नाश] इन दो प्रकार के अयुतसिद्धों में उक्त लक्षण न घट सकेगा—यह स्पष्ट हो गया।

इसी प्रकार क्रिया–क्रियावान् नामक अयुतसिद्ध में भी उक्त लक्षण न घट सकेगा [जैसा कि क्रिया-क्रियावान् के वर्णन में स्पष्ट किया जा चुका है।] अतः यह स्पष्ट हो गया अवयव, गुण तथा क्रिया सदा अवयवी, गुणी तथा क्रियावान् के आश्रित ही नहीं रहा करते हैं अपितु एक समय ऐसा भी आ जाता है कि जब अवयव, गुग और क्रिया ये सभी निराश्रित भी हो जाया करते हैं। फिर ऐसी स्थिति में 'एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते' यह लक्षण इन तीनों में न जा सकेगा।

जाति तथा व्यक्ति [अयुतसिद्ध के इस चतुर्थ प्रकार] में भी यह लक्षण न घट सकेगा क्योंकि जाति तो नित्य है और व्यक्ति अनित्य है। अतः व्यक्ति का नाश होना तो संभव है किन्तु जाति का नाश होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में [अनित्य] व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर 'जाति' के भी निराश्रित हो जाने की संभावना हो जाती है [इसका भी वर्णन यथास्थान किया जा चुका है]। अतः इस चतुर्थ प्रकार के 'अयुतसिद्ध' में भी 'अयुतसिद्ध' का उक्त ['अविनश्यत्' पद से रहित] लक्षण न घट सकेगा।

नित्यद्रव्य तथा विशेष—ये दोनों ही नित्य हैं। अतः इनमें से किसी की भी 'विनश्यदवस्था' होना संभव ही नहीं है। अतः अयुतसिद्ध के केवल इसी पंचम प्रकार में उक्त ['अविनश्यत्' पद से रहित] 'अयुतसिद्ध' का लक्षण घट सकेगा। शेष चारों में तो अव्याप्त हो जायगा। परिणामतः लक्ष्य के एक

देश में अवृत्ति होने से यह ['अविनश्यत्' पद से रहित] लक्षण अव्याप्त हो जायगा। इस भाँति यह 'अव्याप्ति' दोष से पूर्ण हो जायगा।] अतः इसी दोष के निवारण के निमित्त 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का रखा जाना पूर्णतया उपयुक्त ही है। क्योंकि अवयव, गुण, क्रिया आदि 'विनश्यदवस्था' में ही निराश्रित रहा करते हैं किन्तु अविनश्यत्-अवस्था में तो अपराश्रित ही रहा करते हैं। अतः उनमें लक्षण का समन्वय हो जाता है।

अब इन्हीं बातों का प्रतिपादन करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं :—

यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ति, विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः। यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम्।

जैसे—(१) अवयव और अवयवी (२) गुण और गुणी (३) क्रिया और क्रियावान् (४) जाति और व्यक्ति (च) और (विशेषनित्यद्रव्ये इति) (५) नित्यद्रव्य और विशेष [ये पाँच प्रकार के 'अयुतसिद्ध' हैं]। [ये] (अवयव्यादयः) अवयवी आदि (हि) निश्चित रूप से (अविनश्यन्तः) अविनश्यत् अवस्था में (यथाक्रमम्) यथाक्रम (अवयव आदि) अवयव आदि के (आश्रिताः) आश्रित (एव) ही (अवतिष्ठन्ते) रहा करते हैं। (अवयव्यादयः) [ये] अवयवी आदि (विनश्यदवस्थाः) विनश्यत्-अवस्था में (तु) तो [क्षण भर के लिये] (अनाश्रिताः) निराश्रित (एव) ही (अवतिष्ठन्ते) रहा करते हैं। (यथा) जैसे [अविनश्यत्-अवस्था में] (तन्तुनाशे) तन्तुओं [अवयवों] के नाश (सति) होने पर (पटः) पट [अवयवी निराश्रित हो जाता है]। (यथा वा) अथवा जैसे (आश्रयनाशे) [पट, घट आदि] आश्रय [गुणी] के नाश (सति) हो जाने पर [उसमें रहने वाले रूप-पटरूप-घटरूप आदि] (गुणः) गुण [विनश्यत्-अवस्था में निराश्रित ही हो जाया करते हैं।] [यहाँ] (विनश्यत्ता) विनश्यत्ता [का अर्थ] (तु) तो (विनाश-कारणसामग्रीसान्निध्यम्) विनाश के कारण सामग्री का सान्निध्य [अर्थात् विनाश के सम्पूर्ण कारणों का एकत्र हो जाना अथवा उपस्थित हो जाना] है।

[इन पाँचों प्रकार के अयुतसिद्धों का उदाहरण सहित वर्णन 'अयुतसिद्ध' की परिभाषा में विस्तार के साथ किया जा चुका है। यहाँ केवल यही विचारणीय है कि इस पुस्तक के पूना वाले संस्करण के मूल भाग में प्रदर्शित (१) "अवयवादयो हि यथाक्रममवयव्याद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः" यह पाठ ठीक है अथवा हमारे द्वारा दिया गया (२) "अवयव्यादयो हि

यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः" यह पाठ ! पाठ नं० १ उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अवयव अवयवी के आश्रित नहीं रहा करते हैं अपितु अवयवी ही अवयवों के आश्रित रहा करता है। इसी विवेचन में जो आगे उदाहरण—
"यथा तन्तुनाशे सति घटः" दिया है वह भी इस ही बात का पोषक है। तन्तु (अवयव) के नष्ट हो जाने पर पट (अवयवी) निराश्रित हो जाया करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पट (अवयवी) तन्तु (अवयव) के आश्रित रहता है किन्तु तन्तु (अवयव) पट (अवयवी) के आश्रित नहीं रहा करते हैं। अतः उपर्युक्त नं० १ वाला पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है]।

इस प्रकार अयुतसिद्ध का लक्षण करने के पश्चात् समवाय-सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। तन्तु ही पट का समवायि कारण है, तुरी, वेम आदि नहीं :—

तन्तुपटावप्यवयवावयविनौ तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात्। तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। न हि तुरी पटाश्रितैवावतिष्ठते नापि पटस्तुर्याश्रितः। अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य न तु तुर्यादि।

पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्। एवं मृत्पिण्डोपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्चस्वगतरूपादेः समवायिकारणम्।

(तन्तुपटौ अपि) तन्तु और पट भी (अवयवावयविनौ) अवयव और अवयवी हैं। (तेन) इसलिये (अयुतसिद्धत्वात्) अयुतसिद्ध होने के कारण (तयोः) उन दोनों का (सम्बन्धः) सम्बन्ध (समवायः) समवाय है। (तुरीपटयोः तु) तुरी और पट का तो (अयुतसिद्धत्व अभावात) अयुतसिद्धत्व का अभाव होने के कारण (न समवायः) [उन दोनों का] समवाय-सम्बन्ध नहीं हैं। [तुरी और पट के अयुतसिद्ध न होने का कारण यह है कि] (न हि तुरी) न तो तुरी (पटाश्रिता एव) पट के आश्रित ही (अवतिष्ठते) रहती है [और] (नापि पटः) न पट ही (तुर्याश्रितः) तुरी के आश्रित ही [रहता है।] (अतः) इसलिये [अयुतसिद्ध न होने के कारण] (तयोः) उन दोनों का (सम्बन्ध) सम्बन्ध (संयोग) संयोग (एव) ही है। (तत एवम्) तो फिर इस प्रकार [यह स्पष्ट हो जाता है कि तन्तु और पट के अयुतसिद्ध होने से] (तन्तु-समवेतः पटः) तन्तु में पट समवेत [समवाय सम्बन्ध से रहने वाला] है।

(यत्समवेतम्) जिसमें समवेत [समवाय-सम्बन्ध से] कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है (तत्) वह (समवायिकारणम्) समवायि कारण कहा जाता है। (अतः तन्तुः एव) अतः तन्तु ही (पटस्य) पट का (समवायिकारणम्) समवायिकारण है, (तुरी आदि न) तुरी आदि नहीं।

[तन्तु तथा पट, अवयव और अवयवी हैं। अतः 'तन्तु' अवयव 'पट' अवयवी का समवायिकारण है। यह बात उक्त उदाहरण से सिद्ध हुयी। अब गुण और गुणी से सम्बन्धित दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—]

(च) और (पटः) पट (स्वगतरूपादेः) अपने में रहने वाले रूप आदि [गुणों] का (समवायिकारणम्) समवायिकारण है। (एवम्) इसी प्रकार (मृत्पिण्डः) मिट्टी का पिण्ड (अपि) भी (घटस्य) घट का (समवायिकारणम्) समवायिकारण है। (च) और (घटः) घट (स्वगतरूपादेः) अपने में रहनेवाले रूप आदि [गुणों] का (समवायिकारणम्) समवायिकारण है।

अभी हम ५ प्रकार के अयुतसिद्धों का सोदाहरण वर्णन कर चुके हैं [१–अवयव-अवयवी, २–गुण-गुणी, ३–क्रिया-क्रियावान्, ४–जाति-व्यक्ति तथा ५–विशेष-नित्यद्रव्य]। जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यत् अवस्था में विद्यमान रहते हुये दूसरे पर आश्रित ही रहा करता है वे दोनों पदार्थ 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। उपर्युक्त पाँच जोड़ों में प्रथम पदार्थ अविनश्यत् अवस्था में द्वितीय पदार्थ पर आश्रित ही रहता है। अतः ये अयुतसिद्ध हैं। इन अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध होता है।

ऊपर वर्णित सिद्धान्त के आधार पर तन्तु तथा पट का सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध है। इनमें तन्तु 'अवयव' तथा पट 'अवयवी' हैं तथा दोनों अयुतसिद्ध हैं। किन्तु तुरी-वेम आदि का पट के साथ समवाय-सम्बन्ध नहीं हैं क्योंकि तुरी और पट अयुतसिद्ध नहीं हैं। क्योंकि इनमें अयुतसिद्ध का लक्षण नहीं घटता है तथा इनमें से कोई एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता हो, ऐसा भी नहीं है। अतः इन दोनों [तुरी-पट अथवा वेम और पट का] का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध ही है।

अतः पट का तन्तुओं में ही समवाय-सम्बन्ध बनता है। तन्तुओं में पट समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में तन्तु ही पट के समवायिकारण हैं—तुरी-वेम आदि नहीं। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है वही समवायि-कारण कहा जाता है। तुरी-वेम आदि के साथ जब पट का समवाय-सम्बन्ध बनता ही नहीं है फिर उनको समवायि-कारण किस भाँति कहा जा सकता है ?

इसी भाँति यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मिट्टी का पिण्ड घट का समवायिकारण है, चाक अथवा दण्ड [चाक को घुमाने वाला] नहीं।

गुण एवं गुणी की दृष्टि से समवायि-कारण का दूसरा उदाहरण है पट तथा पटरूप अथवा घट तथा घटरूप। इन उदाहरणों में पट अथवा घट गुणी हैं और उनमें रहने वाला रूप (पटरूप अथवा घटरूप) उस [पट अथवा घट] के गुण हैं। गुण तथा गुणी के सम्बन्ध को अयुतसिद्ध कहा गया है। अतः इन

दोनों का सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणी (पट-घट आदि) भी गुणों (अपने रूप आदि) का समवायि-कारण है। इसी आधार पर पट को पट के अन्दर विद्यमान पटरूप आदि (गुणों) का और घट को घट में विद्यमान घट-रूप आदि (गुणों) का समवायि कारण कहा गया है।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि अनुभव की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि घट-पट आदि (गुणी) तथा घटरूप आदि (गुणों) की उत्पत्ति एक साथ ही होती है। अतः ये दोनों समानकालीन हैं। जिस समय घट आदि उत्पन्न होते हैं उसी समय घट के रूप आदि भी उत्पन्न होते हैं। अतः घट-पट आदि अपने में रहने वाले (स्वगत) रूप आदि के कारण कैसे हो सकते हैं? क्योंकि कार्यकारण भाव के लिये पौर्वापर्य आवश्यक होता है। जैसा कि "अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम कारणत्वम्" तथा "अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्" कारण-कार्य की इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कारण सर्वदा ही कार्य से पूर्ववर्त्ती हुआ करता है और कार्य परवर्त्ती। अतः कारण का पहले और कार्य का बाद में होना निश्चित ही है। अतः जिन दो वस्तुओं का जन्म एक साथ ही हुआ करता है उनमें कार्य-कारण भाव का होना संभव नहीं है। उदाहरण के लिये गाय के बायें और दाहिने दो सींगों को ले लीजिये। इन दोनों सींगों की उत्पत्ति एक साथ होती है। अतः इन दोनों में कार्य-कारणभाव नहीं बनता है। इसी भाँति "गुण और गुणी" का भी समानकालीन जन्म होने से गुणी (पट-घट आदि) को गुणों (पटरूप-घटरूप आदि) का समवायि-कारण कहा जाना उचित नहीं है। इसी शंका को उठाते हुये पूर्वपक्षी कहता है :—

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि, अतः समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावात्। अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

[शङ्का] (ननु) निश्चय ही (यदा एव) जब ही (घटादयः) घट आदि [गुणी] (जायन्ते) उत्पन्न हुआ करते हैं (तदा एव) तब ही (तद्गतरूपादयः) उनमें रहने वाले रूप आदि [गुण] (अपि) भी [उत्पन्न हो जाया करते हैं] (अतः) इसलिये (गुणगुणिनोः) गुण और गुणी के (समानकालीनत्वात्) समानकालीन होने के कारण [समानकाल में ही उत्पन्न होने वाले] (सव्येतरविषाणवत्) [सव्य = बायें, इतर = अन्य दूसरा] बायें और दाहिने सींगों के सदृश (कार्यकारणभाव एव) [उनमें अर्थात् गुणी और गुण में] कारणं एवं कार्यभाव ही (पौर्वापर्याभावात्) पौर्वापर्य के अभाव के कारण (नास्ति) नहीं हो सकता है। (अतः) अतएव (घटादयः) घट आदि

[गुणी] (स्वगतरूपादीनाम्) स्वगत [अपने अन्दर रहने वाले] रूप आदि [गुणों] के (समवायिकारणं न) समवायि-कारण नहीं हो सकते हैं [क्योंकि] (समवायि कारणस्य) समवायिकारण के (कारणविशेषत्वात्) विशेष प्रकार का कारण होने से [क्योंकि—समवायि-कारण भी तो एक विशेष प्रकार का कारण ही है ।]

इस भाँति पूर्वपक्षी यह प्रतिज्ञा करता है कि घट आदि पदार्थ स्वगत रूप आदि के समवायि कारण नहीं है [अपनी इस प्रतिज्ञा में वह हेतु देता है—] क्योंकि [घट तथा घटगतरूप] समानकालीन होने के कारण उन दोनों में पौर्वापर्यभाव नहीं है । [और अपने इस हेतु की पुष्टि के लिये वह उदाहरण-रूप में प्रस्तुत करता है—गाय के बायें और दाहिने सींगों को—] (गाय के) बायें और दाहिने सींगों के सदृश ।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं:—

अत्रोच्यते । न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते । समान-कालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद्भेदो न स्यात् । कारण-भेदनियतत्वात्कार्यभेदस्य । तस्मात्प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम् ।

तदा कारणभेदोऽप्यस्ति । घटो हि घटं प्रतिनकारणमेकस्यैव पौर्वा-पर्याभावात् । न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति । स्वगुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद् भवति गुणानां समवायिकारणम् ।

(अत्र) इस [उपर्युक्त शङ्का के उत्तर] में (उच्यते) [हमारा] यह कथन है कि (गुणगुणिनोः) गुण और गुणी की (समानकालीनम्) एक ही काल में (जन्म न) उत्पत्ति नहीं होती है ! (किन्तु) किन्तु (प्रथमम्) पहले (निर्गुणम्) निर्गुण [गुणरहित] (द्रव्यं एव) द्रव्य ही (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है और (पश्चात्) उसके बाद (तत्समवेताः) उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले (गुणाः) गुण (उत्पद्यन्ते) उत्पन्न हुआ करते हैं । (गुणगुणिनोः) गुण और गुणी [दोनों] की (समानकालोत्पत्तौ) समान-कालीन [एक साथ ही] उत्पत्ति [मानने] में (तु) तो [उनकी] (समा-नसामग्रीकत्वात्) कारण सामग्री के [भी] समान होने से [गुण और गुणी का—यह गुण है, यह गुणी है—इस प्रकार का] (भेदो न स्यात्) भेद भी नहीं होगा [क्योंकि] (कार्यभेदस्य) कार्य का भेद (कारणभेदनियतत्वात्) कारण के भेद के साथ नियत है [अर्थात् कार्य के भेद की प्रतीति तभी हो सकती है कि जब कारण में भेद हो । गुण और गुणी की एक साथ ही एक ही काल में उत्पत्ति मानने पर उनकी कारण सामग्री भी समान ही होगी । ऐसी स्थिति में घट-आदि को गुणी और घट-रूप आदि को गुण कहा जाय, यह भी संभव न हो सकेगा । अतः गुण और गुणी की एक साथ एक ही काल में

उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं है।] (तस्मात्) इसलिये (प्रथमे क्षणे) प्रथम क्षण में (निर्गुणः) निर्गुण (घट एव) घट ही (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है [तथा] (गुणेभ्यः) गुणों से (पूर्वभावी इति) पूर्वभावी (भी) (भवति) होता है। [अतः] (गुणानाम्) [स्वगत रूप—आदि] गुणों का (समवायिकारणम्) समवायि-कारण (भवति) होता है।

(तदा) तब [प्रथमक्षण में निर्गुण घट ही उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् द्वितीय-आदि क्षणों में उस घट में रूप-आदि गुणों की उत्पत्ति हुआ करती है। इस बात को स्वीकार कर लेने पर गुणी घट आदि तथा गुण घटरूप-आदि में] (कारणभेदः) कारणभेद (अपि) भी (अस्ति) है [यह कहा जा सकता है।] (हि) क्योंकि (घटः) घट (घटं प्रति) घट के प्रति [अर्थात् स्वयं अपने प्रति] (कारणं न) कारण नहीं हुआ करता है-(एकस्य एव) एक [अर्थात् उसी घट] में ही (पौर्वापर्याभावात) पौर्वापर्य का अभाव होने से। (हि) क्योंकि (स एव) वह ही [घट] (तमेव) स्वयमेव अपने के (प्रति) प्रति (पूर्वभावी न) पूर्वभावी [अर्थात् कारण] नहीं हो सकता तथा (पश्चाद्भावी न च इति) पश्चात् भावी [अर्थात् कार्य] नहीं हो सकता है। (स्वगुणान् प्रति) [घट] अपने [घट गत रूप आदि गुणों के प्रति (तु) तो (पूर्वभावित्वाद्) पूर्वभावी होने से (गुणानाम्) गुणों का (समवायिकारणम्) समवायिकारण (भवति) हो सकता है। [अतः प्रथमक्षण में निर्गुण घट की ही उत्पत्ति होती है और उसके पश्चात् के द्वितीय आदि क्षण में उसमें घट-रूप आदि गुण उत्पन्न हुआ करते हैं, इसी सिद्धान्त को मानना उचित प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर घट-आदि गुणी स्वगत रूप-आदि गुणों के समवायि कारण भी हो जाते हैं।

इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्वपक्षी का यह कथन कि "गुण और गुणी की समानकाल में ही उत्पत्ति होती है। अतः पौर्वापर्यभाव न होने के कारण उनमें कार्य-कारण भाव भी नहीं बन सकता है।' युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में वर्णित सिद्धान्त तो यही है कि "प्रथमक्षण में निर्गुण द्रव्य की ही उत्पत्ति हुआ करती है तथा द्वितीयक्षण में उस (द्रव्य) में गुणों की उत्पत्ति हुआ करती है।" इस बारे में विशिष्ट तर्क यह है कि नियम [व्याप्ति की दृष्टि से] तो यह है कि जहाँ कार्यभेद हुआ करता है वहाँ कारण-भेद भी अवश्य ही हुआ करता है। इस स्थल प कारण से अभिप्राय है—कारण-सामग्री [अत्रत्यः कारणशब्दः सामग्रीवचनः—चि०। जैसे—घट और पट ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं। इन दोनों की कारण सामग्री भी भिन्न-भिन्न है। घट की कारण-सामग्री = मिट्टी, चक्र तथा दण्ड आदि हैं तथा पट की कारण-सामग्री तन्तु, तुरी, वेमा आदि हैं। इस प्रकार कार्य भेद के आधार पर कारण-भेद का ज्ञान भी अनुमान द्वारा हो जाया करता है।]

कारण-सामग्री के इस भेद के कारण यह स्पष्ट हो जाता है गुण और गुणी दोनों की उत्पत्ति एक साथ एक ही काल में नहीं हुआ करती है। यदि गुण और गुणी की समानकालीन [एक साथ ही] उत्पत्ति मान भी ली जाय तो उनकी कारणसामग्री भी समान ही माननी होगी। ऐसी स्थिति में घट-रूप आदि को गुण तथा घट आदि को गुणी भी कहा जा सकना संभव न हो सकेगा। अतः गुण तथा गुणी का समानकालीन जन्म मानना उचित नहीं है।

परिणामतः प्रथम क्षण में निर्गुणघट [गुणी] की उत्पत्ति तथा द्वितीयक्षण में उस [गुणी] में रूप आदि [गुणों] की उत्पत्ति मानना ही उचित है। ऐसा मान लेने पर कोई दोष भी नहीं आता। गुणी 'घट' आदि अपने गुणों 'रूप' आदि से पूर्वभावी हो जायेंगे और पुनः नियतपूर्वभावी होने के कारण 'घट' आदि रूप आदि गुणों के कारण भी बन जायेंगे। 'घट' में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले 'घट-रूप' आदि गुणों की उत्पत्ति भी घट (गुणी) से ही होती है, अतः घट-रूप आदि गुणों का 'घट' समवायि-कारण भी हो जायगा। घट के घटरूप आदि का समवायि-कारण हो जाने पर कारण का भेद भी हो ही जायगा। क्योंकि घटरूपादि गुणों का समवायिकारण घट आदि गुणी हैं। 'घट' आदि स्वयं अपने ही कारण तो हो नहीं सकते क्योंकि कारण सदैव पूर्वभावी हुआ करता है और कार्य सदैव पश्चात् भावी। अतः घट स्वयं ही अपने प्रतिपूर्वभावी हो जाय और स्वयं ही पश्चात् भावी हो जाय—यह संभव नहीं है। हां, घट अपने रूप आदि गुणों का पूर्वभावी अवश्य है। अतः वह घट-रूप आदि गुणों का कारण है। घट की कारण सामग्री मिट्टी आदि है। अतः घटरूप का कारण घट तथा घट के कारण मिट्टी आदि में भेद भी है। अतः घट, स्वगतरूप आदि का समवायिकारण है, यह ठीक ही है।

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं, यन्महत्वे सत्युद्भूतरूपवत्।

अद्रव्यं च स्याद् गुणाश्रयत्वाभावात्। गुणाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्यलक्षणम्।

यह मान लेने पर, "कि प्रथमक्षण में निर्गुण घट आदि की उत्पत्ति हुआ करतो है और द्वितीय आदिक्षण में उसमें रूप आदि गुणों की उत्पत्ति हुआ करती है" पूर्वपक्षी द्वारा पुनः यह शङ्का की जाती है:—

(ननु) अच्छा तो (एवम्) ऐसा (सति) होने पर [अर्थात् उपर्युक्त सिद्धान्त मान लेने पर] (प्रथमे क्षणे) प्रथम क्षण में (घटः) घट (अचाक्षुषः) चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय नहीं (स्यात्) होगा (वायुवत्) वायु के सदृश (अरूपिद्रव्यत्वात्) रूप रहित द्रव्य होने से। [क्योंकि] (यत्) जो

(महत्त्वे सति) [द्रव्य] महत् परिमाण से युक्त होते हुये (उद्भूतरूपवत्) उद्भूतरूप वाला हुआ करता है (तत्) वह (द्रव्यम्) द्रव्य (एव) ही (हि) निश्चितरूप से (चाक्षुषम्) चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय बना करता है [इस भाँति निर्गुणोत्पत्तिपक्ष में प्रथमक्षण में घट (द्रव्य) का प्रक्षण ही न हो सकेगा—प्रथम दोष तो यही आ जायगा। तथा दूसरा दोष यह होगा कि—]

(च) और [प्रथमक्षण में उत्पन्न हुये निर्गुण घट में—] (गुणाश्रयत्वाभावात्) गुणों का आश्रय न होने से [वह घट] (अद्रव्यं स्याद्) द्रव्य भी न हो सकेगा। (हि) क्योंकि (गुणाश्रयः) गुणों का आश्रय (द्रव्यम्-इति) द्रव्य होता है, यह (द्रव्यलक्षणम्) द्रव्य का लक्षण है [अर्थात् प्रथमक्षण में उत्पन्न हुये घट के निर्गुण होने से उसमें गुणाश्रयत्व रूप द्रव्य का लक्षण ही न घट सकेगा। ऐसी स्थिति में प्रथमक्षण के घट को द्रव्य की श्रेणी में भी न रखा जा सकेगा।]।

पूर्वपक्षी के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि प्रथमक्षण में उत्पन्न हुये घट को निर्गुण ही मान लिया जाय तो उसमें दो प्रकार के दोष आजावेंगे। प्रथम दोष तो यह आ जायगा (१) कि प्रथमक्षण में घट का चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही न हो सकेगा। चाक्षुष-प्रत्यक्ष उस ही द्रव्य का हुआ करता है जिसमें 'महत्' परिमाण तथा 'उद्भूत रूप' ये दो गुण विद्यमान रहा करते हैं। पृथ्वी आदि चार स्थूलभूतों के परमाणुओं का चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ नहीं करता क्योंकि परमाणु में महत् परिमाण विद्यमान नहीं रहा करता है। आकाश अवश्य 'महत्' परिमाण वाला होता है किन्तु वह रूप रहित हुआ करता है। अतएव उसका भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। इसी प्रकार गरम किये हुये जल में अग्नि की विद्यमानता रहा करती है और उस अग्नि में महत्-परिमाण तथा रूप भी विद्यमान रहा करता है किन्तु फिर भी उसका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उस रूप में उद्भूतता नहीं है। उद्भूतता (उद्भूतत्व—प्रकट होना) से तात्पर्य रूप की एक ऐसी विशेषता से है कि जिसके होने के कारण रूप का प्रत्यक्ष हो जाया करता है। अर्थात् रूप का स्पष्टरूप से प्रकट होने सम्बन्धी वैशिष्ट्य।

अतः प्रथमक्षण में रूप आदि गुणों से रहित घट के उत्पन्न होने से निर्गुण घट का चाक्षुष-प्रत्यक्ष प्रथमक्षण में नहीं हो सकेगा [क्योंकि प्रत्यक्ष तो गुणों का ही हुआ करता है। अथवा गुणों के आश्रयभूत गुणी का भी प्रत्यक्ष हुआ करता है, गुणों से रहित द्रव्य (गुणी) का नहीं। गुणी कहते ही हैं उसको कि जिसके अन्दर गुण रहा करते हैं।]। जैसे वायु रूप रहित द्रव्य है। अतः उसका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। इसी भाँति

प्रथमक्षण में निर्गुण घट भी रूप रहित है। अतः उसका भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होगा। यह प्रथम दोष है कि जो निर्गुण-उत्पत्ति के सम्बन्ध में आता है।

(२) दूसरा दोष यह आवेगा कि प्रथमक्षण में घट को 'द्रव्य' ही न कहा जा सकेगा क्योंकि "गुणाश्रयो द्रव्यम्" अर्थात् जो गुण अथवा गुणों का आश्रय हो, अथवा जिसमें गुण विद्यमान रहते हों उसी को 'द्रव्य' कहा जाता है—यह द्रव्य का लक्षण है प्रथमक्षण का घट तो गुणाश्रय नहीं है–'निर्गुण' उत्पन्न होने के कारण उसमें गुण नहीं हैं। अतः 'द्रव्य' का उक्त लक्षण उसमें घट ही न हो सकेगा। परिणामस्वरूप प्रथमक्षण वाला घट 'द्रव्य' की श्रेणी में न आ सकेगा।

अतः प्रथमक्षण में 'घट' निर्गुण उत्पन्न होता है। यह मानना सर्वथा अनुचित ही है।]

उपर्युक्त शङ्काओं का समाधान करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं:—

सत्यम्। प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते का नो हानिः। न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते। तेन व्यवस्थितमेत न्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते। द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते।

न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावादद्रव्यत्वापत्तिः। समवायिकारणं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणयोगात्। योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः।

आपका कथन (सत्यम्) ठीक है [कि प्रथमक्षण में 'घट' आदि का चाक्षुष—प्रत्यक्ष नहीं होगा। किन्तु—(यदि) यदि (प्रथमे क्षणे) प्रथमक्षण में (चक्षुषा) चक्षु के द्वारा (घटः) घट का (न गृह्यते) ग्रहण नहीं होता है [तो इससे] (नः) हमारी (का) क्या (हानिः) हानि है ? [क्योंकि आपके] (सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि) (सगुणोत्पत्तिपऽक्षेऽपि सगुणोत्पत्ति–पक्ष में भी [यदि प्रथमक्षण में देखने वाले व्यक्ति के पलक मारने का] (निमेषावसरे) पलक मारने के अवसर [होने पर] में (घटः) घट का (नहि गृह्यते) चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं होगा [कहने का अभिप्राय यह है कि यदि प्रथमक्षण में घट का चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता है तो इससे कोई हानि नहीं है। प्रथम-क्षण में ही घट का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष हो जाना आवश्यक नहीं है। द्वितीयक्षण में तो रूप आदि के उत्पन्न हो जाने पर उस (घट-आदि) का प्रत्यक्ष ही हो जाता है। (तेन) इससे (एतत्) यह (व्यवस्थितम्) निश्चित हो जाता है कि (प्रथमम्) प्रथमक्षण में (निर्गुण एव) निर्गुण ही (घटः) घट (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है [और] (द्वितीयादिक्षणेषु) द्वितीय आदि क्षणों में [रूप-इत्यादि गुणों के उत्पन्न हो जाने पर] (चक्षुषा) चक्षु के द्वारा (गृह्यते) [उस घट का] ग्रहण होता है।

[द्वितीय-दोष का समाधान—] (च) और (प्रथमे क्षणे) प्रथमक्षण में (गुणाश्रयत्वाभावात्) गुणों का आश्रय न होने से [घट-आदि का] (अद्रव्यापत्तिः न) अद्रव्यत्व [द्रव्यत्व का अभाव] भी नहीं बनता है। [क्योंकि "गुणश्रयो द्रव्यम्" यह द्रव्य का लक्षण हम नहीं मानते। हमारी दृष्टि में तो "समवायिकारणं द्रव्यम्" यह द्रव्य का लक्षण है, इस आधार पर] (समवायिकारणम्) समवायिकारण (द्रव्यं इति) द्रव्य होता है (द्रव्यलक्षणयोगात्) द्रव्य के इस लक्षण का सम्बन्ध [प्रथमक्षण में उत्पन्न घट में भी] होने से [अर्थात् इस लक्षण के आधार पर प्रथमक्षण में उत्पन्न घट भी द्रव्य हो जायगा। अतः उसे प्रथमक्षण में भी अद्रव्य नहीं कहा जा सकेगा।]

[यदि आप "समवायिकारणं द्रव्यम्" द्रव्य के इस लक्षण को स्वीकार करने को उद्यत नहीं है तथा 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इसी लक्षण को द्रव्य का लक्षण स्वीकार करते हैं तो भी प्रथमक्षण में उत्पन्न घट] (योग्यतया) योग्यतासे (गुणाश्रयत्वात् च) गुणों का आश्रय होने से [द्रव्य हो ही जायगा। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रथमक्षण में उत्पन्न घट यद्यपि उस प्रथमक्षण में गुणों का आश्रय नहीं है किन्तु उसमें गुणों का आश्रय होने की योग्यता तो उस (प्रथम) क्षण में भी विद्यमान है ही। आगामी क्षण में वह गुणों का आश्रय हो ही जायगा। इस 'योग्यता' के कारण उसको गुणों का आश्रयमानकर भी लक्षण का समन्वय किया जाना संभव ही है।] (च) और (योग्यता) योग्यता [का अभिप्राय] (गुणानाम्) गुणों के (अत्यन्ता भावाभावः) अत्यन्त अभाव का अभाव है।

[प्रथम दोष के समाधान में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि प्रथम क्षण में उत्पन्न निर्गुण घट का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष न होने से कोई हानि नहीं होती है क्योंकि जो दोष आप निर्गुण उत्पत्ति में दिखला रहे हैं वही दोष गुण-विशिष्ट-द्रव्य (घट आदि) की उत्पत्ति में भी तो आ सकता है। सगुण द्रव्य की उत्पत्ति में भी जिस क्षण कोई द्रष्टा पलक गिरा लेता है उस क्षण घट-आदि द्रव्य का उसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। किन्तु इससे व्यवहार में कोई हानि नहीं हुआ करती। इसी भाँति प्रथमक्षण में निर्गुण घट-आदि का भी यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा तो इससे भी व्यवहार की हानि न होगी। अतः उक्त दोष को दोष कहा जाना उचित नहीं है।

दूसरा हेतु इसमें यह भी दिया जा सकता है कि सगुणद्रव्य के उत्पन्न होंने में भी प्रथमक्षण में उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष ज्ञान में "विषय" भी कारण होता है तथा कारण कार्य से नियतपूर्वभावी होता है, अतः प्रथमक्षण में जो सगुण घट-आदि उत्पन्न होंगे वे द्वितीयक्षण में होने

वाले चाक्षुष-प्रत्यक्ष के कारण हो सकते हैं। इस आधार पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण-उत्पत्ति के मानने में भी प्रथमक्षण में घट-आदि द्रव्यों का, चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष न हो सकेगा। अतः यह कथन ठीक ही है कि प्रथमक्षण में निर्गुण घट-आदि द्रव्यां की उत्पत्ति हुआ करती है तथा द्वितीयक्षण में उनमें रूप आदि गुण उत्पन्न हुआ करते हैं।

द्वितीय दोष के समाधान में तर्कभाषाकार का कथन यह है कि—हम "गुणाश्रयो द्रव्यम्" द्रव्य के इस लक्षण को न करके "समवायिकारणम् द्रव्यम्" यही द्रव्य का लक्षण करेंगे। अर्थात् समवायि कारण को द्रव्य कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार प्रथम क्षण में उत्पन्न हुआ निर्गुण घट द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले घट रूप आदि गुणों का समवायि कारण होता है। अतः प्रथमक्षण में उत्पन्न निर्गुण घट में द्रव्य का लक्षण चला जायगा और वह भी द्रव्य हो जायगा अर्थात् प्रथमक्षण में भी उसके द्रव्यत्व की हानि नहीं होगी। किन्तु यदि पूर्वपक्षी को "गुणाश्रयो द्रव्यम्" द्रव्य का यही लक्षण अभिमत है तो भी प्रथमक्षण में उत्पन्न घट में द्रव्यत्व की हानि नहीं होती है क्योंकि 'गुणाश्रयत्व' का अर्थ है—गुणों का आश्रय होने की योग्यता का होना। 'योग्यता' का और अधिक स्पष्टीकरण यह है कि जो गुणों के अत्यन्ताभाव का अधिकरण न हो। अत्यन्ताभाव का अभिप्राय है तीनों कालों में रहने वाला (त्रैकालिक) अभाव। घट में गुणों का त्रैकालिकअभाव (अत्यन्ताभाव) नहीं है। यद्यपि प्रथमक्षण में घट निर्गुण ही रहता है तथापि अगले क्षण में ही उसमें गुण उत्पन्न हो जाया करते हैं। अतः उसे गुणों के अत्यन्ताभाव का आश्रय नहीं कहा जा सकता। घट में केवल एक (प्रथम) क्षण के लिये ही गुणों का अभाव है किन्तु उसमें गुणों के अत्यन्ताभाव का तो अभाव ही है। अतः घट में गुणों के "अत्यन्ताभाव" (त्रैकालिक-अभाव) के न होने से वर्त्तमान एक क्षण में गुणों का अभाव होने पर भी, आगामी ही क्षण में गुणोत्पत्ति के योग्य होने की दृष्टि से उसको गुणाश्रय मानकर "गुणाश्रयो द्रव्यम्" इस द्रव्य-लक्षण का भी समन्वय किया जा सकता है। अतः प्रथमक्षण में निर्गुण-घट की उत्पत्ति होती है और द्वितीय-आदि क्षणों में उसमें रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं, यह युक्तिसंगत ही है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुण तथा गुणी की समानकालीन उत्पत्ति न होने से घट-आदि गुणी, स्वगत रूप-आदि गुणों के प्रति समवायिकारण हैं।]

असमवायि-कारण—

समवायि-कारण के लक्षण का प्रतिपादन करने के अनन्तर अत्र असमवायि-कारण के स्वरूप का निरूपण करते हैं :—

असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम् । तन्तुसंयोगस्य गुणस्य, पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु, समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात्, अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च ।

एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम् ।

(असमवायिकारणम्) असमवायिकारण (तत्) उसको (उच्यते) कहा जाता है (यत्) कि जो (समवायिकारणप्रत्यासन्नम्) समवायिकारण में प्रत्यासन्न [निकटस्थ] हो और (अवधृतसामर्थ्यम्) [कार्य के उत्पादन में] जिसकी सामर्थ्य निश्चित हो [अभिप्राय यह है कि जिसमें "अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्" कारण का यह लक्षण भी घटता हो] (तत्) उसको (असमवायिकारणम्) असमवायिकारण कहते हैं । (यथा) जैसे (तन्तुसंयोगः) (पटस्य) पट का (असमवायिकारणम्) असमवायिकारण है । (तन्तुसंयोगस्य गुणस्य) तन्तुसंयोग गुण [है उस] के (पट समवायि कारणेषु) पट के समवायिकारण (तन्तुषु) तन्तुओं [रूप] (गुणिषु) गुणियों में (समवेतत्वेन) समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होने से [पट के] (समवायिकारणे) समवायिकारण में (प्रत्यासन्नत्वात्) प्रत्यासन्न होने (च) और (अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन) अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व [रूप कारण के लक्षण से युक्त] होने से (पटं प्रति) पट के प्रति (कारणत्वात्) कारण होने से [असमवायिकारण का लक्षण घट जाने से तन्तुसंयोग पट के प्रति 'असमवायिकारण' है ।]

(एवम्) इसी प्रकार (तन्तुरूपम्) तन्तुरूप (पटरूपस्य) पटरूप का (असमवायिकारणम्) असमवायिकारण है ।

[असमवायिकारण वह होता है जो समवायिकारण से निकटतः (समीपतः) सम्बन्ध रखता है तथा जिसमें कारण का सामान्य लक्षण भी घटता है । जैसे पट का असमवायिकारण है—तन्तुसंयोग । समवायिकारण के उदाहरण में अभी सिद्ध किया जा चुका है कि पट के समवायिकारण तन्तु हैं । इन तन्तुओं में तन्तुसंयोग समवाय-सम्बन्ध से रहता है । तन्तुओं का संयोग—तन्तुसंयोग । संयोग एक गुण है । गुण तथा गुणी में समवाय-सम्बन्ध हुआ करता है । अतः तन्तुसंयोग भी तन्तुओं में समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान है । यह तन्तुसंयोग पट के समवायिकारण तन्तुओं में प्रत्यासन्न है । साथ ही यह तन्तुसंयोग पट (कार्य) का, अनन्यथासिद्ध-नियतपूर्वभावी भी है । तन्तुओं के बिना संयोग के पट (कार्य) की उत्पत्ति होना संभव ही नहीं है । अतः यह नियतपूर्वभावी तो हो ही गया । साथ ही यह अन्यथासिद्ध भी नहीं है । इस भाँति 'तन्तुसंयोग' में कारण (अव-

धृतसामर्थ्यम्) भी घट जाता है। अतः लक्षण के दोनों ही अंशों के घटित हो जाने से "तन्तुसंयोग" 'पट' का असमवायि कारण है—यह स्पष्ट हो जाता है।

असमवायिकारण के उपर्युक्त लक्षण में दो पद हैं (१) समवायिकारणप्रत्यासन्नम्। अवधृतसामर्थ्यम्। प्रथमपद का अर्थ है कि समवायिकारण में प्रत्यासन्न (प्रत्यासत्ति रखने वाला) होता है। प्रत्यासन्न अथवा प्रत्यासत्ति का अभिप्राय है—निकटस्थ सम्बन्ध। सबसे निकट (समीप) का सम्बन्ध 'समवाय-सम्बन्ध' ही हुआ करता है। अतः यह प्रत्यासत्ति समवाय के रूप में ही हुआ करती है। जैसे 'पट' के समवायिकारण 'तन्तुओं' में तन्तुसंयोग समवाय सम्बन्ध से ही विद्यमान रहा करता है।

लक्षण के द्वितीयपद "अवधृतसामर्थ्यम्" का अर्थ है कि जिसकी सामर्थ्य निश्चित हो। अर्थात् जिसमें कारण की सामर्थ्य निश्चितरूप से विद्यमान हो अथवा जिसमें कारण का सामान्य लक्षण भी घटित होता हो ["अवधृतं निश्चितं सामर्थ्यं कारणतारूपं यस्य तत्"] कारण का सामान्य लक्षण "अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्" है। 'तन्तुसंयोग' में कारण का यह लक्षण भी घट जाता है। अतः 'तन्तुसंयोग" पट का असमवायिकारण है।

'असमवायिकारण' के उपर्युक्त लक्षण में दोनों ही पदों की उपयोगिता है। इनमें से द्वितीय पद "अवधृतसामर्थ्यम्" को यदि लक्षण में से हटा दिया जाय तो अवशिष्ट लक्षण "यत् समवायिकारण प्रत्यासन्नम्" रह जायगा और इस लक्षण में 'अतिव्याप्ति' नाम का दोष आ जायेगा। परिणामस्वरूप 'तन्तुरूप' भी पट का असमवायिकारण हो जायगा क्योंकि 'पट' के समवायि कारण तन्तु हैं। उनमें 'तन्तुरूप' प्रत्यासन्न है अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान है। तन्तु तथा तन्तुरूप सदैव अपृथकसिद्ध (अयुतसिद्ध) हैं। अतः इन दोनों का समवाय सम्बन्ध है ही। अतः लक्षण में प्रथमपद मात्र को रखने से यह लक्षण 'तन्तुरूप' में भी चला जायगा और वह भी पट का असमवायि कारण हो जायगा। इसके निराकरण के लिये लक्षण में द्वितीयपद "अवधृतसामर्थ्यम्" को भी रखा गया है। इस आधार पर तन्तुरूप में (पट के प्रति तन्तुरूप के कारण होने में) कारण का लक्षण ही न जायगा क्योंकि 'तन्तुरूप' तो पट के प्रति अन्यथासिद्ध है [इसका वर्णन पहले विस्तार के साथ किया जा चुका है।] अतः पट के प्रति 'तन्तुरूप' कारण ही न बनेगा। ऐसी स्थिति में वह पट का असमवायिकारण भी न हो सकेगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'असमवायिकारण' के लक्षण में विद्यमान दोनों ही पदों को पूर्ण सार्थकता तथा उपयोगिता है।]

इस भाँति 'तन्तुरूप' भी 'पटरूप' का असमवायिकारण है।

[हमने समवायि-कारण के वर्णन में गुण एवं गुणी की असमानकालीन (उत्पत्ति) अथवा निर्गुणोत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने रूप विशिष्ट प्रयोजन के आधार पर समवायि-कारण का उदाहरण प्रस्तुत किया था । इसी प्रकार असमवायिकारण का उपर्युक्त दूसरा उदाहरण दिया गया है । इसका आधार है "प्रत्यासत्ति" का दो प्रकार का होना (१) साक्षात्-प्रत्यासत्ति, (२) परम्परया प्रत्यासत्ति । [यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि 'प्रत्यासन्न' शब्द का अर्थ है प्रत्यासत्ति (निकट-सम्बन्ध) से युक्त]। असमवायि कारण के प्रथम-उदाहरण का सम्बन्ध 'साक्षात्–प्रत्यासत्ति' से है । जब असमवायि कारण कहा जाने वाला (गुण-कर्म आदि रूप में विद्यमान) पदार्थ कार्य के समवायिकारण में साक्षातरूप से प्रत्यासन्न हुआ करता है तब इसी को 'साक्षात्-प्रत्यासत्ति' कहा जाता है । प्रथम उदाहरण में तन्तुसंयोग को पट का असमवायिकारण कहा गया है । यह तन्तुसंयोग पट (कार्य) के समवायि-कारण तन्तुओं (रूप एक अर्थ) में साक्षात् रूप से प्रत्यासन्न है । इस प्रकार की प्रत्यासत्ति का ही नाम 'साक्षात्–प्रत्यासत्ति' है । इसी को दूसरे शब्दों में 'कार्यैकार्यप्रत्यासत्ति' (अर्थात् कार्य 'पट' के साथ कारण तन्तुसंयोग की एक अर्थ 'तन्तु' में प्रत्यासत्ति) भी कहा जाता है ।

दूसरे प्रकार की प्रत्यासत्ति को परम्परया-प्रत्यासत्ति अथवा "कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति" कहा जाता है । जब कोई धर्म [कार्य के साथ न होकर] कारण के साथ एक अर्थ में प्रत्यासन्न होता है तब उसको "कारणैकार्थप्रत्यासत्ति अथवा परम्परया-प्रत्यासत्ति कहा जाता है । इसी के उदाहरण में तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण कहा गया है । 'तन्तुरूप' [कार्यभूत 'पटरूप' के साथ एक अर्थ 'पट' में प्रत्यासन्न न होकर] 'पटरूप' के कारण 'पट' के साथ एक अर्थ 'तन्तु' में प्रत्यासन्न हैं कहने का अभिप्राय यह है कि पटरूप का कारण 'पट' है । वह अपने समवायिकारण तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है । इसी तन्तु 'गुणी' में तन्तुरूप 'गुण' समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है । अतः 'तन्तुरूप' और 'पट' दोनों तन्तु प्रत्यासन्न हुये । यद्यपि 'तन्तुरूप पटरूप' के साथ एक अर्थ में समवेत नहीं हैं किन्तु 'पटरूप' के कारण 'पट' के साथ 'तन्तुरूप के कारण तन्तु एक अर्थ में समवेत हैं । अतः उस परम्परा से अथवा 'कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति' से समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जाता है । तात्पर्य यह है कि समवायि-कारणके समवायिकारण में प्रत्यासन्न 'धर्म' को भी परम्परा से समवायि-कारण में प्रत्यासन्न मानकर 'तन्तुरूप' को पटरूप का असमवायिकारण कहा जा सकता है । 'पटरूप' का समवायिकारण 'पट' है और फिर उसके समवायिकारण

हैं 'तन्तु'। इन तन्तुओं में 'तन्तुरूप धर्म भी (समवाय सम्बन्ध से) प्रत्यासन्न है। अतः परम्परा से 'तन्तुरूप' भी 'पटरूप' का असमवायि कारण हुआ।

द्वितीय उदाहरण में 'तन्तुरूप' को 'पटरूप' का असमवायि कारण बतलाया गया है। इस उदाहरण में यह शंका उत्पन्न होती है कि :—

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणम् , तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्यपटरूपं प्रत्यसमवायिकारणत्वमुचितम्। तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्। न तु तन्तुरूपस्य। तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्।

मैवम्। समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्।

(ननु) निश्चय ही (पटरूपस्य) पटरूप का (समवायिकारणम्) समवायिकारण (पटः) पट है। (तेन) इसलिये (तद्गतस्य) उस [पट] में रहने वाले (कस्यचिद्) किसी (धर्मस्य) धर्म का (एव) ही (पटरूपं प्रति) पटरूप के प्रति (असमवायिकारणत्वम्) असमवायिकारणत्व [मानना] (उचितम्) उचित है। [क्योंकि] (तस्य एव) उस [पटगत धर्म] का ही (समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्) समवायिकारण प्रत्यासन्नत्व होना (संभव हो सकता) है। (तन्तुरूपस्य) तन्तुरूप का [पटरूप के प्रति समवायिकारण प्रत्यासन्नत्व] (न) नहीं [हो सकता है]। (तस्य) उस [तन्तुरूप के] [पटरूपके] (समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्) समवायिकारण [पट] में प्रत्यासन्न होने से ['तन्तुरूप' का 'पटरूप' के प्रति असमवायिकारणत्व मानना उचित नहीं है]।

यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा यह शंका उत्पन्न की गयी है कि आपके लक्षण [जो समवायिकारण में प्रत्यासन्न हो तथा अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावी भी हो वह असमवायिकारण कहा जाता है।] के अनुसार 'तन्तुरूप' को 'पटरूप' का 'असमवायिकारण' नहीं कहा जा सकता है क्योंकि तन्तुरूप तो पटरूप के समवायिकारण (पट) में प्रत्यासन्न नहीं है। पटरूप का समवायिकारण है 'पट'। इस पट में तन्तुरूप नहीं रहता है। 'तन्तुरूप' तो 'तन्तु' का धर्म है अतः वह 'तन्तुओं में ही रहा करता है।

इस शङ्का का समाधान करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं:—

(एवम्) ऐसा (मा) नहीं [कहना चाहिये क्योंकि—] (समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्य अपि) उस [कार्य—पटरूप आदि] के समवायिकारण [पट] के समवायिकारण [तन्तु] में प्रत्यासन्न [तन्तुरूप-आदि] का भी (परम्परया) परम्परा अथवा कारणैकार्थप्रत्यासत्ति से (समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्) समवायिकारण में प्रत्यासन्नत्व अभीष्ट होने से ['तन्तुरूप'

को भी 'पटरूप' के समवायिकारण में प्रत्यासन्न कहा जा सकता है। इस आधार पर 'तन्तुरूप' को भी 'पटरूप' का असमवायिकारण कहा जाना उचित ही है।]

[कहने का अभिप्राय यह है कि "समवायिकारण प्रत्यासन्न" का अर्थ 'समवायिकारण में प्रत्यासन्न' तो है ही। एकदूसरा अर्थ यह भी अभीष्ट है कि "समवायिकारण के समवायिकारण में प्रत्यासन्न"। इस दूसरे अर्थ के आधार पर 'तन्तुरूप' भी 'पटरूप' का असमवायिकारण हो जायगा। क्योंकि 'पटरूप' का समवायिकारण 'पट' है। और 'पट' का समवायिकारण 'तन्तु, है। इस 'तन्तु' में तन्तुरूप' प्रत्यासन्न है। अतः इस परम्परा से 'तन्तुरूप' भी पटरूप' का असमवायिकारण हो जायगा।]

इस भाँति 'समवायिकारण' तथा 'असमवायिकारण' इन दोनों का लक्षण कर दिये जाने के पश्चात् तर्कभाषाकार तृतीय कारण—'निमित्तकारण, का निरूपण करते हैं :—

निमित्तकारणं तदुच्यते। यन्न समवायिकारणं नाप्यसमवायिकारणम्, अथ च कारणम् तन्निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्।

(निमित्तकारणम्) निमित्तकारण (तत) उसको (उच्यते) कहाजाता है कि (यत्) जो (न) न (समवायिकारणम्) तो समवायिकारण है (न अपि असमवायिकारणम्) और न असमवायिकारण ही है (अथ च) [किन्तु] (कारणम्) कारण हैं (तत्) वह निमित्तकारणम् (निमित्तकारण) कहलाता है। (यथा) जैसे (वेमादिकम्) वेमा आदि (पटस्य) पट के (निमित्त कारणम्) निमित्तकारण हैं।

[जो जिस कार्य का न तो समवायि-कारण हो और न असमवायि-कारण ही हो किन्तु उस कार्य का कारण अवश्य हो, वह उस कार्य का "निमित्त-कारण" कहलाता है। जैसे वेमा [करघा] आदि पट के निमित्त कारण हैं। वेमा आदि में समवेत हो कर पटकी उत्पति नहीं हुआ करती है। अतः वेमा आदि पट के समवायि-कारण नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार वेमा आदि पट के समवायि कारण तन्तु में समवाय-सम्बन्ध से अथवा स्वसमवायि-समवाय सम्बन्ध से प्रत्यासन्न नहीं है। अतः वेमा आदि पट के असमवायि-कारण भी नहीं हैं। किन्तु फिर भी वेमा आदि नियतरूप से पट के पूर्वभावी है तथा अन्यथासिद्ध भी नहीं है। अतः वेम आदि पट के कारण तो हैं ही। किन्तु वेमा आदि पट के समवायि अथवा असमवायिकारण न होकर कारण अवश्य हैं। अतः वेमा आदि पट के निमित्त कारण हैं।

निमित्त-कारण के उपर्युक्त लक्षण में तीन अंश हैं (१) यन्न समवायि-कारणम् (२) नाप्यसमवायिकारणम् (३) अथ च कारणम्। इनमें से यदि

निमित्त-कारण के लक्षण में प्रथम अंश को न रखा जाता तो अवशिष्ट लक्षण पट के समवायि-कारण 'तन्तु में भी चला जाता और इस भाँति लक्षण में 'अतिव्याप्ति' दोष आ जाता। इसी प्रकार यदि निमित्त-कारण के उक्त लक्षण में से द्वितीय अंश को निकाल दिया जाय तो अवशिष्ट निमित्त-कारण का लक्षण तन्तुसंयोग' में भी घटित हो जायगा। इस भाँति लक्षण में 'अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। इसी भाँति तृतीय अंश को निकाल देने पर तो केवल यही शेष रह जायगा कि जो समवायि तथा असमवायिकारण न हो वह निमित्त कारण कहलाता है। तब यह लक्षण 'रासभ' आदि में भी चला जायगा और वे 'रासभ' आदि भी पट, घट, आदि के निमित्त कारण हो जावेंगे। अतः निमित्त कारण के उक्त लक्षण में तीनों ही अंशों की उपयोगिता है।]

कार्यों के प्रति उपर्युक्त तीन प्रकार के कारणों का उल्लेख किया गया है। यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्या सभी कार्यों के ये तीन प्रकार के कारण हुआ करते हैं। इस जिज्ञासा का निवारण करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

तदेतद् भावानामेव त्रिविधं कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं तस्य क्वचिदप्यसमवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्।

(तत् एतत्) तो यह (त्रिविधम्) तीन प्रकार के [समवायि, असमवायि और निमित्त] (कारणम्) कारण (भावना एव) भाव [अर्थात् सत्] पदार्थों के ही [होते हैं] (अभावस्य) अभाव का (तु) तो (निमित्तमात्रम्) केवल [एक] निमित्तकारण ही होता है। (तस्य) उस [अभाव] का (क्वचिदपि) कहीं भी [अर्थात् किसी भी पदार्थ के साथ] (असमवायात्) समवाय-सम्बन्ध न होने से। (समवायस्य) समवाय के (भावद्वय धर्मत्वात्) दो भाव 'पदार्थों' का ही धर्म होने से।

संसार में दो प्रकार के कार्य माने गये हैं (१) भावात्मक अथवा भावकार्य यथा-घट, पट आदि। (२) अभावात्मक कार्य न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में वर्णित भावकार्य वे कहलाते हैं कि जिनमें सत्ता-सामान्य की विद्यमानता रहा करतीं है। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में ही सत्ता नामक जाति (सामान्य) रहा करती है। अतः भावकार्य अथवा भावात्मक कार्यों के अन्तर्गत द्रव्य, गुण तथा कर्म के रूप में होनेवाले कार्यों की गणना की जाती है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में "अभाव" को भी एक पदार्थ के रूप में माना गया है। यह अभाव का प्रकार चार हुआ करता है—

(१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) अत्यन्ताभाव (४) अन्योन्याभाव इन चारों में केवल प्रध्वंसाभाव ही कार्यरूप होता है, शेष तीनों कार्यरूप में नहीं हुआ करते। अतः यहाँ अभावात्मक कार्य के अन्तर्गत 'प्रध्वंसाभाव'

का ही ग्रहण किया जायगा। 'प्रध्वंसाभाव' का साधारण अर्थ है कि प्रध्वंस अर्थात् विनाश के अनन्तर किसी वस्तु का अभाव। यथा-घट के नष्ट होजाने पर घट का अभाव अर्थात् घट-प्रध्वंसाभाव।

समवायिकारण-असमवायिकारण तथा निमित्तकारण ये तीन प्रकार के कारण भावात्मक कार्यों अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म रूप में होनेवाले कार्यों के ही हुआ करते हैं। तीनों कारणों के उदाहरणों में घट, पट आदि कार्यों के तीनों प्रकार के कारणों का होना दिखलाया जा चुका है। जो अभावात्मक कार्य अर्थात् 'प्रध्वंसाभाव' है उसका तो केवल 'निमित्तकारण' ही हुआ करता है क्योंकि इस अभावात्मक कार्य (प्रध्वंसाभाव) के समवायि और असमवायिकारण नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि ये दोनों कारण उस ही कार्य के हुआ करते हैं कि जो समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो सकता है। चूँकि समवाय सम्बन्ध दो भावात्मक पदार्थों (कार्यों) में ही हुआ करता है। अतः किसी भी पदार्थ का अभाव के साथ समवाय सम्बन्ध न होने के कारण अभावात्मक कार्य का कोई समवायिकारण अथवा असमवायिकारण नहीं हो सकता। किसी भी पदार्थ में अभाव, स्वरूप-सम्बन्ध से ही रहा करता है समवाय-सम्बन्ध से नहीं। अतः अभावात्मक-कार्य का केवल निमित्त कारण ही हुआ करता है। जैसे—दण्ड के प्रहार से घट का ध्वंस (विनाश) किया जाने पर दण्ड तथा ध्वंसकर्ता घट-ध्वंस अथवा घटाभाव के निमित्त कारण कहलाते हैं।

इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि त्रिविध-कारण केवल भावात्मक अथवा भाव पदार्थों के ही हुआ करते हैं अभाव के नहीं। भाव-पदार्थों से सम्बन्धित इन तीन प्रकार के कारणों में से समवायि-कारण केवल द्रव्य ही हुवा करता है। यथा 'पट' और 'घट' का समवायि कारण क्रमशः तन्तु और मृत्तिका द्रव्य हैं। इसी प्रकार 'पटरूप' और घटरूप' के समवायि कारण क्रमशः पट और घट भी द्रव्य हैं। 'असमवायिकारण गुण अथवा कर्म (क्रिया) हुआ करते हैं। यथा—'पट' का असमवायि कारण 'तन्तुसंयोग' तथा 'पटरूप' का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' दोनों 'गुण' के अन्तर्गत आते हैं। वह हुआ 'गुण' का उदाहरण अब क्रिया (कर्म) सम्बन्धि उदाहरण देखिये—कर्म अथवा क्रिया भी असमवायि कारण होती है। जैसे—जब किसी गाड़ी के पहियों (अवयव) में गमन क्रिया होती है तो उससे गाड़ी (अवयवी) में भी गमन क्रिया हो जाया करती है। जिस भाँति पटरूप के प्रति तन्तुरूप असमवायिकारण है उसी प्रकार गाड़ी की गमन क्रिया में पहियों की गमन-क्रिया भी असमवायि-कारण है। इस भाँति यह स्पष्ट हो गया कि समवायि-कारण तो द्रव्य हुआ करते हैं तो और असमवायिकारण गुण तथा कर्म। निमित्त कारण

द्रव्य, गुण, कर्म भी हो सकते हैं तथा अन्य सभी पदार्थ भी। समवायिक-करण तथा असमवायि कारण दोनों ही कारण किसी भी कार्य के असाधारण ही हुआ करते हैं किन्तु निमित्त-कारण के अन्तर्गत अवशिष्ट सम्पूर्ण असाधारण तथा साधारण कारणों का भी समावेश हो जाया करता है। इस आधार पर न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में जो अदृष्ट आदि को कार्यमात्र के प्रति कारण माना गया है वह सभी निमित्त-कारण के अन्तर्गत ही आ जाता है]

'प्रमाण' के लक्षण में विद्यमाम 'करण' के लक्षण के प्रसङ्ग में कारण का भी लक्षण किया गया था। "साधकतमं करणम्" करण के इस लक्षण में "साधकतमम्" का अर्थ 'प्रकृष्टकारणम्" ही किया था। कारणों के तीनों प्रकारों का वर्णन कर दिये जाने के अनन्तर अब यह निर्णय करना है कि इनमें भी प्रकृष्ट कारण कौनसा है? जो प्रकृष्टकारण होगा उसी को करण कहा जायगा। वही प्रमा का भी करण होगा और उसी को प्रमाण भी कहा जायगा। अतः प्रमाण के लक्षण का उपसंहार करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्। तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति।

(तत्) तो अब (एतस्य) इन (त्रिविधस्य) तीन प्रकार के (कारणस्य) कारणों के (मध्ये) मध्य में से (यत) जो [कारण] (एव) ही (कथमपि) किसी प्रकार से भी [अन्य कारणों की अपेक्षा] (सातिशयम्) अधिक उत्कृष्ट [कारण] होगा, (तत्, एव) उस ही को (करणम्) करण [कहा जायगा]। (तेन) इस प्रकार ['प्रमा' तथा 'करण' दोनों ही पदों की पूर्ण व्याख्या कर दिये जाने के पश्चात्] ("प्रमाकरणं प्रमाणम्"—) प्रमा का करण ही प्रमाण कहलाता है (एतत्-लक्षणम्) [प्रमाण का] यह लक्षण (व्यवस्थितम्) निश्चित हो जाता है।

उपर्युक्त वर्णित कारणों में से जो ही कारण किसी भी प्रकार अतिशय युक्त—अन्य कारणों की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है, उसी को 'करण' कहा जाता है। यह 'अतिशय' व्यापार रूप है, अथवा प्रमाता तथा प्रमेय के विद्यमान होने पर भी उस (व्यापार) के विना 'प्रमा' नहीं होती, यही उस प्रमा के करण [अथवा अन्य करण] की उत्कृष्टता अथवा अतिशय है। अथवा उसके व्यापार के पश्चात् फल की प्राप्ति हो जाया करती है, यही उसकी उत्कृष्टता अथवा अतिशय है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त न होगा कि समवायिकारण तथा असमवायि-कारण कभी करण के रूप में व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होते हैं। इसदृष्टि से करण के दो लक्षण करने होंगे (१) वास्तविक और दूसरा (२) व्यवहारौपयिक। "सातिशय कारणं करणम्" इसे 'करण' का वास्तविक-लक्षण कहा

जायगा तथा "व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्" इसे 'करण' का व्यवहारौपयिक लक्षण कहा जा सकेगा। समवायि तथा असमवायि कारण किसी दृष्टि से अन्य कारणों की अपेक्षा सातिशय होने पर वस्तुतः करण तो कहे जायेंगे किन्तु वे अपने कार्य के प्रति व्यापार द्वारा कारण न होने से 'करण' पद वाच्य न होंगे।]

इस प्रकार प्रमा तथा करण की विस्तृत व्याख्या कर दिये जाने पर प्रमाण का यह लक्षण निश्चित हो गया कि जो प्रमा का करण होता है वह "प्रमाण" कहलाता है।

अब अन्य आचार्यों द्वारा किये गये 'प्रमाण' के लक्षण को प्रस्तुत कर उसकी अनुपयुक्तता को स्पष्ट करते हैं :—

यत्तु, अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्, तन्न, एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात्।

न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता। प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्। कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात्। क्रिया, क्रियातो विभागो, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः, ततश्चोत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिरिति।

(यत्) जो [यह भट्टमतानुयायी मीमांसकों तथा दिङ्नाथ आदि बौद्ध आचार्यों द्वारा] (अनधिगतार्थगन्तृ) अनधिगत अर्थात् अज्ञात अर्थ के बोधक को (प्रमाणम्) प्रमाण कहते हैं, (इति) यह (लक्षणम्) लक्षण किया गया है। (तत्) वह (न) ठीक नहीं हैं; (एकस्मिन् एवं) एक ही (घटे) घड़े में [निरन्तर कई क्षण तक] (घटः अयं, घटः अयम्) यह घड़ा है, यह घड़ा है, (गृहीतग्राहिणाम्) [इस प्रकार] ज्ञात अर्थ [घट] का ग्रहण कराने वाले [द्वितीय आदि क्षण में] घट का ज्ञान कराने वाले (धारावाहिकज्ञानानाम्) धारावाहिक ज्ञानों के (अप्रामाण्यप्रसङ्गात्) अप्रामाण्य के आ जाने से 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्" यह प्रमाण का लक्षण ठीक नहीं है।

[उपर्युक्त शंका के उपस्थित हो जाने पर मीमांसक आदि आचार्य यह कहें कि प्रथम, द्वितीय आदि] (अन्यान्य क्षणविशिष्ट विषयीकरणात्) पृथक-पृथक क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण होने से [द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में भी] (अनधिगतार्थगन्तृता) अज्ञात अर्थ का बोध होना संभव है [अतः धारावाहिक इस ज्ञान में अप्रामाण्य न होगा] तो यह भी (न) ठीक नहीं है।

[यदि मीमांसक आदि यह कहें कि प्रथम, द्वितीय आदि पृथक-पृथक क्षण विशिष्ट-घट का ग्रहण किये जाने से द्वितीय तृतीय आदि ज्ञानों में 'अनधिगतार्थ गन्तृता' होना संभव है। अतः धारावाहिक ज्ञान में अप्रामाणिकता नहीं आयगी। किन्तु यह भी] (प्रत्यक्षेण) प्रत्यक्ष से (सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्)

(सूक्ष्म) [क्षणरूप] कालभेद के आकलन न किये जाने से, ठीक नहीं है। (कालभेदग्रहे) [प्रत्यक्ष से क्षणरूप सूक्ष्म] काल के भेद का ग्रहण होने पर तो [किसी वस्तु के किसी एक स्थान से गिरने अथवा एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाने में उत्पन्न होने वाली] (क्रियादिसंयोगान्तानाम्) क्रिया से प्रारम्भ कर संयोग पर्यन्त (चतुर्णाम्) चारों व्यापारों में (यौगपद्य) एक साथ होने (अभिमानो न स्यात्) की प्रतीति नहीं होगी। [जब कोई वस्तु एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जायी जाती है तब उसके दूसरे स्थान पर पहुँचने तक चार प्रकार के व्यापार हुआ करते हैं–] (१) (क्रिया) (२) क्रिया तो विभागः क्रिया से विभाग (३) (विभागात् पूर्वसंयोगनाशः) विभाग से पूर्व-संयोग का नाश (च) और (ततः) तदनन्तर (४) (उत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिः इति) उत्तरदेश [स्थान] में संयोग की उत्पत्ति [किन्तु इन चारों व्यापारों का ज्ञान अथवा इन चारों की अनुभूति पृथक-पृथक रूप में नहीं हो पाती है क्योंकि ये चारों व्यापार अत्यन्त शीघ्रता के साथ हो जाते हैं। अतः सूक्ष्म काल-भेद का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण संभव न होने से धारावाहिक ज्ञान अथवा बुद्धिस्थल में क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण किया जा सकना संभव नहीं है। इस स्थिति में द्वितीय आदि क्षणों में तत्तत् क्षणविशिष्ट ज्ञानों के गृहीतग्राही होने से "अनधिगतार्थ गन्तृ प्रमाणम्" प्रमाण का यह लक्षण नहीं घटित होगा। अतः मीमांसकों आदि द्वारा किया गया यह लक्षण ठीक नहीं है।

[मीमांसकों आदि आचार्यों द्वारा किये गये 'प्रमाण' के लक्षण की अनुपयुक्तता का तर्कभाषाकार ने सिद्ध किया है। इस अनुपयुक्तता की सिद्धि में ४ प्रकार के विभागों का वर्णन उपलब्ध होता है। (१) भाट्ट-मीमांसक आदि आचार्यों द्वारा किया गया 'प्रमाण' का लक्षण। (२) इस प्रमाण के लक्षण में आने वाले दोषों का नैयायिकों तथा वैशेषिक दर्शनाभिमत आचार्यों द्वारा स्पष्टीकरण। (३) भाट्टमीमांसक आदि आचार्यों द्वारा किया गया उन दोषों का निवारण। (४) न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के आचार्यों द्वारा किया गया उक्त निवारण का निराकरण तथा स्वमत का समर्थन।

(१) भाट्ट मीमांसक आदि आचार्यों द्वारा किया गया 'प्रमाण' का लक्षण—

[भाट्ट मीमांसक आदि आचार्यों द्वारा प्रमाण का लक्षण किया गया है :– "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्" अनधिगत का अर्थ है 'अज्ञात' (अधिगत का अर्थ है ज्ञात–जो अधिगत–ज्ञात न हो–अर्थात् अज्ञात)। अज्ञातअर्थ (विषय) का ग्राहक अथवा बोधक ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है ["अनधिगतः पूर्वं अज्ञातः यः अर्थः तस्य गन्तृ ग्राहकं प्रमाणम्] अर्थ (विषय) का ज्ञान दो प्रकार का होता है (१) अज्ञात अर्थ का ज्ञान जिसे 'अनुभव' कहा जाता

है तथा (२) ज्ञात अर्थ (विषय) का ज्ञान जिसे 'स्मृति' कहा जाता है। "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्" इस लक्षण के अनुसार अज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान ही 'प्रमाण' है। अतः इस सिद्धान्त की दृष्टि से 'अनुभव' ही प्रमाण हुआ। तथा लक्षण यह ही हुआ-कि—"अनधिगत (अज्ञात) अर्थ (विषय) का ज्ञापक (ज्ञान कराने वाला)—'प्रमाण' कहलाता है।

(२) न्याय-वैशेषिक-दर्शनों के सिद्धान्तों के आधार पर प्रमाण के उपर्युक्त लक्षण सम्बन्धी दोषः—

यदि अज्ञात अर्थ के ग्राहक अथवा ज्ञापक को 'प्रमाण' कहा जायगा तो प्रथमक्षण में देखा गया 'घट' तो अनधिगत (अज्ञात) होगा और उसका ज्ञापक 'प्रमाण' कहा जायगा। किन्तु द्वितीय आदि क्षणों में उस 'घट' का ज्ञान तो अधिगत (ज्ञात) हो जायगा। अतः अनधिगत (अज्ञात) अर्थ न होने के कारण उक्त लक्षण द्वितीय आदि क्षणों में देखे गये 'घट' में घटित नहीं होगा। द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में देखे जाने वाला घट का ज्ञान "धारा-वाहिक ज्ञान" कहलाता है। [धारारूपेण वहन्तीति धारावाहीनि, धारावाहीनि एव धारावाहिकानि—स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होने पर] जैसे-जब इन्द्रिय से सन्निकृष्ट 'घट' आदि विषयों में प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में निरन्तर धारा रूप में यह ज्ञान हुआ करता है—"यह घट है", "यह घट है", "यह घट है" तो इसी को 'धारावाहिक-ज्ञान' नाम से कहा जाता है। इनमें प्रथम क्षण में देखा गया 'घट' का ज्ञान तो अज्ञात अर्थ का ग्राहक है अतः मीमांसक आदि आचार्यों के प्रमाण के उपर्युक्त लक्षण के :अनुसार प्रमाण हो सकता है किन्तु द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में प्राप्त 'घट' का ज्ञान ता ज्ञात-विषयक हो जायगा। अतः उसमें उपर्युक्त प्रयाण का लक्षग घटित ही न होगा।

(३) मीमांसक आदि आचार्यों द्वारा किया गया इस उक्त दोष का निवारणः—

प्रथम क्षण में जो घड़ा देखा जायगा वह प्रथमक्षणविशिष्ट 'घट' होगा। द्वितीयक्षण में द्वितीय क्षणविशिष्ट घट, तृतीयक्षण में तृतीयक्षणविशिष्ट घट का ज्ञान होगा। इस भाँति भिन्न-भिन्न क्षण विशिष्ट घड़ों का ज्ञान दर्शक को भिन्न-भिन्न क्षणों में होगा। इसी का नाम 'धारावाहिक ज्ञान' है। इस भाँति प्रत्येक क्षण में जो तत्तत् क्षगविशिष्ट घट का ज्ञान होगा वह अज्ञात घट का ही होगा क्योंकि प्रथमक्षण में तो प्रथमक्षणविशिष्ट घट का ही ज्ञान होता है। विशेषण भेद से वस्तु आदि में भी भेद हो जाया करता है। जैसे रक्तकमल से नील-कमल भिन्न होता है—विशेषण रक्त और नील के ही आधार। इसी प्रकार प्रथमक्षण विशिष्ट, द्वितीय क्षणविशिष्ट आदि विशेषणों के आधार पर प्रथमक्षण में देखे गये घट में और द्वितीयक्षण में देखे गये 'घट' में अन्तर

होगा ही। अतः धारावाहिक ज्ञान भी अज्ञात अर्थ के ही ज्ञापक होते हैं। इस दृष्टि से द्वितीय आदि क्षणविशिष्ट 'घट' में भी उक्त प्रमाण का लक्षण घटित हो ही जावेगा।

(४) न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के आचार्यों द्वारा उपर्युक्त निवारण का किया गया निराकरणः—

प्रत्यक्ष द्वारा काल के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान नहीं हो पाता है। मीमांसक आदि आचार्यों के कथन के आधार पर द्वितीय आदि क्षणविशिष्ट घट आदि का ग्रहण किया जाता है। किन्तु इसकी संभावना तभी की जा सकती है कि जब हमें प्रथमक्षण, द्वितीयक्षण, तृतीयक्षण आदि के भेद का प्रत्यक्षतः अनुभव हो। जब हम यह समझ सकें कि अब प्रथमक्षण समाप्त हुआ, अब द्वितीयक्षण प्रारम्भ हो रहा है—इत्यादि २। कालों के ये भेद तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इसी कारण प्रत्यक्ष द्वारा इनका ज्ञान नहीं हो पाता। फिर जब हम क्षण-नामक काल के भेदों का ग्रहण नहीं कर सकते हैं तो फिर द्वितीयक्षणविशिष्ट 'घट' तृतीयक्षणविशिष्ट 'घट' का ज्ञान हमको कैसे होगा ? विशेषण (प्रथमक्षण-विशिष्ट, द्वितीयक्षणविशिष्ट) के ज्ञान के बिना विशिष्ट का ज्ञान भी नहीं हुआ करता है "नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टेऽपूपजायते।" अतः इस सिद्धान्त के आधार पर धारावाहिक ज्ञानों में मीमांसकों आदि द्वारा किया गया प्रमाण का लक्षण घटित ही न हो सकेगा।

काल के सूक्ष्म-भेदों का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव न होने में तर्क यह है कि जब कोई वस्तु एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाती है तब उसके दूसरे स्थान पर पहुँचने तक चार व्यापार हुआ करते हैं (१) क्रिया (२) क्रिया द्वारा विभाग (३) विभाग के कारण पूर्वसंयोग का नाश (४) उत्तर-देश के संयोग की उत्पत्ति। जैसे कोई गेंद मेज पर से नीचे गिरे तो सर्वप्रथम उस गेंद में 'क्रिया' उत्पन्न होगी। तदनन्तर गेंद का मेज से विभाग होगा। पुनः इस विभाग के कारण मेज तथा गेंद के पूर्व संयोग का नाश होगा और तत्पश्चात् गेंद नीचे गिरेगी तथा पृथ्वी के साथ उसके संयोग की उत्पत्ति होगी। किन्तु इन चारों प्रकार के व्यापारों का ज्ञान हमें काल की सूक्ष्मता के कारण हो ही नहीं पाता है तथा एक ही क्षण में कार्य की समाप्ति भी हो जाती है।

इसके अतिरिक्त क्रिया आदि चारों प्रकार के व्यापारों का कार्यकारणभाव है अर्थात् क्रिया विभाग का, विभाग पूर्वसंयेगनाश का तथा पूर्वसंयोगनाश 'उत्तरसंयोग' का कारण है। अतः इन चारों में पौर्वापर्य का होना स्वाभाविक है। पौर्वापर्य के कारण भिन्नकालीनता का होना भी स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में ये चारों व्यापार भिन्न २ अव्यवहित क्षणों में उत्पन्न हुआ करते हैं, यह बात

निश्चित है। हाँ इतना अवश्य है कि इन क्षणों में इतनी अधिक सूक्ष्मता तथा व्यवधानशून्यता है जिसके कारण परस्परभिन्नता की प्रतीति हो ही नहीं पाती है। इसके विपरीत यही प्रतीति हुआ करती है कि यह सब एक साथ ही एक क्षण में ही हो गया है। इसी प्रकार कमल के शतपत्र सुई द्वारा जब बींधे जाते हैं तो वहाँ भी यही प्रतीति होती है कि एक क्षण में ही कमल के शतपत्रों का वेधन हो रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काल के सूक्ष्म भेदों का प्रत्यक्ष हमें नहीं हुआ करता है।

अतः जब काल के सूक्ष्म भेदों का ही ज्ञान हमें न होगा तब द्वितीयक्षण-विशिष्ट 'घट' आदि का ग्रहण कैसे हो सकेगा। ऐसी स्थिति में धारावाहिक ज्ञान के स्थान पर द्वितीय आदि क्षण में प्रत्यक्ष होने वाला घट आदि विषय ज्ञातअर्थ के ही ग्राहक होंगे। अतः उनमें "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्" प्रमाण का यह लक्षण भी घटित न हो सकेगा। अतः प्रमाण का उक्त लक्षण अनुपयुक्त ही है।]

'करण' का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि 'साधकतमं करणम्", "प्रकृष्टं कारणं करणम्" तथा "तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्"। इन तीन रूपों में करण के स्वरूप को स्पष्ट किया गया। इन तीनों के द्वारा यही स्पष्ट हो रहा है कि तीनों कारणों में जो सातिशय अथवा प्रकर्षयुक्त अथवा विशिष्ट कारण होता है उसी को 'करण' कहा जाता है। कारणों का वह अतिशय अथवा प्रकर्ष अथवा वैशिष्ट्य क्या है कि जिसके आधार पर 'करण' को स्पष्टरूप से समझा जा सके। इसी को जानने की इच्छा से यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करते हैं:—

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृप्रमेयादीनि। तान्यपि किं कारणानि उत नेति ?

उच्यते। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति, अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव कारणम्। प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम्। अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात्, प्रमाणं न प्रमात्रादि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि। तथा च न्यायसूत्रम् :—"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"॥ न्या० सू० १, १, ३॥ इति।

[प्रश्न—] (ननु) निश्चय ही (प्रमातृप्रमेयादीनि) प्रमाता, प्रमेय आदि (प्रमायाः) प्रमा के (बहूनि) बहुत से (कारणानि) कारण (सन्ति) हैं। (तानि अपि) वे सब भी [प्रमा के] (कारणानि) कारण होते हैं (किम्) क्या ? (उत) अथवा (न इति) नहीं ?

[उत्तर—] (उच्यते) कहते हैं। (प्रमातरि प्रमेये च) प्रमाता और प्रमेय के (सति अपि) होने पर भी [इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना] (प्रमा अनुत्पत्तेः) प्रमा की उत्पत्ति न होने से अर्थात् प्रमा की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। (इन्द्रियसंयोगादौ) इन्द्रिय-संयोग [पदार्थ अथवा वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष] आदि के (सति) होने पर (अविलम्वेन) अविलम्व से (प्रमोत्पत्तेः) प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है। (अतः) अतः (इन्द्रिय-संयोगादिः) इन्द्रिय-संयोग आदि (एव) ही (करणम्) [प्रमा का] करण है। [प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण तीनों में] (प्रमायाः) प्रमा के (साधकत्व-अविशेषे अपि) साधकत्व में [समानता होने पर भी अथवा] भेद न होने पर भी (अनेन) इस (एव) ही (उत्कर्षेण) उत्कर्ष के कारण [कि इन्द्रिय-संयोग होने पर अविलम्व ही प्रमा उत्पन्न हो जाया करती है] (अस्य) इस [इन्द्रिय-संयोगादि] का (प्रमात्रादिभ्यः) प्रमाता आदि की उपेक्षा (अतिशयितत्वात्) अतिशय होने से (अतिशयितं साधकं साधकतमम्) अतिशय युक्त साधक ही साधकतम है अतः (तदेव) वह ही (करणम्) करण है (इति उक्तम्) ऐसा कहा गया है। (अतः) इसलिये (इन्द्रिय-संयोगादिः) इन्द्रिय-संयोग आदि (एव) ही (प्रमाकरणत्वात्) प्रमा का करण होने से (प्रमाणम्) प्रमाण है, (प्रमात्रादि न) प्रमाता आदि नहीं।

(च) और (तानि) वे (प्रमाणानि) प्रमाण (चत्वारि) चार हैं। (तथा च) जैसाकि (न्यायसूत्रम्) न्यायसूत्रम् में [कहा भी गया] है :—

(प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द [ये चारों] (प्रमाणानि) प्रमाण हैं।

इस विवरण में आये हुए 'इन्द्रियसंयोगादि' पद का अर्थ समझ लेना आवश्यक है—"इन्द्रियं च संयोगश्च तौ आदौ यस्य स तथोक्तः, आदिशब्देन निर्विकल्पकज्ञानादि गृह्यते—न्यि०"। अर्थात् इन्द्रिय और संयोग—ये दोनों हैं आदि में जिसके वह है इन्द्रियसंयोगादि। यहाँ संयोग शब्द का अभिप्राय है इन्द्रिय + अर्थ का सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। 'आदि' शब्द से निर्विकल्पक ज्ञान आदि का ग्रहण किया गया है। इस भाँति 'इन्द्रियसंयोगादि' पद से आगे वर्णन में आने वाले सभी प्रकार के 'प्रमा' के करणों का ग्रहण किया जा सकेगा।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण सभी समानरूप से 'प्रमा' के कारण हैं किन्तु प्रमाता, प्रमेय आदि के विद्यमान रहने पर भी 'प्रमा' की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। हाँ, इन्द्रियसंयोग आदि (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) का सन्निधान होते ही विना किसी विलम्व के प्रमा की उत्पत्ति हो जाया करती है। अतः इन्द्रिय-

संयोग (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) आदि ही प्रमा का कारण हैं, प्रमाता, प्रमेय आदि नहीं। यद्यपि प्रमा का साधकत्व (कारणत्व) प्रमाता, प्रमेय, इन्द्रिय-संयोग आदि में समान है किन्तु इसी अतिशय अथवा प्रकर्ष से कि प्रमाता, प्रमेय आदि के विद्यमान रहने पर भी 'प्रमा' की उत्पत्ति नहीं हो पाती है तथा इन्द्रियसंयोग (इद्रियार्थसन्निकर्ष) आदि के सन्निहित होते ही प्रमा की उत्पत्ति हो जाया करती है, प्रमाता आदि की अपेक्षा इन्द्रियसंयोग (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) अतिशयित अथवा प्रकृष्ट हो जाता है। अतिशयित अथवा उत्कृष्ट साधक को ही 'साधकतमम्' कहा गया है। और जो साधकतम अर्थात् प्रकृष्ट कारण होता है उसीको कारण कहा जाता है। यहाँ इन्द्रियसंयोग (इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष) ही प्रमा प्रकृष्ट अथवा साधकतम कारण है। अतः प्रमा का करण इन्द्रियसंयोग ही हुआ और 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' के अनुसार यह 'इन्द्रियसंयोग' ही प्रमाण भी हुआ।

और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में 'करण' की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जिस कारण की समीपता होने पर कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब न हो अर्थात् जिस कारण की उपस्थिति के पश्चात् कार्य की उत्पत्ति में किसी दूसरे कारण की अपेक्षा न हो वह 'कारण' ही 'करण' कहलाता है। किन्तु जिन कारणों के उपस्थित रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति के लिये अन्य कारणों की भी अपेक्षा की जा रही हो उन कारणों को 'करण' नहीं कहा जा सकता है। जैसे—प्रमाता (प्रत्यक्ष करने वाला व्यक्ति), प्रमेय (प्रत्यक्ष किया जाने वाला पदार्थ अथवा वस्तु), इन्द्रिय, प्रमेय के साथ इन्द्रिय का संयोग (सन्नि-कर्ष), ये सभी [प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उत्पन्न होने वाली] प्रत्यक्ष-प्रमा के प्रमुख कारण हैं। इन कारणों में प्रथम तीन (प्रमाता, प्रमेय और इन्द्रिय) के उपस्थित रहने पर भी जब तक प्रमेय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता तब तक प्रत्यक्ष-प्रमा (प्रत्यक्ष ज्ञान) की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। अतः प्रत्यक्षप्रमा के लिये सर्वोत्कृष्ट कारण इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को ही कहा जा सकता है। इस 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' के हो जाने पर किसी अन्य 'कारण' की अपेक्षा नहीं रह जाती है। अतः प्रमेय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष ही 'प्रत्यक्षप्रमा' का करण कहा जायगा तथा प्रत्यक्ष-प्रमा के इस कारण को ही प्रत्यक्षप्रमाण कहा जायगा।

इस भाँति प्रमाण के सामान्य-लक्षण के वर्णन में (१) प्रमा का लक्षण (२) करण का लक्षण (३) कारण का लक्षण (४) दूसरों द्वारा किये गये कारण के लक्षण का खण्डन (५) कारण के त्रिविध प्रकार (६) तीनों प्रकार (समवायि, असमवायि और निमित्त कारण) के करणों के लक्षण (७) समवाय एवं संयोग सम्बन्ध का निरूपण (८) निर्गुणोत्पत्ति का निरूपण तथा (९) धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य

आदि का निरूपण तथा निराकरण, यह सब तर्कभाषाकार ने दिखलाने का प्रयास किया है।]

न्यायसूत्र के अनुसार प्रमाण के चार भेद किये गये हैं (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान और (४) शब्द। इनमें सबसे पहले प्रत्यक्ष-प्रमाण का नाम आता है। अतः सर्वप्रथम इस ही का निरूपण किया जायगा :—

प्रत्यक्ष-प्रमाण

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब प्रमाणों को आपने ४ भेदों में विभक्त किया है तो फिर प्रत्यक्ष प्रमाण का ही वर्णन सर्वप्रथम आप क्यों कर रहे हैं? अन्य किसी प्रमाण का क्यों नहीं?

उत्तर—चूँकि प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों में श्रेष्ठ तथा सबका उपजीव्य है। 'अनुमान' आदि प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण पर ही आधारित रहा करते हैं अथवा अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण की ही अपेक्षा रखा करते हैं। अतः सर्वप्रथम प्रत्यक्ष-प्रमाण का वर्णन करना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण को लगभग सभी सिद्धान्तवादियों ने स्वीकार किया है। अन्य प्रमाणों के विषय में तो नानाप्रकार के मतभेद हैं। इस कारण भी सर्वप्रथम 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' का ही वर्णन किया जाना उचित ही है। 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही उपलब्ध हुआ करता है। शेष प्रमाणों द्वारा तो 'परोक्ष-ज्ञान' की ही उपलब्धि हुआ करती है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि में समय नहीं लगा करता है; परोक्ष-ज्ञान की उपलब्धि में तो समय का लगना आवश्यक है। अतः प्रत्यक्ष-ज्ञान के साधनभूत प्रत्यक्ष प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख किया जाना उचित ही है।

प्रत्यक्षम्

किं पुनः प्रत्यक्षम्?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा-सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज् ज्ञानम्।

प्रश्न—(पुनः) तो फिर (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष-प्रमाण (किम्) क्या है? [अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण तथा स्वरूप क्या है?]

उत्तर—(साक्षात्कारिप्रमाकरणम्) साक्षात्कार करने वाली प्रमा के करण को (प्रत्यक्षम्) 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। (च साक्षात्कारिणी) और साक्षात्कार करने वाली (प्रमा) प्रमा (सा एव) उसको ही (उच्यते) कहा जाता है (या) कि जो (इन्द्रियजा) इन्द्रिय जन्य [इन्द्रिय से उत्पन्न] [प्रमा] होती

है। (च सा) और वह [प्रमा] (सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्) सविकल्पक और निर्विकल्पक के भेद से (द्विधा) दो प्रकार की है। (तस्याः) उसके (करणम्) करण (त्रिविधम्) तीन प्रकार के हैं। १-(कदाचित्) कभी (इन्द्रियम्) इन्द्रिय, २-(कदाचित्) कभी (इन्द्रियार्थसन्निकर्षः) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ३—(कदाचित्) कभी (ज्ञानम्) [निर्विकल्पक] ज्ञान।

['प्रमाण' शब्द का प्रयोग 'प्रमा' तथा 'प्रमाकरण' दोनों के लिये उपलब्ध होता है। जहाँ तक प्रत्यक्ष-प्रमाण का प्रश्न है प्रमा तथा प्रमाण शब्द एक ही अर्थ के बोधक होते हैं। 'प्रमा' में प्रयुक्त होने वाला प्रमाण शब्द प्रपूर्वक मा धातु से भाव में होने वाले ल्युट् प्रत्यय के साथ निष्पन्न होता है। अतः इस 'प्रमाण' शब्द का वही अर्थ है जो प्रपूर्वक मा धातु का है क्योंकि भाव-प्रत्यय का प्रकृत्यर्थ से अधिक कोई अर्थ नहीं होता। अतः 'प्रमा' में प्रयुक्त होनेवाले भाव ल्युट् प्रत्ययान्त प्रमाण शब्द का 'प्रमा' अर्थ ही है। 'प्रमाकरण' अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'प्रमाण' शब्द प्र पूर्वक मा धातु से करण अर्थ को प्रकट करने वाले 'ल्युट्' प्रत्यय के साथ निष्पन्न होता है। अतः इस प्रमाण शब्द का अर्थ होता है 'प्रमाकरण'।

"साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्" अर्थात् साक्षात्कार करने वाली 'प्रमा' का करण 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। उस 'करण' से उत्पन्न होने वाली 'प्रमा' जो उस [प्रत्यक्ष] प्रमाण का फल है उसे भी 'प्रत्यक्ष' नाम से ही कहा जाता है। साक्षात्कार करने वाली 'प्रमा' भी वह होती है कि जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है।] अतः 'प्रत्यक्ष' स्थल में प्रमा (फल) और प्रमाण (प्रमाकरण) दोनों ही के लिये 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग हुआ करता है। अन्य अनुमान आदि प्रमाणों में तो फल (प्रमा) और प्रमाकरण के लिये पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। जैसे अनुमान प्रमाण के फल को अनुमिति नाम से 'उपमान' प्रमाण के फल को 'उपमिति' नाम से तथा शब्द प्रमाण के फल को 'शाब्दबोध' नाम से कहा जाता है। अतः उनमें 'प्रमा' और 'प्रमाण' का व्यवहार भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। इन तीनों प्रमाणों द्वारा जो 'प्रमा' [ज्ञान अथवा फल] हुआ करती है वह इन्द्रियजन्य नहीं हुआ करती है। इसीलिये अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दबोध ये तीनों प्रकार की प्रमायें साक्षात्कारिणी-प्रमा नहीं कही जाती हैं। इन्द्रिय और अर्थ (विषय-वस्तु) के संयोग उत्पन्न होने वाली प्रमा ही वस्तु का साक्षात्कार करती है। अन्य प्रमा वस्तु का साक्षात्कार नहीं करती।

"साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्" प्रत्यक्ष के इस स्वरूप वर्णन में 'प्रत्यक्षम्' यह 'लक्ष्य' है और 'साक्षात्कारि प्रमाकरणम्' यह लक्षण है। 'प्रत्यक्ष' शब्द के

तीन अर्थ होते हैं १–प्रत्यक्ष-प्रमाण (प्रमा का करण), २–प्रत्यक्ष-प्रमाण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान (प्रत्यक्ष-प्रमा) और ३–इस प्रत्यक्ष-प्रमा (प्रत्यक्ष ज्ञान) का विषय। ये तीनों अर्थ 'प्रत्यक्ष' शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियों द्वारा स्वयं ही निकल आते हैं। (१) "प्रतिगतम्—विषयं प्रतिगतं अर्थात् विषय-सन्निकृष्टं अक्षं प्रत्यक्षम्" इस व्युत्पत्ति के आधार 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष-प्रमा के 'करण' का बोधक होता है क्योंकि विषय (अर्थ) के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही प्रमुखरूप से 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहा जाता है। (२) "प्रति-विषयं प्रति गतं अक्षं इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द इन्द्रियजन्य-ज्ञान (प्रत्यक्ष-प्रमा) का बोधक होता है क्योंकि उस ही प्रत्यक्ष-ज्ञान (प्रत्यक्ष-प्रमा) को प्राप्त करने के लिये 'इन्द्रिय' विषय के प्रति गमन करती है। (३) "प्रति—यं विषयं प्रति गतं अक्षं स प्रत्यक्षः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष-प्रमा के विषयभूत 'अर्थ का बोधक होता है क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय गमन करती है अर्थात् जिस अर्थ (विषय) के साथ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होती है वही प्रत्यक्ष-प्रमा का 'विषय' हुआ करता है। किन्तु 'प्रत्यक्ष' के उपर्युक्त लक्षण में प्रयुक्त 'प्रत्यक्ष' शब्द "प्रत्यक्ष प्रमाण (प्रमा का करण)" के लिये ही आया है।

प्रत्यक्ष के उपर्युक्त लक्षण में 'साक्षात्कारि' पद को रखने से उक्त लक्षण की अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि अनुमान आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाला जो प्रमा (अनुमिति आदि) है वह इन्द्रियजन्य (साक्षात्कारि) नहीं है। केवल प्रत्यक्ष-प्रमा' ही इन्द्रियजन्य हुआ करती है।

यहाँ एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्षज्ञान तो परमात्मा का भी हुआ करता है। अतः परमात्मा के इस साक्षात्कार (अथवा प्रत्यक्ष-ज्ञान) में 'प्रत्यक्ष' का उक्त लक्षण न घटेगा क्योंकि भगवद् साक्षात्कार तो इन्द्रियजन्य नहीं हुआ करता है। इस प्रश्न के उत्तर में व्याख्याकारों का यह कथन है कि यहाँ ईश्वर का प्रत्यक्ष किया जाना लक्ष्य नहीं है। यहाँ तो केवल लोक-प्रत्यक्ष का लक्षण किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त इसका उत्तर यह भी हो सकता है कि वाह्य-चक्षु से परमात्मा का प्रत्यक्ष न होकर अन्तर्चक्षु (ज्ञान-चक्षु) के द्वारा उसका प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार हुआ करता है। लोक-प्रत्यक्ष में तो वाह्येन्द्रिय का ही अर्थ के साथ सन्निकर्ष होकर लौकिक-प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त हुआ करता है, अलौकिक नहीं। परमात्मा का साक्षात्कार तो अलौकिक है।

"सा च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्" अर्थात् वह प्रत्यक्ष-प्रमा (प्रत्यक्ष-ज्ञान) भी दो प्रकार की है (१) सविकल्पक (२) निर्विकल्पक।"

विकल्प्यते विशिष्यते वस्तु येन सः विकल्पः—विशेषणम्, तेन सहितं सविकल्पं, सविकल्पमेव सविकल्पकम्।" अथवा—"विकल्पयति विशिनष्टि वस्तु यत् तद् विकल्पकं—विशेषणम्, तेन सहितं सविकल्पकं–सविशेषणम्।" इन व्युत्पत्तियों के आधार पर 'सविकल्पक' शब्द का अर्थ होगा—विशेषणयुक्त वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान—अर्थात् जिस ज्ञान में विशेषण और विशेष्य के अन्योन्य सम्बन्ध का भान हो उस ज्ञान को 'सविकल्पक ज्ञान' कहा जाता है। यह ज्ञान जिन विशेषणों के साथ वस्तु को ग्रहण करता है वे हैं—नाम, जाति, गुण और क्रिया। अतः इसका लक्षण किया जाता है—"नामजात्यादियोजना-सहितं ज्ञानं सविकल्पकम्"। इस आधार पर साधारणतः व्यवहार में आने वाले सभी ज्ञान 'सविकल्पक ज्ञान' के उदाहरण हैं। जैसे–अयं गौः—गो नामा, गोत्व (जाति) वान्, गौः शुक्लः (गुण), गौः गच्छति (क्रिया), गौर्न महिषः [यह गाय है भैंस नहीं] इत्यादि प्रकार के प्रत्यक्षात्मक सभी ज्ञान सविकल्पकज्ञान के उदाहरण ही हैं। यही ज्ञान मानव की सर्वविध-प्रवृत्तियों तथा सर्वविध-व्यवहारों का मूल है। सविकल्पक ज्ञान से ही प्रेरित होकर मानव विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त हुआ करता है। इसी के आधार पर अन्य मनुष्यों के साथ भी व्यवहार किया करता है। अतः इसी ज्ञान को "अखिलायाः लोकयात्रायाः मूलम्" भी कहा गया है।

"विकल्पेभ्यो विशेषणेभ्यो निर्मुक्तं निर्विकल्पम्—निर्विकल्पमेव निर्विकल्पकम्" अर्थात् विशेषणों से रहित—वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्राहक ज्ञान ही निर्विकल्पक-ज्ञान कहलाता है। इसमें वस्तु के केवल स्वरूप का ही बोध होता है। अतः इसके "नामजात्यादियोजनारहितं ज्ञानं निर्विकल्पकम्" कहा गया है। अर्थात् जिसमें केवल वस्तु के स्वरूप की ही प्रतीति होती हो उसके नाम जाति आदि की प्रतीति न होती हो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। चूँकि हम निर्विकल्पक ज्ञान की कल्पना भी नहीं कर पाते हैं, अतः निर्विकल्पक ज्ञान विशेषरूप से बालक तथा गूंगे आदि पुरुषों के ज्ञान को कहा गया है:—

"बालमूकादिज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्"

उदाहरण के लिये 'घड़ी' को ही ले लीजिये। बालक को घड़ी के स्वरूप का ज्ञान उस ही प्रकार का होता है कि जिस प्रकार का किसी बड़े व्यक्ति को। जहाँ तक किसी पदार्थ अथवा वस्तु के स्वरूप ज्ञान का सम्बन्ध है बड़े अथवा अत्यन्त अबोध बालक के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी अर्थ के ग्रहण-काल में दोनों का ज्ञान एक ही प्रकार का हुआ करता है। किन्तु बड़ा व्यक्ति उसके नाम, जाति आदि से भी भलीभाँति

परिचित है। अतः व्यवहार के समय वह उसके नाम, जाति आदि का उपयोग करता है। इस अवस्था में उसका यह ज्ञान सविकल्पक हो जाता है। किन्तु बालक उसके नाम, जाति आदि से अनभिज्ञ होने के कारण उसके नाम आदि का व्यवहार नहीं कर पाता है। इस भाँति अबोध बालक तथा प्रौढ़ पुरुष के ज्ञान में अर्थ (विषय, वस्तु) के ग्रहण काल में कोई अन्तर नहीं हुआ करता है। हाँ, व्यवहारकाल में दोनों के ज्ञान में अन्तर अवश्य हो जाया करता है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि बालक तथा मूक (गूँगे) आदि पुरुषों का ज्ञान निर्विकल्पक हुआ करता है तथा प्रौढ़ पुरुषों का ज्ञान सविकल्पक। प्रौढ़-पुरुष को अर्थ के स्वरूप का ज्ञान होते ही अति शीघ्रता के साथ उसके नाम, जाति आदि का भी स्मरण हो आया करता है। अतः उसका ज्ञान तत्काल ही सविकल्पक-ज्ञान का रूप धारण कर लिया करता है।

कारण के तीन प्रकार

इस ज्ञान के कारण तीन प्रकार के हुआ करते हैं (१) इन्द्रिय (२) इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, (३) ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक-ज्ञान। इन तीनों के साथ (४) सविकल्पक ज्ञान (५) हानोपादानोपेक्षाबुद्धि इन दो फलों को और मिला देने से पाँच कड़ियों की एक श्रृंखला बन जाया करती है तथा इसके द्वारा तीन प्रकार के करणों को समझने में अत्यन्त सरलता हो जाया करती है। इन पाँचों में (१) करण, (२) अवान्तर-व्यापार (३) और फल इन तीनों का समावेश हो जाता है। इन पाँचों की श्रृंखला में यदि प्रथम अर्थात् इन्द्रिय) को यदि करण माना जाय तो दूसरे (अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष) को अवान्तर व्यापार तथा तीसरे (निर्विकल्पक-ज्ञान) को फल कहा जायगा। इसी भाँति यदि दूसरे (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) को यदि करण माना जाय तो तीसरे (अर्थात् निर्विकल्पक-ज्ञान) को अवान्तर व्यापार और चौथे (अर्थात् सविकल्पक ज्ञान) को फल कहा जायगा। तथा इसी प्रकार यदि तीसरे (निर्विकल्पक ज्ञान) को करण माना जाय तो चौथे (अर्थात् सविकल्पक-ज्ञान) को अवान्तर-व्यापार और पाँचवें (अर्थात् हान, उपादान तथा उपेक्षा बुद्धि) को उसका फल कहा जायगा।

इनका प्रयोग इसी प्रकार होता है कि जैसे हम चाकू से पैंसिल बनाते हैं तो इसमें 'करण' चाकू होगा, पैंसिल तथा चाकू का संयोग 'अवान्तर व्यापार' होगा और पैंसिल का बन जाना 'फल' होगा।

इसी पद्धति के आधार पर तीन प्रकार के उपर्युक्त करणों का सोदाहरण स्पष्टीकरण और अधिक विस्तार के साथ आगे किया जा रहा है:—

कदा पुनः इन्द्रियं करणम् ?
यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम्। तथा हि, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व-नियमात्। ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोज-नाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। तस्य ज्ञानस्ये-न्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः। निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशो-रिव छिदा।

[प्रश्न—] (पुनः) फिर (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (कदा) कब (करणम्) करण होती है ?

[उत्तर—] (यदा) जब [तृतीय संख्या पर स्थित] (निर्विकल्पकरूपा) निर्विकल्पक [ज्ञान] रूप (प्रमा) प्रमा (फलम्) फल होती है। (तथाहि) जैसे कि [सर्वप्रथम १—] (आत्मा) आत्मा का (मनसा) मन के साथ (संयुज्यते) संयोग होता है [तदनन्तर २—] (मनः) मन का (इन्द्रियेण) इन्द्रिय के साथ [संयोग होता है। तत्पश्चात्–३–] (इन्द्रियम्) इन्द्रिय का (अर्थेन) अर्थ के साथ [संयोग होता है।] (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्) वस्तु को प्राप्त करके [अर्थात् वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर] ही अर्थ [वस्तु] को प्रकाशित [अर्थात् पदार्थ अथवा वस्तु का ज्ञान करा सकती हैं ऐसा] करने का नियम होने से। (ततः) तत्पश्चात् [इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के पश्चात्] (अर्थसन्निकृ-ष्टेन) अर्थ के साथ संयुक्त (इन्द्रियेण) इन्द्रिय के द्वारा (नामजात्यादि-योजनाहीनम्) नाम, जाति आदि की योजना से रहित (वस्तुमात्रावगाहि) वस्तु [के स्वरूप] मात्र का ग्रहण कराने वाला (इदं किञ्चित् इति) यह कुछ [नाम, जाति आदि से रहित वस्तु] है इस प्रकार का (निर्विकल्पकं ज्ञानम्) निर्विकल्पक-ज्ञान (जन्यते) उत्पन्न होता है। (तस्य) उस [नाम, जाति आदि की योजना से रहित निर्विकल्पक (ज्ञानस्य) ज्ञान का (करणम्) करण (इन्द्रियम् १—) इन्द्रिय होती है। (इव) जैसे (छिदायाः) छेदन [लकड़ी आदि को काटने की] क्रिया का [करण] (परशुः) फरसा [हुआ करता है।]। [२—] (इन्द्रियार्थसन्निकर्षः) इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (अवान्तरव्यापारः) अवान्तरव्यापार हुआ करता है। (इव) जैसे—(छिदाकरणस्य) काटने के साधनभूत (परशोः) फरसे का [लकड़ी के काटने में] (दारुसंयोगः) लकड़ी के साथ संयोग [अवान्तर व्यापार होता है।]। [३—(और तृतीय स्थान पर स्थित) (निर्विकल्पकं ज्ञानम्)

निर्विकल्पक ज्ञानम्) निर्विकल्पक ज्ञान (फलम्) फल होता है (इव) जैसे (परशोः) फरसे [रूप करण का फरसा और लकड़ी के संयोगरूप अवान्तर-व्यापार द्वारा] का (छिदा) [फल] कटना [हुआ करता है ।] ।

[अभी यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष (प्रमा) ज्ञान के करण (साधन) तीन प्रकार के हैं (१) इन्द्रिय (२) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा (३) ज्ञान (निर्विकल्पक-ज्ञान) । इनमें से जब इन्द्रिय करण (अर्थात् साधन) हुआ करता है तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष उसका अवान्तर व्यापार हुआ करता है और निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक-प्रमा) अथवा निर्विकल्पक ज्ञान ही उसका फल । आत्मा के ज्ञान का साधन (करण) मन है। यह मन अन्तःकरण अथवा अन्तः इन्द्रिय है । जब इस इस मन का किसी एक बाह्यइन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुआ करता है तब किसी पदार्थ] आदि के 'ज्ञान' की उत्पत्ति हुआ करती है । मान लीजिये कि मन हमारे 'नेत्र' नामक इन्द्रिय से सम्बद्ध है और नेत्रेन्द्रिय का 'घट' (अर्थ) के साथ सन्निकर्ष हो जाता है तो उस समय हमको 'यह कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इसी ज्ञान को 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष कहा जाता है । यह निर्विकल्पक (प्रमा)-ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण का "फल" है । यहाँ 'इन्द्रिय' को 'करण', निर्विकल्पक ज्ञान को 'फल' तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को 'अवान्तर व्यापार' कहा गया है ।

इस स्थल पर यह भी समझ लेना आवश्यक है कि 'अवान्तर व्यापार' किसे कहते हैं ? अवान्तर व्यापार का लक्षण है—"तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य-जनकोऽवान्तरव्यापारः" । अर्थात् जो स्वयं (तत्) उस करण [साधन] से जन्य अर्थात् उत्पन्न हो तथा उस 'करण' से जन्य अर्थात् उत्पन्न होने वाले किसी दूसरे (अन्य) फल का जनक (उत्पादक) हो उसको 'अवानन्तर व्यापार' कहते हैं जैसे—फरसे से लकड़ी के काटने में फरसा और लकड़ी का संयोग 'अवान्तर व्यापार' है । यह [फरसा एवं लकड़ी का] संयोग रूप अवान्तर व्यापार तज्जन्य अर्थात् फरसे से जन्य [उत्पन्न] है । साथ ही फरसे से उत्पन्न जो छेदन (काटना) रूप फल है उसका जनक (उत्पादक) भी है । अतः 'तज्जन्यत्वे सति' अर्थात् परशुजन्यत्वे सति, 'तज्जन्यजनकः' अर्थात् परशुजन्यछिदाजनकः, दारुपरशु संयोगोऽवान्तर व्यापारः । इससे स्पष्ट हो जाता है कि लकड़ी और फरसे का संयोग ही 'अवान्तर व्यापार' है । इसी भाँति इन्द्रियरूप करण (साधन) से 'निर्विकल्पक-ज्ञान' रूप फल की उत्पत्ति में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष रूप 'अवान्तर व्यापार' है । यहाँ इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष स्वयं ही इन्द्रिय से जन्य है तथा इन्द्रिय से उत्पन्न निर्विकल्पक-ज्ञान का जनक (उत्पादक) भी है । अतः 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' को अवान्तर व्यापार कहना उचित ही है ।

किसी साधन (करण) द्वारा फल की प्राप्ति पर्यन्त तीन प्रकार की बातें देखी जाती हैं (१) करण (साधन) (२) अवान्तर-व्यापार तथा (३) फल। जैसे— जब कोई व्यक्ति फरसे से लकड़ी को काटता है तो यहाँ फरसा लकड़ी काटने का 'करण' (साधन) है। फरसा तथा लकड़ी इन दोनों का संयोग [फरसे का लकड़ी पर प्रहार ही दोनों का संयोग है] अवान्तर [मध्य का] व्यापार है और (छिदा) काटना ही उसका 'फल' है। इसी भाँति 'घट' रूप अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान करने में नेत्रेन्द्रिय ही "करण" है, नेत्रेन्द्रिय और घटरूप अर्थ का सन्निकर्ष ही अवान्तर व्यापार है तथा "यह कुछ है" इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान (प्रमा) ही फल है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में वर्णित प्रत्यक्ष की प्रक्रिया यह है कि सर्व-प्रथम आत्मा का मन के साथ संयोग होता है। तदनन्तर मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है और तत्पश्चात् इन्द्रिय अर्थ के साथ संयुक्त होती है। इसी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

न्याय एवं वैशेषिक के मतानुसार सुषुप्ति अवस्था में मन 'पुरीतत्' नामक नाड़ी में प्रविष्ट हो जाया करता है और इस समय ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुवा करती है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओं में आत्मा का मन के साथ संयोग रहा करता है। अतः ऊपर जो यह कहा गया है कि "आत्मा मनसा संयुज्यते" उस इसका अभिप्राय यही होगा कि 'आत्मा' का पुरीतत् नाड़ी से अतिरिक्त स्थलों में मन के साथ संयोग रहा करता है। इस भाँति ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा और मन के संयोग को कारण माना गया है।

इसके अनन्तर मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। स्वप्नावस्था में आत्मा और मन का संयोग तो रहा करता है किन्तु मन इन्द्रिय के साथ संयोग नहीं रहा करता है। इसी कारण 'घट' आदि वाह्य-विषयों का प्रत्यक्ष स्वप्नावस्था में नहीं हो पाता है। प्रत्यक्ष-प्रमा (ज्ञान) के लिये मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होना परमावश्यक है। अतः यह संयोग भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण माना गया है।

इसके पश्चात् इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग हुआ करता है। इसी को इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष-प्रमा (ज्ञान) का यह भी कारण है। क्योंकि यदि आत्मा का मन के साथ और मन का इन्द्रिय के साथ संयोग विद्यमान भी रहे तो भी यह संभव है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष न हो। इसका कारण यही है कि आत्मा का मन के साथ और मन का इन्द्रिय के साथ संयोग विद्यमान रहने पर भी यदि हमारी 'नेत्र' आदि इन्द्रिय का किसी पदार्थ के साथ संयोग अथवा सन्निकर्ष

नहीं रहा करता है तो उस पदार्थका प्रत्यक्ष-ज्ञान हमको नहीं हुआ करता है। ऐसा देखने में भी आता है कि कभी-कभी समीप में ही रखी हुयी वस्तु को हम देख नहीं पाते हैं अर्थात् हमें नेत्रेन्द्रिय द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारी नेत्रेन्द्रिय का उस वस्तु के साथ सन्निकर्ष नहीं हो पाता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) का कारण इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना ही है। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ हुआ करती हैं इन्द्रियाणा वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वम्। जब तब 'घट' आदि पदार्थों को नेत्रेन्द्रिय प्राप्त नहीं करती अथवा जब तक 'घट' आदि पदार्थों के साथ नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता तब तक 'घट' आदि का ज्ञान (प्रकाश) भी नहीं हो पाता है। यह संभव है कि अनुमान अथवा शब्द आदि द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त हो जाय किन्तु फिर उसे प्रत्यक्ष-प्रमा न कहकर अनुमिति अथवा शाब्दबोध ही कहा जायगा अर्थात् यह ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान न कहा जा सकेगा। अतः प्रत्यक्ष-प्रमा (ज्ञान) के लिये इन्द्रियों का वस्तुप्राप्यकारित्व होना आवश्यक है। अर्थात् इन्द्रियो का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्ष-प्रमा (ज्ञान) की उत्पत्ति हुआ करती है।

उपर्युक्त विवरण से आत्मा-मन-इन्द्रिय और अर्थ इन चारों के तीनप्रकार सम्बन्धों का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है। (१) आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध (२) मन का इन्द्रिय के साथ और (३) इन्द्रिय का अर्थ के साथ। इन तीनों प्रकार के सम्बन्धों के द्वारा निर्विकल्पक-ज्ञान की उत्पत्ति-हुआ करती है।

यह निर्विकल्पक-ज्ञान क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? इसको स्पष्ट करते हैं :—

इसी को स्पष्ट करते हुये "ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजना हीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते" यह कहा गया है। इसी में "वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानम्" कहकर निर्विकल्पक-ज्ञान के स्वरूप (लक्षण) को भी बतला दिया गया है। किञ्चिद् इदं इति' इन शब्दों के द्वारा उसके स्वरूप का संकेत किया गया है। और "नामजात्यादियोजनाहीनम्" के द्वारा "मात्र" शब्द का स्पष्टीकरण किया गया है। "वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानम्" अर्थात् जो केवल वस्तु के स्वरूप का ही ग्रहण कराता है वही "निर्विकल्पक-ज्ञान" कहलाता है। जैसे—हमारी नेत्र-इन्द्रिय तथा घट के सन्निकर्ष से जो घट के स्वरूपमात्र का आभास होता है वही निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष है। इसी स्वरूप को "इदं किञ्चित्-इति" ऐसा कहा

गया है अर्थात् "यह कुछ" है । और हमें उस वस्तु के नाम, जाति आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं है—"नामजात्यादियोजनाहीनम्" । अर्थात् यह घटत्व जाति से युक्त घट नामक वस्तु है—इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता है। अतः केवल वस्तु का ग्रहण कराने वाला ["वस्तुमात्रावगाहि"] उसको कहा गया है।

'नाम' से अभिप्राय 'संज्ञा' से है। जैसे—घट आदि। 'जाति' से अभिप्राय है—"सभी सजातीय वस्तुओं में रहने वाला धर्म। जैसे—'घट' में रहने वाला धर्म 'घटत्व' आदि। 'नामजात्यादि' में 'आदि' शब्द से 'गुण' 'क्रिया' आदि का ग्रहण करना चाहिये। 'योजना' शब्द से अभिप्राय है "परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध" ["योजना विशेषणत्वेन सम्बन्धः" चि०] अथवा विशिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार के सम्बन्ध से 'हीन' अर्थात् रहित। तात्पर्य यह हुआ कि नाम, जाति आदि के विशिष्ट-सम्बन्ध से रहित ज्ञान को ही निर्विकल्पक-ज्ञान कहा जाता है। किन्तु जब इस ज्ञान में घटत्व जाति का घट व्यक्ति (नाम) के साथ सम्बन्ध (योजना अथवा वैशिष्ट्य) अवभासित होने लगा करता है तब यह सविकल्पक-ज्ञान का रूप धारण कर लेता है।]।

प्रत्यक्ष-प्रमा का दूसरा करण-इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' बतलाया गया था। अब इसी द्वितीय करण को स्पष्ट करते हैं :—

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षः करणम्। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तर व्यापारः, सविकल्पकं ज्ञानं फलम्।

—(पुनः) फिर (इन्द्रियार्थसन्निकर्षः) इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (कदा) कब (करणम्) करण होता है ?

(यदा) जब (निर्विकल्पकानन्तरम्) निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् नामजात्यादि योजनात्मकम्) नाम, जाति आदि योजना सहित (डित्थः अयम्) यह डित्थ [नाम से युक्त प्रतीति] है, (ब्राह्मणोऽयम्) यह ब्राह्मण [जाति का] है, (श्यामः अयम्) यह श्याम [कृष्ण वर्ण (गुण) की प्रतीति से युक्त] है (इति) इस प्रकार का विशेषणविशेष्यावगाहि) विशेषण तथा विशेष्य का ग्रहण करानेवाला (सविकल्पकम्) सविकल्पक (ज्ञानम्) ज्ञान (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। (तदा) तब (इन्द्रियार्थसन्निकर्षः) इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (करणम्) करण होता है, (निर्विकल्पकम्) निर्विकल्पक ज्ञान (अवान्तरव्यापारः) अवान्तरव्यापार होता है [और] सविकल्पकं ज्ञानम्) सविकल्पक-ज्ञान (फलम्) फल होता है।

[निर्विकल्पक-ज्ञान की उत्पत्ति के तुरन्त अगले ही क्षण में सविकल्पक-ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। परिणाम-स्वरूप दोनों ही प्रकार के ज्ञानों के मध्य में समय का व्यवधान नहीं हुआ करता है। सविकल्पकज्ञान की उत्पत्ति में निर्विकल्पक-ज्ञान भी कारण हुआ करता है। निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर तुरन्त ही किसी पदार्थ के नाम, जाति तथा गुण आदि का ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। यही सविकल्पक-ज्ञान है। अतः सविकल्पक-ज्ञान की उत्पत्ति में निर्विकल्पक-ज्ञान को कारण मानना ठीक ही है।

[सविकल्पक-ज्ञान का स्वरूप है—"विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम्"। अर्थात् जो ज्ञान विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध का ग्रहण करता है उसे 'सविकल्पक-ज्ञान' कहा जाता है। सविकल्पक ज्ञान में नाम, जाति, गुण आदि की योजना (सम्बन्ध अथवा वैशिष्ट्य) का होना आवश्यक है। जैसे अभी उदाहरण के रूप में बतलाया भी गया है कि इसका नाम 'डित्थ' है, यह ब्राह्मण जाति का है तथा कृष्णवर्ण (गुण) का है। 'डित्थ अयम्', 'ब्राह्मणः अयम्', श्यामः अयम्' में डित्थ, ब्राह्मण तथा श्याम पद विशेषण हैं तथा 'अयम्' पद विशेष्य है। इस भाँति यह ज्ञान विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध से युक्त होने के कारण 'सविकल्पक' ही है।]

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ?

यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम्।

३—(पुनः) फिर (ज्ञानम्) निर्विकल्पक-ज्ञान (कदा) कब (करणम्) करण होता है ?

(यदा) जब (उक्तसविकल्पकानन्तरम्) उक्त सविकल्पक ज्ञान के पश्चात् (हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः) हान अर्थात् त्याग करने, उपादान अर्थात् ग्रहण करने तथा उपेक्षा करने की बुद्धि (जायन्ते) उत्पन्न होती है (तदा) तब [उस हान, उपादान अथवा उपेक्षा-बुद्धि रूप फल के प्रति] (निर्विकल्पकं ज्ञानम्) निर्विकल्पक-ज्ञान (करणम्) [होता है], (सविकल्पकं ज्ञानम्) सविकल्पक-ज्ञान (अवान्तर व्यापारः) अवान्तर व्यापार [होता है] तथा (हानादिबुद्धयः) हान [त्याग] आदि की बुद्धि (फलम्) फल होती है।

[इस 'हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः' में हान, उपादान तथा उपेक्षा तीनों ही शब्दों के साथ बुद्धि का सम्बन्ध है। इसी कारण 'बुद्धयः' इस बहुवचन का प्रयोग हुआ है अर्थात् हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि। हानशब्द का अर्थ है 'त्याग'। किसी पदार्थ अथवा वस्तु के त्याग का निश्चय करना ही 'हानबुद्धि' है। 'उपादान' का अर्थ है। 'ग्रहण करना'। किसी पदार्थ अथवा

वस्तु के ग्रहण करने का निश्चय करना ही 'उपादान-बुद्धि' है। 'उपेक्षा' का अर्थ है 'तटस्थ भाव'। किसी वस्तु के प्रति तटस्थ अथवा उदासीनता का भाव रखना ही 'उपेक्षा-बुद्धि' है। यह तीनों प्रकार की बुद्धि सविकल्पक-ज्ञान के अनन्तर ही हुआ करती है। जैसे—यदि मार्ग में चलते समय अचानक ही किसी ऐसे प्राणी अथवा जन्तु का दर्शन हो जाय कि जो सर्वथा हमको हानि ही पहुँचाने वाला हो तो उसके विषय में यही इच्छा हुआ करती है कि इसका त्यागकर आगे बढ़ा जाय। यहाँ पर उस प्राणी अथवा जन्तु को नेत्रे-न्द्रिय द्वारा देखना अर्थात् उसके स्वरूपमात्र का ज्ञान होना ही 'निर्विकल्पक-ज्ञान' है। इसके पश्चात् उसके 'नाम' [यह 'अमुक' है आदि-आदि], जाति आदि से विशिष्ट-ज्ञान की प्रतीति हुआ करती है। यही 'सविकल्पक ज्ञान' है। तदनन्तर 'यह त्यागने योग्य है' ऐसी हानबुद्धि उत्पन्न होती है। इसी भाँति ग्राह्य वस्तुओं के विषय में यह 'उपादेय' अर्थात् 'ग्रहण करने योग्य' है तथा 'उपेक्षणीय' वस्तुओं के बारे में 'यह उपेक्षा कर देने योग्य है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। इस 'हानोपादानोपेक्षा बुद्धि' के पश्चात् ही व्यक्ति की किसी भी कार्य के करने में 'प्रवृत्ति' हुआ करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार के अर्थ के ज्ञान की पूर्णता तभी हुआ करती कि जब उसका 'स्वरूप-ज्ञान' [निर्विकल्पक-ज्ञान], 'निश्चयात्मक ज्ञान' [सविकल्पकज्ञान] तथा उस 'अर्थ' की उपयोगिता का निश्चय [हानोपादानोपेक्षाबुद्धि] हो जाया करता है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर 'हानोपदा-नोपेक्षा बुद्धि' को भी प्रत्यक्ष-प्रमाण का फल माना गया है। किन्तु इस 'हानो-पादानोपेक्षाबुद्धि' को प्रत्यक्ष-प्रमा [ज्ञान , के अन्तर्गत रखना उचित है वा नहीं? इस बारे में विद्वानों का कुछ मतभेद है। उनका कहना है कि जब 'हानोपादानोपेक्षा बुद्धि' को 'प्रत्यक्ष प्रमा' माना जायगा तो इसका अन्तर्भाव 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत ही करना होगा क्योंकि साक्षात्कारिणी प्रमा के तो दो ही भेद स्वीकार किये गये हैं (१) निर्विकल्पक (२) सविकल्पक।

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि 'सविकल्पक ज्ञान' के अनन्तर जो 'हानोपादानोपेक्षाबुद्धि' उत्पन्न हुआ करती है वह वस्तुतः प्रत्यक्षप्रमा नहीं है, वह तो 'अनुमिति' ही है। अतः प्रत्यक्ष-प्रमा में उसकी गणना उचित नही है।]

उपर्युक्त तीनों प्रकार के 'करणों' के निरूपण में 'अवान्तरव्यापार' का उल्लेख आया है। यह 'अवान्तरव्यापार' क्या है? ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञाशा के निराकरणार्थ अब 'अवान्तरव्यापार' का लक्षण करते हैं:—

तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठार-दारुसंयोगः कुठारन्यच्छिदाजनकः।

जो (तत् जन्यः) उस [करण] से उत्पन्न हो [तथा] (तत् जन्य जनकः) उस [करण] से जन्य अर्थात् उत्पन्न होने वाले [जन्य = कार्य अथवा फल] का जनक हो, वह (अवान्तरव्यापारः) अवान्तरव्यापार कहलाता है। (यथा) जैसे (कुठारजन्यः) कुठार से उत्पन्न वाला (कुठारदारुसंयोग) कुठार और दारु [लकड़ी] का संयोग (कुठारजन्यछिदाजनकः) कुठार से उत्पन्न होने वाली छेदन (काटना) क्रिया का जनक (उत्पादक) होता है।

यह अवान्तर-व्यापार सभी स्थलों पर करण तथा फल के मध्य में ही रहा करता है। इसी कारण उसे 'अवान्तरव्यापार' कहा जाता है। लकड़ी (काष्ठ अथवा दारु) काटने का साधन (करण) कुठार है। इस कुठार द्वारा बार-बार लकड़ी पर प्रहार किया जाया करता है। इसी को कुठार और लकड़ी का संयोग कहा जाता है। इसी के द्वारा लकड़ी कटा करती है। इस भाँति कुठार (करण) द्वारा कुठार और दारु (लकड़ी) के संयोग (अवान्तरव्यापार) द्वारा लकड़ी का कटना रूप (छिदारूप) फल की प्राप्ति होती है।

इस उदाहरण में 'कुठारदारुसंयोग' ही अवान्तरव्यापार है। इसकी उत्पत्ति कुठार (करण) से होती है अर्थात् यह व्यापार करणजन्य अथवा तज्जन्य है। यह व्यापार (कुठार + दारु का संयोग) ही कुठार से उत्पन्न होने वाले छिदा (काटना) रूप फल का जनक भी है अथवा 'तज्जन्यजनकः' भी है। इससे स्पष्ट है कि फल की उत्पत्ति के लिये करण में व्यापार भी होना आवश्यक है। तथा यह व्यापार करण और फल के मध्य ही विद्यमान है। इसी भाँति प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) का 'करण' इन्द्रिय हुआ करती है। इन्द्रिय का 'अर्थ' के साथ हुआ सन्निकर्ष ही 'अवान्तरव्यापार' है तथा यह व्यापार इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाली (अर्थात् इन्द्रियजन्य) साक्षात्कारिणी प्रमा (निर्विकल्पक ज्ञान) का जनक भी है। अतः 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष' रूप व्यापार में 'अवान्तरव्यापार' का उक्त लक्षण घट भी जाता है। इन 'अवान्तरव्यापारों' मध्यस्थता को तीनों करणों के आधार पर देखिये :—

करण	अवान्तरव्यापार	फल
(१) इन्द्रिय	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पक-प्रमा (ज्ञान)
(२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पक-प्रमा (ज्ञान)
(३) निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान	हानोपादानोपेक्षा बुद्धि

कुछ विद्वानों ने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन रूपों को स्वीकार किया है किन्तु उस प्रत्यक्ष-प्रमा के तीन करणों को स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है:—

अत्र कश्चिदाह—सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम्। यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति।

(अत्र) इस विषय में [अर्थात् तीन प्रकार के करणों का प्रतिपादन करने में] (कश्चित्) कोई (आह) कहते हैं कि (सविकल्पकादीनाम्) सविकल्पक ज्ञान आदि सब प्रकार के [फलों] का (करणम्) करण (इन्द्रियं एव) [केवल एक] इन्द्रिय ही है। तथा (यावन्ति) जितने भी (तु आन्तरालिकानि) बीच के (सन्निकर्षादीनि) इन्द्रियसन्निकर्ष आदि हैं (तानि) वे (सर्वाणि) सब (अवान्तरव्यापार इति) अवान्तर व्यापार ही हैं [अर्थात् निर्विकल्पक-ज्ञान की उत्पत्ति में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' नामक एक ही अवान्तर व्यापार' है। 'सविकल्पक-ज्ञान' की उत्पत्ति में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पकज्ञान, ये दो अवान्तरव्यापार हैं। हानोपादानोपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान—ये तीनों अवान्तर व्यापार हैं।]

[प्रत्यक्ष-प्रमा (ज्ञान) के त्रिविध करणों के सम्बन्ध में कुछ तार्किक विद्वानों का कथन यह है कि जिस भाँति निर्विकल्पक ज्ञान का करण 'इन्द्रिय' है उसी भाँति सविकल्पक-ज्ञान का करण भी 'इन्द्रिय' ही है। बीच में होने वाले 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' आदि सभी 'अवान्तर व्यापार' ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्विकल्पक-ज्ञानरूप प्रमा की उत्पत्ति में केवल 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' ही इन्द्रिय का अवान्तर व्यापार है, सविकल्पक-ज्ञानरूप प्रमा की उत्पत्ति में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' और निर्विकल्पक-ज्ञान' ये दो उसके अवान्तर व्यापार हैं और हानादि सम्बन्धी बुद्धि की उत्पत्ति में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, 'निर्विकल्पकज्ञान' तथा 'सविकल्पकज्ञान' ये तीनों उसके अवान्तरव्यापार हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षप्रमा के त्रिविध करण न होकर एकविध ही करण होगा और वह होगी 'इन्द्रिय'। यदि ऐसा नहीं माना जायगा और त्रिविध करणों के ही अस्तित्व को स्वीकार किया जायगा तो 'सविकल्पक-ज्ञान' आदि में जो इन्द्रियजन्यत्व का अनुभव हुआ करता है जिसे हम "चक्षुषा घटं पश्यामि" इत्यादि शब्दों के द्वारा कहा करते हैं, की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जावेगी।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि 'करण' वह कहलाता है कि जिसके व्यापार के अनन्तर बिना विलम्ब के ही [अथवा व्यापार के पश्चात् ही] फल की उत्पत्ति हो जाया करती है ["फलायोगव्यवच्छिन्नं करणम्"]। इसके अनुसार निर्विकल्पकप्रमा (ज्ञान) की उत्पत्ति में तो 'इन्द्रिय' को करण कहा जा सकता है, सविकल्पक तथा हानादिबुद्धि की उत्पत्ति में नहीं' सविकल्पक-ज्ञान को ही उदाहरण के रूप में लीजिये। इस सविकल्पक-प्रमा की उत्पत्ति में 'इन्द्रिय' के द्वारा इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान ये दो कार्य सम्पन्न हो चुकते हैं, तदनन्तर 'सविकल्पक-प्रमा (ज्ञान)' की उत्पत्ति हुआ

करती है। अतः 'इन्द्रिय' करण के व्यापार के तुरन्त बाद ही फल (सविकल्पक-ज्ञान) की उत्पत्ति न हो सकेगी। ऐसी स्थिति में 'इन्द्रिय' को सविकल्पक-ज्ञान का करण नहीं कहा जा सकेगा। अतः उसका करण 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' को ही मानना होगा। यही स्थिति हानादिबुद्धि रूप फल के करण के विषय में भी उत्पन्न होगी। अतः उसका भी करण 'निर्विकल्पक-ज्ञान' को ही मानना होगा। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष-प्रमा के उपर्युक्त त्रिविध करणों का मानना ही उचित होगा।

इस समाधान के कर दिये जाने पर यह कहा जा सकता है कि "प्रतिगतं अक्षं, प्रत्यक्षम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'इन्द्रिय' ही 'प्रत्यक्ष' का प्रमुख अर्थ—[न्या० वृ १-१-४] है। अतः 'इन्द्रिय' को ही 'प्रत्यक्ष-प्रमा' [प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा होने वाली तीनों ही प्रकार की प्रमाओं का] का 'करण' मानना उचित होगा। अभी जो यह कहा गया था कि सविकल्पकज्ञान आदि 'इन्द्रिय' करण के विद्यमान रहने पर भी अविलम्बेन नहीं हो पायेंगे। अतः सविकल्पक तथा हानादिबुद्धिरूप फल की उत्पत्ति में इन्द्रिय को करण मानना उचित नहीं है। तो इसका समाधान इस प्रकार हो जायगा कि 'करण' का लक्षण यह करेंगे—"व्यापारवत् कारणं करणम्" [जैसा कि "सारमञ्जरी" में वर्णित है कि "व्यापारवत् कारणमिति मते इन्द्रियं करणं बोध्यम्"]। इसके अनुसार 'इन्द्रिय' ही करण होगी तथा 'इन्द्रिय'[करण] और फल के मध्य में जो रहेगा वह सब व्यापार ही कहा जायगा। अतः तीनों प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमाओं का करण 'इन्द्रिय' ही होगी तथा शेष सभी (मध्यवर्त्ती) अवान्तर व्यापार होंगे।

इस कथन का समाधान इस भाँति हो जायगा कि यदि केवल 'इन्द्रिय' को ही करण माना जायगा और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पकज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान—ये तीनों अवान्तर व्यापार माने जायेंगे तो इन सभी 'अवान्तरव्यापारों' में अवान्तर व्यापार' का "तज्जन्यः तज्जन्यजनकोऽवान्तर-व्यापारः" यह लक्षण घटित न होगा।

इसका समाधान यह हो जावेगा कि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' इन्द्रिय का अङ्ग ही है तथा अपना अङ्ग 'व्यवधायक' नहीं हुआ करता है (स्वाङ्गमव्यवधाय-कम्")। अतः उपर्युक्त दोष का निराकरण हो जायेगा। इसके अतिरिक्त यदि करण का लक्षण—"जिसके होने पर अविलम्बेन फल की उत्पत्ति हो जाया करती है" यही माना जाय तो भी "स्वाङ्गमव्यवधायकम्" के आधार पर ही 'इन्द्रिय' को करण माना जा सकता है।

ज्ञान के दो प्रकार माने जाते हैं (१) परोक्ष-ज्ञान। (२) अपरोक्ष-ज्ञान। जिस ज्ञान में कोई अन्य ज्ञान 'करण' हुआ करता है उसे 'परोक्ष' कहा जाता

है। यथा—अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान तथा शाब्दबोध में पदज्ञान 'करण' हुआ करते हैं। अतः ये तीनों ही [अनुमिति] अनुमान प्रमाण द्वारा होने वाला ज्ञान), उपमिति (उपमान प्रमाण द्वारा होने वाला ज्ञान) शाब्दबोध (शब्दप्रमाण द्वारा होने वाला ज्ञान) [ज्ञान 'परोक्ष-ज्ञान' कहलाते हैं। प्रत्यक्ष-ज्ञान में कोई अन्य ज्ञान 'करण' नहीं हुआ करता है। अतः उसे 'अपरोक्ष-ज्ञान' कहा जाता है। अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण है :— "ज्ञानकरणकान्यत्वमपरोक्षत्वम्"। अर्थात् ज्ञानकरणक से भिन्न ज्ञान ही 'अपरोक्ष-ज्ञान' कहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले सभी लोगों ने उसे प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ही माना है।

प्रकारान्तर से 'प्रत्यक्ष' के दो भेदों को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है (१) लौकिक (२) अलौकिक। लौकिक-पुरुषों के प्रत्यक्ष को 'लौकिक' कहा गया है। यह लौकिक-प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि कारणों के होने पर ही हुआ करता है। किन्तु योगियों के प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि कारण-सामग्री की कोई आवश्यकता नहीं हुआ करती है क्योंकि वे अपनी योगज सामर्थ्य के आधार पर ही (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बिना भी) भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म एवं विप्रकृष्ट आदि वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर लिया करते हैं। उनका यह ज्ञान यथार्थ तथा साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक-ज्ञान होता है। इस दो प्रकार के प्रत्यक्ष से उत्पन्न लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान और उनकी कारण सामग्री के विषय में प्रायः सभी निर्विकल्पकवादी-जन एकमत हैं।]

अभी प्रत्यक्ष के जिन तीन करणों का वर्णन ऊपर किया गया है उनमें एक 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' भी है अथवा जो लोग केवल 'इन्द्रिय' को ही करण मानते हैं उनके मत में भी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' एक व्यापार है। अतः अत्र इसी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' के प्रकारों का वर्णन करते हैं :—

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा, संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवाय समवेतसमवायः, विशेष्यविशेषणभावश्चेति।

[प्रत्यक्ष का करणभूत] (इन्द्रियार्थयोः) इन्द्रिय और अर्थ का (यः) जो (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (साक्षात्कारिप्रमाहेतुः) साक्षात्कारात्मक-ज्ञान [प्रमा] का कारण है (स) वह (षड्विधः एव) छः प्रकार का ही है :— (तद्यथा) जैसे कि—[१] (संयोगः) संयोग, [२] (संयुक्तसमवायः,) संयुक्तसमवाय (३) (संयुक्तसमवेतसमवायः) संयुक्तसमवेतसमवाय [४] (समवायः) समवाय, [५] (समवेतसमवायः) समवेतसमवाय (च) और [६] (विशेष्यविशेषणभावः) विशेष्यविशेषणभाव।

[इन छः प्रकार के इन्द्रियार्थसन्निकर्षों का जो क्रम रखा गया है उसकी उपयोगिता भी अपने-अपने स्थान पर ठीक ही। संयोग-सन्निकर्ष किन्हीं दो का हुआ करता है तथा वे दोनों अयुतसिद्ध नहीं हुआ करते हैं। उन दोनों की पृथकता स्पष्ट ही रहा करती है। सभी पदार्थों का आश्रय होने के कारण द्रव्य को प्रधान माना गया है। अतः सर्वप्रथम इन्द्रिय का सन्निकर्ष द्रव्य के साथ ही हुआ करता है। तथा ये दोनों अयुतसिद्ध भी नहीं है। अतः इन दोनों (इन्द्रिय + द्रव्य) का सन्निकर्ष "संयोग सन्निकर्ष" ही है। (२) तदनन्तर द्रव्य में रहनेवाले गुणों के सन्निकर्ष का ग्रहण किया जाता है। द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध हैं तथा इन दोनों का सम्बन्ध समवायसम्बन्ध है। अतः गुणों के साथ इन्द्रिय का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष हुआ। इन्द्रिय द्रव्य के साथ संयुक्त है तथा उस द्रव्य में गुण-समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हैं। अतएव इन्द्रिय का गुणों के साथ संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष ही होगा। (३) इसके पश्चात् उन गुणों में रहने वाली 'जाति' (सामान्य) का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा किया जाता है। इन्द्रिय द्रव्य के साथ संयुक्त है। उस द्रव्य में गुण-समवायसम्बन्ध से विद्यमान है तथा उन गुणों में जाति (सामान्य-गुणत्व) भी समवायसम्बन्ध से विद्यमान है। अतः उस जाति (सामान्य) के साथ इन्द्रिय का जो सन्निकर्ष हो रहा है उसे 'संयुक्त समवेतसमवाय-सन्निकर्ष" ही कहा जायगा। (४) श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण किये जाने में श्रोत्र 'इन्द्रिय' है और शब्द 'अर्थ' है। इन दोनों का सन्निकर्ष "समवाय" ही है। क्योंकि कर्ण के विवर (छिद्र) में जो आकाश है उसी को 'श्रोत्र' नाम से कहा जाता है। आकाश का गुण शब्द है। अतएव अकाश और शब्द का सम्बन्ध गुण और गुणी का सम्बन्ध है जो कि अयुतसिद्ध भी है। गुणी [आकाश] में गुण (शब्द) समवाय सम्बन्ध से रहा करता है। अतः श्रोत्र से 'समवाय-सन्निकर्ष' द्वारा ही 'शब्द' का ग्रहण किया जाता है। (५) पुनः शब्द में समवायसम्बन्ध से रहने वाली शब्दत्व आदि जाति का जब श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है तब श्रोत्र 'इन्द्रिय' है, शब्दत्व आदि जाति 'अर्थ' है। इन दोनों का सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय-सन्निकर्ष' ही है। (६) जब नेत्र से संयुक्त पृथ्वी पर "यहाँ भूतल पर घट नहीं है" इस भाँति घट के अभाव की प्रतीति होती है तब विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष हुआ करता है। इसमें 'चक्षु' से संयुक्त पृथ्वीतल (भूतल) में घट का अभाव विशेषण है तथा भूतल विशेष्य है।

प्रमुखरूप से सम्बन्ध दो ही प्रकार के माने गये हैं (१) संयोग (२) समवाय। इन दोनों में ही सम्बन्ध का लक्षण पूर्णरूप से घटता है। शेष

सन्निकर्षों को गौणरूप से सम्बन्ध कहा गया है क्योंकि इनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में इन प्रमुख दो सम्बन्धों के साथ विद्यमान रहा ही करता है [ऊपर दी गयी व्याख्या से इस बात को सरलता से समझा जा सकता है ।]

तर्कभाषाकार का जो यह कथन है कि "स षड्विध एव" अर्थात् वह सन्निकर्ष ६ प्रकार का ही है । इससे उनका अभिप्राय यही है कि लौकिक-सन्निकर्ष ६ प्रकार का ही होता है । न तो इससे कम ही होता है और न अधिक ही । हां, इतना अवश्य है कि न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में ३ प्रकार के अलौकिक-सन्निकर्ष भी स्वीकार किये गये हैं जिनसे तर्कभाषाकार का कोई विरोध नहीं है ।

वास्तविकता यह है कि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' के पहले दो ही प्रकार होते हैं (१) लौकिक (२) अलौकिक । इनमें से प्रथम ६ प्रकार का है कि जिसका वर्णन अभी ऊपर किया जा चुका है । 'अलौकिक-सन्निकर्ष' तीन प्रकार का माना गया है जैसा कि न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार श्री विश्वनाथ ने लिखा भी है:—

"अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली—६६॥

अर्थात् अलौकिक-सन्निकर्ष (१) सामान्यलक्षण (२) ज्ञानलक्षण तथा (३) योगज नामों से तीन प्रकार का होता है । इन तीनों का संक्षिप्त-परिचय निम्नलिखित है:—

१. सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष—

जब कोई व्यक्ति किसी एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लिया करता है तो वह उस प्रकार की सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने आप जान लिया करता है । वह उस वस्तु में रहने वाले सामान्य (जाति) धर्म के द्वारा एक वस्तु के ज्ञान से ही सजातीय समस्त वस्तुओं के सामान्य-ज्ञान को प्राप्त कर लिया करता है । यह ज्ञान, सामान्य के आधार पर ही हुआ करता है । अतः एक वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उसमें रहने वाले सामान्यधर्म के द्वारा उसकी सजातीय सभी वस्तुओं के ज्ञान के हो जाने में "सामान्यलक्षण-अलौकिकसन्निकर्ष" होता है । जैसे-कोई व्यक्ति हम को गाय को दिखलाकर यह कहता है कि यह "गौ" है अथवा इसे "गौ" कहा जाता है । 'गौ' के प्रत्यक्ष के साथ ही गौ में रहने वाली जाति (सामान्य) 'गोत्व' का भी संयुक्तसमवाय' नामक लौकिक सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण हो जाता है । फिर 'गोत्व' रूप सामान्य भी सन्निकर्ष बन जाया करता है तथा सामान्यस्वरूप इस सन्निकर्ष के आधार पर अन्य गौओं के साथ लौकिक-सन्निकर्ष न होने पर भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

अतः यह ज्ञान सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष द्वारा ही प्राप्त होता है। यहाँ 'सामान्यलक्षण' में लक्षण शब्द से 'स्वरूप' और 'ज्ञान' दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। उक्त स्थिति में सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के दो प्रकार हो जावेंगे (१) सामान्यरूप (२) सामान्यज्ञान। हम प्रतिदिन महानस (रसोई) में धूम और वह्नि (अग्नि) को देखते हैं। वहाँ धूमत्व सामान्य के द्वारा सम्पूर्ण धूमों का तथा वह्नित्व सामान्य के द्वारा सम्पूर्ण वह्नियों का ग्रहण हो जाता है। और दोनों की व्याप्ति का ग्रहण भी तभी होता है। जैसे—पर्वत में धूम को देखने पर दूर स्थिति पर्वतस्थ अग्नि का जो ज्ञान होता है वह इस सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष द्वारा ही होता है। इस ज्ञान के लिये पर्वतस्थ धूम में पर्वतस्थ अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित है। इस व्याप्ति के ज्ञान के लिये इस अलौकिक-सन्निकर्ष को स्वीकार करना आवश्यक है।

२. ज्ञानलक्षण—

अलौकिक-सन्निकर्ष–यह सन्निकर्ष स्मृति से सम्बन्धित होता है तथा अलौकिक प्रत्यक्ष में कारण होता है। इसका उदाहरण है—सुरभिचन्दनखण्डम्''। किसी दिन बाजार में किसी ने चन्दन के टुकड़े को सूँघकर तथा परीक्षा कर यह समझ लिया कि यह सुगन्धित चन्दन का टुकड़ा है। किसी अन्य दिन किसी अन्य ग्राहक ने आकर दुकानदार से चन्दन के टुकड़े को दिखलाने के लिये कहा। उसने चन्दन का टुकड़ा उसे दिखलाया। उस ग्राहक ने इस चन्दन के टुकड़े को हाथ में लेकर पहले वाले व्यक्ति से उस चन्दन वाले टुकड़े के बारे में उसकी सम्मति माँगी तो उसने दूर से ही उसे देखकर कह दिया कि यह सुगन्धित चन्दन है। इस अवसर पर उसने चन्दन के टुकड़े को आँख से तो देखा किन्तु इस बार उसकी गन्ध को नासिका (घ्राणेन्द्रिय) से ग्रहण नहीं किया फिर भी उस व्यक्ति को 'सुरभिचन्दनखण्डम्' का ज्ञान हो रहा है। इस ज्ञान में चन्दन, उसमें रहने वाली चन्दनत्व जाति और उसके गुण सौरभ का उसे प्रत्यक्ष हो रहा है। इसमें चन्दनखण्ड के साथ नेत्र का 'संयोग' सम्बन्ध तथा चन्दनत्व सामान्य के साथ 'संयुक्तसमवाय' सम्बन्ध होता है। यह दोनों लौकिक-सन्निकर्ष ही है। किन्तु 'सौरभ' के साथ तो नेत्र का लौकिक-सन्निकर्ष होना संभव नहीं है। अतः सौरभ के प्रत्यक्ष में सौरभ का स्मरण ही सन्निकर्ष माना जाता है। अर्थात् नेत्र तथा सौरभ का 'नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानरूपेण' [नेत्र से संयुक्त मन के साथ संयुक्त जो आत्मा–उस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान सौरभ-गुण का ज्ञान] अथवा 'नेत्रसंयुक्तात्मसमवेतसंस्काररूपेण' [उस सौरभज्ञान से उत्पन्न संस्कार के

द्वारा नेत्र से ही उस सौरभ-गुण का ज्ञान] ज्ञान-लक्षण-अलौकिकसन्निकर्ष द्वारा ग्रहण हो जाता है। अतः 'सौरभ' के नेत्र का विषय न बनने पर भी 'सुरभि-चन्दनखण्डम्' इस ज्ञान को चाक्षुष-प्रत्यक्ष माना ही जाता है। इसी ज्ञान के निमित्त नैयायिकों ने 'ज्ञानलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष को स्वीकार किया है।

सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण नामक दोनों अलौकिक-सन्निकर्षों में अन्तर—

इन दोनों में अन्तर यही है कि 'सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष' किसी सामान्य के आश्रयभूत सभी व्यक्तियों का ग्रहण करा देता है। जैसे—धूमत्व और वह्नित्वरूप सामान्य के आश्रयभूत जो धूम और वह्नि हैं उन सभी धूमों तथा वह्नियों का ज्ञान 'सामान्यलक्षण' द्वारा हो जाया करता है तथा इनके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी होता है। साथ ही इसी सामान्य के द्वारा दूरस्थित अथवा अतीत और अनागत धूम और वह्निरूप आश्रय के साथ भी सन्निकर्ष हो जाया करता है। किन्तु 'ज्ञानलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष' में तो आश्रय के साथ सन्निकर्ष न होकर जिसका ज्ञान हुआ करता है उसी के साथ सन्निकर्ष होता है। 'सुरभिचन्दनखण्डम्' इस ज्ञान में सौरभ के आश्रयभूत 'चन्दनखण्ड' का ज्ञान ही सन्निकर्ष बनकर ज्ञान के साथ ही 'ज्ञानलक्षणअलौकिक-सन्निकर्ष' द्वारा सौरभ का प्रत्यक्ष ज्ञान करा दिया करता है। अथवा 'सुरभिचन्दनखण्डम्' इस उदाहरण में चक्षु द्वारा चन्दनखण्ड के देखे जाने पर चन्दनखण्डविषयक ज्ञान हो जाता है। फिर यह चन्दनखण्डविषयक ज्ञान ही अलौकिकरूप से सौरभ के साथ सन्निकर्ष बन जाता है। इस प्रकार इस चन्दनखण्डविषयक ज्ञान के साथ ही साथ 'सौरभ' का भी प्रत्यक्ष हो जाया करता है। और प्रत्यक्ष द्वारा धूम का ज्ञान हो जाने के पश्चात् उक्त धूमज्ञान ही धूमत्वगत सकलधूमों के साथ 'सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष बन जाता है। फिर इस 'सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष' द्वारा उस ही समय सकल धूमों का अलौकिक-प्रत्यक्ष हो जाया करता है।

इन दोनों प्रकार के अलौकिक-सन्निकर्षों के बारे में सभी नैयायिक एक-मत नहीं हैं। श्री रघुनाथ शिरोमणि आदि नैयायिक सामान्यलक्षण-अलौकिक-सन्निकर्ष को नहीं मानते हैं।

३. योगज–अलौकिक–सन्निकर्ष—

[पर्याप्त समय तक लगातार योग का अभ्यास किये जाने पर साधक-योगी में एक विशेष प्रकार की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाया करती है। यही सामर्थ्यरूप धर्म ही सर्वदेशस्थ और सर्वकालस्थ समस्त पदार्थों के साथ [चाहे वे सूक्ष्म हों, समीपस्थ हों अथवा दूर हों, अतीत हों अथवा अनागत हों] इन्द्रिय का

सन्निकर्ष बन जाता है। परिणामस्वरूप जिन पदार्थों अथवा वस्तुओं के साथ इन्द्रिय के उक्त छः लौकिक-सन्निकर्ष तथा सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण दो अलौकिक-सन्निकर्ष नहीं हुआ करते हैं, उनके साथ भी योगी की इन्द्रिय का यह योगज-सामर्थ्य रूप सन्निकर्ष बन जाता है। और इस सामर्थ्यरूप सन्निकर्ष के द्वारा वह किसी भी स्थान तथा किसी भी काल की वस्तु आदि का प्रत्यक्ष कर लिया करता है। कोई भी वस्तु उसके लिये अप्रत्यक्ष नहीं रह जाती हैं। कहा भी गया है:—

"सूक्ष्मे व्यवहिते दूरेऽतीतेऽर्थेऽनागते तथा।
प्रत्यक्षयोगिनां ज्ञेयं सन्निकर्षात्तु योगजात् ॥ दर्शनमीमांसा—४ ॥

योगी दो प्रकार के हुआ करते हैं (१) युक्त (२) युञ्जान। अतः इस आधार पर योगज-अलौकिक-सन्निकर्ष भी दो प्रकार का हो जाया करता है। (१) युक्त योगी को तो सदा ही अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु (२) युञ्जान नामक योगी ध्यान लगाने अथवा चिन्तन करने पर ही किसी अर्थ का प्रत्यक्ष कर पाता है:—

"युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः।"
[न्यायसिद्धान्तमुक्तावली–६६ ॥]

ऊपर जिन ६ प्रकार के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षों का उल्लेख किया जा चुका है अब उन्हीं का क्रमशः सोदाहरण निरूपण तर्कभाषाकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है:—

१. संयोग सन्निकर्ष—

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात्। एवं मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम्, आत्माऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।

(तत्र) उनमें (यदा) जब (चक्षुषा) नेत्र से (घट विषयम्) घट आदि विषय का (ज्ञानम्) ज्ञान (जन्यते) उत्पन्न हुआ करता है (तदा) तब (चक्षुः) नेत्र (इन्द्रियम्) इन्द्रिय होती है और (घटः) घट (अर्थः) अर्थ [विषय] होता है। (अनयोः) इन दोनों का [इन्द्रिय और घट का] (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (संयोग एव) संयोग ही [होता है] (अयुतसिद्ध्यभावात्) अयुतसिद्ध का अभाव होने से [अर्थात् यदि नेत्र और घट अयुतसिद्ध (अपृथकसिद्ध) होते तो उनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता। किन्तु यह दोनों अयुतसिद्ध नहीं हैं। अतः उनका परस्पर संयोग सम्बन्ध ही है।]।

(एवम्) इसी प्रकार (यदा) जब (आन्तरिन्द्रियेण) आन्तरिकइन्द्रिय [करण] (मनसा) मन के द्वारा (आत्मविषयकम्) आत्मविषयक (अहम् इति) "मैं हूँ" इस प्रकार का (ज्ञानम्) ज्ञान (जन्यते) उत्पन्न होता है (तदा) तब (मनः) मन (इन्द्रियम्) इन्द्रिय और (आत्मा) आत्मा (अर्थः) अर्थ [हुआ करता है तथा] (अनयोः) इन दोनों का [मन और आत्मा का] (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (संयोग एव) संयोग ही हुआ करता है।

सन्निकर्ष शब्द का अर्थ है—प्रत्यक्ष को उत्पन्न करनेवाला विशिष्ट सम्बन्ध। इन्द्रिय तथा अर्थ क संयोग द्वारा जहाँ प्रत्यक्ष-प्रमा (ज्ञान) की उत्पत्ति हुआ करती है वहाँ "संयोग" नाम का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है। संयोग भी दो द्रव्यों में ही हुआ करता है। न्याय तथा वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार 'इन्द्रिय' द्रव्य ही है। अतः इन्द्रिय [द्रव्य] द्वारा जहाँ किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होगा वहाँ 'संयोग' सन्निकर्ष ही हो सकेगा। न्याय तथा वैशेषिक में वर्णित मतानुसार बाह्य-इन्द्रियों में केवल नेत्र तथा त्वचा (स्पर्श सम्बन्धी इन्द्रिय) द्वारा ही घट, पट, आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष हुआ करता है और आन्तरिक 'मन' के द्वारा आत्मारूप द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाया करता है। अतः ये तीन [दो बाह्य + एक आन्तरिक] इन्द्रियाँ ही 'संयोग' नामक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा 'अर्थ' का प्रत्यक्ष कराया करती हैं।

चक्षु तथा घट दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही है। ये दोनों [चक्षु तथा घट] द्रव्य ही हैं तथा ये दोनों अयुतसिद्ध भी नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि इन दोनों में से एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता हो। यदि ऐसा होता तो ये दोनों अयुतसिद्ध कहलाते। परन्तु ये दोनों युतसिद्ध [पृथकसिद्ध] ही हैं। दो युतसिद्ध पदार्थों का ही सम्बन्ध 'संयोग' कहलाता है। अतः चक्षु तथा घट का सन्निकर्ष 'संयोग' ही है। इसी भाँति मन द्वारा आत्मा के प्रत्यक्ष किये जाने में भी 'मन' तथा 'आत्मा' दोनों द्रव्य हैं। ये दोनों भी अयुतसिद्ध नही हैं। अतः दोनों का सन्निकर्ष 'संयोग' ही है।

जिन द्रव्यों में सम्बन्ध हुआ करता है यदि वे अयुतसिद्ध नहीं हैं तो उनका सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष संयोग' ही हुआ करता है क्योंकि अयुतसिद्धों का सम्बन्ध तो 'समवाय' हुआ करता है, संयोग नहीं।

अतः इन्द्रिय द्वारा द्रव्य का प्रत्यक्ष किये जाने में 'संयोग-सन्निकर्ष' को कारण मानना ठीक ही है।

२. संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष—

कदा पुनः संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः, संयुक्तसमवाय एव। चक्षुसंयुक्ते घटेरूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे, अयमेव सन्निकर्षः।

(पुनः) फिर (संयुक्तसमवायः) संयुक्तसमवाय (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (कदा) कब [होता है ?]—

(यदा) जब (चक्षुरादिना) चक्षु आदि [इन्द्रिय] के द्वारा (घटगत-रूपादिकम्) घट में रहने वाले रूप आदि [गुण] का (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है कि (घटे) घट में (श्यामं रूपम्) श्याम रूप (अस्ति) है, (तदा) तब (चक्षुः) नेत्र (इन्द्रियम्) इन्द्रिय, (घटरूपम्) घट का रूप (अर्थः) अर्थ [होता है] और (अनयोः) इन दोनों का (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (संयुक्त-समवाय एव) 'संयुक्तसमवाय' ही होता है। (चक्षुसंयुक्ते) नेत्र से संयुक्त (घटे) घट में (रूपस्य) रूप का (समवायात) समवाय होने से [नेत्रेन्द्रिय और घटरूप अर्थ का] 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष हुआ करता है।

(एवम्) इसी प्रकार [अन्तः इन्द्रिय] (मनसा) मन से (आत्मस-मवेते) आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (सुखादौ) सुख आदि (गृह्यमाणे) [गुणों] के ग्रहण होने पर (अयं एव) यह [संयुक्तसमवाय] (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष ही होता है।

द्रव्य में गुण, कर्म और जाति समवाय-सम्बन्ध से रहा करते हैं। अतएव इन्द्रिय के साथ संयुक्त द्रव्यों में गुण, कर्म तथा जाति का ग्रहण 'संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष द्वारा हुआ करता है। 'संयुक्तसमवाय' का अर्थ ही है—इन्द्रिय के साथ संयुक्त द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला गुण आदि। श्रोत्र-इन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी इन्द्रियों द्वारा 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हुआ करता है। जैसे नेत्र द्वारा घट के [गुण] रूप का ग्रहण। इस उदाहरण में—नेत्रेन्द्रिय का संयोग घट के साथ होता है तथा घट में घटगतरूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहा करता है। अतः नेत्रेन्द्रिय द्वारा घटगतरूप का ग्रहण 'संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष' द्वारा ही हुआ। इसी भाँति 'त्वक्' इन्द्रिय द्वारा घट आदि के 'स्पर्श' का, रसना [इन्द्रिय] द्वारा जल आदि के रस [स्वाद] आदि का और घ्राणेन्द्रिय [नासिका] द्वारा पुष्प आदि में विद्यमान गन्ध का ग्रहण भी इसी सन्निकर्ष के माध्यम से ही हुआ करता है ['चक्षुरादिना' में

आदि शब्द से त्वक्, रसना तथा घ्राण-इन्द्रिय को ग्रहण करना चाहिये तथा 'घटगतरूपादिकम्' में आदि शब्द से स्पर्श, रस एवं गन्ध आदि का ग्रहण करना चाहिये।] इसी भाँति जब आन्तरिक इन्द्रिय मन के द्वारा आत्मा में स्थित सुख इत्यादि का ग्रहण किया जाता है तब वहाँ भी [मन का आत्मा के साथ संयोग होने तथा आत्मा में सुख आदि के समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान रहने के कारण] मन से संयुक्त आत्मा में सुख इत्यादि का ग्रहण मन द्वारा किया जाता है। अतएव इस प्रक्रिया में भी संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष ही माध्यम बनता है। 'सुखादौ' में आदि शब्द से ज्ञान इच्छा इत्यादि आत्मा के गुणों का ग्रहण किया जाता है। इस ज्ञान आदि का मन द्वारा ग्रहण किये जाने सम्बन्धी प्रक्रिया में भी 'संयुक्त समवाय-सन्निकर्ष' ही कार्य करता है।

इसी सन्निकर्ष के द्वारा इन्द्रिय से ही घट में स्थित 'घटत्व' सामान्य (जाति) का भी प्रत्यक्ष हुआ करता है। न्याय एवं वैशेषिक के अनुसार सामान्य का ग्रहण भी प्रत्यक्ष से ही हुआ करता है। नियम यह है :—

"येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गृह्यते"

अर्थात् जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस [वस्तु] का ग्रहण किया जाता है। उस [वस्तु] में विद्यमान रहने वाले सामान्य समवाय तथा उसके अभाव का भी ग्रहण उसी इन्द्रिय के द्वारा हो जाया करता है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि द्रव्य के गुण, कर्म और सामान्य का ग्रहण 'संयुक्त समवाय-सन्निकर्ष' द्वारा होता है। यद्यपि घटगत-परिमाण आदि का ग्रहण भी इसी [उक्त] सन्निकर्ष द्वारा हो जाता है किन्तु फिर भी इस सन्निकर्ष के साथ [घटगत-परिमाण आदि के ग्रहण में] अन्य चार प्रकार का सन्निकर्ष और हुआ करता है। उसी को तर्कभाषाकार बतलाते हैं:—

घटगतपरिमाणादि चतुष्टयसन्निकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्त-समवाये तद्भावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टय-सन्निकर्षो यथा। (१) इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्। (२) इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्। (३) इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्। [४] अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति।

[घटगत रूप आदि गुणों की ही तरह घटगत परिमाण आदि का ग्रहण भी 'संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष' से ही हो जाता है किन्तु] (घटगतपरिमाणादिग्रहे) घट में विद्यमान परिमाण आदि के ग्रहण में (चतुष्टय सन्निकर्षः अपि) [इन्द्रिय और अर्थ—दोनों के अवयव, दोनों के अवयवी, प्रथम का अवयव और द्वितीय का अवयवी तथा द्वितीय का अवयव और प्रथम का अवयवी—

इस भाँति इन चार के] 'चतुष्टयसन्निकर्ष' को भी (अधिकम्) अतिरिक्त (कारणम्) कारण (इष्यते) चाहा जाया करता है अथवा मानना अभीष्ट है [क्योंकि] (संयुक्तसमवाये सति अपि) इस 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' के विद्यमान रहने पर (तदभावे) उस [चतुष्टयसन्निकर्ष) के अभाव में [परिमाण आदि के साथ नेत्र का संयुक्तसमवाय सम्बन्ध होने पर भी] (दूरे) दूर में स्थित [पदार्थ के] (परिमाणादि-अग्रहणात्) परिमाण आदि का [सही रूप में] ग्रहण नहीं हो पाता है । [अतः इन्द्रिय द्वारा परिमाण आदि के ग्रहण में संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष के अतिरिक्त निम्नलिखित 'चतुष्टय-सन्निकर्ष' को भी कारण मानना आवश्यक है :—

[वह] (चतुष्टयसन्निकर्षः) चतुष्टयसन्निकर्ष [इस प्रकार होगा] (यथा) जैसे—(इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्) (१) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ-अवयवी का [सन्निकर्ष], (२) (इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्) (२) इन्द्रिय अवयवी के साथ अर्थ के अवयवों का [सन्निकर्ष] (इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम् (३) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ के अवययों का [सन्निकर्ष] तथा (अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनाम्) अर्थ-अवयी के साथ इन्द्रिय-अवयवी का (सन्निकर्ष इति) सन्निकर्ष ।

उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण—परिमाण भी एक गुण है । अतः द्रव्य के गुणों का ग्रहण संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष द्वारा हो जाना चाहिये जैसा कि ऊपर हम वर्णन कर चुके हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि जब हम किसी वस्तु अथवा पदार्थ को दूर से देखते हैं तो हमें यह निश्चित नहीं हो पाता है कि अमुक वस्तु का परिमाण क्या है ? अतः इस परिमाण के ग्रहण करने के लिये 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' के अतिरिक्त भी 'चतुष्टयसन्निकर्ष' की अपेक्षा है । रूप आदि गुणों की अपेक्षा परिमाण के ग्रहण करने में कुछ अन्तर है । "यह घड़ा रक्त (लाल) वर्ण का है, यह कृष्ण वर्ण का है" इत्यादि का प्रत्यक्ष करने के लिये घड़े के सम्पूर्ण अवयवों का प्रत्यक्ष करना अनिवार्य नहीं है किन्तु "यह घड़ा छोटा है अथवा बड़ा है" परिमाण (गुण) सम्बन्धी इस प्रकार के ज्ञान के निमित्त घड़े के अधिकांश अवयवों का प्रत्यक्ष किया जाना आवश्यक है । इस ही के निमित्त उपर्युक्त 'चतुष्टयसन्निकर्ष' की कल्पना की गयी है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि पर्याप्त दूर तक के द्रव्य के साथ चक्षु का संयोग होने के कारण उस द्रव्य के गुणों के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष सम्पन्न हो जाया करता है । किन्तु इस सन्निकर्ष के द्वारा उस (द्रव्य) के रूप का ही प्रत्यक्ष हो पाता है, उसके परिमाण एवं संख्या आदि का नहीं ।

अतः परिमाण आदि गुणों के प्रत्यक्ष के लिये संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष के अतिरिक्त उपर्युक्त चार सन्निकर्षों को भी स्वीकार करना पड़ता है।

इन्द्रिय के अवयव तथा अवयवी रूप में विद्यमान इन्द्रिय (स्वयं)-ये 'दो' हुये। इसी प्रकार अर्थ के अवयव और अवयवी रूप में विद्यमान अर्थ—ये भी दो हुये। इनके परस्पर संयोग के आधार पर निम्नलिखित चार संयोग स्वयं ही हो जाते हैं :—

(१) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ-अवयवी का संयोग (२) इन्द्रिय अवयवी का अर्थ के अवयवों के साथ संयोग (३) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ के अवयवों का संयोग तथा (४) इन्द्रिय-अवयवी के साथ अर्थ-अवयवी का संयोग।

किन्तु ग्राह्यद्रव्य के दूर रहने की स्थिति में ये चारों सयोग सम्पन्न नहीं हो पाते हैं। परिणामस्वरूप दूर पर स्थित घट आदि द्रव्यों के 'परिमाण' आदि गुणों का—दूर पर स्थित द्रव्यों के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता क्योंकि दूर पर स्थित बड़ी वस्तु भी छोटी ही दिखलाई पड़ा करती है। अतः उपर्युक्त चतुष्टयसन्निकर्षों का मानना आवश्यक है। इनके होने पर तो घट आदि के अवयवों तथा घट-अवयवी के साथ इन्द्रिय के अवयवों तथा इन्द्रिय-अवयवी का सन्निकर्ष हो जाता है। फिर घट आदि के अधिकांश अवयवों का ग्रहण कर लिये जाने पर उसके परिमाण आदि का ग्रहण हो जाना भी संभव हो जाया करता है।

३. संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष—

कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

(३) फिर संयुक्त समवेतसमवाय-सन्निकर्ष कब होता है ?

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं, रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेत समवाय एव। चक्षुसंयुक्तेघटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

(पुनः) फिर (यदा) जब (चक्षुषा) नेत्र से (घटरूपसमवेतम्) घटरूप में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (रूपत्वादिसामान्यम्) रूपत्व आदि सामान्य [जाति] के (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (तदा) तब (चक्षुः) नेत्र (इन्द्रियम्) इन्द्रिय होती है, (रूपत्वादिसामान्यम्) रूपत्व आदि सामान्य [जाति] (अर्थः) अर्थ होता है [और] (अनयोः) इन दोनों का (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (संयुक्तसमवेतसमवायः) संयुक्तसमवेतसमवाय (एव) ही होता है। (चक्षुसंयुक्ते) चक्षु से संयुक्त (घटे) घट में (रूपम्) रूप (समवेतम्) समवाय सम्बन्ध से रहता है [और] (तत्र) उस [रूप] में

(रूपत्वस्य) रूपत्व [जाति] का (समवायात्) समवाय सम्बन्ध होने से [चक्षु का रूपत्व जाति के साथ परम्परया संयुक्त-समवेतसमवाय-सन्निकर्ष हो जाता है]।

"येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं, तत्समवायः, तद्भावश्च गृह्यते" न्यायवैशेषिक के इस मन्तव्य के आधार पर जिस नेत्र (इन्द्रिय) द्वारा रूप का ग्रहण किया जाता है उस ही नेत्र (इन्द्रिय) द्वारा रूप में स्थित रूपत्व जाति का भी ग्रहण कर लिया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि नेत्र द्वारा रूप के ग्रहण किये जाने में "संयुक्तसमवायसन्निकर्ष" हुआ करता है और रूपत्व (जाति) के ग्रहण किये जाने में "संयुक्तसमवेत-समवाय-सन्निकर्ष"। चक्षु (नेत्र) के साथ घट का संयोग सम्बन्ध हुआ, फिर चक्षु से संयुक्त घट आदि में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले रूप आदि गुण हैं। पुनः उस रूप में रूपत्व जाति भी समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहा करती है। अतः नेत्र (चक्षु) का रूपत्व जाति के साथ 'संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष' ही हुआ।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि 'शब्द' को छोड़ कर अन्य सभी गुणों तथा कर्म में विद्यमान जाति (सामान्य) का ग्रहण भी इसी 'संयुक्तसमवेतसमवाय-सन्निकर्ष' द्वारा ही हुआ करता है ["शब्देतरगता कर्मगता च जातिरित्यर्थः ॥ न्याय० म० १ पृष्ठ—७ ॥]।

४. समवाय-सन्निकर्षः—

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ?

(पुनः) (फिर समवायः) समवाय नामक (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (कदा) कब होता है ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्। श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

(यदा) जब (श्रोत्रेन्द्रियेण) श्रोत्र [कान] इन्द्रिय के द्वारा (शब्दः) शब्द का (गृह्यते) ग्रहण [श्रवण] किया जाता है (तदा) तब (श्रोत्रम्) श्रोत्र [कान] (इन्द्रियम्) इन्द्रिय होती है [और] (शब्दः) शब्द (अर्थः) अर्थ होता है। (अनयोः) इन दोनों का (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष [सम्बन्ध] (समवाय एव) समवाय ही [होता है]। [क्योंकि] (कर्णशष्कुली) शष्कुली के आकार का बना कान का बाह्य गोलक उससे (अवच्छिन्नम्) घिरा हुआ [अर्थात् कान के मध्यभाग में स्थित] (नभः) आकाश ही

(श्रोत्रम्) श्रोत्र [कान] कहलाता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाशस्वरूप ही है, आकाश से पृथक नहीं]। अतः (श्रोत्रस्य) कान के (आकाशात्मकत्वात्) आकाश स्वरूप होने से (च) और (शब्दस्य) शब्द के (आकाशगुणत्वात्) आकाश का गुण होने (च) और (गुणगुणिनोः) गुण और गुणी का (समवायात्) समवायसम्बन्ध होने से [कर्णशष्कुली से घिरा हुआ 'आकाश' स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय के साथ आकाश के गुणरूप शब्द का गुणगुणिभाव सम्बन्धी समवाय-सम्बन्ध होने के कारण शब्द का ग्रहण समवाय-सन्निकर्ष द्वारा ही होता है।]।

कर्णशष्कुली के मध्य में विद्यमान आकाश ही श्रोत्र है। अतः श्रोत्र को आकाश ही कह दिया जाय तो कोई अनुपयुक्त न होगा। कर्णविवर के अन्दर जो आकाश है उसी को 'श्रोत्र' कहा जाता है। 'शब्द' गुण है कि जो आकाश का ही [गुण] है। अतः आकाश गुणी हुआ। गुण और गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' ही हुआ करता है। अतः आकाश 'गुणी' हुआ और शब्द गुण। और इन दोनों का सम्बन्ध 'समवाय' ही हुआ। गुणी में गुण 'समवाय' सम्बन्ध से ही रहा करता है। अतः श्रोत्र [इन्द्रिय] में शब्द समवाय सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रोत्र [इन्द्रिय] द्वारा जो शब्द का ग्रहण किया जाता है वह 'समवाय-सन्निकर्ष' द्वारा ही होता है।

५. समवेतसमवाय-सन्निकर्ष—

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

(पुनः) फिर (समवेतसमवायः) समवेतसमवाय (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (कदा) कब होता है ?

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादि सामान्यसमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

(पुनः) फिर (यदा) जब (शब्दसमवेतम्) शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (शब्दत्वादि कम्) शब्दत्व आदि (सामान्यम्) सामान्य [जाति] का (श्रोत्रेन्द्रियेण) श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (तदा) तब (श्रोत्रम्) श्रोत्र [कान] (इन्द्रियम्) इन्द्रिय होती है और (शब्दत्वादि) शब्दत्व आदि (सामान्यम्) सामान्य [जाति] (अर्थः) अर्थ होता है। (अनयोः) इन दोनों का (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष (समवेतसमवायः) समेवतसमवाय (एव) ही है। (श्रोत्र समवेते) श्रोत्र इन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (शब्दे) शब्द में (शब्दत्वस्य) शब्दत्व [जाति] का (समवायात्) समवाय-सम्बन्ध होने से।

[श्रोत्र-इन्द्रिय के द्वारा शब्दत्व जाति का ग्रहण समवेत-सन्निकर्ष से ही हुआ करता है]।

शब्द में शब्दत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहा करता है। [इससे पूर्व समवाय-सन्निकर्ष के विवरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि श्रोत्रेन्द्रिय के मध्य में विद्यमान आकाश अथवा आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष किया जाता है। आकाश तथा शब्द दोनों क्रमशः गुणी तथा गुण हैं और इन दोनों में समवाय सम्बन्ध है। आकाशस्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला 'शब्द' है और फिर इस शब्द में समवायसम्बन्ध से शब्दत्व जाति रहा करती है।] अतः शब्दत्व के साथ श्रोत्र का 'समवेतसमवाय सम्बन्ध हुआ।

श्रोत्र [इन्द्रिय] द्वारा शब्दत्व जाति के ग्रहण किये जाने सम्बन्धी प्रक्रिया में श्रोत्र "इन्द्रिय" होता है, शब्दत्व आदि जातियाँ 'अर्थ' होती हैं तथा इन जातियों के साथ श्रोत्र का समवेतसमवाय-सन्निकर्ष होता है। यहाँ पर श्रोत्र में समवेत होता है शब्द और फिर उस शब्द में समवेत होता है शब्दत्व। अतः शब्दत्व के साथ श्रोत्र का समवेतसमवाय सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष—

कदा पुनर्विशेष्यविशेषणभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

(पुनः) फिर (विशेष्यविशेषणभावः) विशेष्यविशेषणभाव [नामक] (इन्द्रियार्थसन्निकर्षः) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (कदा) कब होता है ?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति, तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं भूतलं विशेष्यम्।

(यदा) जब (चक्षुषा) चक्षु से (संयुक्ते) संयुक्त (भूतले) भूभाग में "(इह) यहाँ (भूतले) भूतल [भूमाग] पर (घटः) घड़ा (नास्ति) नहीं है।" (इति) इस प्रकार (घटाभावः) घड़े के अभाव का (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (तदा) तब (विशेष्यविशेषणभावः) विशेष्यविशेषण-भाव (सम्बन्धः) सन्निकर्ष होता है। (तदा) तब (चक्षुसंयुक्तस्य) चक्षु से संयुक्त (भूतलस्य) भूभाग (घटाद्यभावः) घट आदि का अभाव (विशेषणम्) विशेषण होता है और (भूतलम्) भूतल (विशेष्यम्) विशेष्य होता है।

['यहाँ भूतल में घट नहीं है' अथवा (यहाँ घटाभावयुक्त भूतल है' इस कथन में इन्द्रिय (चक्षु से) से सम्बद्ध भूतल में 'घटाभाव' विशेषण है। अतः

'घटाभाव' के साथ इन्द्रिय का परम्परा से 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सम्बन्ध होता है। इसी भाँति जब 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' ऐसी प्रतीति होती है तब 'घटाभाव' विशेष्य होता है और 'भूतल' विशेषण होता है। इस स्थिति में इन्द्रिय का 'घटाभाव' के साथ 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता' सम्बन्ध हुआ करता है। इस भाँति कहीं तो इन्द्रिय का अभाव के साथ 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' और कहीं 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता' सम्बन्ध हुआ करता है। इसी को संक्षिप्तरूप में 'विशेष्यविशेषणभाव' नामक सम्बन्ध कहा गया है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में 'अभाव' का ग्रहण करने के निमित्त 'अभाव' नाम का कोई पृथक प्रमाण स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि किसी भी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय द्वारा ही हो जाया करता है—"येन इन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण"''तदभावश्च गृह्यते''। इस अभाव का ग्रहण कोई भी इन्द्रिय 'विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष' द्वारा किया करती है। यह एक विशिष्ट प्रकार का सन्निकर्ष है। यहाँ विशेषण का अर्थ है—'आधेय' और विशेष्य का अर्थ है—'आधार'—"तथा चात्र विशेषणपदमाधेयपर विशेष्य-पदमाधारपरमिति मन्तव्यम्' (गौ० क०)। जैसे—"भूतले घटाभावः" इस उदाहरण में 'भूतल' आधार है—यही विशेष्य है तथा 'घटाभाव' जो कि आधेय है वही विशेषण है। यदि 'घटाभाववद् भूतलम्'' [अर्थात् घट के अभाव से युक्त भूतल है] ऐसी प्रतीति होती है तो इस प्रतीति' में भी 'भूतल' विशेष्य और 'घटाभाव' विशेषण होगा।

हाँ, इतना अवश्य है कि केवल विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष (सम्बन्ध) द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष किया जाना संभव नहीं है। अतः इस विशेष्यविशेषण-भाव सम्बन्ध को छोड़कर शेष पाँचों में से किसी एक सम्बन्ध का इस सन्निकर्ष के साथ होना आवश्यक है। जैसे—घटवद् भूतलम्'' इस प्रतीति में "भूतल" "विशेष्य" है और 'घट' उसका विशेषण' है। भूतल तथा घट का 'संयोग' सम्बन्ध (सन्निकर्ष) है। अतः भूतल में घट संयोग सम्बन्ध से विशेषण है। इसी प्रकार 'घटाभाव' के प्रत्यक्ष में भी विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष' के साथ 'संयोग सन्निकर्ष' का भी योग रहा करता है। जब हमें 'इह भूतले घटा-भावः' की प्रतीति होती है तो यहाँ नेत्रेन्द्रिय का भूतल के साथ संयोग-सन्नि-कर्ष हुआ करता है क्योंकि उस नेत्र से संयुक्त भूतल में ही घटाभाव का प्रत्यक्ष हुआ करता है। अतः उक्त प्रतीति इन्द्रिय का संयुक्त-विशेष्य-विशे-षणभाव-सन्निकर्ष ही होता है। परिणामस्वरूप नेत्र से संयुक्त भूतल में विशेष्य-विशेषणभाव-सन्निकर्ष द्वारा ही 'घटाभाव' का प्रत्यक्ष होता है।

इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस [विशेष्यविशेषणभाव] सन्निकर्ष को छोड़कर शेष पाँचों सन्निकर्ष इस विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष के नियामक हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये देखिये—नेत्र द्वारा भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुसंयुक्त विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष द्वारा ही होता है। अतः यहाँ संयोग-सन्निकर्ष नियामक हुआ। इसी प्रकार घटरूप में घटाभाव का प्रत्यक्ष 'चक्षुसंयुक्तसमवेतविशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष द्वारा हुआ करता है। क्योंकि चक्षु के साथ घटरूप 'संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष' द्वारा ही सम्बद्ध होता है और उसका विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध होता है घटरूपस्थ घटाभाव के साथ। इसी भाँति घटरूपस्थ रूपत्व में घटाभाव का प्रत्यक्ष 'चक्षुसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष' द्वारा होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त-समवेतसमवाय सम्बन्ध (सन्निकर्ष) से सम्बद्ध होता है घटरूप में रहने वाला रूपत्व और उसका 'विशेष्यविशेषणभाव' सम्बन्ध होता है रूपत्वगत घटाभाव के साथ। शेष दो सन्निकर्षों का विवरण हम आगामी उदाहरणों के साथ प्रस्तुत करेंगे।

'पटवन्तस्तन्तवः' इस प्रतीति में 'तन्तु' विशेष्य है और 'पट' विशेषण। तन्तु और पट का समवाय-सम्बन्ध है। अतः तन्तु में 'पट' समवाय सम्बन्ध से विशेषण है। इस भाँति 'विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष के साथ समवाय-सन्निकर्ष का भी योग किया जा सकता है। इस समवाय-सन्निकर्ष के अतिरिक्त एक पाँचवा समवेत समवाय-सन्निकर्ष भी है। इन दोनों सन्निकर्षों की 'विशेष्य-विशेषणभाव-सन्निकर्ष' के साथ की गयी उपयोगिता से सम्बन्धित उदाहरणों का विवेचन अब यहाँ किया जा रहा है :—

यदा च मनःसंयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित' इति, तदा मनःसंयुक्तस्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्।

(च) और (यदा) जब (मनःसंयुक्त आत्मनि) मन से संयुक्त आत्मा में (सुखाद्यभावः) सुख आदि [गुणों] का अभाव (अहं सुखरहितः) "मैं सुखरहित हूँ" (इति) इस प्रकार (गृह्यते) गृहीत होता है (तदा) तब (मनःसंयुक्तस्य) मन से संयुक्त (आत्मनि) आत्मा में (सुखाद्यभावः) सुख आदि [गुणों] का अभाव (विशेषणम्) विशेषण होता है। (यदा) जब (श्रोत्रसमवेते) श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (गकारे) गकार में (घत्वाभावः) घत्व आदि [जाति] का अभाव (गृह्यते) गृहीत होता है

(तदा) तब (श्रोत्रसमवेतस्य) श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले (गकारस्य) 'ग' वर्ण का (घत्वाभाव) घत्वाभाव [समवेतसमवाय-सम्बन्ध से] विशेषण हुआ करता है।

[आन्तरिक इन्द्रिय मन द्वारा भी अभाव का ग्रहण किया जाता है। जैसे— आत्मा में सुख आदि गुणों के अभाव का ग्रहण। इस उदाहरण में भी मनः संयुक्त-विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष ही कार्य करता है। मन का आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध होता है और फिर मन से संयुक्त आत्मा में 'सुखाभाव' ["मैं सुखरहित हूँ" इत्यादि व्यवहार में] विशेषण होता है।

इसी प्रकार" 'गकार' अथवा 'ग' वर्ण में घत्व का अभाव है," इस प्रत्यक्ष में श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से 'ग' वर्ण उत्पन्न होता है तथा 'ग' में रहनेवाले घत्वाभाव के साथ उसका विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध होता है। अतः 'श्रोत्र-समवेतविशेष्यविशेषणभावसन्निकर्ष' द्वारा 'ग' [वर्ण] में 'घत्व' के 'अभाव' का प्रत्यक्ष होता है।

इसी भाँति 'गत्व' में 'घत्वाभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष में श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले 'ग' [वर्ण] में 'गत्व' [जाति] समवाय-सम्बन्ध से रहा करता है और फिर श्रोत्र में समवेतसमवाय सम्बन्ध से रहने वाले 'गत्व' में रहने वाले 'घत्वाभाव' के साथ उसका 'विशेष्यविशेषणभाव-सम्बन्ध होता है। अतः गत्व में घत्वाभाव का प्रत्यक्ष "श्रोत्रसमवेतसमवेत विशेष्य विशेषणभाव-सन्निकर्ष" द्वारा ही हुआ करता है।

इस प्रकार इस 'विशेष्यविशेषणभाव' के संदर्भ में जो संयोग आदि पाँच सन्निकर्षों का भी उल्लेख किया गया है उसे 'विशेष्यविशेषणभाव' नामक छठे सन्निकर्ष का सहयोगी ही समझना चाहिये।

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्ष अभाव इन्द्रियेण गृह्यते।

एवं समवायोऽपि। चक्षुसम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति।

(तत्) तो (एवम्) इस प्रकार (संक्षेपतः) संक्षेप में (पञ्चविध-सम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेन) पाँच प्रकार के [(१) संयोग (२) संयुक्तसमवाय (३) संयुक्तसमवेतसमवाय (४) समवाय (५) समवेत समवाय इन] सम्बन्धों में से किसी एक [अन्यतम] सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेष्य-

विशेषणभावरूप (इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण) इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से (इन्द्रियेण) इन्द्रिय के द्वारा (अभावः) अभाव का (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है।

[इस भाँति जिस स्थल पर 'अभाव' का ग्रहण इन्द्रिय के द्वारा किया जाता है वहाँ पाँच प्रकार के इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षों में से कोई एक सन्निकर्ष अवश्य विद्यमान रहा करता है तथा उस समय उसके साथ ही अभाव सम्बन्धी 'विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्षः' भी रहा करता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि संयोग आदि पाँच सन्निकर्षों (सम्बन्धो) में से किसी एक से सम्बन्ध 'विशेष्यविशेषणभाव' सन्निकर्ष के द्वारा 'अभाव' का प्रत्यक्ष हुआ करता है।]

अब यह बतलाते हैं कि समवाय का प्रत्यक्ष भी 'विशेष्यविशेषणभाव' नामक सन्निकर्ष द्वारा होता है :—

(एवम्) इस प्रकार (समयायः अपि) समवाय भी [विशेष्यविशेषण-भाव-सन्निकर्ष द्वारा ही इन्द्रिय से गृहीत होता है।]। (चक्षुसम्बद्धस्य) नेत्र से संयुक्त (तन्तोः) तन्तु का (विशेषणभूतः) विशेषणरूप में स्थित (पटसमवायः) पटसमवायः' (इह तन्तुषु) इन तन्तुओं में (पटसमवायः) 'पट समवाय [सम्बन्ध से] है' (इति) इस प्रतीति में (गृह्यते) [चक्षुसंयुक्त-विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध द्वारा ही] गृहीत होता है [इस प्रतीति में विशेष्यविशेषणभाव का अर्थ है 'आधेय आधारभाव'। 'इह तन्तुषु पटसमवायः' में 'तन्तु' आधार होने से विशेष्य है तथा 'पटसमवायः' आधेय होने से विशेषण। अतः "इह तन्तुषु पटसमवायः" का तात्पर्य है :—"पटसमवायवन्त इमे तन्तवः"।]।

[चक्षु का तन्तु के साथ संयोग सम्बन्ध होता है और फिर चक्षुसंयुक्त तन्तु में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से पटसमवाय विद्यमान रहा करता है। फिर उस 'पटसमवाय' के साथ तन्तु का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध हुआ करता है।

समवाय के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उस (समवाय) का प्रत्यक्ष सयोग आदि छः सन्निकर्षों में से केवल संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय इन तीन सन्निकर्षों ही में से किसी एक सन्निकर्ष के साथ सम्बद्ध पदार्थ के विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष द्वारा होता है। क्योंकि 'समवाय' सम्बन्ध केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहा करता है। इनमें से द्रव्य के साथ इन्द्रिय का संयोग-सन्निकर्ष होता है [अर्थात् द्रव्य संयोग-सन्निकर्ष द्वारा

ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हुआ करता है।], शब्द के अतिरिक्त [अर्थात् 'शब्द' को छोड़कर] अन्य सभी गुणों तथा कर्मों के साथ इन्द्रिय का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष हुआ करता है [अथवा शब्द के अतिरिक्त अन्य सभी गुण तथा कर्म संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष द्वारा ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हुआ करते हैं।] तथा शब्द 'समवाय' सन्निकर्ष द्वारा ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हुआ करता है [अथवा शब्द नामक गुण के साथ इन्द्रिय का समवाय-सन्निकर्ष हुआ करता है।]।

'समवाय-सन्निकर्ष' के प्रत्यक्ष होने के सम्बन्ध में न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों के मत में कुछ अन्तर अवश्य है और वह यह है कि वैशेषिक-समवाय' को प्रत्यक्ष-योग्य नहीं मानता। उसके मतानुसार समवाय अनुमान द्वारा जाना जाने योग्य होने के कारण 'अनुमेय' है। किन्तु न्याय 'समवाय' को प्रत्यक्ष गम्य ही मानता है। इनके मतानुसार जिस भाँति इन्द्रिय से 'विशेष्यविशेषण-भाव-सन्निकर्ष' द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष किया जाता है उसी भाँति इन्द्रिय से ही 'विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष' द्वारा 'समवाय' का भी प्रत्यक्ष हो जाया करता है। हाँ, अभाव और समवाय-इन दोनों के प्रत्यक्ष में इतना अन्तर अवश्य है कि अभाव का प्रत्यक्ष तो पाँच सन्निकर्षों में से किसी एक से सम्बद्ध विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष द्वारा किया जाता है तथा 'समवाय' का प्रत्यक्ष केवल संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय इन तीनों सन्निकर्षों में से किसी एक सन्निकर्ष के सम्बन्ध 'विशेष्यविशेषणभाव-सन्निकर्ष' द्वारा किया जाया करता है [जिसका विवरण अभी हम ऊपर दे चुके हैं।]।

प्रत्येक प्रकार की 'प्रमा' के विषय में अब तक वर्णित सभी बातों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है :—

तदेवं षोढा सन्निकर्षो वर्णितः। संग्रहश्च—
अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाऽविकल्पिका।
करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः॥
घट - तन्नील - नीलत्व - शब्द - शब्दत्वजातयः।
अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः॥

(एवम्) इस प्रकार (तत्) उन (षोढासन्निकर्षः) छः प्रकार के सन्निकर्ष का (वर्णितः) वर्णन किया गया। (स) और [इस सम्पूर्ण विषय का (संग्रहः) संक्षेप [इस प्रकार से है :—]

(अक्षजा) इन्द्रिय [और अर्थ के सन्निकर्ष द्वारा] उत्पन्न [प्रत्यक्ष] (प्रमितिः) प्रमा (द्वेधा) दो प्रकार की है (सविकल्पाऽविकल्पिका) (१)

सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक। (तस्याः) उस [प्रत्यक्ष-प्रमा] के (करणम्) करण (त्रिविधाः) तीन [(१) कभी इन्द्रिय (२) कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और (३) कभी निर्विकल्पक ज्ञान] प्रकार के हैं। (च) और (सन्निकर्षः) [इन्द्रिय और अर्थ का] सन्निकर्ष (षड्विधः] छः [(१) संयोग (२) संयुक्त समवाय (३) संयुक्त समवेतसमवाय (४) समवाय (५) समवेतसमवाय तथा (६) विशेष्यविशेषणभाव] प्रकार का है॥

[इस ६ प्रकार के सन्निकर्षक के द्वारा क्रमशः] (१) घट [का संयोग सन्निकर्ष द्वारा] (२) (तत्) उस [घट] में रहनेवाले (नील) नील [रूप गुण का ग्रहण संयुक्त समवाय सन्निकर्ष द्वारा और उस नीलगुण में रहने वाली (३) (नीलत्व) नीलत्व [जाति का संयुक्त समवेत-समवाय सन्निकर्ष द्वारा तथा (४) (शब्द) शब्द [रूप गुण का कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाशरूप श्रोत्र से समवाय-सन्निकर्ष द्वारा] और (५) (शब्दत्वजातयः) [उस शब्द में रहने वाली] शब्दत्वजाति का समवेतसमवाय-सन्निकर्ष द्वारा] (च) और (६) (अभावसमवायौ) अभाव तथा समवाय का [विशेष्यविशेषणभावसन्निकर्ष द्वारा] (सम्बन्ध-षट्कतः) [इन] छः सम्बन्धों [सन्निकर्षों] द्वारा (ग्राह्याः) ग्रहण किया जाता है।

उपर्युक्त कारिकाओं में प्रत्यक्ष के प्रकार उसके करण तथा सन्निकर्षों का विवेचन संक्षेप में प्रस्तुत किया गया कि जिनका विस्तृत वर्णन प्रत्यक्ष के उपर्युक्त वर्णन में किया जा चुका है। अब यहाँ विचारणीय यह है कि विषय इन्द्रियों के साथ किस प्रकार सन्निकृष्ट होते हैं? अथवा इन्द्रियों से विभिन्न सन्निकर्षों द्वारा विषयों का ग्रहण किस भाँति किया जाता है।

दूरस्थित, पृष्ठस्थित, भूत अथवा भावी पदार्थों का लौकिक-प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। अतः यह बात निस्सन्देह रूप से कही जा सकती है कि किसी भी पदार्थ अथवा विषय का लौकिक-प्रत्यक्ष करने के लिये उसके साथ इन्द्रिय का लौकिकसन्निकर्ष होना आवश्यक है। यह सन्निकर्ष कैसे होता है? यह ज्ञातव्य है।

उपर्युक्त वर्णन में यह बतलाया जा चुका है कि आत्मा तथा मन का संयोग तो सभी ज्ञानों का कारण हुआ करता है। किन्तु मन तथा इन्द्रिय का संयोग बाह्य वस्तुओं (विषयों) के प्रत्यक्ष किये जाने में विशिष्ट कारण है। इन बाह्य-वस्तुओं (अथवा लौकिक-विषयों) का प्रत्यक्ष पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही हुआ करता है। (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण

(४) रसना तथा (५) त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा मन अन्तः-करण (इन्द्रिय) है। इन सभी इन्द्रियों का आश्रय शरीर है अतएव इनकी स्थिति शरीर के अन्दर ही हुआ करती है और ग्राह्य विषय अथवा वस्तुयें शरीर से बाहर दूर विद्यमान रहा करती हैं फिर इनका संयोग किस भाँति संभव है ? क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ किसी वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित किया करती हैं—"इन्द्रियाणां प्राप्यप्रकाश-कारित्वनियमात्"।

इस बारे में यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा के शरीर के अन्तर्गत दो प्रकार की इन्द्रियाँ विद्यमान रहा करती हैं। प्रथम तो वह इन्द्रिय कि जो शरीर से बाहर स्थित विषय अथवा विषयों के समीप जाकर उसके साथ सम्पर्क स्थापित कर सकती है। और दूसरी वे इन्द्रियाँ कि जो शरीर से बाहर तो नहीं जा सकती हैं किन्तु उनके समीप में वस्तु अथवा विषय के पहुँचने पर वे उनके साथ सम्पर्क स्थापित कर सकती हैं। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत एक ही इन्द्रिय आती है और वह है "चक्षु"। शेष चार ज्ञानेन्द्रियाँ द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत आती हैं।

अब पहले चाक्षुष ('चक्षु' इन्द्रिय सम्बन्धी' प्रत्यक्ष को ही ले लीजिये। 'चक्षु' इन्द्रिय की रचना "तेज" (अग्नि) के परमाणुओं से हुयी है। यह जो चक्षु का बाह्य गोलक दृष्टिगोचर होता है वह ही चक्षु नामक इन्द्रिय है, ऐसी बात नहीं है। आँख के अभ्यन्तर जो काली पुतली (अथवा तारा) है उसी में तेज (अग्नि) के परमाणुओं से निर्मित, सूक्ष्म-स्वरूप वाली चक्षु-इन्द्रियविद्यमान रहा करती है। तेज (अग्नि) से उत्पन्न होने के कारण वह शीघ्रगामी-किरणों से सम्पन्न रहा करती है। अतः जब कभी द्रष्टा की आँख तब तत्काल ही ये किरणें बाहर विद्यमान घट आदि वस्तुओं अथवा विषयों तक पहुँच जाया करती हैं और उन वस्तुओं अथवा विषयों को अपने सन्निकर्ष द्वारा 'प्रत्यक्षगम्य' बना दिया करती हैं। चक्षु-इन्द्रिय तथा घट आदि यही संयोग—"इन्द्रियार्थसन्निकर्ष" नाम से कहा जाता है। इस संयोग-सन्निकर्ष द्वारा चक्षु-इन्द्रिय घट आदि को प्रकाशित किया करती है। घट आदि के इसी प्रत्यक्ष को 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसके पश्चात् 'सविकल्पक' ज्ञान आदि हुआ करते हैं।

[दूसरे प्रकार की [शेष सभी ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् किसी भी दशा में अपने स्थान का त्याग नहीं किया करती हैं अपने-अपने स्थानों पर ही स्थित रहा करती हैं। जब कोई शब्द श्रोत्र के, वायु आदि के

सहयोग से जब कोई गन्ध युक्त पदार्थ घ्राण (नाक) के, कोई रसयुक्त पदार्थ रसना के, कोई स्पर्शयुक्त पदार्थ त्वक् के समीपवर्त्ती हुआ करता है तब ये इन्द्रियाँ अपने निर्धारित स्थान पर ही अपने २ ग्राह्य वस्तु अथवा विषय—शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श के साथ सन्निकर्ष स्थापित कर उनका प्रत्यक्ष-अनुभव (ज्ञान) उत्पन्न किया करती हैं। श्रोत्र के बाहर जिन शब्दों की उत्पत्ति हुआ करती है वे शब्द 'वीचितरङ्गन्याय' से श्रोत्र-मार्ग तक पहुँच जाया करते हैं तथा कर्ण-शष्कुली में विद्यमान आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले इन शब्दों का श्रोत्र-इन्द्रिय से समवाय-सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष हो जाया करता है। यही श्रोत्र-इन्द्रिय की अवशिष्ट तीन इन्द्रियों की अपेक्षा विशिष्टता है। शेष तीनों इन्द्रियों द्वारा किया गया प्रत्यक्ष-ज्ञान प्रायः एक साथ ही प्रतीत होता है। जैसे—जब गन्ध से परिपूर्ण किसी पुष्प आदि के अवयव वायु द्वारा अपने शरीर में विद्यमान घ्राण-इन्द्रिय तक पहुँचा करते हैं तो उस समय घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इसी भाँति रसना तथा त्वक् इन्द्रिय भी किसी प्रकार अपने समीप में उपस्थित हुयी सम्बन्धित वस्तुओं के रस तथा स्पर्श का प्रत्यक्ष-ज्ञान करा दिया करती हैं।

इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों में केवल चक्षु तथा त्वक् इन्द्रिय द्वारा ही गुणी अर्थात् द्रव्य का प्रत्यक्ष हुआ करता है। शेष तीन ज्ञानेन्द्रियाँ तो केवल गुण इत्यादि का ही प्रत्यक्ष कराया करती हैं।

आन्तर-इन्द्रिय-'मन' भी शरीर के अभ्यन्तर विद्यमान अपने अधिकृत-स्थान की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया करता है तथा शरीर के अभ्यन्तर ही विद्यमान आत्मा (द्रव्य) से और उसके सुख, दुःख, आदि गुणों से अपना सम्पर्क स्थापित कर आत्मा तथा उसमें स्थित सुख, दुःख, ज्ञान आदि गुणों का प्रत्यक्ष किया करता है। इस प्रकार मन "द्रव्य"-आत्मा का तथा उसके "गुणों" का—दोनों का प्रत्यक्ष किया करता है।

इस ["इन्द्रियाणां प्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्"] नियम की दृष्टि से उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि सभी इन्द्रियाँ सन्निकृष्ट पदार्थ की ही ग्राहक हुआ करती हैं। इसी को न्यायदर्शन में प्राप्यकारी अर्थात् सन्निकृष्ट वस्तु (पदार्थ) का प्रकाशक कहा गया है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है। इसी मान्यता के आधार पर प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रक्रिया का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु सांख्य, योग तथा वेदान्तदर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण नहीं मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार ज्ञान बुद्धि अथवा

चित्त का ही धर्म है। अतः इन दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी दूसरे ही प्रकार की है। यहाँ इसका भी विवेचन कर देना उपयुक्त ही होगा :—

सांख्य तथा योग की इस प्रक्रिया के अनुसार इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा चित्त अथवा मन का बाह्य घट, पट, आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध के होने से चित्त अर्थ के आकार के रूप में परिणत हो जाया करता है। चित्त की इस अर्थाकार 'परिणति' को ही वे 'चित्तवृत्ति' अथवा 'बुद्धिवृत्ति' नाम से कहा करते हैं। बुद्धि का यह अर्थाकार परिणाम ही 'ज्ञान' कहलाता है। उनके मतानुसार बुद्धि-अथवा महत्तत्व अथवा अन्तःकरण अथवा चित्त एकतैजस-पदार्थ के समान है। जिस भाँति नालियों द्वारा खेत की क्यारियों में पहुँचने के पश्चात् जल, त्रिकोण, चतुष्कोण अथवा षट्कोण आदि जिस आकार की क्यारी उसे प्राप्त हुआ करती है उसी आकार में (जल) परिणत हो जाया करता है। इसी भाँति इन्द्रिय-प्रणालिका द्वारा अन्तःकरण अथवा बुद्धि भी अर्थ के आकार में परिणत हो जाया करती है। अन्तःकरण की इस अर्थाकार-परिणति का ही नाम 'चित्तवृत्ति' है। किन्तु इस अर्थाकार-परिणति मात्र से ही विषय का ज्ञान हो जाता हो, ऐसा नहीं है। इस ज्ञान की उत्पत्ति के लिये चैतन्य (आत्मा) के प्रकाश का संस्पर्श अपेक्षित हुआ करता है। बुद्धि तो निसर्गतः जड़ हुआ करती है। अतः उसमें वह प्रकाश विद्यमान नहीं रहा करता है। अतः विषय (अथवा अर्थ) के आकार में परिणत हुयी बुद्धि में चैतन्य-आत्मा (पुरुष) के प्रकाश के प्रतिबिम्ब की आवश्यकता हुआ करती है। बुद्धि जब इस प्रतिबिम्ब को प्राप्त कर लिया करती है तो वह सच्चे प्रकाशपिण्ड के सदृश चमक उठती है तथा अपने सम्पर्क में आये हुये पदार्थ को प्रकाशित कर दिया करती है। इस भाँति किसी पदार्थ के ज्ञान के निमित्त दो बातें हुआ करती हैं—(१) बुद्धि का अर्थाकार अथवा विषयाकार परिणाम (अर्थात् बुद्धिवृत्ति अथवा चित्तवृत्ति] (२) विषयाकार अथवा अर्थाकार रूप में परिणत बुद्धि में पुरुष (आत्मा)—चैतन्य का प्रतिबिम्ब। इन दोनों में यदि प्रथम को 'प्रमा' कहा जायगा तो इस प्रमा को उत्पन्न करने वाली इन्द्रिय, लिङ्ग अथवा शब्द को प्रमाण कहा जायगा और यदि द्वितीय को 'प्रमा' कहा जायगा तो 'विषयाकार अथवा अर्थाकार' बुद्धि के परिणाम अर्थात् 'बुद्धिवृत्ति' अथवा 'चित्तवृत्ति' को ही प्रमाण कहा जायगा।

इसको और अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार से कहा जा सकता है कि इस 'बुद्धिवृत्ति' में चैतन्य-आत्मा का प्रतिबिम्ब होने से, अथवा चैतन्य-आत्मा

में ही 'बुद्धिवृत्ति' का प्रतिबिम्ब होने से पुरुष अथवा आत्मा को उस 'अर्थ' अथवा 'विषय' का बोध हो जाया करता है। सांख्य में इस बोध को 'पौरुषेय-बोध' कहा गया है। इनके मतानुसार 'बुद्धिवृत्ति' प्रमाण है तथा उसके द्वारा होने वाला पौरुषेय-बोध ही 'प्रमा' है। किन्तु यदि 'बुद्धिवृत्ति' को ही 'प्रमा' कहा जायगा तो उस समय 'इन्द्रिय' को ही प्रमाण कहना होगा। किन्तु अधिकांश में 'बुद्धिवृत्ति' को ही 'प्रमाण' तथा 'पौरुषेय-बोध' को ही 'प्रमा' कहा जाता है। योगदर्शन के व्यासभाष्य [यो० द० व्यास भा० १।७] में इस प्रक्रिया की मान्यता दी गयी है:—

"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। "फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः।"

बुद्धितत्व और पुरुष (आत्मा) के बीच किसमें किसका प्रतिबिम्ब होता है ? इस बारे में दो मत प्रसिद्ध हैं–(१) वाचस्पति मिश्र का (२) विज्ञानभिक्षु का।

वाचस्पति मिश्र के मतानुसार 'बुद्धितत्व' अथवा 'बुद्धिवृत्ति' में पुरुष (आत्मा) का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। किन्तु सांख्य-सूत्रों के 'सांख्य प्रवचनभाष्य' के रचयिता श्री विज्ञानभिक्षु ने पुरुष (आत्मा) में ही 'बुद्धिवृत्ति' अथवा 'चित्तवृत्ति' का प्रतिबिम्ब माना है। किन्तु उनका यह मत कुछ अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उसी वस्तु अथवा पदार्थ में माना जाना उचित कहा जा सकता है कि जो वस्तु उस प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सके। सांख्य में बुद्धि को ही 'कर्त्ता' कहा गया है। अतः बुद्धितत्त्व कर्तृस्वभाव से युक्त होने के कारण आत्मा (पुरुष) के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है। अतः बुद्धितत्व में प्रतिबिम्ब का होना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु पुरुष में बुद्धितत्व के प्रतिबिम्ब को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि पुरुष (आत्मा) तो कूटस्थ, अकर्त्ता है। अतः वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर ही नहीं सकता है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्व कौमुदी की अपनी व्याख्या के अन्तर्गत पंचमकारिका की व्याख्या में इसी मत को स्पष्ट करते हुये लिखा है:—

"सोऽयं बुद्धितत्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बतस्तच्छायापत्याज्ञानसुखादिमानिव भवति।"

इस वाक्य में प्रयुक्त 'तत्प्रतिबिम्बितः' और 'तच्छायापत्या' इन पदों में प्रयुक्त 'तत्' शब्द से बुद्धितत्व अथवा बुद्धिवृत्ति विवक्षित है। अतः उक्त वाक्य का अर्थ होगा:—

पुरुष (चैतन्य आत्मा) बुद्धितत्व में प्रतिबिम्बित होता है जिसके परिणामस्वरूप उस (पुरुष) में बुद्धितत्व की छायापत्ति अर्थात् सादृश्यापत्ति हो जाती है तथा इसी कारण वह (पुरुष) बुद्धितत्व के ज्ञान, सुख आदि धर्मों से उन धर्मों के आश्रय सदृश हो जाया करता है। वैसे पुरुष तो ज्ञान, सुख आदि धर्मों से शून्य है किन्तु बुद्धितत्व में प्रतिबिम्बित होने के कारण वह (पुरुष-आत्मा) ज्ञान, सुख आदि धर्मों का आधार सा प्रतीत होने लगा करता है।

किन्तु विज्ञानभिक्षु ने तो आत्मा रूप दर्पण में बुद्धिवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है तथा अपने मत के समर्थन में उन्होंने पुराण के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है :—

"तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥
सांख्यप्रवचन भाष्य १।१।३ में॥

अर्थात् जिस प्रकार तालाब के किनारे पर स्थित वृक्ष तालाब में प्रतिबिम्बित हुआ करते हैं उसी प्रकार पुरुष के समीप ही विद्यमान पुरुष से भिन्न प्रतीत न होनेवाले बुद्धितत्व की सम्पूर्ण वृत्तियाँ चैतन्य पुरुषरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उसी पदार्थ में पड़ा करता है कि जो पदार्थ प्रतिबिम्ब को धारण करने के लिये अपेक्षित निर्मलता से युक्त हुआ करता है। पुरुष (आत्मा) निसर्गतः निर्विकार है। अतः पूर्णतया निर्मल है। अतएव उसमें बुद्धित्व का प्रतिबिम्बित होना युक्तिसंगत भी है। बुद्धितत्व तो विकारयुक्त है। अतः वह पूर्णतया निर्मल भी नहीं है। ऐसी स्थिति में उसमें पुरुष (आत्मा) के प्रतिबिम्ब का पड़ना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया—

जब द्रष्टा-व्यक्ति के बाह्यकरण—चक्षु आदि इन्द्रिय का किसी पदार्थ के साथ सम्पर्क हुआ करता है तब उस इन्द्रिय के माध्यम द्वारा उसके अन्तःकरण (मन) का भी उस पदार्थ के साथ सम्पर्क हो जाया करता है। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप उस पदार्थ के आकार में अन्तःकरण (मन) का परिणाम होता है जिसको अन्तःकरण की वृत्ति कहते हैं। ग्राह्य-वस्तु अथवा पदार्थ जब उक्त-वृत्ति के साथ एकदेशस्थ हो जाया करते हैं तब वृत्तिचैतन्य, ग्राहकचैतन्य और ग्राह्य-चैतन्य में एकता हो जाया करती है। ग्राह्य-चैतन्य के साथ एकता को प्राप्त हुआ यह वृत्तिचैतन्य ही प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाता है।

वास्तविकता तो यह है कि वेदान्त-मत में 'चैतन्य' ही एकमात्र परमार्थ-भूत वस्तु है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी चैतन्य में अज्ञान द्वारा कल्पित है। इस कल्पित विश्व के विभिन्न पदार्थ ही उसमें नानात्व की कल्पना कराती हैं जिसके परिणामस्वरूप वह एक चैतन्य ही उन-उन पदार्थों में अवच्छिन्न होकर अनेक चैतन्यों के स्वरूप को प्राप्त कर लिया करता है। इस अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमुखरूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अथवा ज्ञाता-पुरुष (२) प्रमाणचैतन्य अथवा वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य (३) प्रमेयचैतन्य अथवा विषयावच्छिन्न चैतन्य। जब इन तीनों चैतन्यों में एकता स्थापित हो जाती है तब प्रत्यक्षज्ञान उत्पत्ति हुआ करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब अन्तःकरण, वृत्ति तथा विषय—(पदार्थ अथवा वस्तु) ये तीनों एकदेशस्थ हो जाया करते हैं तब उन तीनों से अवच्छिन्न चैतन्यों में विद्यमान अन्तर तिरोहित हो जाया करता है। फलस्वरूप इन तीनों में एकता की स्थापना होकर प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति हो जाया करती है।

वेदान्त-दर्शन के मतानुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रक्रिया का यही प्रकार है कि जिसका अतिसंक्षिप्त स्वरूप ही यहाँ प्रस्तुत किया जा सका है।

तर्कभाषाकार के अनुसार प्रत्यक्ष के उपर्युक्त वर्णन में साक्षात्कारिणी-प्रमा के दो प्रकारों का वर्णन किया जा चुका है। ये दो प्रकार हैं—(१) निर्विकल्पक-प्रमा (२) सविकल्पक-प्रमा। बौद्ध-दर्शनकार इन दोनों प्रमाओं में में केवल प्रथम को ही मानते हैं। उनके मतानुसार केवल निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष ही 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। अतः इस सन्दर्भ में बौद्धदर्शनकारों की ओर से निम्नलिखित शङ्का को उठाया गया है :—

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्। सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारावगाहित्वात् सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षमर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणन्तु परमार्थतः सत्, न तु सामान्यम्। तस्य प्रमाणानिरस्तविधिभावस्य अन्यव्यावृत्यात्मनस्तुच्छत्वात्।

[शंका—] (निर्विकल्पकम्) निर्विकल्पक [प्रमा अथवा ज्ञान] (परमार्थतः) वस्तुतः अथवा वास्तविकरूप से (स्वलक्षणविषयम्) स्वलक्षण अर्थात् वस्तुमात्र-विषयक [तथा उससे उत्पन्न] होने से [भले ही] (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (भवतु) हो [जाय] किन्तु (सविकल्पकम्) सविकल्पक [प्रत्यक्ष] (तु) तो (शब्दलिङ्गवत्) शब्द तथा अनुमान के सदृश (अनुगताकारावगाहित्वात्)

अनुगत आकार [सामान्य अथवा जाति] का ग्राहक होने के कारण (सामान्य-विषयम्) सामान्यविषयक होने से (कथम्) कैसे (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष [कहे जाने योग्य] हो सकेगा ? [क्योंकि] (अर्थजस्यैव) 'अर्थज' [अर्थात् अर्थ-जन्य-ज्ञान] के ही (प्रत्यक्षत्वात्) प्रत्यक्ष होने में (च) और (परमार्थतः) वास्तव में (सतः) विद्यमान (अर्थस्य एव) अर्थ के ही (तत्—तस्य) उस [प्रत्यक्ष] के (जनकत्वात्) जनक अथवा उत्पादक होने से [सामान्य विषयक सविकल्पक-ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा जाना सम्भव ही नहीं है।] (स्वलक्षणं तु) स्वलक्षण अर्थात् वस्तुमात्र तो (परमार्थतः) परमार्थतः (सत्) सत् है (तु) किन्तु (सामान्यं न) सामान्य [परमार्थतः सत्] नहीं है। (तस्य) उसकी (प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य) विधिरूपता [भावरूपता] का प्रमाणों द्वारा खण्डन हो जाने से [तथा] (अन्यव्यावृत्यात्मनः) अतद्व्या-वृत्तिरूप [अभावरूप] (तुच्छत्वात्) तुच्छ होने से [सामान्यविषयक सविकल्पक-ज्ञान को अर्थजन्य न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है।]।

बौद्धदर्शनकारों को निर्विकल्पक ज्ञान ही अभिमत है, सविकल्पक नहीं। इसका कारण यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान "वस्तुमात्रावगाहि" अर्थात् 'वस्तु-मात्र' का ही द्योतक हुआ करता है अथवा 'स्वलक्षणविषयक' हुआ करता है। 'स्वलक्षण' का अर्थ है "स्वं सर्वतो व्यावृत्तं लक्षणं वस्तुरूपम्" अर्थात् सर्वतो भिन्न वस्तु का स्वरूप—वस्तु का निजी रूप जो सभी अन्य सजातीय अथवा विजातीय पदार्थों से भिन्न है। निर्विकल्पक ज्ञान में केवल वस्तु का अपना स्वरूप ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। अतः यह वस्तुमात्रविषयक होने से वस्तु-मात्र अथवा वस्तु के अपने निजी स्वरूप से ही जन्य है। अतएव इसको 'अर्थज' [अर्थ-अर्थात् विषयनामादि रहित घट, पट, आदि से ही उत्पन्न] कहा जाता है। 'अर्थज' होने के कारण ही उसको प्रमाण माना जाता है। किन्तु सविकल्पक-ज्ञान तो नाम, जाति आदि की योजना से युक्त हुआ करता है ["नामजात्यादियोजनात्मकम्"] इसके अतिरिक्त इस ज्ञान का विषय विशेष्य-विशेषणभाव आदि होता है ["विशेष्य-विशेषणभावावगाहि"]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस सविकल्पक-ज्ञान में "जाति" का भी भान हुआ करता है। अतः जाति को भी उस [सविकल्पक-ज्ञान] का कारण मानना होगा। बौद्धमत में "जाति" नामक कोई पदार्थ नहीं है। अतः उस 'जाति' से उत्पन्न होने वाला सविकल्पक-ज्ञान "अर्थज" नहीं है। अतएव "अर्थज" न होने के कारण उसको प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता है।

बौद्ध "जाति" को भाव-पदार्थ नहीं मानते हैं। इसका कारण यह है कि न्यायमत में "जाति" एक नित्य-पदार्थ है ["नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्"] कहने का अभिप्राय यह है कि नैयायिकों की दृष्टि में 'जाति' अथवा 'सामान्य' एक नित्य पदार्थ है। किन्तु "बौद्धदर्शन" का प्रमुखसिद्धान्त "क्षणभङ्गवाद" है। इस सिद्धान्त के अनुसार बौद्धों के मत में सब कुछ क्षणिक है। अतः उनके मतानुसार संसार में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। अतएव नैयायिक जिस नित्य "जाति" को स्वीकार करते हैं—क्षणभङ्गवादी बौद्ध के लिये उसका मानना संभव ही नहीं है। इसी कारण बौद्ध 'जाति' को पदार्थ ही नहीं मानते हैं। अतएव 'सामान्य' विषयक 'सविकल्पक-ज्ञान' को भी "अर्थज" न होने से वह प्रमाण नहीं स्वीकार करते हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बौद्ध' जाति अथवा सामान्य को नहीं मानते हैं तब वे जाति अथवा सामान्य से निकलने वाला कार्य कैसे निकालते हैं? न्याय-सिद्धान्त में 'जाति' का कार्य 'अनुगत-प्रतीति' अथवा 'एकाकार-प्रतीति' कराना ही है। "अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्" अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् अनुगतप्रतीति अर्थात् एकाकारप्रतीति का जो कारण है उसको 'सामान्य' नाम से कहा जाता है। दश-घट व्यक्ति उपस्थित हैं। इन सभी में "अयं घटः, अयं घटः, अयं घटः" इस प्रकार की एकाकार-प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कारण उन (घटों) में रहने वाला 'घटत्व' सामान्य (अथवा जाति) ही है। प्रत्येक 'घट' में 'घटत्व' नामक साधारण धर्म विद्यमान है। इसी के कारण सभी घड़ों में "अयं घटः", "अयं घटः" इस प्रकार की एकाकार होने की प्रतीति हुआ करती है। इसी एकाकार-प्रतीति के कारण को 'सामान्य' अथवा 'जाति' नाम से कहा जाता है।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बौद्धलोग 'सामान्य' अथवा 'जाति' को भाव-पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु एकाकार-प्रतीति उनके यहाँ भी होती है। वे इस एकाकार की प्रतीति के लिये "अपोह" की कल्पना करते हैं। उनके इस 'अपोह' शब्द का अर्थ है—'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् 'तद्भिन्न-भिन्नत्व'। 'तत्' शब्द से घट् आदि का ग्रहण कर इसे सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। अब 'अतद्' का अर्थ हुआ 'अघट' अर्थात् घट से भिन्न सम्पूर्ण जगत्। पुनः फिर उस [जगत्] से भिन्न 'घट' ही हुआ। अतः प्रत्येक 'घट' इसी प्रकार 'अतद्व्यावृत' अथवा तद्भिन्न से भिन्न होगा। इसी आधार पर 'घट' को 'घट' कहा जाता है। इस भाँति प्रत्येक घड़े में 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' होगा। इसी का नाम 'अपोह' है। इस 'अपोह' अथवा

'तद्भिन्नभिन्नत्त्व' के कारण ही एकाकार-प्रतीति हुआ करती है। अतः बौद्धों के यहाँ सामान्य अथवा जाति का कार्य 'अपोह' 'अथवा' 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' से निकल जाता है।

बौद्धों के इस 'अपोह' तथा न्याय और वैशेषिक-अभिमत 'सामान्य' अथवा 'जाति' पदार्थ में यही अन्तर है कि बौद्धों का 'अभावरूप है और न्याय का 'सामान्य' अथवा 'जाति' भावरूप है।

बौद्ध-दर्शनकारों का कहना है कि उस अभावरूप में विद्यमान 'अपोह' से ही 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु' रूप 'सामान्य' का कार्य हो जाता है। फिर 'सामान्य' को एक पृथक्-पदार्थ मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। उनका यह भी कहना है 'घट' की उत्पत्ति से पूर्व घट के निर्माणस्थल पर 'घटत्व' जाति विद्यमान नहीं थी। बाद में वह कहीं से आ जाती हो, ऐसा भी दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर घट का निर्माण हो जाने पर वह घट के अन्दर कहाँ से आ जाती है? घट के नष्ट हो जाने पर वह 'घटत्व' जाति (सामान्य) नष्ट भी नहीं होती तथा दृष्टिगोचर भी नहीं हुआ करती है। अतः घट के विनाश होने पर वह कहाँ चली जाया करती है। इस प्रकार के अनेक दोष जाति अथवा सामान्य के स्वीकार करने में आते हैं। ऐसी स्थिति में 'जाति' अथवा 'सामान्य' नाम का कोई भी पदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता है। अतः इसका मानना उचित नहीं है। अतएव 'अनुवृत्ति प्रत्यय' अर्थात् 'एकाकारप्रतीति' का कारण भावरूप में विद्यमान जाति अथवा सामान्य नामक कोई भी पदार्थ नहीं है। 'अतद्व्यावृत्ति' रूप में विद्यमान 'अपोह' अथवा अन्योन्याभावरूप–'तद्भिन्नभिन्नत्व' ही 'एकाकारप्रतीति' का कारण है। बौद्धमत द्वारा ऐसा निश्चय हो जाने पर 'सामान्य' अथवा 'जाति' नामक कोई भी 'अर्थ' नहीं रह जाता है। अतः 'सविकल्पक-ज्ञान' को भी 'अर्थ' नहीं कहा जा सकता है। फिर ऐसी स्थिति में सविकल्पक-ज्ञान को 'प्रत्यक्ष-प्रमा' कहना सर्वथा अनुचित ही है।

नैयायिकों की दृष्टि में 'सामान्य' अथवा 'जाति' भावरूप है। किन्तु बौद्धों का कहना है कि नैयायिकों द्वारा 'सामान्य' अथवा 'जाति' को भावरूप मानना भी ठीक नहीं है—"प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य" अर्थात् प्रमाणों द्वारा [जाति] की भावरूपता का भी निराकरण हो जाता है। नैयायिकों द्वारा जाति अथवा सामान्य का लक्षण किया गया है—'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्"—अर्थात् जो नित्य है तथा अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहती है उसे 'जाति' अथवा सामान्य कहा जाता है। जैसे 'गोत्व' आदि। जाति के

इस लक्षण में दो भाग हैं:—(१) नित्य होना तथा (२) अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहना। पहले प्रथम अंश को ही ले लीजिये। बौद्धों की दृष्टि में संसार का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, सभी क्षणिक हैं। अतः जो क्षणिक नहीं हैं उनकी सत्ता भी हो नहीं सकती है—"यत् सत् तत् क्षणिकम्।" उनके इस सिद्धान्त के अनुसार क्षणिकता के अभाव में सत्ता की भावरूपता ही संभव नहीं है। अब लक्षण के द्वितीय अंश 'अनेकसमवेतत्व' को लीजिये। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि वह 'जाति' नाम का कोई पदार्थ है तो वह 'जाति' प्रत्येक व्यक्ति में पूर्णरूप से रहती है अथवा उसके किसी एकदेश में ? यदि पूर्णरूप से किसी एक व्यक्ति में उसकी विद्यमानता मान ली जाय तो दूसरे व्यक्ति में उसकी प्रतीति होगी ही नहीं। यदि वह जाति एक-देश (अंश) में ही रहा करती है तो यह मानना भी न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार उचित न होगा क्योंकि उन्होंने तो 'जाति' को 'अंशरहित' माना है। फिर उसके अंशों का होना कैसे संभव होगा ? अतः जाति के लक्षण के द्वितीय अंश के आधार पर भी उस (जाति) की भावरूपता सिद्ध नहीं होती है।

बौद्धों की दृष्टि में पदार्थों के दो प्रकार होते हैं (१) स्वलक्षण (२) सामान्य-लक्षण अथवा सामान्य। वस्तु का अपना निजीस्वरूप ही 'स्वलक्षण' है। यह 'स्वलक्षण' ही मानव की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का विषय है अर्थात् इस ही का ग्रहण अथवा त्याग किया जा सकता है। यदि उसका 'अर्थक्रियाकारित्व' है अर्थात् 'घट' आदि अर्थ का पक जाना आदि जो क्रिया है उसे घट व्यक्ति अथवा स्वलक्षण ही कर सकता है घटत्व अदि सामान्य नहीं। 'अर्थक्रिया-कारित्व' ही परमार्थसत्ता की सच्ची कसौटी है। इसी कारण स्वलक्षण को ही परमार्थसत् अर्थात् वस्तुतः यथार्थ कहा गया है ["स एव परमार्थसत् अर्थ-क्रियाकारित्वात् वस्तुनः" न्यायबिन्दु परि० १॥] सामान्य अथवा सामान्यलक्षण को नहीं:—"स्वलक्षणं तु परमार्थतः सत्, न तु सामान्यम्"। सामान्य अथवा सामान्यलक्षण अर्थक्रियाकारी नहीं होता है। अतः उसे परमार्थतः सत् अथवा वस्तुतः यथार्थ भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में जाति (सामान्य) से युक्त सविकल्पक-ज्ञान को "प्रत्यक्ष–प्रमा" के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः जो ज्ञान परमार्थतः सत् [स्वलक्षण] अथवा पदार्थ से उत्पन्न हुआ करता है उसी का प्रत्यक्ष किया जा सकना संभव है।

बौद्धों के उपर्युक्त पक्ष को स्थापित कर तर्कभाषाकार अब उसका समाधान एवं निराकरण करते हुये कहते हैं:—

समाधान—

मैवम्। सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात्।

(सामान्यस्य) सामान्य के (अपि) भी (वस्तुभूतत्वात्) वस्तुभूत अर्थात् परमार्थसत् होने से (एवम्) इस [बौद्धों द्वारा कथित उपर्युक्त] प्रकार का कथन (मा) ठीक नहीं है।

तर्कभाषाकार द्वारा समाधान के रूप में कथित उपर्युक्त पंक्ति का स्पष्टीकरण इस प्रकार से होगा कि 'सामान्य' का कार्य 'अपोह' अथवा 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' से किया जाना संभव नहीं है क्योंकि 'तद्' अर्थात् घट, आदि वस्तु के ज्ञान के विना अतद्व्यावृत्ति अथवा घटभिन्नभिन्नत्व का ज्ञान होना ही संभव नहीं है। तद्भिन्नभिन्नत्व का अर्थ हुआ 'घटभिन्नभिन्नत्व'। जब तक 'घट' का ही ज्ञान न होगा तब तक 'घटभिन्नभिन्नत्व' का ज्ञान कैसे हो सकेगा?

अतः घट के ज्ञान के निमित्त 'घटत्व' जाति (सामान्य) का मानना आवश्यक ही है। इसके अतिरिक्त जनसाधारण का अनुभव भी यही बतलाता है घटत्व आदि (सामान्य अथवा जाति) जो एकाकार-प्रतीति के वस्तुतः कारण हैं वे भावरूप ही हैं, अभावरूप नहीं। 'घट' के अन्दर 'घटत्व' की प्रतीति जनसाधारण को हुआ करती है। घट के ही अन्दर पटत्व की प्रतीति किसी को भी नहीं हुआ करती है। अतः 'घट' आदि वस्तुओं के ज्ञान के निमत्त 'घटत्व' आदि जाति (सामान्य) को स्वीकार करना आवश्यक ही है। इस सम्बन्ध में बौद्धों द्वारा जो सामान्य की अभावात्मकता को सिद्ध करने के निमित्त 'क्षणिकता' सम्बन्धी युक्ति दी गयी है वह पूर्णतया अनुपयुक्त ही है क्योंकि वस्तु अथवा पदार्थमात्र को क्षणिक मान लेने पर संसार का पारस्परिक व्यवहार का चलना ही संभव न हो सकेगा।

सामान्य अथवा जाति सभी व्यक्तियों में समवाय-सम्बन्ध से रहा करती है ऐसा मान लेने पर इस जाति (सामान्थ) का अनेक व्यक्तियों में रहना भी बन जायगा। अतः सामान्य (जाति) भी 'स्वलक्षण' की ही तरह एव भावरूप पदार्थ है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एकाकार-प्रतीति-विषयक जो सविकल्पक-ज्ञान है वह भी प्रत्यक्ष-प्रमा ही है।

तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

(तदेवम्) तो [यह] इस प्रकार (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष [प्रमाण] की (व्याख्यातम्) व्याख्या समाप्त हुयी।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक [प्रत्यक्ष] ज्ञान के प्रामाण्य आदि के बारे में भारतीय-दर्शनों में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। अतः इनके बारे में अतिसंक्षेप में उल्लेख कर देना उचित ही होगा :—

१—बौद्ध-दर्शन के अनुसार निर्विकल्पक-ज्ञान ही प्रत्यक्ष-प्रमाण है, सविकल्पक नहीं। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस बारे में आचार्य दिङ्नाग का यह कथन है :—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्" ॥ प्रमाणसमुच्चय-परि० १ ॥ धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण यह है :— "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" ॥ न्या० वि० ॥

२—वैयाकरण भर्तृहरि के अनुसार—निर्विकल्पक-ज्ञान की संभावना करना ही व्यर्थ है। उनकी दृष्टि में यह ज्ञान होता ही नहीं है। उनका कथन है कि प्रत्येक ज्ञान का शब्द द्वारा अनुगत होना आवश्यक है। शब्द की इस अनुगति के बिना किसी भी प्रकार के ज्ञान की संभावना ही नहीं की जा सकती है :—

"न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

न्या० वा० ता०—१।१।४॥"

प्रत्येक प्रकार का ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही हुआ करता है। इस प्रकार का ज्ञान तो 'सविकल्पक' ही कहा जायगा, निर्विकल्पक नहीं। अतः उनकी दृष्टि में निर्विकल्पक ज्ञान होता ही नहीं है।

मध्वाचार्य की वेदान्त-परम्परा ने भी निर्विकल्पक-ज्ञान को स्वीकार नहीं किया है ॥ न्या० को० ॥

३—जैन-दर्शन के अनुसार निर्विकल्पक-ज्ञान—

जैन-दर्शन के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता को तो 'दर्शन' नाम से कहा गया है किन्तु इसका वर्णन प्रत्यक्ष-प्रमा के अन्तर्गत नहीं किया गया है। अतः उनके मतानुसार निर्विकल्पक-ज्ञान की संभावना तो की जा सकती है किन्तु उसे प्रत्यक्ष-प्रमा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने जैनदर्शन की परम्परा के आधार पर सविकल्पक-ज्ञान को ही 'प्रत्यक्ष' माना है तथा निर्विकल्पक-ज्ञान को 'अनध्यवसाय' रूप बतलाकर उसे प्रमाण-कोटि से बाहर ही रखा है।

ज्ञान दो प्रकार का माना गया है (१) परोक्ष (२) अपरोक्ष। जिस ज्ञान की उत्पत्ति में कोई दूसरा ज्ञान करण हुआ करता है उसको 'परोक्ष-ज्ञान' कहा जाता है। जैसे—अनुमिति में 'व्याप्ति-ज्ञान', उपमिति में 'सादृश्य-ज्ञान'

तथा शाब्दबोध में 'पदज्ञान' करण हुआ करते हैं। इन सभी ज्ञानों में दूसरा 'ज्ञान' करण के रूप में विद्यमान है। अतएव इन तीनों प्रकार के ज्ञानों को 'परोक्ष' ही कहा जायगा। 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' में तो कोई अन्य ज्ञान 'करण' नहीं हुआ करता है। प्रत्यक्ष-ज्ञान में तो 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' ही करण-रूप में प्रयुक्त हुआ करता है। अतः "प्रत्यक्ष-ज्ञान" 'अपरोक्ष-ज्ञान' कहा जाता है। इसका लक्षण ही है:—"ज्ञानकरणकान्यत्वमपरोक्षत्वम्" अर्थात् ज्ञानकरणक-ज्ञान से भिन्न ज्ञान को 'अपरोक्ष'-ज्ञान कहा जाता है। निर्विकल्पक-ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले सभी विद्वान् उसको केवल प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष मानते हैं। किन्तु जैन-परम्परा में जिसने 'निर्विकल्पक-ज्ञान' की सत्ता को "दर्शन" नाम से व्यवहृत किया है, इस 'दर्शन' को 'परोक्ष' माना है। क्योंकि उनके यहाँ परोक्ष 'मतिज्ञान' को भी साव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

४—शाङ्कर-वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक-ज्ञान—

शाङ्कर-वेदान्त में इस बारे में एक नवीन मत उपलब्ध होता है। कोई भी अन्यदर्शन 'प्रत्यक्ष' के अतिरिक्त [अलावा] अनुमान आदि अन्य किसी प्रमाण द्वारा 'अपरोक्ष-ज्ञान' अथवा 'निर्विकल्पक-ज्ञान' की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु शाङ्कर-वेदान्त में 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्य द्वारा 'अपरोक्ष निर्विकल्पक-ज्ञान' की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है। इसके प्रतिपादन में 'दशमस्त्वमसि' यह लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कोई व्यक्ति अपने साथियों की गणना करता है। उसके द्वारा एक से प्रारम्भ कर नौ तक के प्रत्येक व्यक्ति की गणना कर ली जाती है किन्तु वह अपने दशम साथी को नहीं जान पाता है। तब उसे कोई अन्य व्यक्ति निर्देश करता है कि दशम व्यक्ति तो तुम ही हो "दशमः त्वं असि"। इस वाक्य का श्रवण कर गणना करने वाले उस व्यक्ति को दशम-व्यक्ति के रूप में स्वयं अपना 'अपरोक्षज्ञान' होता है। इस ही भाँति "तत्वमसि" इत्यादि महावाक्यों द्वारा भी शब्दप्रमाण के माध्यम से 'अपरोक्ष-निर्विकल्पक ज्ञान' का हो होना संभव है। इस भाँति शाङ्करवेदान्त में शब्द-प्रमाण को भी 'अपरोक्ष-निर्विकल्पक' ज्ञान की उत्पत्ति में कारण रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शाङ्करवेदान्त में भी 'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक' दो प्रकार के प्रत्यक्ष का वर्णन उपलब्ध होता है। इनके अनुसार 'सविकल्पक-ज्ञान' का लक्षण है :—

"ज्ञातृज्ञेयभेदादिसहितं ज्ञानं सविकल्पकम्"

अर्थात् ज्ञाता तथा ज्ञेय [जाना जाने योग्य 'अर्थ' (विषय-पदार्थ, वस्तु आदि)] इत्यादि के भेद से युक्त ज्ञान ही 'सविकल्पक-ज्ञान' कहलाता है।

तथा ज्ञाता और ज्ञेय आदि के भेद से रहित ब्रह्म के साथ एक्य (एकता) का सम्पादन कराने वाला, अखण्ड रूप में विद्यमान, विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध से रहित ज्ञान ही 'निर्विकल्पक-ज्ञान' कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार परमार्थरूप में सत् केवल 'ब्रह्म' ही 'निर्विकल्पक-ज्ञान का विषय होता है। निर्विकल्पक-ज्ञान वस्तुतः सत्य की साक्षात्कारक- अनुभूति की चरम-सीमा है। इस अनुभूति की प्राप्ति निर्विकल्पक-समाधि में ही होती है।

'निर्विकल्पक-ज्ञान' सम्बन्धी प्रामाण्य अप्रामाण्य विषयक दो प्रकार का न्याय का मतः—

निर्विकल्पक-ज्ञान के सम्बन्ध में भी नैयायिकों के कई पक्ष हैं। बौद्ध-दर्शन ने तो केवल 'निर्विकल्पक' को ही प्रत्यक्ष माना है तथा उनके मतानुसार 'निर्विकल्पक' ही प्रमुखरूप से प्रमाण है। किन्तु न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों ने तो निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों को ही 'प्रमाण' के रूप में स्वीकार किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इनमें भी नव्य-न्याय तथा प्राचीन-न्याय की दृष्टि से कुछ मतभेद की उपलब्धि अवश्य होती है। प्राचीन-न्याय की परम्परा में निर्विकल्पक को 'प्रमा' रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु नव्यन्याय की परम्परा में निर्विकल्पक-ज्ञान सम्बन्धी प्रमात्व के विषय में दो प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं। एक मत के अनुसार—"भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा" [न्यायसिद्धान्तमुक्तावली कारिका १३४ में] भ्रम भिन्न ज्ञान को ही प्रमा कहा गया है। इस परिभाषा के अनुसार भ्रमभिन्न होने के कारण निर्विकल्पक-ज्ञान भी 'प्रमा' की श्रेणी में आ जाता है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि आचार्य विश्वनाथ को 'निर्विकल्पक-ज्ञान' का प्रमात्व स्वीकार है [निर्विकल्पक-ज्ञान के इस लक्षण के साथ तो प्राचीन-न्यायवादियों का भी कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है। तर्कभाषा द्वारा भी इस मत का निरूपण किया गया है।

किन्तु नव्य-न्याय के प्रमुख व्यवस्थापक गङ्गेश उपाध्याय के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को न तो प्रमा की ही श्रेणी में रखा जा सकता है और न अप्रमा की ही श्रेणी में। क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों प्रकारता (विशेषणता) आदि घटित-ज्ञान हैं। निर्विकल्पक-ज्ञान प्रकारता आदि से रहित है। अतः वह प्रमा तथा अप्रमा दोनों से ही व्यतिरिक्त है। इस मत का उल्लेख करते हुये विश्वनाथ ने 'न्यायमुक्तावली' की कारिका १३५–१३६ में लिखा है :—

"अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम्।
तत्प्रमा; न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्॥
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानपवगाहि तत्॥

अर्थात् प्रमात्व तथा अप्रमात्व दोनों ही प्रकारता [विशेषणता] आदि घटित-ज्ञान में रहा करते हैं। निर्विकल्पक-ज्ञान तो प्रकारता आदि रहित हुआ करता है। अतः निर्विकल्पक-ज्ञान को न तो प्रमा ही कहा जा सकता है और न अप्रमा ही। अतएव उसे दोनों से विलक्षण अथवा व्यतिरिक्त ही कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि अनेक दार्शनिकों द्वारा निर्विकल्पक-ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के लक्षणों अथवा स्वरूपों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

अनुमानम्

चार्वाक (अथवा लोकायतिक) मत में केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है। अनुमान आदि को नहीं। अन्य सभी भारतीय-दर्शन के सम्प्रदायों ने 'अनुमान' प्रमाण को स्वीकार किया है। केवल चार्वाक ही 'अनुमान'-प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने नाना प्रकार की युक्तियों के आधार पर 'अनुमान'-प्रमाण का खण्डन किया हैं। अन्य दार्शनिकों द्वारा उनकी इन युक्तियों तथा उनकी मान्यता का खण्डन किया गया है तथा 'अनुमान प्रमाण' की प्रामाणिकता को सिद्ध किया गया है।

[अति संक्षेप में] 'अनुमान प्रमाण' को स्वीकार करने के लिये यह एक युक्ति ही पर्याप्त है कि यदि अनुमान-प्रमाण को स्वीकार नहीं किया जायगा तो अज्ञानी, संशयी तथा भ्रान्त पुरुष को पहचाना जाना भी संभव नहीं होगा। ऐसे अज्ञानी आदि में विद्यमान अज्ञान, संशय तथा मिथ्याज्ञान का पता विद्वानों को नहीं हो सकेगा। जैसे–किसी व्यक्ति को अपने समक्ष रखे हुये घट का ज्ञान नहीं हो रहा है [अज्ञानी का अज्ञान], किसी को—यह घट है अथवा अन्य कुछ है, ऐसा संशय (सन्देह) उत्पन्न हो रहा है [संशयी का संशय] अथवा कोई व्यक्ति पीतल के घट को ही सुवर्ण का घट मान रहा है [भ्रान्त-पुरुष की भ्रान्ति अथवा मिथ्याज्ञान]। इन सभी का ज्ञान विद्वान-पुरुष को विना अनुमान-प्रमाण के न हो सकेगा। रूपरहित होने के कारण अन्य व्यक्ति में विद्यमान अज्ञान आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा हो ना संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में परपुरुषवर्त्ती अज्ञान आदि का ज्ञान उस (व्यक्ति) के तात्पर्य-विशेष अथवा उसके विशिष्ट-वचन रूप-लिङ्ग द्वारा अनुमान प्रमाण से ही करना होगा। अतः चार्वाक मतावलम्बियों को भी 'अनुमान' प्रमाण को

स्वीकार करना ही होगा। इस प्रमुख युक्ति के आधार पर अनुमान-प्रमाण की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है। अतः अब प्रत्यक्ष-प्रमाण के अनन्तर 'अनुमान' प्रमाण का ही कथन किया जाता है।

यहाँ यह एक प्रश्न अवश्य उत्पन्न हो सकता है कि 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के पश्चात् 'अनुमान' का ही वर्णन क्यों किया गया? अन्य उपमान आदि प्रमाण का क्यों नहीं? 'अनुमान' व्याप्ति के आधार पर ही हुआ करता है तथा यह व्याप्ति प्रत्यक्ष के आश्रित हुआ करती है अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही हुआ करता है। अतः अनुमान का भी व्याप्ति की दृष्टि से 'प्रत्यक्ष' के आश्रित होना सिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में अनुमान के प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण प्रत्यक्ष के पश्चात् 'अनुमान' प्रमाण का कथन किया जाना उचित ही है।

इस विवरण से यह भी स्पष्ट होगया कि 'प्रत्यक्ष' के पश्चात् द्वितीय स्थान 'अनुमान-प्रमाण' का ही है। अतः अब 'अनुमान' के सम्बन्ध में विचार करना ठीक ही है। अनुमान शब्द का अर्थ है :—

"मितेनलिङ्गेन अर्थस्य अनु पश्चान्मानमनुमानम्"

[न्यायदर्शनवात्स्यायन-भाष्य—१।१।३]

अर्थात् [प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञात] लिङ्ग द्वारा अर्थ के [अनु—] पश्चात् [पीछे] उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अनुमान' कहा जाता है। 'अनुमान' शब्द की उपर्युक्त निरुक्ति अथवा व्युत्पत्ति द्वारा 'अनुमान' शब्द का स्पष्टीकरण तो अवश्य हो गया है किन्तु 'लिङ्ग' शब्द के बिना समझे इसका पूर्णरूपेण समझ सकना संभव प्रतीत नहीं हो रहा है। अतः 'लिङ्ग' का भी संक्षेप में लक्षण कर देना आवश्यक है :—

"व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्"

अर्थात् व्याप्ति के बल [आधार पर] जो अर्थ का गमक अर्थात् बोधक हुआ करता है। उसी को लिङ्ग नाम से कहा जाता है। इस लक्षण में भी एक नया शब्द आ गया—"व्याप्ति"। अतः इस 'व्याप्ति' के समझने के निमित्त इसका लक्षण कर देना भी आवश्यक है। व्याप्ति का लक्षण है :—

"साहचर्यनियमो व्याप्तिः"

अर्थात् "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" अर्थात् जहाँ जहाँ धुँआ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है; इस साहचर्य-नियम को ही 'व्याप्ति' कहा जाता है।

इस व्याप्ति के बल से जो अर्थ का ज्ञापक हो उसी को "लिङ्ग" कहते हैं। "धूम" अग्नि [वह्नि] का लिङ्ग है। पर्वत आदि स्थलों पर धुँये को

देखकर "जहाँ जहाँ धुँआ हुआ करता है वहाँ वहाँ अग्नि हुआ करती है", इस साहचर्य [साथ साथ रहना] - नियम अथवा व्याप्ति के आधार पर अग्नि [वह्नि] का ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। अनुमान द्वारा प्राप्त हुये इस ज्ञान को "अनुमिति" कहा जाता है। अब इस आधार पर तर्कभाषाकार द्वारा किये गये 'अनुमान' का लक्षण देखिये :—

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। ये न हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

(लिङ्गपरामर्शः) लिङ्गपरामर्श (अनुमानम्) अनुमान कहलाता है (हि) क्योंकि (येन) जिससे (अनुमीयते) अनुमिति [अनु-पश्चात्, मिति [अनु-पश्चात्, मितिः—प्रमितिः—पश्चात् होने वाला ज्ञान] की जाती है (तत्) वह (अनुमानम्) अनुमान कहलाता है। (च) और (लिङ्गपरामर्शेन) लिङ्ग के परामर्श से (अनुमीयते) अनुमिति की जाती है (अतः) अतः (लिङ्गपरामर्शः) लिङ्गपरामर्श को (अनुमानम्) [ही] 'अनुमान' कहा जाता है।

दूर स्थित किसी स्थान पर जब धुआँ दिखलाई पड़ता है तब जहाँ से धुँआ उठ रहा होता है उस स्थान पर अग्नि के विद्यमान होने का ज्ञान हुआ करता है। इस प्रक्रिया में पहले धूम का ज्ञान होता है और उसके पश्चात् अग्नि का। अतः यह स्पष्ट हो गया कि धूम-ज्ञान के पश्चात् ही अग्नि का ज्ञान हुआ है। अतएव धूम-ज्ञान के पश्चात् अग्नि का ज्ञान होने के कारण "अनु पश्चात्—कस्यचिद् ज्ञानानन्तरं जायमाना मितिः ज्ञानम्—अनुमितिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार [अग्नि का ज्ञान ही] 'अनुमिति' है।" येन हि अनुमीयते तदनुमानम्" अर्थात् जिस साधन [करण] के द्वारा 'अनुमिति' हुआ करती है उसे 'अनुमान' कहा जाता है। 'अनुमान' शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण से 'अग्नि का ज्ञान' ही अनुमिति है। अतः इसका करण [साधन] धूमज्ञान हुआ। यही [धूमज्ञान] अनुमान है। तर्कभाषाकार ने "लिङ्ग परामर्शोऽनुमानम्" कहकर लिङ्ग-परामर्श को ही अनुमान माना है। अतः धूमज्ञान ही 'लिङ्गपरामर्श' हुआ। इस धूमज्ञान को 'लिङ्गपरामर्श' के रूप में जानने के लिये 'लिङ्गपरामर्श' को समझ लेना आवश्यक है। 'लिङ्गपरामर्श' में दो अंश हैं। (१) लिङ्ग (२) परामर्श। 'लिङ्ग' की व्युत्पत्ति यह है :—'लीनं अन्तर्हितं अप्रत्यक्षं अर्थं गमयति—बुद्धिविषयां नयति यत् तत् लिङ्गम्"।

अर्थात् जो लीन अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ का ज्ञान कराने वाला होता है उसी को 'लिङ्ग' कहा जाता है। इस लीन अर्थ का ज्ञापन व्याप्ति के बल से

हुआ करता है। अतः 'लिङ्ग' का अर्थ हुआ व्याप्ति के बल से [अप्रत्यक्ष] अर्थ का ज्ञान कराने वाला—"व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्"। जैसे—'धूम' अग्नि का लिङ्ग है। जहाँ धूम हुआ करता है—अर्थात् जिस स्थान पर धूम की उत्पत्ति हुआ करती है उस स्थान पर 'अग्नि' अवश्य रहा करती है। "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः"। धूम में अग्नि के साथ रहने सम्बन्धी नियम को ही 'व्याप्ति' कहा जाता है—"साहचर्यनियमो व्याप्तिः"। जो दो साथ-साथ रहा करते हैं वे 'सहचर' कहलाते हैं तथा उनका साथ-साथ रहना ही साहचर्य कहलाता है—"सहचरयोः भावः साहचर्यम्"। जैसे धूम और अग्नि साथ-साथ रहा करते हैं। अतः ये दोनों 'सहचर' हैं। इन दोनों [धूम और अग्नि] का साथ-साथ रहना ही 'साहचर्य' है। साहचर्य यदि नियमित है तो इसी का नाम 'साहचर्य नियम' है। अर्थात् उक्त साहचर्य का नियम के साथ रहना। 'धूम' कभी भी अग्नि के बिना नहीं रहा करता है, इस प्रकार का नियम है। यही व्याप्ति का स्वरूप है। इस व्याप्ति को 'अविनाभाव सम्बन्ध' भी कहा जाता है। जो किसी का 'अविनाभावी' हुआ करता है अर्थात् उसके बिना नहीं रहा करता है—["विना न भवति"] वह 'व्याप्त' कहलाता है। जैसे धूम कभी भी अग्नि के बिना अथवा अग्नि के अभाव में नहीं रहा करता है। अतः 'धूम' 'व्याप्त' है तथा 'अग्नि' उसकी 'व्यापक' है। इन दोनों का साहचर्य नियमतः निश्चित है। अतः यही व्याप्ति है। ऐसी व्याप्ति की सामर्थ्य (बल) से अथवा व्याप्ति के निश्चितरूप से ग्रहण अथवा स्मरण द्वारा 'धूम' अग्नि का ज्ञान कराने वाला हुआ करता है। अतः व्याप्ति की सामर्थ्य से अग्नि का अनुमापक [अर्थात् अनुमान द्वारा ज्ञान कराने वाला] होने के कारण 'धूम' ही अग्नि का 'लिङ्ग' कहलाता है।

अब अनुमान के लक्षण 'लिङ्गपरामर्श' के द्वितीय अंश 'परामर्श' के बारे में भी संक्षेप में कुछ कह देना आवश्यक है। ऊपर वर्णित 'लिङ्ग' के तृतीय-ज्ञान को ही 'परामर्श' कहा जाता है। रसोईघर में बार बार धूम तथा अग्नि के साहचर्य को [भूयः साहचर्य दर्शन] देखकर उन [धूम और अग्नि] के स्वाभाविक-सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का निश्चय हो जाया करता है। यह सब मिलकर 'धूम' का प्रथम-दर्शन कहा जायगा। अथवा धूम और अग्नि की इस व्याप्ति को ही 'प्रथम लिङ्गदर्शन' कहा जायगा। इस व्याप्ति-ग्रहण के पश्चात् जो पर्वत आदि स्थलों पर धूम का दर्शन होता है वही 'द्वितीय लिङ्ग दर्शन' कहा जायगा। इस द्वितीय लिङ्ग (धूम) दर्शन से पूर्वगृहीत धूम तथा अग्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है। इस व्याप्ति के स्मरण के अनन्तर

"बह्निव्याप्य धूमवांश्चायं पर्वतः" [अर्थात् अग्नि से व्याप्त धूम से युक्त यह पर्वत है] इस प्रकार की प्रतीति होती है। यही लिङ्ग (धूम) का तृतीय-ज्ञान है। लिङ्ग के इस तृतीय-ज्ञान को ही लिङ्ग का परामर्श अथवा "परामर्श" कहा जाता है। अतः लिङ्गपरामर्श का अर्थ हुआ—व्याप्ति के स्मरण के साथ लिङ्ग का दर्शन।

लिङ्ग का यह तृतीय-ज्ञान [लिङ्गपरामर्श] ही अनुमिति [अनुमान से प्राप्त होने वाले ज्ञान] के प्रति करण हुआ करता है। अतएव इसी का नाम 'अनुमान' है।

उपर्युक्त तृतीय ज्ञान के पश्चात् "तस्मात् पर्वतो वह्निमान्" [इसलिये पर्वत अग्नि से युक्त है।] यह 'अनुमिति' हुआ करती है। अतः बह्निव्याप्य-धूमवांस्चायं पर्वतः" [अर्थात् धूमरूप लिङ्ग से युक्त अग्नि से व्याप्त यह पर्वत है।] यह 'तृतीय-ज्ञान' ही अग्नि के ज्ञान के प्रति 'करण' है तथा इसी को 'अनुमान' कहा जाता है।

तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणत्वात्। अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

किं पुनर्लिङ्गं कश्च तस्य परामर्शः ?

उच्यते। व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्। यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्। तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति। अतोव्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्।

तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तथाहि प्रथम तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् बह्निं पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्राग्निरिति।

(च) और (धूमाग्निज्ञानम्) धूम आदि का ज्ञान ही (अनुमितिं प्रति) अनुमान द्वारा प्राप्त हुये ज्ञान के प्रति (करणत्वात्) करण होने से (तत्) वह अर्थात् लिङ्गपरामर्श है। (अग्न्यादिज्ञानम्) अग्नि आदि का ज्ञान (अनुमितिः) अनुमिति है। (तत्करणम्) उसका करण (धूमादिज्ञानम्) धूम आदि का ज्ञान है। [अतएव धूम आदि का ज्ञान ही अग्नि आदि के ज्ञान का कारण होने से 'अनुमान' है।]

[प्रश्न—] (पुनः) फिर (लिङ्गम्) लिङ्ग (किम्) क्या है अर्थात् लिङ्ग किसको कहते हैं ? (च) और (तस्य) उस [लिङ्ग] का (परामर्शः) परामर्श (कः) क्या है ?

[उत्तर-] (उच्यते) कहते हैं। (व्याप्तिबलेन) व्याप्ति के बल से (अर्थगमकम्) [जो] अर्थ का ज्ञान [बोध] कराने वाला [होता है उसी को (लिङ्गम्) लिङ्ग कहा जाता है। (यथा) जैसे (धूमः) धुँआ (अग्नेः) अग्नि का (लिङ्गम्) लिङ्ग है। (तथाहि) क्योंकि (यत्र) जहाँ (धूमः) धूँआ होता है (तत्र) वहाँ (अग्निः) अग्नि होती है (इति) इस प्रकार का (साहचर्य नियमः) साहचर्य का नियम (व्याप्तिः) व्याप्ति कहलाता है। (तस्यां गृहीतायां एव) इस [व्याप्ति] के ग्रहण होने पर ही (धूमः) धूम अग्नि का (गमयति) बोध [ज्ञान] कराता है। (अतः) इसलिये (व्याप्तिबलेन) व्याप्ति में बल से (अग्नि-अनुमापकत्वात्) अग्नि का अनुमापक होने के कारण (धूमः) धूम (अग्नेः) अग्नि का (लिङ्गम्) लिङ्ग होता है। (तस्य) उस [धूम रूप लिङ्ग] का (तृतीयं ज्ञानम्) तृतीयज्ञान (परामर्शः) परामर्श कहलाता है। (तथाहि) जैसे कि (प्रथमम्) पहले (तावत्) तो (महानस-आदौ) रसोई-घर आदि में (भूयः भूयः) [कोई व्यक्ति] बार-बार (धूमम्) धूम को (पश्यन्) देखता हुआ (वह्निम्) अग्नि को (पश्यति) देखता है [अर्थात् वह व्यक्ति धूम और अग्नि के इस साथ-साथ होने को अनेक बार देखता है।] (तेन) उस (भूयः) बार-बार के (दर्शनेन) दर्शन से (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि के (स्वाभाविकम्) स्वाभाविक (सम्बन्धम्) सम्बन्ध [व्याप्ति] को (अवधारयति) निश्चय करता है कि (यत्र) जहाँ (धूमः) धूम होता है (तत्र) वहाँ (अग्निः) अग्नि होती है [इस भाँति धूम और अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करता है]।

'अनुमान' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। एक तो 'अनुमान-प्रमाण' अर्थ में—जैसा कि "लिङ्ग परामर्शोऽनुमानम्" में अनुमान शब्द 'अनुमानप्रमाण' के अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरा अर्थ है—अनुमान प्रमाण के उत्पन्न होने वाला ज्ञान अथवा प्रमा जिसे 'अनुमिति' कहा जाता है। जैसे न्यायदर्शन के सूत्र १-१-५ में—"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्" में अनुमान शब्द 'अनुमिति' अर्थ में प्रयुक्त है। अनुमिति का अर्थ है—अनुमान प्रमाण द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान। इसी को न्यायदर्शन में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"मितेन लिङ्गेन अर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्" न्यायद० भा० १।१।३॥ तथा—"अनुमानमनुमितिः" न्या० वृ० १।१।३॥ यद्यपि 'अनुमान' शब्द से ये दोनों ही अर्थ निकलते हैं किन्तु फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'अनुमान' शब्द प्रायः अनुमान-प्रमाण के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है तथा उस अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के लिये अनुमिति शब्द का प्रयोग किया

जाता है। इसी आधार पर अनुमान-प्रमाण के वाचक 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति "अनुमीयतेऽनेनेति" की जाती है—अर्थात् जिसके द्वारा अनुमिति की जाती है। इसी को तर्कभाषाकार श्री केशव मिश्र ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है:—

"येन हि अनुमीयते तद् अनुमानम्"

'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'माङ्-माने" धातु से करण अर्थ में ल्युट् [यु = अन] प्रत्यय होकर 'अनुमान' शब्द बनता है। इसमें 'अनु' का अर्थ होता है—'पश्चात्' तथा 'मान' का अर्थ होता है ज्ञान अथवा प्रमाण। इस 'अनुमान' प्रमाण की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष अथवा आगम के पश्चात् हुआ करती है, अतः इसको 'अनुमान' कहा जाता है [प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्—न्याय भा० १।१।१॥] 'अनुमीयते' से अनुमिति का अर्थ लिया जाता है [अर्थात् यह अनुमिति जिसके द्वारा हुआ करती उसी को अनुमान कहा जाता है]। अनुमान-प्रमाण का फल 'अनुमिति' है। यही अनुमान प्रमाण से उत्पन्न प्रमा अथवा ज्ञान है। यह फल अथवा ज्ञान जिस साधन अथवा करण के द्वारा प्राप्त होता है उसी का नाम 'अनुमान' है। लिङ्गपरामर्श द्वारा [लिङ्गपरामर्शेन] ही यह अनुमिति (अनुमीयते) हुआ करती है। अतः लिङ्गपरामर्श को ही अनुमान कहा गया है ["लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्"]।

अब उपर्युक्त अनुमिति और उसके 'करण' [साधन] का उदाहरण देखिये। कोई व्यक्ति पर्वत में से निकलते हुये धुँये को देखता है। धुँये के ज्ञानरूपी करण के द्वारा उसे पर्वत में अग्नि के हो जाने का ज्ञान हो जाता है। इस उदाहरण में पर्वत में 'अग्नि का ज्ञान' ही अनुमिति है। इसका 'करण' है 'धूम-ज्ञान' है। यही 'लिङ्गपरामर्श' है। अतएव यह [लिङ्गपरामर्श] ही 'अनुमान-प्रमाण' है।

अब 'लिङ्गपरामर्श' किसे कहते हैं ? इस पर विचार किया जायगा। इस 'लिङ्गपरामर्श' के दो अंश हैं (१) लिङ्ग और (२) परामर्श। लिङ्ग तथा परामर्श दोनों ही का सूक्ष्मविवेचन किया जा चुका है। अब उन्हीं को स्पष्ट करना है :—

'लिङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति है—"लीनमर्थं गमयति इति लिङ्गम्"। जो लीन अर्थात् परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध कराता है उसे 'लिङ्ग' कहते हैं। लिङ्ग का लक्षण है—"व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्" अर्थात् व्याप्ति की सामर्थ्य से अर्थ का बोधक 'लिङ्ग' हुआ करता है। इस लक्षण में "व्याप्ति की सामर्थ्य" का अभिप्राय है—व्याप्ति का निश्चय अर्थात् ग्रहण

और स्मरण। अतः अब 'लिङ्ग' का पूर्ण लक्षण यह हुआ—व्याप्ति का ग्रहण तथा स्मरण किये जाने पर जो परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अर्थ [विषय] का बोध [ज्ञान] कराता है उसी का नाम 'लिंग' है। इसी को 'हेतु' भी कहा जाता है। यह हेतु परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अर्थ का ज्ञापक (बोधक) हुआ करता है। पर्वत आदि में धुँये को निकलता देखकर कोई व्यक्ति सोचता है कि यहाँ अग्नि अवश्य होगी। अग्नि उसको प्रत्यक्षरूप से दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। केवल धुँआ ही दिखलाई पड़ रहा है। किन्तु जब उसे धूम का अग्नि के साथ व्याप्ति का ग्रहण और स्मरण हो आता है तो उस आधार पर वह पर्वत के उस स्थल पर, कि जहाँ से धुँआ निकलता हुआ दिखलाई पड़ रहा है, अग्नि के होने का निश्चय कर लेता है। अतः पर्वत आदि स्थल पर धूम, परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान कराने वाला हुआ करता है। अतएव धूम अग्नि का लिङ्ग हुआ। तथा पर्वत में 'अग्नि है' यह अनुमिति हुई।

"जहाँ जहाँ धूम हुआ करता है वहाँ वहाँ अग्नि भी हुआ करती है।" इस प्रकार के धूम तथा अग्नि के साथ साथ रहने को 'साहचर्य' कहा जाता है [धूम और अग्नि—ये दोनों साथ साथ रहा करते हैं। अतएव ये दोनों सहचर हुए। इन दोनों का साथ साथ रहना ही इन दोनों का साहचर्य है]। 'साहचर्य नियम' का अर्थ है—दोनों का नियमपूर्वक साथ साथ रहना [धूम कभी भी अग्नि के विना नहीं रहा करता है। यही नियम हैं।] अतएव यह साहचर्य-नियम ही 'व्याप्ति' कहलाता है।

जो किसी के विना नहीं रहा करता है उसे 'व्याप्त' कहा जाता है। व्याप्त जिसमें रहा करता है उसे 'व्यापक' कहते हैं। धूम कहीं भी अग्नि के विना नहीं रहा करता है। अतएव धूम व्याप्त है और अग्नि व्यापक। इन दोनों का 'नियत साहचर्य' ही व्याप्ति है। इस प्रकार की व्याप्ति के निश्चय (ग्रहण) तथा स्मरण द्वारा धूम अग्नि का ज्ञान कराने वाला होता है। अतः वह धूम ही अग्नि का 'लिङ्ग' कहलाता है। इस भाँति उपर्युक्त लक्षण स्पष्ट हो जाता है कि जो व्याप्ति के बल से किसी अर्थ का ज्ञापक हुआ करता है वही 'लिङ्ग' कहलाता है।

इस विवेचित लिङ्ग' के 'परामर्श' को ही 'अनुमान' कहा गया है। उक्त 'लिङ्ग' के तृतीय-ज्ञान को परामर्श कहते हैं [तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः] 'तृतीय-ज्ञान' कहने से यह ज्ञात होता है कि अनुमान की प्रक्रिया में 'लिङ्ग'

का ज्ञान तीन बार हुआ करता है। रसोई आदि स्थलों पर बार-बार धूम और अग्नि को साथ साथ देखकर धूम और अग्नि के साहचर्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। साहचर्य के इस नियम का ही नाम व्याप्ति है। अतः इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय कर लेना ही 'प्रथम लिङ्गदर्शन' हैं। पुनः पर्वत आदि स्थलों पर धुँये को निकलता हुआ देखना ही 'द्वितीय लिङ्गदर्शन' है। धूम तथा अग्नि का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है। अर्थात् धूमव्याप्य और अग्नि व्यापक है। इस प्रकार धूम और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है और उस समय पर्वत के स्थल पर विद्यमान व्यक्ति को यह ज्ञान प्राप्त होता है कि "वह्निव्याप्य धूमवाँश्चायं पर्वतः" अर्थात् अग्नि से व्याप्त धूम पर्वत में हैं"। इसी को 'धूम' का 'तृतीय लिङ्गदर्शन' कहा जाता है। यही लिङ्ग का तृतीय ज्ञान है। अतएव यही 'लिङ्गपरामर्श' है। इस तृतीय ज्ञान के पश्चात् "तस्मात् पर्वतो वह्निमान्" अर्थात् पर्वत अग्नि से युक्त है, यह अनुमिति हो जाती है। अतः "वह्निव्याप्यधूमवाँश्चायं पर्वतः" यह तृतीय ज्ञान ही पर्वत में अग्नि की अनुमिति [अनुमानप्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान] का करण है अतः इस तृतीय ज्ञान का ही नाम 'अनुमान' है।

इस तृतीय ज्ञान के दो अंश हैं। प्रथम अंश व्याप्ति का सूचक है और द्वितीय पक्षधर्मता का। "वह्निव्याप्य" इतने अंश से व्याप्ति सूचित होती है तथा 'धूमवांश्चायं पर्वतः' से पक्षधर्मता का ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् [इस द्वितीय अंश में] धूम की पर्वतरूप पक्ष में अस्तित्व की प्रतीति होती है। यही पक्ष धर्मता है। अतएव "वह्निव्याप्य धूमवांश्चायं पर्वतः" इस तृतीय-ज्ञान में उपर्युक्त दोनों अंश विद्यमान हैं। इस तृतीय-ज्ञान को ही अनुमान कहा गया है। अतएव 'अनुमान' के भी उपर्युक्त दोनों [व्याप्ति तथा पक्ष-धर्मता] अंश हुये। उपर्युक्त दोनों अंशों से विशिष्ट तृतीय-ज्ञान को व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान" भी कहा जा सकता है। अतएव "व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः" तथा लिङ्गस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः" इन दोनों को ही 'परामर्श' का लक्षण कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि लिङ्ग का तृतीय ज्ञान ही परामर्श है। तथा लिङ्ग के इस परामर्श को ही अनुमान कहा गया है— "लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्"। अतएव लिङ्ग का तृतीय ज्ञान अथवा 'व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' रूप परामर्श ही 'अनुमान' का स्वरूप या लक्षण हुआ।

अब यहाँ पर यह शंका उपस्थित होती है कि "बार-बार के सहचार-दर्शन से धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय हो

जाया करता है।" आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि बार-बार के सह-चारदर्शन से स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय हो ही जाता हो, ऐसा नहीं है। जैसे—"यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः" यह तो स्वाभाविक सम्बन्ध है और इसकी व्याप्ति भी ठीक है किन्तु यदि इसको उलटकर कहा जाय कि "यत्र-यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः" अर्थात् जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम है तो इनका बार-बार दर्शन होने पर भी यह स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति नहीं हो सकेगा। क्योंकि यदि लोहे के एक गोले को गरम कर दिया जाय तो उसमें अग्नि की विद्यमानता तो होगी किन्तु वहाँ धूम नहीं होगा। अतः "यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः" में अग्नि और धूम का स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) नहीं होगा। इसके स्थान पर इन दोनों का "औपाधिक-सम्बन्ध" ही होगा। इस स्थान पर "आर्द्र-इन्धन-संयोग" ही उपाधि है।

उपाधि का लक्षण—"साध्यव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वमुपाधिः" अर्थात् जो धर्म साध्य में तो व्यापक हो किन्तु साधन में व्यापक न हो उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति यह अनुमान बनाये कि "अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः" अर्थात् लोहे का गोला धूमवान् [धूम से युक्त] है अग्नि से युक्त होने से। इस अनुमान में धूम [का होना] 'साध्य' है और 'वह्नि' साधन है तथा 'आर्द्रेन्धनसंयोग' यहाँ उपाधि है। साध्य 'धूम' में आर्द्रेन्धनससंयोग रूप धर्मव्यापक है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धन-संयोग अवश्य होता है। यह साध्यव्यापकत्व हुआ। किन्तु यह 'आर्द्रेन्धन-संयोग' साधनभूत धर्म वह्नि में व्यापक नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ जहाँ अग्नि हो वहाँ वहाँ आर्द्र-इन्धनसंयोग हो, यह आवश्यक नहीं है। जैसे अयोगोलक (लोहे का गोला) में अग्नि तो विद्यमान है किन्तु वहाँ आर्द्र-इन्धनसंयोग नहीं है। इसी को 'साधनाव्यापकत्व' कहा जाता है। इस भाँति 'आर्द्रेन्धनसंयोग' में 'साध्यव्यापकत्व' तथा 'साधनाव्यापकत्व—ये दोनों ही अंश विद्यमान रहने से उसमें उपाधि का लक्षण पूर्णतया घट जाता है। अतः पूर्वोक्त हेतु (साधन) "वह्नि" 'उपाधि' से युक्त हुआ। इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि "यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः" यह सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं हैं, औपाधिक ही है।

उपर्युक्त (उपाधि-सम्बन्धी) विवरण को और अधिक स्पष्टरूप में इस प्रकार से कहा जा सकता है कि "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" अर्थात् "जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है इस प्रकार के सम्बन्ध अथवा कथन में

"भूयः सहचारादर्शन" [धूम और अग्नि का बार-बार देखा जाना] होता है। रसोई आदि स्थलों में यह सहचारदर्शन प्रतिदिन देखा जाता है। अतः धूम में अग्नि के भूयः सहचारदर्शन से धूम में अग्नि के उपाधिरहित सम्बन्ध रूप व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु अग्नि में धूम के सहचार के भूयोदर्शन से अग्नि में धूम के उपाधिरहित सम्बन्धरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। कारण यह है कि अग्नि में धुँयें का जो सम्बन्ध होता है वह तो गीले ईंधन के संयोग [आर्द्रेन्धनसंयोग] रूपी उपाधि से हुआ करता है। अतः अग्नि में धुँयें का यह सम्बन्ध सोपाधिक ही है उपाधिरहित नहीं। क्योंकि धूम का यह होना केवल अग्नि के होने पर ही आधारित नहीं है किन्तु अग्नि के साथ गीली लकड़ियों के संयोग पर ही आधारित है। यदि केवल अग्नि के होने मात्र से ही 'धूम' होता तो लोहे के गोले को अग्नि में तपा देने से लोहे के उस गोले से भी धुँयें को निकलना चाहिये था क्योंकि लोहे के उस गोले मे अग्नि तो है ही किन्तु वहाँ धुँआ नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध 'स्वाभाविक सम्बन्ध' नहीं है अपितु उपाधि [आर्द्र-इन्धन-संयोग] से युक्त ही है। तथा यह गीली लकड़ियों का संयोग प्रत्यक्ष द्रष्टव्य भी है।

उपाधियुक्त [सोपाधिक] सम्बन्ध का द्वितीय उदाहरण यह है कि कोई 'मैत्री नाम की 'स्त्री' है। उसके पाँच पुत्र हैं। जिनमें से चार को किसी व्यक्ति ने देखा है, पाँचवें को नहीं देखा है। देखे गये हुये चारों पुत्र श्याम [कृष्ण] वर्ण के हैं। जिस पंचमपुत्र को उस व्यक्ति ने नहीं देखा है वह गौरवर्ण का है। अतः वह व्यक्ति पहले देखे गये चारों पुत्रों के आधार पर चारो पुत्रों में श्यामत्व का 'भूयः सहचारदर्शन' करता है और उसके आधार पर मैत्रीतनयत्व [मैत्री के पुत्रत्व का] का तथा श्यामत्व का 'स्वाभाविक सम्बन्ध' अथवा व्याप्ति मानकर उस न देखे गये हुये पंचमपुत्र में भी श्यामत्व [काला होने का] अनुमान ["सः (वह पाचवाँ पुत्र) श्यामः मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमान मैत्रीतनयस्तोमवत्"] कर सकता है। यहाँ पर 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु (साधन) 'श्यामत्व' की सिद्धि के निमित्त दिया गया है। किन्तु यह हेतु 'उपाधि' सहित ही है उपाधिरहित नहीं। इस हेतु में 'शाकपाकजन्यत्व' रूप उपाधि विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि 'श्यामत्व' का प्रयोजक' 'मैत्रीतनयत्व' न होकर 'शाक-पाक-जन्यत्व' नही है। इस प्रयोजक का ही नाम 'उपाधि' है। पूर्व कथित [साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्) उपाधि का लक्षण इस 'शाक-पाक' जन्यत्व' में भी पूर्णरूपेण घट जाता है। इस स्थल पर साध्य है—'श्यामत्व-

तथा साधन है "मैत्रीतनयत्व" ॥ "यत्र यत्र श्यामत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वम्" इस रूप में 'शाकपाकजन्यत्व' साध्यरूप श्यामत्व का व्यापक हुआ।

[शाकपाकजन्यत्व का स्पष्टीकरण—बच्चे का गोरा अथवा काला होना माता के आहार (भोजन) पर निर्भर हुआ करता है। यदि गर्भ के समय माता द्वारा दुग्ध आदि पदार्थों का सेवन अधिक किया जाता है तो बच्चा गौरवर्ण का हुआ करता है किन्तु यदि गर्भकाल में माता द्वारा हरे शाक आदि का सेवन अधिक किया जाता है तो बच्चा श्याम [काला] वर्ण का हुआ करता है। इससे स्पष्ट है कि श्यामत्व [काला होना] का प्रयोजक अथवा कारण 'शाकपाकजन्यत्व' ही है 'मैत्रीतनयत्व' नहीं। जहाँ जहाँ 'शाक-पाक-जन्यत्व' हुआ करता है वहाँ वहाँ श्यामत्व अवश्य हुआ करता है। यह 'साध्यव्यापकत्व' हुआ।]

किन्तु जहाँ जहाँ 'मैत्रीतनयत्व' (साधन-हेतु) हो वहाँ वहाँ 'शाकपाकजन्यत्व' अवश्य हो, यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि माता गर्भकाल में शाकादि का सेवन न कर दुग्ध आदि का ही सेवन करती हो, यह भी संभव है। अतः 'साधन' [मैत्रीतनयत्व] में 'शाकपाकजन्यत्व' रूप उपाधि का होना आवश्यक नहीं है अथवा "यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वम्" यह आवश्यक नहीं है। अतः यह 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि का साधन में अव्यापकत्व अर्थात् 'साधनाव्यापकत्व' हुआ। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि "मैत्रीतनयत्व' और 'श्यामत्व' का सम्बन्ध उपाधि सहित है उपाधि-रहित नहीं तथा यहाँ "शाकपाकजन्यत्व" ही 'उपाधि' है। यह उपाधि प्रत्यक्ष के योग्य भी है।

उक्त विवरण से यह भी सिद्ध हो गया कि "भूयःसहचार दर्शन" से स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का निश्चय हो जाता है किन्तु जहाँ एक भी स्थल पर उनके सहचार का अभाव अथवा 'व्यभिचार' का ग्रहण हो जाता है वहाँ वह 'भूयः सहचारदर्शन' भी निरर्थक हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में उक्त 'भूयः सहचार दर्शन' उनके स्वाभाविक-सम्बन्ध का ज्ञान भी नहीं करा सकता है। अतः केवल "भूयः सहचार दर्शन को ही 'व्याप्ति का ग्राहक नहीं मानना चाहिये। उस (भूयः सहचार दर्शन) के साथ 'व्यभिचार' का अदर्शन (न होना) भी आवश्यक है। अतः इसको इस भाँति कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'व्यभिचारादर्शनसहकृत भूयः सहचारदर्शन' ही व्याप्ति अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्राहक होता है। क्योंकि 'भूयः सहचारदर्शन' की विद्यमानता होते हुये होने पर भी मैत्रीतनयत्व तथा श्यामत्व उपाधि युक्त

स्थल पर व्यभिचार-दर्शन हो जाने के कारण व्याप्ति अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती है। अतः 'मैत्रीतनयत्व' तथा 'श्यामत्व' का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। इसी की विवेचना करते हैं:—

यद्यपि यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः, किन्त्वौपाधिक एवं। शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्।

तथा हि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणति-भेद एवं प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।

(यद्यपि) यद्यपि (यत्र यत्र) जहाँ-जहाँ (मैत्रीतनयत्वम्) मैत्रीतनयत्व [मैत्री का पुत्र होना] है (तत्र तत्र) वहाँ-वहाँ (श्यामत्वं अपि) श्यामत्व भी है (इति) इस प्रकार [धूम और वह्नि के भूयः सहचार दर्शन के समान ही मैत्री के चार पुत्रों में 'मैत्रीतनयत्व' और 'श्यामत्व' का भूयः सहचार-दर्शन] (भूयः दर्शनम्) भूयः सहचार का देखा जाना (समानम्) समानरूप से (अवगम्यते) प्रतीत होता है अथवा जाना जाता है, (तथापि) फिर भी मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोः मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का (स्वाभाविकः) स्वाभाविक (सम्बन्धः) सम्बन्ध (न) नहीं है (किन्तु) अपितु (औपाधिक) औपाधिक सम्बन्ध (एव) ही है। (शाकाद्यन्नपरिणामस्य) शाक आदि अन्न परिणाम रूप (उपाधेः) उपाधि के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से।

(तथाहि) क्योंकि (श्यामत्वे) [पुत्रों की] श्यामता [काला होने] में (मैत्रीतनयत्वम्) मैत्री का पुत्र होना (प्रयोजकम्) प्रयोजक [निमित्त अथवा कारण] (न) नहीं है (किन्तु) किन्तु (शाक आदि अन्नपरिणति-भेदः) शाक आदि खाद्य पदार्थों का परिपाकविशेष (एव) ही [श्यामता में प्रयोजक] है। (च) और (प्रयोजकः) प्रयोजक (उपाधिः) ही उपाधि है (इति) ऐसा (उच्यते) कहा जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति ने मैत्री नामक किसी स्त्री के प्रारम्भिक चार पुत्रों को देखा था कि जो सभी कृष्णवर्ण के थे। उसके पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि अब मैत्री के पंचम पुत्र उत्पन्न हुआ है। उसने उसको बिना देखे ही कह दिया कि "यह [पंचम] पुत्र श्याम है मैत्री का पुत्र होने से।" किन्तु उसका यह कथन ठीक नहीं था क्योंकि यह पंचमपुत्र तो गौर वर्ण का था। अतः यह कहा जाना कि 'भूयः सहचारदर्शन' से स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय होता है, उचित नहीं है।

इस शङ्का के उत्पन्न होने पर इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि केवल 'भूयः सहचारदर्शन' से ही स्वाभाविक-सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का निश्चय नहीं हुआ करता है। उसके निश्चय के लिये भूयः सहचार दर्शन के अतिरिक्त किसी प्रकार की उपाधि का भी वहाँ अभाव होना आवश्यक है। "यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वं" में यही दोष है कि यहाँ उपाधि का अभाव नहीं है। 'उपाधि' से अभिप्राय है निमित्त अथवा कारण का। उक्त स्थल पर मैत्री के पहले चार पुत्रों के गर्भ-काल में माता [मैत्री] ने हरे शाक आदि का अधिक उपयोग किया होगा। उसी के कारण वे सब कृष्णवर्ण के हो गये। मैत्री नामक स्त्री का पुत्र होना उनकी श्यामता का कारण अथवा निमित्त नहीं है। अतः यहाँ मैत्रीतनयत्व तथा श्यामत्व के सम्बन्ध में "शाकपाकजन्यत्व" उपाधि का होना निश्चित है। अतः इसे स्वाभाविक-सम्बन्ध न कहकर, औपाधिक सम्बन्ध ही कहा जायगा।

'उपाधि" शब्द का अर्थ है प्रयोजक अथवा निमित्त। इसकी व्युत्पत्ति है :—

"उप समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्मम्—इत्युपाधिः"
[न्या० को०]।

अर्थात् जो स्वकीय धर्म को अपने समीपवर्त्ती में संक्रान्त कर दिया करती है उसी को 'उपाधि' कहते हैं। उदाहरण के लिये 'जपाकुसुम' और स्फटिक मणि को ही ले लीजिये। स्फटिकमणि श्वेतवर्ण की होती है तथा जपाकुसुम लाल होता है। जपाकुसुम अपने समीप में स्थित स्फटिकमणि में अपनी लालिमा को संक्रान्त कर देता है तथा 'स्फटिकमणि' लाल है इस प्रकार के व्यवहार का प्रयोजक होता है। अतः यहाँ 'जपाकुसुम' स्फटिकमणि में भासित होने वाली लालिमा का प्रयोजक अथवा 'उपाधि' कहलाता है। इसी भाँति 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि भी अपनी व्याप्ति को अन्य में संक्रान्त कर देती है। "यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्" इस स्थल पर "शाकपाकजन्यत्व' उपाधि है। "यत्र यत्र शाकपाकजन्यत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्" वास्तविक व्याप्ति तो यह है किन्तु इस व्याप्ति का "मैत्रीतनयत्व" में संक्रमण कर लिया जाता है। अतः यहाँ पर 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि का होना ठीक ही है। उपाधि के लक्षण—["साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्" उपाधिः"] के अनुसार भी "शाकपाकजन्यत्व' उपाधि का होना पहले सिद्ध किया ही जा चुका है। अतएव उपाधि की व्युत्पत्ति' तथा लक्षण—दोनों ही दृष्टियों से "शाकपाकजन्यत्व" का उपाधि होना स्पष्ट ही है।

धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि है वा नहीं ? अब इसके बारे में विचार करते हुये कहते हैं :—

न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति । अस्ति चेत्, योग्योऽयोग्यो वा ? अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्, योगस्य चानुपलभ्यमानत्वात् । यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते । यथाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः । हिंसात्वस्य चाधर्मसाधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः । मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः ।

(च) और (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि के (सम्बन्धे) सम्बन्ध में (कश्चित्) कोई (उपाधिः) (न) नहीं (अस्ति) है । [अतः उनका सम्बन्ध स्वाभाविक-सम्बन्ध अथवा व्याप्ति है । अगर यह कहा जाय कि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में भी कोई उपाधि है तो फिर यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि—] (चेत्) यदि [धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि] (अस्ति) है तो [वह उपाधि प्रत्यक्ष होने के] (योग्यः) योग्य है (वा) अथवा (अयोग्यः) अयोग्य ? [यदि उस उपाधि को प्रत्यक्ष होने के अयोग्य कहा जाय तो यह ठीक नहीं क्योंकि] (अयोग्यस्य) अयोग्य की (शङ्कितुम्) शङ्का किया जाना भी (अशक्यत्वात्) उचित नहीं है [क्योंकि जिस उपाधि का प्रत्यक्ष होना ही संभव नहीं है तो उसके अस्तित्व के ही बारे में क्या प्रमाण होगा ? अतः उस प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि के बारे में शङ्का करना भी अनुचित ही है । ऐसी स्थिति में अयोग्य-उपाधि के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना उचित होगा ।] । (च) और (योग्यस्य) [प्रत्यक्ष के] योग्य-उपाधि की (अनुपलभ्यमानत्वात्) प्राप्ति ही नहीं होती । ["यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः" इत्यादि स्थलों से] (यत्र) जहाँ पर [आर्द्रेन्धन संयोग आदि रूप में विद्यमान] (उपाधिः) उपाधि (अस्ति) है (तत्र) वहाँ (उपलभ्यते) उपलब्ध होती ही है । (यथा) जैसे (१) (अग्नेः) अग्नि के (धूमसम्बन्धे) धूम के साथ ["यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः"] इस सम्बन्ध में (आर्द्रेन्धनसंयोगः) आर्द्र-इन्धन-संयोग [उपाधि है तो उसकी उपलब्धि भी होती है ।] । (च) और (हिंसात्वस्य) (२) हिंसात्व के (अधर्मसाधनत्वेन सह) अधर्मसाधनत्व के साथ (सम्बन्धे) सम्बन्ध में (निषिद्धत्वम्) निषिद्धत्व (उपाधिः) उपाधि है । (च) और (३) (मैत्रीतनयत्वस्य) मैत्रीतनयत्व के (श्यामत्वेन सह) श्यामत्व के साथ ["यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्"] इस (सम्बन्धे) सम्बन्ध में (शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः) शाकादि खाद्य पदार्थों

का परिणाम विशेष अर्थात् 'शाकपाकजन्यत्व' ही उपाधि है [और यह उपलब्ध भी होती है।]।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में तो कोई उपाधि है नहीं। परन्तु इसका निर्णय कैसे किया जाय? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि वस्तुतः धूम और अग्नि का जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक ही है क्योंकि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की उपाधि की संभावना नहीं है। उपाधि दो ही प्रकार की हो सकती है (१) प्रत्यक्ष के योग्य अथवा (२) प्रत्यक्ष के अयोग्य। यदि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के अयोग्य कोई उपाधि विद्यमान है तो उसके होने में क्या प्रमाण है? वह तो खरगोश के सींगों (शशशृङ्ग) के ही समान है। जैसे खरगोश में सींग नहीं हुआ करते हैं उसी प्रकार प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि का भी अस्तित्व नहीं हुआ करता है। वास्तविकता तो यह है कि शङ्का के लिये तो शङ्कनीय पदार्थ का स्मरण अपेक्षित हुवा करता है और स्मरण के निमित्त पूर्वानुभव की अपेक्षा हुआ करती है किन्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि का कोई भी पूर्वानुभव ही नहीं है। अतः अयोग्य उपाधि का प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता है। प्रत्यक्ष न होने पर किसी हेतु में उसकी व्याप्ति का ज्ञान तथा किसी शब्द का उसमें वृत्ति-ज्ञान न होने के कारण उसका आनुमानिक तथा शाब्दिक अनुभव होना भी संभव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि तो विचार का भी विषय नहीं बन सकती। अब रही प्रत्यक्ष के योग्य उपाधि की बात-' इस बारे में यही कहना पर्याप्त है कि यदि वह उपाधि प्रत्यक्ष के योग्य है तो जिस भाँति प्रत्यक्ष के योग्य 'घट' आदि पदार्थों की उपलब्धि हुआ करती है उसी प्रकार उस प्रत्यक्ष योग्य उपाधि की भी उपलब्धि होनी चाहिये। जिस योग्य-पदार्थ की विद्यमानता हुआ करती है उसकी उपलब्धि भी अवश्य हुआ करती है। अतः यदि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि रही होती तो उसकी उपलब्धि अवश्य ही होती। जिस भाँति अग्नि के साथ धूम के सम्बन्ध में "आर्द्र-इन्धन का संयोग", हिंसात्व के साथ अधर्म साधनत्व के सम्बन्ध में "निषिद्धत्व" तथा मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व के सम्बन्ध में शाक आदि आहार से उत्पन्न विशिष्ट परिणाम "शाकपाकजन्यत्व" नामक उपाधि की उपलब्धि प्रत्यक्ष होती है। इस प्रकार की कोई भी उपाधि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं होती है। अतः धूम और अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक ही है, औपाधिक नहीं।

उपाधि के उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में से प्रथम "आर्द्रेन्धनसंयोग" नामक उपाधि का तृतीय "शाकपाकजन्यत्व" नामक उपाधि का विस्तृत विवेचन

पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। अतः अब यहाँ अवशिष्ट द्वितीय उपाधि "निषिद्धत्व" का भी सूक्ष्म विवेचन कर देना आवश्यक है :—

निषिद्धत्व-उपाधि—विभिन्न शास्त्रवचनों के आधार पर "जो जो हिंसा है वह सब अधर्म का साधन है" इस प्रकार हिंसात्व के साथ अधर्मसाधनत्व के सम्बन्ध में भूयः भूयः सहचार दर्शन होने पर भी हिंसात्व के साथ अधर्म-साधनत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, औपाधिक ही है। अभिप्राय यह है कि कोई भी हिंसा, केवल हिंसा होने के कारण अधर्म का साधन नहीं हुआ करती है अपितु "मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि" इत्यादि शास्त्रवचनों द्वारा निषेध किये जाने के कारण ही उसे अधर्म का साधन समझा जाया करता है। मीमांसाशास्त्र की दृष्टि से—जो शास्त्र विहित है वह धर्म का साधन है तथा जो शास्त्र द्वारा निषिद्ध है वह अधर्म का साधन है। क्योंकि "याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति" इत्यादि शास्त्र-वाक्यों के आधार पर याज्ञिकी-हिंसा शास्त्र द्वारा प्रतिपादित होने के कारण अधर्म का साधन हुआ करती है। अतः "निषिद्धत्व" ही अधर्मसाधनत्व का प्रयोजक है, हिंसात्व नहीं। अतएव यहाँ "निषिद्धत्व" ही उपाधि है। इसमें उपाधि का [पूर्ववर्णित] लक्षण भी घट जाता है। प्रारम्भ में कथित व्याप्ति में 'अधर्मसाधनत्व' साध्य है तथा 'हिंसात्व' साधन है। जहाँ जहाँ "अधर्मसाधनत्व" हुआ करता है वहाँ वहाँ 'निषिद्धत्व भी हुआ करता है। अतः निषिद्धत्व साध्य (अधर्मसाधनत्व) का व्यापक है। किन्तु जहाँ जहाँ हिंसात्व है वहाँ वहाँ सर्वत्र ही निषिद्धत्व हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि याज्ञिकी-हिंसा में भी हिंसात्व तो है ही, किन्तु वह हिंसात्व अधर्म का साधन नहीं है। अतएव निषिद्धत्व साधन (हिंसात्व) का अव्यापक हुआ। अतः 'निषिद्धत्व' उपाधि है तथा वह प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध भी है।

[इस स्थल पर प्रयुक्त उपाधि के तीनों उदाहरण विशेष अभिप्राय से युक्त हैं। इनमें से प्रथम दो उदाहरण तो "निश्चितरूप से कही जाने वाली उपाधि" के हैं तथा तृतीय उदाहरण तो "शङ्का से युक्त उपाधि" का प्रतीत होता है ? इन तीनों में प्रथम उदाहरण का सम्बन्ध लौकिक-प्रत्यक्ष से है। अतः यह लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होने वाली उपाधि का उदाहरण है। दूसरा उदाहरण "शास्त्रगम्य" है। अतः ये दोनों उदाहरण तो निश्चितरूप से कहे जानी वाली 'उपाधि' के हैं। तृतीय उदाहरण में पूर्णनिश्चितता के साथ यह कहा जाना संभव नहीं है कि "शाकपाकजन्यत्व" उपाधि मैत्रीतनयत्व रूप साधन की अव्यापक है। यह भी हो सकता है कि 'पंचम पुत्र' रूपपक्ष

में भी शाकपाकजन्यत्व रहा हो तथा किसी अन्य कारण वश वहाँ श्यामवर्णता न रही हो। अतः इस उपाधि को 'शङ्कित-उपाधि' ही कहा जायगा [मि०, चि०]।

उपर्युक्त उपाधियों के समान ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध में यदि प्रत्यक्ष के योग्य कोई उपाधि विद्यमान रही होती तो उसकी भी प्रत्यक्षरूप से उपलब्धि अवश्य होती। चूँकि इस प्रकार की प्रत्यक्ष योग्य कोई भी उपाधि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं होती है, अतः धूम और अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। स्वाभाविक-सम्बन्ध ही "व्याप्ति" कहा जाता है।

"उपाधि के अभाव का निश्चय हो जाने पर ही भूयः—सहचारदर्शन द्वारा स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का निश्चय हुआ करता है।" अब इसी का विवेचन तर्कभाषाकार करते हैं:—

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यत्, ततो दर्शनाभावान्नास्ति। इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योः व्याप्तिरवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकः एव सम्बन्धः, न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

(च) और (इह) यहाँ (धूमस्य) धूम का (अग्नि साहचर्ये) अग्नि के साथ साहचर्य में (कश्चित्) कोई (उपाधिः) उपाधि (न) नहीं (अस्ति) है। (यदि) यदि (अभविष्यत्) होती (ततः) तो (अद्रक्ष्यत्) दिखलाई देती। (ततः) तो फिर (दर्शनाभावात्) [उपाधि के] दिखलाई न देने से [धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई भी उपाधि] (नास्ति) नहीं है। (इति) इस प्रकार के (तर्कसहकारिणा) तर्क के साथ (अनुपलम्भसनाथेन) अनुपलब्धि से युक्त (प्रत्यक्षेण एव) प्रत्यक्ष के द्वारा ही (उपाधि-अभावः) उपाधि के अभाव का (अवधार्यते) निश्चय कर लिया जाता है। (तथा च) और (उपाधि अभाव-ग्रहण-जनित) [१] उपाधि के अभाव के ज्ञान से उत्पन्न (संस्कारसहकृतेन) संस्कार से युक्त तथा [२] (साहचर्यग्राहिणा) भूयः सहचार-दर्शन से उत्पन्न संस्कार युक्त [धूम तथा अग्नि के] साहचर्य को ग्रहण कराने वाले (प्रत्यक्षेण एव) प्रत्यक्ष [प्रमाण] से ही (धूमान्योः) धूम और अग्नि की (व्याप्तिः) व्याप्ति (अवधार्यते) निश्चित हो जाती है। (तेन) इसलिये (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि का

(स्वाभाविकः) स्वाभाविक (सम्बन्ध एव) सम्बन्ध ही है, (औपाधिकः) औपाधिकसम्बन्ध (न) नहीं । (च) और (स्वाभाविकःसम्बन्धः) स्वाभाविकसम्बन्ध [ही] (व्याप्तिः) व्याप्ति [कहलाता है] ।

"धूम तथा अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध ही है, औपाधिक नहीं" इसका निश्चय प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है । इस प्रत्यक्ष में दो का सहयोग प्राप्त है (१) अनुपलब्धि (२) अनुकूल तर्क । १—धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कोई भी उपाधि उपलब्ध नहीं हो रही है, यही 'अनुपलब्धि' है तथा २–यदि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि रही होती तो उसकी उपलब्धि अवश्य ही हुयी होती। किन्तु उपलब्धि के योग्य कोई उपाधि है ही नहीं तो वह उपलब्ध कहाँ से होगी। यही 'अनुकूल तर्क' है । इन दोनों के सहयोग से प्रत्यक्ष द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई भी उपाधि नहीं है । इसी को ऊपर इन शब्दों में कहा गया है :–"तर्कसहकारिणा अनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैव उपाध्यभावः अवधार्यते" ।

धूम तथा अग्नि के साहचर्य का ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष के द्वारा ही "व्याप्ति" का निश्चय हुआ करता है । इस प्रत्यक्ष में भी 'दो पूर्व अनुभव-जनित-संस्कार' अवश्य सहायक के रूप में रहा करते हैं । (१) एक तो वह संस्कार विद्यमान रहा करता है कि जिस [प्रत्यक्ष] के द्वारा उपाधि के अभाव का निश्चय हो चुका करता है । (२) दूसरा वह संस्कार विद्यमान रहा करता है कि जिसका प्रत्यक्ष धूम और अग्नि के भूयः सहचारदर्शन द्वारा हुआ करता है । इन दोनों प्रकार के संस्कारों से युक्त जो धूम और अग्नि के साहचर्य का ग्राहक 'प्रत्यक्ष' है उसके द्वारा ही धूम तथा अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय हो जाया करता है ।

अतः इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध में कोई किसी भी प्रकार की उपाधि नहीं है । अतएव इन दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक-सम्बन्ध ही है, औपाधिक नहीं । इस प्रकार के स्वभाविक-सम्बन्ध को ही साहचर्य-नियम अथवा व्याप्ति कहा जाता है ।

व्याप्ति-ग्रहण सम्बन्धी क्रम के विवेचन के उपरान्त अब प्रथम और द्वितीय लिङ्ग ज्ञान का वर्णन करते हुये तृतीय लिङ्ग ज्ञान अथवा लिङ्गपरामर्श के स्वरूप का निर्देश करते हैं :—

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम् । पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम् । ततः पूर्व-

गृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति। अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्।

एतच्चावश्यमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा यत्रधूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात्। इह तु कथमग्निना भवितव्यम्। तस्मादिहा धूमोऽस्ति इति ज्ञानमन्वेषितव्यम्। अयमेव लिङ्गपरामर्शः। अनुमितिं करणत्वाच्चानुमानम्। तस्मात्, अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते।

(तत्) तो फिर (अनेन) इस (न्यायेन) न्याय अथवा रीति [व्यभिचार-अदर्शन सहकृत भूयः सहचारदर्शन] से (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि के (व्याप्तौ) व्याप्ति के (गृह्यमाणायाम्) ग्रहण करने में, (महानसे) रसोई घर [पाक-शाला] में (यत्) जो (धूमज्ञानम्) [अधिक से अधिक जितनी बार के सहचार-दर्शन से व्याप्तिग्रह हो उतनी बार का एकत्रित] धूम-ज्ञान है (तत्) वह (प्रथमम्) प्रथम-ज्ञान है। [इस व्याप्ति विग्रह के पश्चात्] (पर्वतादौ) पर्वत आदिरूप (पक्षे) पक्ष ["सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः" अर्थात् जिस पर्वत आदि में साध्य अग्नि-संदिग्ध अवस्था में विद्यमान है—उस (पर्वत आदि) को 'पक्ष' कहा जाता है।] में (यत्) जो (धूमज्ञानम्) धूम का ज्ञान हो रहा है (तत्) वह (द्वितीयम्) द्वितीय [ज्ञान है]। (ततः) तदनन्तर (पूर्वगृहीताम्) [उस पर्वत आदि में द्वितीय धूम दर्शन से] पहले गृहीत (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि की व्याप्ति [जहाँ २ धूम होता है वहाँ २ अग्नि होती है—"यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः"] का (स्मृत्वा) स्मरण करके (यत्र) जहाँ (धूमः) धुँआ होता है (तत्र) वहाँ (अग्निः) अग्नि होती है (इति) इस प्रकार से (तत्र) वहाँ (पर्वते) पर्वत में (एव) ही (पुनः) फिर [वह्निव्याप्ति-विशिष्ट] (धूमम्) धूम का (परामृशति) ["वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः"—इस रूप में] परामर्श अथवा विचार करता है [कि] (अत्र) यहाँ (पर्वते) पर्वत में (वह्निना) अग्नि से (व्याप्तः) व्याप्त [अर्थात् अग्नि से युक्त] (धूमः) धुँआ (अस्ति) है। (तत्) वह (इदम्) यह ["वह्निव्याप्य धूमवांश्चायं पर्वतः" इस प्रकार का] (धूमज्ञानम्) धूम का ज्ञान ही (तृतीयम्) तृतीय-ज्ञान है। इसी को "लिङ्ग परामर्श" कहा गया है। यह लिङ्गपरामर्श ही 'अनुमान' कहलाता है। इसी से—"पर्वत अग्नि से युक्त है" [पर्वतो वह्निमान] ऐसी अनुमिति होती है।

(च) और (एतत्) इस [तृतीयज्ञान] को (अवश्यम्) अवश्य (अभ्युपेतव्यम्) स्वीकार करना होगा। (अन्यथा) नहीं तो "(यत्र) जहाँ (धूमः) धूम होता है (तत्र) वहाँ (अग्निः) अग्नि होती है" (इति) ऐसा [सामान्य ज्ञान] (एव) ही (स्यात्) होगा। (इह) यहाँ [पर्वत में—अथवा पर्वत आदि विशिष्ट स्थलों में] (तु) तो (अग्निना) अग्नि (कथम्) क्यों (भवितव्यम्) होना चाहिये। (तस्मात्) इस [के उपपादन के] लिये (इह) यहाँ [पर्वत में] (अपि) भी [अग्नि से व्याप्त] (धूमः) धूम (अस्ति) है (इति) इस प्रकार का (ज्ञानम्) ज्ञान (अन्वेषितव्यम्) मानना चाहिये। (अयम्) यह [पर्वत में व्याप्ति की स्मृति के अनन्तर हुआ धूम का परामर्श] (एव) ही (लिङ्गपरामर्शः) लिङ्ग का परामर्श कहलाता है। (च) और ["तस्मात् पर्वतो वह्निमान्" इस प्रकार की] (अनुमितिम्) अनुमिति के (प्रति) प्रति (करणत्वात्) करण होने से (अनुमानम्) 'अनुमान' कहा जाता है। (तस्मात्) [क्योंकि] उस [लिङ्गपरामर्शरूप तृतीय ज्ञान] से (अत्र) इस (पर्वते) पर्वत में (अग्निः) अग्नि (अस्ति) है (इति) इस प्रकार का (अनुमितिज्ञानम्) अनुमति रूप ज्ञान [अथवा प्रमा] (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है।

"अत्र "लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्" अनुमान के इस लक्षण से सम्बन्धित उपसंहार का कथन करते हैं। इसके अनुसार लिङ्गपरामर्श को ही अनुमान कहा गया है। 'लिङ्ग-परामर्श' का अर्थ है—लिङ्ग का तृतीयज्ञान ["तस्य तृतीयज्ञानं लिङ्गपरामर्शः" [इसकी प्रक्रिया का ऊपर कथन किया जा चुका है। संक्षेप में इसको इस प्रकार कहा जायगा—'उपाधि' सम्बन्धी अभाव का ज्ञान हो जाने के अनन्तर धूम तथा अग्नि के बार बार सहचार-दर्शन से जो धूम और अग्नि की व्याप्ति अथवा स्वाभाविक-सम्बन्ध का निश्चय हो जाता हैं वही प्रथम लिङ्गज्ञान है [अथवा हेतु का प्रथम दर्शन है।] इस व्याप्ति-निश्चय के पश्चात् पर्वत आदि पक्ष में जो धूम का दर्शन होता है वह द्वितीय लिङ्गज्ञान [अथवा हेतु का दूसरा दर्शन है। "जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है" इस रूप में धूम में अग्नि की पूर्वगृहीत व्याप्ति का स्मरण कर "पर्वत में अग्नि से व्याप्त धूम है "अथवा अग्नि से व्याप्त धूम पर्वत में है" इस रूप में उसी पर्वत में जो धूम का पुनः परामर्श होता है वही तृतीय लिङ्गज्ञान [लिङ्ग परामर्श] अथवा हेतु का तृतीयदर्शन है। 'इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि तृतीय लिङ्गज्ञान अथवा हेतु [धूम] का तृतीय दर्शन ही 'लिङ्ग परामर्श' है।

'न्यायकन्दलीकर' श्री श्रीधर का कथन है कि इस तृतीय-लिङ्गज्ञान अथवा तृतीय-ज्ञान रूपी विशिष्ट प्रकार के ज्ञान को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि पर्वत आदि पक्ष में पृथकरूप से होने वाले 'धूम' आदि लिङ्ग-दर्शन तथा व्याप्तिस्मरण मात्र से ही 'अग्नि' आदि साध्य का ज्ञान [अनुमिति] हो ही जायेगा। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि अनुमिति [अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान] के लिये हेतु सम्बन्धी इस तृतीय-दर्शन अथवा तृतीयलिङ्ग ज्ञान को मानना परमावश्यक है। यदि इस तृतीय-ज्ञान को स्वीकार नहीं किया जायगा तो पृथक-पृथक रूप में व्याप्ति के निश्चय, पर्वत में धूम-दर्शन [द्वितीय-लिङ्ग ज्ञान] तथा व्याप्तिस्मरण के द्वारा केवल "जहाँ धूम हुआ करता है वहाँ अग्नि होती है।" इस प्रकार का सामान्यज्ञान ही होगा, अनुमान द्वारा जिस अनुमिति का होना अभीष्ट है कि "धूम के होने से इस पर्वत में अग्नि को भी अवश्य होना चाहिये" अथवा "यहाँ पर्वत में अग्नि है" ऐसी अनुमिति न की जा सकेगी। इस प्रकार की अनुमिति का होना तभी संभव है कि जब द्रष्टा को इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान होता है कि 'अग्नि का व्याप्तधूम पर्वत में है।' अतः साध्य [अनुमेय-("अग्नि") की अनिश्चित देश में प्रतीति न हो अपितु निश्चित स्थान में ही प्रतीति हो इसके निमित्त 'तृतीय लिङ्गज्ञान' को मानना आवश्यक है। इस 'तृतीय लिङ्गज्ञान' अथवा हेतु के तृतीय-दर्शन का ही नाम लिङ्ग परामर्श है। इसी से "यहाँ पर्वत में अग्नि है" इस प्रकार की "अनुमिति" का उदय होता है। तथा अनुमिति के करण [साधन] का ही नाम अनुमान है। अतः "लिङ्ग परामर्श" को 'अनुमान' कहना सर्वथा उचित ही है।

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति ? सत्यम्। व्याप्तेरगृहीतत्वात्। गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्। अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम्।

मैवम्। अग्नेर्दृष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते। यथोक्तं भाष्यकृता-"नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्त्तते किन्तु सन्दिग्धे।" न्यायदर्शनवात्सायनभाष्य-१।१।१॥

[प्रश्न] अनुमिति [अनुमान से प्राप्त होने वाले ज्ञान] के लिये तृतीय ज्ञान तक जाने की क्या आवश्यकता है] (महान से) महानस में (यत्) जो (प्रथमम्) प्रथम [बार में होने वाला] (धूमज्ञानम्) धूमज्ञान है (तत्) वह ही (अग्निम्) अग्नि का (कथं न अनुमापयति) अनुमान क्यों नहीं करा देता है ?

[उत्तर—] आपका प्रश्न (सत्यम्) ठीक है। [किन्तु] (व्याप्तेः) व्याप्ति का (अग्रहीतत्वात्) ग्रहण न होने से [प्रथमबार के धूमज्ञान से अग्नि

का अनुमान किया जा सकना संभव नहीं है।] क्योंकि (व्याप्तौ।) व्याप्ति के (गृहीतायामेव) गृहीत होने पर ही (अनुमिति-उदयात्) अनुमिति का उदय हो [सकने] से। [प्रथमज्ञान से ही अनुमिति नहीं हुआ करती है।]

[प्रश्न—] (अत्र व्याप्ति निश्चयोत्तरकालम्) तो फिर व्याप्ति का निश्चय होने के पश्चात् (महानसे) महानस में (एव) ही (अग्निः) अग्नि का (अनुमीयताम्) अनुमान हो जाना चाहिये।

[उत्तर] (एवम्) इस प्रकार [का कथन भी] (मा) ठीक नहीं है। [क्योंकि महानस अथवा रसोई-घर में] (अग्नेः) अग्नि का (दृष्टत्वेन) प्रत्यक्ष होने से, (सन्देहस्य) सन्देह का (अनुदयात्) उदय न होने से [व्याप्ति ग्रह के पश्चात् महानस में अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता है। वह तो प्रत्यक्षरूप से दिखलाई ही दे रही है फिर उसका अनुमान करने की क्या आवश्यकता है ?]। (च) और (संदिग्धः) सन्देह युक्त (अर्थः) अर्थ का ही (अनुमीयते) अनुमान किया जाया करता है। (यथा) जैसा कि (भाष्यकृता) [न्यायदर्शन के] भाष्यकार [वात्स्यायन] ने (उक्तम्) कहा भी है:—"[कि सर्वथा] (अनुपलब्ध) अनुपलब्ध अर्थात् अज्ञात (अर्थे) अर्थ [के विषय] में (न्यायः) न्याय अर्थात् अनुमान (न प्रवर्त्तते) की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है [तथा] न [सर्वथा] (निर्णीतं) निर्णीत (अर्थे) अर्थ में ही (न्यायः प्रवर्त्तते) न्याय अर्थात् अनुमान की प्रवृत्ति हुआ करती है (किन्तु) किन्तु (सन्दिग्धे) सन्दिग्ध अर्थात् सन्देह युक्त (अर्थे) अर्थ अथवा विषय में ही (न्यायः प्रवर्त्तते) न्याय अर्थात् अनुमान की प्रवृत्ति हुआ करती है।

(१) कहने का अभिप्राय यह है कि महानस (रसोई घर) आदि स्थलों पर जो व्याप्तिग्रहण से पहले धूम का ज्ञान (प्रथम लिङ्ग दर्शन) हुआ करता है वह साध्य-अग्नि का ज्ञान नहीं करा सकता है क्योंकि उस प्रथम धूमदर्शन के समय धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हुआ करता है तथा अनुमिति के प्रति व्याप्ति ज्ञान कारण हुआ करता है उसी के आधार पर अनुमिति का होना संभव है। अतः प्रथम (लिङ्ग) दर्शन से ही अनुमिति का उदय नहीं हो सकता है।

(२) रसोईघर में धूम और अग्नि के भूयः सहचार दर्शन अथवा व्याप्ति के निश्चय के अनन्तर जो धूम का ज्ञान होता है वह भी अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता है क्योंकि महानस में तो अग्नि प्रत्यक्षरूप से ही दृष्टिगोचर हो रही है। अतः साध्य-'अग्नि' का अनुमान किये जाने सम्बन्धी कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। अनुमान तो अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष वस्तु के बारे

में ही किया जाता है कि जिसके बारे में सन्देह हुआ करता है। जैसा कि न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा भी है कि अनुमान वहीं हुआ करता है कि जहाँ साध्य की सत्ता (के होने) में सन्देह हुआ करता है। पूर्णरूप से अज्ञात अथवा पूर्णरूप से निर्णीत वस्तु अथवा पदार्थ में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है किन्तु सन्दिग्ध वस्तु में ही अनुमान की प्रवृत्ति हुआ करती है। महानस में अग्नि का प्रत्यक्ष हो ही रहा है। अतएव वह तो पूर्ण रूप से निर्णीत वस्तु है। अतः महानस से व्याप्तिग्रहण के पश्चात् भी जो धूम का ज्ञान होता है वह भी अग्नि का अनुमापक नहीं हो सकता है।]

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसो यद्धूमज्ञान, तत् कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्राग्निसन्देहः। साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात्।

सत्यम्। अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीत विस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात् धूमदर्शनाच्चोद्वुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसे इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं 'धूमवांश्चायम्" इति। तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत्। तदेवानुमानम्। स एव लिङ्गपरामर्शः। तेन व्यवस्थितमेतद्—"लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति"।

[प्रश्न]—(अथ पर्वतगतमात्रस्य) अच्छा तो [व्याप्तिग्रह के पश्चात्] पर्वत पर गये हुये (पुंसः) मनुष्य का (यद्) जो (धूमज्ञानम्) धूमज्ञान [अर्थात् व्याप्ति के स्मरण किये जाने से पहले का-द्वितीयज्ञान] है (तत्) वह (अग्निम्) अग्नि का (कथं न अनुमापयति) अनुमान क्यों नहीं कराता है ? [क्यों कि अग्नि के] (साधकबाधकप्रमाणाभावेन) साधक अथवा बाधक प्रमाणों के न होने से (संशयस्य) [अग्नि के] सन्देह का (न्यायप्राप्तत्वात्) होना न्यायसंगत अथवा युक्तियुक्त ही है।

उत्तर—[आपका प्रश्न] (सत्यम्) ठीक है। [किन्तु द्वितीय-ज्ञान के समय व्याप्ति का स्मरण न होने से] (अगृहीतव्याप्तेः इव) व्याप्ति का ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के सदृश [गृहीत होने पर भी जिसको व्याप्ति विस्मृत हो गयी है ऐसे] (गृहीत विस्मृतव्याप्तेः) व्याप्ति का ग्रहण किये गये हुये तथा उस समय व्याप्ति को विस्मृत किये गये (पुंसः अपि) मनुष्य को भी (अनुमान-अनुदयेन) अनुमान के उदय न होने से (व्याप्तिस्मृतेः) व्याप्ति-स्मृति के (अपि) भी (अनुमिति हेतुत्वात्) अनुमिति के

प्रति हेतु अथवा कारण होने से (व्याप्ति-स्मृति के अभाव अनुमिति का होना संभव नहीं है। (च) और (धूमदर्शनात्) [द्वितीयवार के] धूमदर्शन से (उद्बुद्धसंस्कारः) उद्बुद्ध-संस्कार वाला व्यक्ति "(यः यः) जो जो (धूमवान्) धूम से युक्त होता है (सः सः) वह वह (अग्निमान्) अग्नि से भी युक्त होता है, जैसे रसोईंघर [महानस]" (इति) इस प्रकार से अथवा इस रूप में (व्याप्तिम्) व्याप्ति को (स्मरति) स्मरण करता है। (तेन) इसलिये(धूमदर्शने जाते) धूम दर्शन के हो जाने के पश्चात् (व्याप्तिस्मृतौ) व्याप्ति की स्मृति (भूतायाम्) के होने पर (यत्) जो (धूमज्ञानम्) (धूम का ज्ञान होता है (तत्) वह (तृतीयम्) तृतीय, "धूमवान् च अयं पर्वतः" अर्थात् यह पर्वत भी धूमवान् है" इति इस प्रकार का जो, ज्ञान होता (तत् एव) वह [यह तृतीय धूम ज्ञान] ही (अग्निम्) अग्नि का (अनुमापयति) अनुमान करता है, (अन्यत्) उससे भिन्न अन्य [प्रथम अथवा द्वितीय आदि धूम के ज्ञान] (न) [अग्नि का अनुमान] नहीं कराते हैं। (तत् एव) वह [तृतीय ज्ञान] ही (अनुमानम्) 'अनुमान' कहलाता है। (सः) वह (एव) ही लिङ्गपरामर्शः) लिङ्गपरामर्श [लिङ्ग का तृतीयज्ञान] है। (तेन) इसलिये (एतत्) यह (व्यवस्थितम्) निश्चित हो गया कि अनुमान का "लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्" यह लक्षण है।

इस विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुमिति की उत्पत्ति के लिये 'लिङ्ग का तृतीयज्ञान' परमावश्यक है। इसी विवेचन में अनुमिति [अनुमान द्वारा ज्ञान अथवा प्रमा] की प्रक्रिया में प्रयुक्त तत्सम्बन्धी आवश्यक अङ्गों का भी विवेचन संक्षेप में हो गया है। ये अङ्ग हैं :—(१) व्याप्ति ग्रहण (२) साध्यसम्बन्धी संशय (पक्षता) (३) व्याप्तिस्मरण तथा (४) हेतु की पक्ष में स्थिति (पक्षधर्मता)। इनमें से प्रथम दो का सूक्ष्म विवेचन पहले किया जा चुका है। अब यहाँ अवशिष्ट अङ्गों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(३) जब कोई व्यक्ति, कि जिसे पहले धूम और अग्नि के स्वाभाविक-सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का ज्ञान हो चुका है, पर्वत के समीप पहुँचता है तथा वहाँ धूम मात्र का दर्शन [द्वितीय-लिङ्गज्ञान] करता है तब उसे उतने मात्र से ही अग्नि की अनुमिति नहीं हुआ करती है। यद्यपि वहाँ अग्नि की सत्ता का साधक (अग्नि का निश्चय करने वाला) तथा बाधक (अग्नि की सत्ता के अभाव का निश्चय करने वाला अथवा अग्नि का निषेध करने वाला) कोई भी प्रमाण विद्यमान नहीं है। अतः वहाँ साध्य (अग्नि) सम्बन्धी संशय (सन्देह)

विद्यमान है ही और इस भाँति पक्ष में साध्य का संशय, हेतु (धूम) में साध्य (अग्नि) की व्याप्ति का ज्ञान तथा पक्ष (पर्वत) में हेतु का दर्शन यह तीनों ही करण विद्यमान हैं। किन्तु फिर भी व्याप्ति का स्मरण न होने के कारण अनुमिति का होना संभव नहीं है। क्यों कि "व्याप्ति का स्मरण" भी अनुमिति का एक करण स्वीकार किया गया है। यदि किसी व्यक्ति को पूर्वानुभूत व्याप्ति विस्मृत हो गयी है तो उसे अनुमिति नहीं होगी। अतः व्याप्ति-स्मृति भी अनुमिति का एक कारणमानना ही होगा।

(४) व्याप्ति-स्मरण के पश्चात् जब पक्ष (पर्वत) में "अग्नि से व्याप्त धूम इस पर्वत में विद्यमान है" इस प्रकार का (तृतीय-लिङ्गज्ञान) ज्ञान हो जाया करता है तभी अनुमिति की उत्पत्ति हुआ करती है। इस तृतीय लिङ्ग-ज्ञान को ही 'लिङ्गपरामर्श' कहा जाता है तथा यही अनुमान है।

उपर्युक्त अङ्गों को दो अङ्गों में (व्याप्ति और पक्षधर्मता) संकलितकर उत्तरकालीन न्याय तथा वैशेषिक में 'परामर्श' का यह लक्षण किया गया है:— "व्याप्ति विशिष्टपक्ष धर्मताज्ञानं परामर्शः"। इस लक्षण में "व्याप्ति" के अन्तर्गत' के 'व्याप्तिग्रहण' तथा 'व्याप्ति-स्मरण' दोनों का संकलन हो गया है। 'पक्षधर्मता' का अर्थ है व्याप्य अर्थात् धूम आदि का पक्ष (पर्वत आदि) में होना। पक्ष का लक्षण है :—"सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः" जिस स्थल में साध्य के सम्बन्ध में संशय हुआ करता है उसे 'पक्ष' कहा जाता है। पक्ष के भाव को ही 'पक्षता कहा जाता है (साध्यसंशयरूपा पक्षता) इस भाँति "पक्षधर्मता" के अन्तर्गत पक्षता का भी आकलन हो जाता है। इस आधार पर परामर्श सम्बन्धी उक्त लक्षण ("व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः') की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।

"करण" का लक्षण यह किया गया है :—"फलायोगव्यवच्छिन्नं करणम्" अर्थात् जिसके होने पर किसी विलम्ब के ही फल की उत्पत्ति हो जाया करती है उसे 'करण' कहा जाता है इस लक्षण के आधार पर प्रथम तथा द्वितीय लिङ्गदर्शन 'करण' नहीं कहे जा सकते हैं। लिङ्ग के तृतीय-दर्शन अथवा ज्ञान के तुरन्त पश्चात् अथवा लिङ्गपरामर्श के तुरन्त बाद ही साध्य 'अग्नि' की अनुमिति हो जाती है अतएव लिङ्गपरामर्श का ही अनुमिति का 'करण' कहा जाना उचित है। किन्तु जब हम "व्यापारवत्कारणं करणम्" 'यह करण' का लक्षण स्वीकार करेंगे तब तो व्याप्ति-ज्ञान को करण मानना ही होगा तथा लिङ्गपरामर्श उसका व्यापार होगा और अनुमिति ही उसका फल होगी।

अनुमान-प्रमाण के भेद—

दर्शन सम्बन्धी उपलब्ध-साहित्य में सर्वप्रथम गौतम के न्यायसूत्र में अनुमान के तीन भेदों का उल्लेख उपलब्ध होता है :—"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च च" न्यायसूत्र—१।१।५। सांख्य कारिका में भी अनुमान के तीन भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है—'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्" ॥ सांख्यकारिका—५॥ १ । यद्यपि इस कारिका में त्रिविध अनुमानों का पृथक-पृथक उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु फिर भी सांख्यकारिका की छठी कारिका में केवल सामान्य तो दृष्ट अनुमान का नामतः उल्लेख अवश्य मिलता है । इसके अतिरिक्त टीकाकारों द्वारा तीनों प्रकार के अनुमान के भेदों का स्पष्ट उल्लेख किये जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण को भी अनुमान के तीन भेद स्वीकृत थे ।

वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य में अनुमान के दो भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है (१) दृष्ट तथा (२) सामान्यतादृष्टः—"तत्तु द्विविधम् । दृष्टं सामान्यता दृष्टं च" । इसी भाँति मीमांसासूत्रों के शाबरभाष्य में भी कुछ-कुछ शब्द भेद के साथ अनुमान के दो ही प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

बौद्धों के एक प्राचीनग्रन्थ "उपायहृदयम्" [पृष्ठ- १३] में 'अनुमान' के तीन भेदों का उल्लेख अवश्य मिलता है । किन्तु बौद्धन्याय के प्रमुखग्रन्थों में केवल दो ही भेदों का उल्लेख आता है (१) स्वार्थानुमान (२) परार्थानुमान ।

डा० कीथ तथा कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार सर्वप्रथम दिङ्नाग [पंचमशताब्दी में विद्यमान] ने अनुमान के उपर्युक्त दो भेदों को स्वीकार किया है [इंडियन लौजिक एक एटमिज्म—पृ० १०६—१०८] । किन्तु कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि दिङ्नाग से पूर्व ही प्रशस्तपादभाष्य में पूर्वोक्त दोनों भेदों का उल्लेख किया जा चुका था तथा इसी आधार पर दिङ्नाग ने इन दो भेदों को स्वीकार किया था ।

इतना होने पर भी न्याय-सम्प्रदाय में तीन प्रकार के अनुमानों की ही परंपरा चलती रही । किन्तु उत्तरवर्त्ती न्याय एवं वैशेषिक ग्रन्थों में उपर्युक्त त्रिविध-अनुमान की परंपरा का त्याग कर दिया गया तथा उनमें दो ही प्रकार के अनुमान (१) स्वार्थ तथा (२) परार्थानुमान का निरूपण किया गया। विशेषरूप से न्याय एवं वैशेषिक सम्बन्धी प्रकरण ग्रन्थों में अनुमान के इन्हीं दो भेदों का विवेचन उपलब्ध होता है । इसी परम्परा का अनुसरण करते हुये तर्कभाषाकार ने भी अनुमान के दो ही भेदों का निरूपण किया है ! अतः उन्हीं दोनों भेदों का क्रमशः विवेचन यहाँ प्रस्तुत है :—

तच्चानुमानं द्विविधम् । स्वार्थं परार्थं चेति । स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः । तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति 'यत्रधूमस्तत्राऽग्निरिति'। ततोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम् ।

(१) स्वार्थानुमान—

(च) और (तत्) वह (अनुमानम्) अनुमान (द्विविधम्) दो प्रकार का है। (१) (स्वार्थम्) स्वार्थानुमान (च) और परार्थम्-इति (२) परार्थानुमान। (स्वप्रतिपत्तिहेतुः) अपने ज्ञान (प्रतिपत्ति) का हेतु [भूत अनुमान] (स्वार्थम्) स्वार्थानुमान कहलाता है। (तथा हि) जैसे कि [कोई व्यक्ति] (स्वयमेव) स्वयं ही (महानसादौ) रसोई घर आदि में (विशिष्टेन) विशेष (प्रत्यक्षेण) प्रत्यक्ष से (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि की (व्याप्तिम्) व्याप्ति को (गृहीत्वा) ग्रहणकर (पर्वतसमीपम्) पर्वत के समीप (गतः) गया। (च) और (तद्गते) पर्वत में विद्यमान (अग्नौ) अग्नि के विषय में (सन्दिहानः) [पर्वत में अग्नि है अथवा नहीं, इस प्रकार का] सन्देह करता हुआ (पर्वतवर्तिनीम्) पर्वत में विद्यमान (अभ्रं लिहाम्) [मूलस्थान से] आकाश तक फैली हुयी अथवा मेघों का स्पर्श करने वाली (अविच्छिन्नमूलाम्) अविच्छिन्नरूप में विद्यमान (धूमलेखाम्) धूम की रेखा को (पश्यन्) देखता हुआ, (च) और (धूमदर्शनात्) धुँयें के दर्शन से (उद्बुद्धसंस्कारः) संस्कार के जाग्रत हो जाने से] उद्बुद्धसंस्कार वाला वह व्यक्ति "(यत्र) जहाँ (धूमः) धूम होता है (तत्र) वहाँ (अग्निः) होती है"—(इति) इस प्रकार की (व्याप्तिम्) व्याप्ति का (स्मरति) स्मरण करता है। (ततः) उसके पश्चात् (अत्र-अपि) यहाँ [पर्वत में] भी (धूमः) धूम (अस्ति) है (इति) इस प्रकार [तृतीय बार पर्वत में वह्निव्याप्य धूम को] (प्रतिपद्यते) जानलेता है। (तस्मात्) इसलिये (अत्र) यहाँ (पर्वते) पर्वत में (अग्निः) अग्नि (अपि) भी (अस्ति) है (इति) इस प्रकार (स्वयमेव) स्वयं ही [पर्वत में अग्नि को] (प्रतिपद्यते) जान लेता है। (तत्) वह [यह ही] (स्वार्थानुमानम्) स्वार्थानुमान है।

[यहाँ "स्वप्रतिपत्तिहेतुः स्वार्थम्" का अभिप्राय यह है कि 'स्वार्थानुमान' वह अनुमान है कि जिसके द्वारा अनुमान करनेवाले व्यक्ति को स्वयं ही साध्य (अग्नि आदि) की अनुमिति होती है। विशिष्टेन प्रत्यक्षेण'–से अभिप्राय यह है कि जिस प्रत्यक्ष में उपाधि सम्बन्धी अभाव के ज्ञान का संस्कार तथा भूयः सहचारदर्शन का संस्कार सहायकरूप से विद्यमान है ऐसा साहचर्यनियम का ग्राहक प्रत्यक्ष। इस प्रकार के विशिष्ट प्रत्यक्ष से। 'व्याप्तिं गृहीत्वा"–व्याप्ति को ग्रहणकर। इसके द्वारा प्रथम हेतु-दर्शन अथवा प्रथमलिङ्ग-ज्ञान की ओर संकेत किया गया है। 'अग्नौसन्दिहानः''—अग्नि के बारे में सन्देह करता हुआ। "सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः" अर्थात् सन्देहयुक्त साध्य से युक्त पक्ष हुआ करता है—पक्ष की इस परिभाषा के आधार पर यहाँ सन्देहयुक्त पक्ष (पर्वत आदि) की ओर संकेत किया गया है। "अविच्छिन्न मूलाम्" अर्थात् जिसका मूल विच्छिन्न (पृथक) नहीं हुआ है। तात्पर्य यह है कि जिस धूमकी रेखा का सम्बन्ध पर्वत में विद्यमान अग्नि के साथ जुड़ा हुआ है। अभ्रंलिहाम्" = आकाश का स्पर्श करनेवाली। धूमरेखा के उपर्युक्त दोनों ही विशेषण हैं। भाव यह है कि पर्वत में से निकलती हुयी जिस धूमरेखा का सम्बन्ध अविच्छिन्नरूप से पर्वतगत अग्नि के साथ भी जुड़ा हुआ था तथा जो अविच्छिन्नरूप में आकाश तक पहुँच रही थी। मध्य में भी जो विच्छिन्न नहीं हुयी थी। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कहीं ऊपर ही ऊपर उड़ती हुयी धूम की रेखा देखी जाय तो उससे अनुमान का किया जाना संभव नहीं है क्योंकि हो सकता है कि अग्नि की स्थिति कहीं दूर पर रही हो और धुँआ उड़कर उस ओर चला आ रहा हो। ऐसा धुँआ विच्छिन्नमूला ही कहा जायगा। अतः वह अग्नि का अनुमापक नहीं हो सकेगा। "धूमलेखां पश्यन्" धुँये की रेखा को देखता हुआ वह व्यक्ति कि जो पर्वत पर गया हुआ है यह अंश द्वितीय हेतु-दर्शन अथवा द्वितीय लिङ्ग-ज्ञान का बोधक है। उद्बुद्धसंस्कारः" = उद्बुद्ध (जाग्रत) हो गये हैं संस्कार जिसके। अर्थात् जो व्यक्ति रसोईघर में धूम और अग्नि के स्वाभाविकसम्बन्ध अथवा व्याप्ति का प्रत्यक्ष कर चुका था तथा जिसे पर्वत पर अविच्छिन्न रूप में धूम का दर्शन हो रहा था। उस निकलते हुये धूम को देखकर जिसके हृदय में पूर्व निर्धारित संस्कारों के जाग्रत हो जाने से उक्त व्याप्ति का स्मरण ही आया था। और इस व्याप्ति-स्मृति के आधार पर उसे "अत्राऽपिधूमोऽस्ति" इस प्रकार का तृतीय हेतु-दर्शन अथवा तृतीय लिङ्गज्ञान अथवा लिङ्गपरामर्श हो रहा है। पर्वत पर पहुँचे हुये व्यक्ति को इस लिङ्ग के परामर्श द्वारा "अग्नि" (साध्य) की अनुमिति हो जाती है।]

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम् । तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्; यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, तथा चायं, तस्मात्तथा, इति ।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते । तेनैतत् परार्थानुमानम् ।

(२) परार्थानुमान—

(यत् तु कश्चित्) जो कोई (धूमात्) धुँये से (स्वयम्) स्वयं (अग्निम्) अग्नि का (अनुमाय) अनुमान करके [उस अग्नि का] (परम्) दूसरे को (बोधयितुम्) बोध कराने के लिये (पञ्चावयवम्) पाँच अङ्गों से युक्त (अनुमानवाक्यम्) अनुमान वाक्य का (प्रयुङ्क्ते) प्रयोग करता है (तत्) वह (परार्थानुमान्) परार्थानुमान कहलाता है। (यथा) जैसे-[पाँच अङ्गों से युक्त अनुमानवाक्य का उदाहरण देखिये। (१) (तत्) वह [यह] (पर्वतः) पर्वत (अग्निमान्) अग्निमान् है [यह प्रथम अवयव "प्रतिज्ञा" है।], (२) (धूमत्वात्) धुँये से युक्त होने से [यह दूसरा अवयव "हेतु" है। (३) "(यः यः) जो जो (धूमवान्) धूम-युक्त होता है (सः सः) वह-वह (अग्निमान्) अग्नि से युक्त भी होता है, (यथा) जैसे (महानसः) रसोईघर [यह तीसरा अवयव "उदाहरण" है।] (४)—(च) और (अयम्) यह [पर्वत भी] (तथा) उस ही प्रकार का [धूमयुक्त] है। पर चतुर्थ अवयव "उपनय" है इसको "वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्" इस रूप में कहना चाहिये था किन्तु इसी को यहाँ संक्षेप में "तथाचायम्" कह कर स्पष्ट किया गया है। इसमें व्याप्ति तथा पक्षधर्मता दोनों की ही प्रतीति होती है। इसी कारण इसको "व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् "अथवा" लिङ्गपरामर्श रूप अनुमान भी कहा गया है। इसका निरूपण इसी अनुमान के प्रसङ्ग में पहले किया जा चुका है। इसके अनन्तर (५) पंचम अवयव "निगमन" आता—] (तस्मात्) इसलिये (तथा) यह पर्वत भी वैसा अर्थात् अग्नि से युक्त है (इति) इस प्रकार का ज्ञान हो जाया करता है जिसे "अनुमिति" कहा जाता है। इस पंचम अवयव को ही "निगमन" कहा जाता है।

(प्रतिज्ञादिमता) प्रतिज्ञा आदि [उक्त पाँच अवयवों] से युक्त (अनेन) इस (वाक्येन) [अनुमान] वाक्य के द्वारा (प्रतिपादितात्) प्रतिपादित (१) पक्षसत्व, (२) सपक्षसत्व (३) विपक्षव्यावृत्तत्व (४) अबाधितविषयत्व तथा (५) असत्प्रतिपक्षत्व—इन (आगे कहे जाने वाले)] (पंचरूपों

पपन्नात्) पाँचरूपों से युक्त (लिङ्गात्) लिङ्ग [हेतु] से (परः) दूसरा व्यक्ति (अपि) भी (अग्निम्) अग्नि को (प्रतिपद्यते) जान लिया करता है। (तेन) इसलिये (एतत्) यह (परार्थानुमानम्) दूसरे का बोधक अनुमान अर्थात् "परार्थानुमान" कहा जाता है।

[अनुमान वाक्य के पाँच अवयव (अङ्ग) हुआ करते हैं। इन पाँचों को क्रमशः (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु, (३) उदाहरण (४) उपनय और (५) निगमन—कहा गया है। "पर्वतोऽग्निमान्" यह (१) प्रतिज्ञा है। 'धूमवत्वात्' यह (२) हेतु है। "यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः"—यह (३) उदाहरण है। "तथा चायम्" इसका स्पष्टरूप है— "वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्"—यह (४) 'उपनय' नामक अङ्ग है। तथा "तस्मात्तथा"— जिसका स्पष्टरूप है–"तस्मात् पर्वतोऽग्निमान–" यह (५) 'निगमन' नामक अवयव है।

लिङ्ग अथवा हेतु के भी पाँच रूप हुआ करते हैं जैसा कि कहा भी गया है "पंचरूपोपपन्नात् लिङ्गात्"। ये पाँचरूप हैं :—(१) पक्षसत्व (२) सपक्षसत्व (३) विपक्षव्यावृतत्व (४) अबाधित विषयत्व तथा (५) असत्प्रतिपक्षत्व। इन पाँचों रूपों का निरूपण आगे यथास्थान किया जायेगा।]।

उपर्युक्त विवरण में धूम को अग्नि का हेतु कहा गया है। इस हेतु के तीन प्रकार हुआ करते हैं—( ) अन्वयव्यतिरेकी (२) केवलान्वयी (३) केवलव्यतिरेकी। अब यहाँ प्रथम प्रकार के अन्वय व्यतिरेकी हेतु का प्रतिपादन करते हैं :—

अत्र पर्वतस्याग्निमत्वं साध्यं, धूमवत्त्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्वात्। तथा हि यत्र यत्र धूमवत्वं तत्राग्निमत्वं यथा महानसे इत्यन्वयव्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे इतीयं व्यतिरेकिव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

अन्वयव्यतिरेकी हेतु—

(अत्र) यहाँ [इस उपर्युक्त "पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात्" अनुमानवाक्य में] (पर्वतस्य) पर्वत का (अग्निमत्वम्) अग्नि से युक्त होना (साध्यम्) साध्य है, (धूमवत्वम्) धूमवान् होना (हेतुः) हेतु है। (च) और (सः) वह [हेतु] (अन्वयव्यतिरेकी) अन्वयव्यतिरेकी [हेतु] है [क्योंकि इस हेतु की अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही प्रकार की व्याप्तियों

में उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। अतः यह हेतु] (अन्वयेन] अन्वय (च) और (व्यतिरेकेण) व्यतिरेक [दोनों से] (व्याप्तिमत्वात्) व्याप्ति युक्त होने के कारण [अन्वयव्यतिरेकी हेतु ही कहा जायगा]। (तथा हि) जैसे कि (यत्र यत्र) जहाँ जहाँ (धूमवत्वम्) धूमवत्व [होता है] (तत्र तत्र) वहाँ वहाँ (अग्निमत्वम्) अग्निमत्व [होता है] (यथा) जैसे कि (महानसे) रसोई घर में। (इति) यह (अन्वयव्याप्तिः) अन्वयव्याप्ति हुयी। (महानसे) रसोई घर में (धूमाग्नयोः) धुँये और अग्नि दोनों की (अन्वय-सद्भावात्) सत्ता विद्यमान होने से। (एवम्) इसी प्रकार (यत्र) जहाँ (अग्निः) अग्नि (नास्ति) नहीं हुआ करती है (तत्र) वहाँ (धूमः अपि) धुँआ भी (नास्ति) नहीं हुवा करता है (यथा) जैसे (महाह्रदे) जलाशय अथवा तालाब में। (इति) इस प्रकार (इयम्) यह (व्यतिरेकव्याप्तिः) व्यतिरेक-व्याप्ति हुयी। (महाह्रदे) तालाब अथवा जलाशय में (धूमाग्न्योः) धूम और अग्नि के (व्यतिरेकस्य) व्यतिरेक अथवा अभाव के (सद्भावदर्शनात्) विद्यमान होने से।

[हेतु सम्बन्धी जो तीन प्रकार कहे गये हैं उनका सभी का आधार दो प्रकार की व्याप्ति ही है। (१) अन्वयव्याप्ति (२) व्यतिरेकव्याप्ति। जिस स्थल पर दोनों ही प्रकार की व्याप्तियाँ बन सकती हैं वहाँ पर उस हेतु को "अन्वय-व्यतिरेकी हेतु" कहा जाता है। अथवा दूसरे शब्दों में इस हेतु के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक से व्याप्ति अथवा साहचर्य नियम का निश्चय किया जाय उसे अन्वय-व्यतिरेकी हेतु जानना चाहिये। जैसे कोई व्यक्ति पर्वत पर जाकर कहे कि—"यह पर्वत अग्नि से युक्त है धूमयुक्त होने से" यहाँ पर 'अग्नि' साध्य है तथा 'धूम' साधन अथवा हेतु है। यह हेतु अन्वय व्यतिरेकी है क्योंकि इस हेतु में दोनों ही प्रकार की व्याप्तियाँ विद्यमान हैं।

इस प्रकार व्याप्ति भी दो प्रकार की हुयी (१) अन्वय व्याप्ति (२) व्यतिरेक व्याप्ति (१) 'अन्वय' का अर्थ है "तत्सत्वे तत्सत्त्वम्" अर्थात एक के होने पर दूसरे का होना। जहाँ 'साधन' के होने पर 'साध्य' की सत्ता दिखलायी जाती है। वहाँ अन्वयव्याप्ति होती है। इस व्याप्ति में साधन (हेतु) 'व्याप्य' होता है और 'साध्य' 'व्यापक' होता है। 'व्यापक' का अर्थ है—"अधिक-देशवृत्तित्वं व्यापकत्वम्" अर्थात् अधिक देश में रहने वाला। और 'व्याप्य' का अर्थ है—"न्यूनदेशवृत्तित्वम् व्याप्यत्वम्" अर्थात् न्यून देश में रहने वाला। कहने का तात्पर्य यह है कि 'व्याप्य' की अपेक्षा 'व्यापक' अधिक स्थानों पर रहा करता है। "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" इस व्याप्ति में साधन

(हेतु) अथवा 'व्याप्य' धूम है तथा 'साध्य' अथवा 'व्यापक' अग्नि है। इसमें (व्यापक—) अग्नि (व्याप्य—) धूम की अपेक्षा अधिक देश अथवा स्थान में विद्यमान है। क्योंकि जहाँ धूम होता है। वहाँ अग्नि तो होती ही है। दूसरी बात है कि जहाँ अग्नि हो वहाँ धूम न हो—जैसे—गरम किये गये लोहे के गोले में। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि धूम और अग्नि का 'व्याप्य-व्यापकभाव" सम्बन्ध है। अतएव इन दोनों की व्याप्ति 'अन्वय-व्याप्ति' है। दो भाव-पदार्थों की व्याप्ति का ही नाम 'अन्वयव्याप्ति' है। इसके स्वरूप को तर्कभाषाकार ने—"यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र अग्निमत्त्वं यथा महानसे" इस वाक्य द्वारा स्पष्ट किया है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'धूमवत्त्व' हेतु-अन्वय-व्याप्ति से युक्त है।

(२) इसके अतिरिक्त दूसरी व्याप्ति है 'व्यतिरेकव्याप्ति'। धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध में व्यतिरेक-व्याप्ति भी विद्यमान है। 'व्यतिरेक' का अर्थ है-"अभाव"। अर्थात् "तदभावे तदभावः"—एक के न होने पर दूसरे का न होना अथवा एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव होना। साध्य (व्यापक) के अभाव में साधन (हेतु)—'व्याप्य' का अभाव ही व्यतिरेक-व्याप्ति कहलाती है।

इस 'व्यतिरेकव्याप्ति' में जो साध्य का अभाव होता है वह व्याप्य होता है तथा साधनाभाव ही 'व्यापक' होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि अन्वय व्याप्ति में जो 'व्याप्य' होता है उसका अभाव ही व्यतिरेक-व्याप्ति में 'व्यापक' हुआ करता है तथा अन्वय व्याप्ति में जो 'व्यापक' हुआ करता है। उसका अभाव ही (व्यतिरेक-व्याप्ति में) 'व्याप्य' हुवा करता है। अतः धूमवत्त्व हेतु से संबन्धित व्यतिरेक व्याप्ति यह हुयी—"यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः यथा महाह्रदे" अथवा "यत्र-यत्र वह्निमत्त्वाभावः तत्र तत्र धूमवत्त्वाभावः" यथा-महाह्रदे"। इस व्याप्ति में 'व्याप्य' सदैव प्रथम आता है और 'व्यापक' उसके पश्चात्। यहाँ 'वह्नि का अभाव' ही व्याप्य है तथा धूम का अभाव 'व्यापक'। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ अग्नि की सत्ता नहीं हुआ करती है वहाँ धूम भी नहीं हुआ करता है—जैसे तालाब या जलाशय में। जलाशय में अग्नि नहीं है, अतः वहाँ धूम भी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'धूमवत्त्व' हेतु में व्यतिरेकि-व्याप्ति भी विद्यमान है। अतः उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'धूमवत्त्व' हेतु "अन्वय-व्यतिरेकी हेतु" है]।

अब यहाँ "व्यतिरेक-व्याप्ति" के प्रयोग का कथन किया जाता है :—

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ यद्व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः। यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम्—

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
व्याप्यस्यवचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्वतः॥

कुमारिलभट्ट—श्लोकवार्तिक—अनु॰ १२१-१२३॥

(व्यतिरेकव्याप्तेः) व्यतिरेक व्याप्ति के [बनाने का] (तु) तो (अयम्) यह (क्रमः) है कि (अन्वयव्याप्तौ) अन्वय-व्याप्ति में (यत्) जो (व्याप्यम्) व्याप्य [होता है] (तद् अभावः) उसका अभाव (अत्र) यहाँ [व्यतिरेक-व्याप्ति में] (व्यापकः) 'व्यापक' होता है (च) और (यत्) जो [अन्वय-व्याप्ति में] (व्यापकः) व्यापक हुवा करता है। (तद्-अभावः) उसका अभाव ही (अत्र) यहाँ [व्यतिरेक-व्याप्ति में] (व्याप्यः इति) 'व्याप्य' हुआ करता है। (तदुक्तम्) जैसा कि [कुमारिलभट्ट द्वारा रचित श्लोक-वार्तिक नामक ग्रन्थ में उनके द्वारा] कहा भी गया है :—

(यादृक् हि) वैसा कि (भावयोः) दो भावपदार्थों का [दो सत् पदार्थों का—जैसे धूम और अग्नि का] (व्याप्यव्यापक भावः) व्याप्यव्यापक-भाव [धूम अर्थात् साधन-व्याप्य और साध्य अर्थात् वह्नि व्यापक] (इष्येत) माना जाता है। (तयोः) इन [दोनों] के (अभावयोः) अभाव [अर्थात् वह्न्यभाव तथा धूमाभाव] का (तस्मात्) उससे (विपरीतः) उलटा [वह्न्य-भाव व्याप्य तथा धूमाभाव व्यापक] (प्रतीयते) जाना जाया करता है।

(अन्वये) अन्वय-व्याप्ति में (साधनम्) हेतु [धूम आदि] (व्याप्यम्) व्याप्य (इष्यते) माना जाता है तथा (साधम्) साध्य (अग्नि आदि) (व्यापक मिष्यते) व्यापक माना जाता है। [किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति में–] (अन्यथा) दूसरे ही प्रकार से [होता है अर्थात् उलटा हो जाया करता है।] यहाँ [व्यतिरेक व्याप्ति में–] (तत् अभावः) उस [साध्य] का अभाव (व्याप्यः) व्याप्य [तथा] (साधनात्ययः) साधन का अभाव (व्यापकः) 'व्यापक' हुआ करता है।

(व्याप्ति का प्रयोग करने में–] (व्याप्यस्य) व्याप्य का (वचनम्) कथन (पूर्वम्) पहले [यत्र-यत्र के साथ] (ततःपरम्) और इसके पश्चात् (व्यापकस्य) व्यापक का कथन [तत्र-तत्र के साथ] करना चाहिये। (एवम्) इस प्रकार

(परीक्षिता) भली-भाँति परीक्षा की गयी हुई (व्याप्तिः) व्याप्ति (तत्वतः) तत्वरूप से अथवा उचित प्रकार से (स्फुटीभवति) स्पष्ट हो जाती है।

जिस भाँति दो भाव-पदार्थों के स्वाभाविक-सम्बन्ध अथवा व्याप्ति को प्रदर्शित किया जाता है, ठीक उस ही प्रकार से उन भाव पदार्थों के अभाव की व्याप्ति को प्रदर्शित किया जाता है। अभाव-सम्बन्धी व्याप्ति को ही 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहा जाता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि दो भाव पदार्थों की अन्वय-व्याप्ति में [जैसे धूम और अग्नि की व्याप्ति में] साधन 'व्याप्य' होता है और साध्य व्यापक। धूम और अग्नि भी व्याप्ति में धूम (साधन) 'व्याप्य' है और अग्नि (साध्य) 'व्यापक' है। इन पदार्थों की अभाव सम्बन्धी व्यतिरेक-व्याप्ति में उक्त क्रम उलटा हो जाया करता है। इसमें 'साध्य' का अभाव 'व्याप्य' तथा 'साधन' का अभाव व्यापक' होता है। जैसे "यत्र यत्र अग्नेरभावः तत्र-तत्र धूमाभावः" अर्थात् जहाँ अग्नि नहीं हुआ करती है वहाँ धूम [भी] नहीं हुआ करता है। यहाँ अग्नि (साध्य) का अभाव--साध्याभाव--'व्याप्य' है और धूम (साधन) का अभाव-साधनाभाव--'व्यापक' है। व्याप्ति में 'व्याप्य' को पहले रखा जाता है तथा 'व्यापक' को उसके पश्चात्। जैसे अन्वय-व्याप्ति में --यत्र यत्र धूमः (व्याप्य) तत्र-तत्र अग्निः (व्यापक) यह क्रम होता है, उसी प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति में भी "यत्र-यत्र वह्नेरभावः (व्याप्य) तत्र-तत्र धूमाभावः 'व्यापक' "यह क्रम हुआ करता है। इस भाँति दोनों ही प्रकार की व्याप्तियों के बनाने का प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

इस ही आधार पर यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है 'धूम' अथवा 'धूमवत्व' हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही व्याप्तियाँ विद्यमान हैं। अतः उक्त हेतु अन्वय व्यतिरेकी-हेतु है। इसी सन्दर्भ का अत्र उपसंहार किया जाता है:-

तदेव धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात्। तत्राप्यन्वयस्यावक्रत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

तदेव धूमवत्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येप्यऽनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। 'यथा-शब्दो, नित्यः कृतकत्वात् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

(तत् एवम्) तो इस प्रकार (धूमवत्वे) धूमवत्व (हेतौ) हेतु में (अन्वयेन) अन्वय (च) और (व्यतिरेकेण) व्यतिरेक [दोनों प्रकार की

व्याप्तियों में उदाहरण मिल जाने से दोनों ही प्रकार] से (व्याप्तिः) व्याप्ति (अस्ति) है । (तु) किन्तु (यत्) जो ["पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्", यः यः धूमवान् सः सः अग्निमान्, यथा महानसः—इत्यादि अनुमान-वाक्य में] (वाक्ये) वाक्य में (केवलम्) केवल (अन्वयव्याप्तेः एव) अन्वय-व्याप्ति का ही (प्रदर्शनम्) प्रदर्शन किया गया है (तत) वह (एकेन अपि) एक [ही प्रकार की व्याप्ति के प्रदर्शन] से (चरितार्थत्वात्) ही निर्वाह किया जा सकता है—[इसी कारण किया गया है ।] । (तत्र अपि) उसमें भी [व्यतिरेक-व्याप्ति की अपेक्षा] (अन्वयस्य) अन्वय-व्याप्ति के (अवक्रत्वात्) अवक्र अर्थात सरल होने से (प्रदर्शनम्) [केवल अन्वय-व्याप्ति का ही] (प्रदर्शनम्) प्रदर्शन किया गया है । (ऋजुमार्गेण) सरलमार्ग से (सिद्ध्यतः) सिद्ध होने वाले (अर्थस्य) अर्थ [प्रयोजन] को (वक्रेण) (वक्रेण) वक्र-मार्ग से (साधनायोगात्) साधन अयुक्त होने से [अर्थात् सिद्ध किया जाना उचित न होने के कारण ही केवल अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन किया गया है ।] (न तु) न कि (व्यतिरेकव्याप्तेः) व्यतिरेकव्याप्ति के (अभावात्) अभाव के कारण [केवल अन्वय-व्याप्ति का प्रदर्शन किया गया है] ।

(तत् एवम्) इस प्रकार [अन्वय व्याप्ति में 'रसोईघर' तथा व्यतिरेकव्याप्ति में 'जलाशय'—दोनों ही प्रकारके उदाहरणों के उपलब्ध हो जाने से (धूमवत्त्वम्) धूमवत्व (हेतुः) हेतु (अन्वय-व्यतिरेकी) अन्वय-व्यतिरेकीहेतु है ।

(एवम्) इसी प्रकार (अनित्यत्व-आदौ) अनित्यत्व आदि (साध्य) के साध्य होने पर (कृतकत्वादयः) कृतकत्व आदि (अन्ये—) दूसरे (हेतवः) हेतु (अपि) भी (अन्यवव्यतिरेकिणः) अन्वयव्यतिरेकी [हेतु ही] (द्रष्टव्याः) समझने चाहिये । (यथा) जैसे—(शब्दः) शब्द (अनित्यः) अनित्य है (कृतकत्वात्) कृतक अर्थात् जन्य होने से (घटवत्) घट के समान [भाव यह है कि जन्य होने से शब्द भी घट के ही समान अनित्य-होता है ।] । (यत्र) जहाँ (कृतकत्वम्) कृतकत्व [जन्यत्व] रहा करता है (तत्र) वहाँ (अनित्यत्वम्) अनित्यत्व भी रहा करता है । [यह अन्वय-व्याप्ति हुयी । इसका उदाहरण 'घट' है । क्योंकि घट में कृतकत्व (जन्यत्व) तथा अनित्यत्व दोनों ही विद्यमान हैं] । (यत्र) जहाँ (अनित्यत्वाभावः) अनित्यत्व का अभाव होता है (तत्र) वहाँ (कृतकत्वाभावः) कृतकत्व [जन्यत्व] का भी अभाव होता है (यथा) जैसे (गगने) आकाश में [यह व्यतिरेक-व्याप्ति हुयी, इसका उदाहरण आकाश है । अतः कृतकत्व हेतु भी अन्वयव्यतिरेकी-हेतु हुआ ।

अभी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'धूमवत्व' हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही प्रकार की व्याप्तियाँ विद्यमान हैं। अतः यह हेतु अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु कहा जायगा। इस विषय में यह शंका उत्पन्न होती है कि जब 'धूमवत्व' हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु' है तब आपने "पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात्", यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः" इत्यादि अनुमान के प्रयोग में केवल अन्वयव्याप्ति का ही प्रयोग क्यों उपस्थित किया है। व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन क्यों नहीं किया। इसके समाधान में यह कहा गया है "एकेनाऽपि चरितार्थत्वात्"। अर्थात् इस 'धूमवत्व' हेतु में एक (अन्वय) व्याप्ति से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है अथवा काम चल जाता है तो फिर दोनों व्याप्तियों को प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता न थी। इस पर पुनः यह शङ्का की जा सकती है कि जब एक ही व्याप्ति से काम चला लेना है तो यह काम (अथवा प्रयोजन) व्यतिरेक-व्याप्ति से क्यों नहीं किया गया? अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन क्यों किया है। इसका समाधान यह है कि अन्वय तथा व्यतिरेक—दोनों ही प्रकार की व्याप्तियों में अन्वय व्याप्ति का प्रयोग सरल है। अतः सरलता की दृष्टि से उसी का प्रयोग दिखलाया गया है। यदि कोई कार्य सरल उपाय द्वारा ही सिद्ध हो जाय तो वहाँ वक्र-मार्ग (अथवा उपाय) का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर इस 'धूमवत्व' हेतु में केवल अन्वय व्याप्ति का ही प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। वैसे है यह हेतु दोनों ही प्रकार की व्याप्तियों से युक्त। इसी कारण इसे अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु को श्रेणी में रखा गया है।

इसी भाँति जिस-जिस हेतु में उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की व्याप्तियाँ विद्यमान होंगी वे सभी हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु' ही कहे जावेंगे। जैसे—"शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, घटवत्" अर्थात् शब्द अनित्य है कृतक (जन्य) होने से, घट के समान। इस स्थल पर शब्द की अनित्यता को सिद्ध करना है। अतः अनित्यत्व 'साध्य हुआ। इसकी सिद्धि के लिये 'कृतकत्व' (जन्यत्व) हेतु दिया गया है। यह 'कृतकत्व' हेतु भी 'अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु' है। इस हेतु में दोनों प्रकार की व्याप्तियाँ इस प्रकार प्रदर्शित की जायेंगी—"यत्र यत्र कृतकत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्' अर्थात् जहाँ जहाँ जन्यत्व होता है वहाँ वहाँ अनित्यत्व भी होता है जैसे घट जन्य (कार्यरूप) है, अतः अनित्य भी है। इस अन्वय व्याप्ति में साधन (व्याप्य) है और साध्य (व्यापक)—अनित्यत्व है।

व्यतिरेक व्याप्ति में यह क्रम उलट जाता है तथा व्याप्य और व्यापक-दोनों ही के साथ 'अभाव' पद भी जुड़ जाता है। [इसको पहले स्पष्ट किया

जा चुका है।]। तदनुसार यहाँ अनित्यत्वाभाव [अर्थात् साध्याभाव] ही साधन (व्याप्य) होगा और कृतकत्वाभाव [अर्थात्—साधनाभाव] ही साध्य (व्यापक) होगा। व्याप्ति में व्याप्य पहले आता है और व्यापक उसके पश्चात्। अतः इस (कृतकत्व) हेतु की व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—"यत्र यत्र अनित्यत्वाभावः तत्र तत्र कृतकत्वाभावः" यथा गगने। अर्थात् जहाँ जहाँ अनित्यत्व का अभाव होगा [अनित्यत्व के अभाव का अर्थ हुआ नित्यत्व, अर्थात् जहाँ जहाँ नित्यत्व होगा] वहाँ वहाँ कृतकत्व [जन्यत्व अथवा कार्यरूपत्व] का भी अभाव होगा [अर्थात् उन नित्य पदार्थों की उत्पत्ति भी नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि जो नित्य है उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।] जैसे आकाश नित्य है उसकी उत्पत्ति किसी 'कारण' से नहीं होती है। अतः आकाश 'कार्य' न होने के कारण किसी से जन्य भी नहीं है। इस भाँति स्पष्ट हो गया कि 'कृतकत्व' हेतु में भी अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही व्याप्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं, अतः यह हेतु भी 'धूमवत्व' हेतु के समान ही 'अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु' है।

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। तद्यथा सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति। यथा घटः। न चेद् जीवच्छरीरं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यम्, प्राणादिमत्व हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात्। तथा हि यत् प्राणादिमत् तत् सात्मकम् यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव।

केवल-व्यतिरेकी-हेतु—

(कश्चित्) कोई (हेतुः) हेतु (केवलव्यतिरेकी) केवल व्यतिरेकी ही होता है। (तत् यथा) जैसे—(सात्मकत्वे) सात्मकत्व [आत्मा से युक्त होने] के (साध्ये) साध्य होने में (प्राणादिमत्वम्) प्राणादिमत्व [प्राण आदि से युक्त होना] (हेतुः) हेतु [केवल व्यतिरेकी हेतु] है। [अनुमान वाक्य में प्रयोग] (यथा) जैसे (जीवत्-शरीरम्) जीवित शरीर (सात्मकम्) आत्मा से युक्त है (प्राणादिमत्वात्) प्राण आदि से युक्त होने से–[इस अनुमान में] (यत्) जो (सात्मकम्) आत्मा से युक्त नहीं हुआ करता है (तत्) वह (प्राणादिमत्) प्राण आदि से युक्त भी (न भवति) नहीं हुआ करता है [यह व्यतिरेक-व्याप्ति हुयी- उदाहरण—है—] (यथा) जैसे

(घटः) घड़ा । (च) और (इदम्) यह (जीवत्-शरीरम्) जीवितशरीर (तथा) वैसा [अर्थात् प्राण आदि से युक्त के अभाव वाला प्राण आदि से रहित] (न) नहीं है (तस्मात्) इसलिये (तथा) वैसा [अर्थात् सात्मकत्व के अभाव से युक्त] भी (न) नहीं है [अर्थात् सात्मक अथवा आत्मा से युक्त ही है] (अत्र) यहाँ [इस अनुमान में] (जीवत् शरीरस्य) जीवित-शरीर का (सात्मकत्वम्) आत्मा से युक्त होना (साध्यम्) साध्य है और (प्राणादिमत्त्वम्) प्राण आदि से युक्त होना (हेतुः) हेतु है । (च) और (सः) वह [हेतु] (अन्वयव्याप्तेः) अन्वयव्याप्ति [में उदाहरण] के (अभावात्) अभाव [अर्थात् न होने] से (केवलव्यतिरेकी) केवल-व्यतिरेकी है । (तथा हि) क्योंकि (यत्) जो (प्राणादिमत्) प्राणआदि से युक्त है (तत्) वह (सात्मकम्) आत्मा से युक्त है (यथा) जैसे (अमुक इति) अमुक इस प्रकार का [अन्वय व्याप्ति का] (दृष्टान्तः) दृष्टान्त अथवा उदाहरण ही (न अस्ति) नहीं [मिलता] है । [क्योंकि उदाहरण बन सकने योग्य] (सर्वम्) सम्पूर्ण (जीवत्-शरीरम्) जीवित-शरीर (पक्षः) पक्ष [की कोटि में] (एव) ही [आ जाते हैं ।] ।

[उपर्युक्त विवेचन में दो प्रकार की व्याप्तियों (१) अन्वय-व्याप्ति तथा (२) व्यतिरेक-व्याप्ति का उल्लेख किया जा चुका है । इन दो प्रकार की व्याप्तियों के आधार पर तीन प्रकार के हेतु बनते है (१) अन्वय-व्याप्ति के आधार "केवलान्वयी–हेतु" (२) व्यतिरेक-व्याप्ति के आधार पर "केवल-व्यतिरेकी-हेतु" तथा दोनों प्रकार की व्याप्तियों के योग से तृतीय (३) अन्वय व्यतिरेकी-हेतु बनता है । जिस हेतु में 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' दोनों ही प्रकार की व्याप्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं वह हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु कहलाता है । इसका स्पष्टीकरण पहले ही पूर्णरूपेण किया जा चुका है । केवल व्यतिरेकी-हेतु-वहाँ होता है कि जिस हेतु में अन्वय व्याप्ति सम्बन्धी कोई उदाहरण न मिल सके तथा केवल व्यतिरेक-व्याप्ति सम्बन्धी उदाहरण ही मिल सके । जैसे—"जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्" इस अनुमान में प्राणादिमत्व हेतु (व्याप्य) है तथा सात्मकत्व साध्य (व्यापक) है । अतः इसकी अन्वय-व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—"यत्र यत्र प्राणादिमत्वं तत्र तत्र सात्मकत्वम्" अर्थात् जहाँ २ प्राण आदि का होना विद्यमान है वहाँ २ आत्मा से युक्त [शरीर] का भी होना है । इसकी व्याप्ति के श्रेणी में तभी गणना की जा सकेगी कि जब इसका कोई उदाहरण उपलब्ध होगा । वह उदाहरण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि किसी जीवित शरीर का ही हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण जीवित

शरीर तो पक्ष-कोटि के अन्तर्गत आ जाते हैं (संदिग्धसाध्यवान् पक्षः)। इसी पक्षभूत जीवित-शरीर में सात्मकत्व की सिद्धि करनी है। यहाँ जीवित विशेषण इसी लिये रखा गया है कि मृत शरीर में तो न प्राणादि का होना ही होता है (प्राणादिमत्व) और न आत्मा से युक्त ही होना हुआ करता है। अतः जीवित-शरीर में ही आत्मा की सिद्धि करनी है। इसमें 'प्राणादिमत्व' (अर्थात् प्राण आदि से युक्त होना) हेतु है। सम्पूर्ण जीवित शरीरों के पक्ष भी कोटि में आ जाने से अन्वय-व्याप्ति का कोई उदाहरण उपलब्ध ही न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में जीवित शरीर ने आत्मा की सिद्धि के लिये 'प्राणादिमत्व' हेतु को केवलव्यतिरेकी-हेतु ही मानकर तत्सम्बन्धी व्यतिरेक व्याप्ति से ही काम लेना होगा। यह व्यतिरेक-व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—"यत्र-तत्र सात्मकत्वाभावः तत्र-तत्र प्राणादिमत्त्वाभावः" यथा घटः (इसी को तर्कभाषाकार ने "यत्सात्मकं नास्ति तत् प्राणादिमन्नभवति यथा वटः" इन शब्दों द्वारा प्रकट किया है।) अर्थात् जहाँ २ आत्मा से युक्त होना होगा वहाँ २ का प्राणादि का होना ही पाया जायगा। जैसे घड़ा। घड़ा आत्मा से युक्त नहीं है अतः उसमें प्राणादि का होना भी नहीं है। अतः इस व्यतिरेक-व्याप्ति के अन्य पट आदि अनेक उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं। अतः उक्त अनुमान में केवल व्यतिरेक-व्याप्ति में ही उदाहरण के संभव होने से "प्राणादिमत्व" हेतु को "केवल-व्यतिरेकी" हेतु ही कहना उपयुक्त है।]

सब प्रकार के लक्षण भी [जब वे हेतु रूप में प्रयुक्त होते हैं तब] केवल व्यतिरेकी-हेतु ही हुआ करते हैं। अतः "केवल-व्यतिरेकी-हेतु" के इस प्रसंग में इसका भी स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। अतः इस सम्बन्ध में तर्कभाषाकार कहते हैं:—

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्वम्। विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यं, गन्धवत्वात्। यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवत् यथापः।

प्रमाणलक्षणं वा। यथा प्रमाकरणत्वम्। तथाहि, प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्। यत्प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं यथा प्रत्यक्षाभासादि। न पुनः तथेदं, तस्मान्नतथेति। न पुनरत्र यत्प्रमाकरणं तत्प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति प्रमाणमात्रस्य पक्षीकृतत्वात्।

[इसी प्रकार] (लक्षणम्) लक्षण (अपि) भी [जब हेतु रूप में प्रयुक्त होते हैं तब वे] (केवल-व्यतिरेकी-हेतुः) केवल-व्यतिरेकी-हेतु हुआ करते हैं।

(यथा) जैसे (पृथिवीलक्षणम्) पृथिवी का लक्षण (गन्धवत्वम्) गन्धवत्व ["गन्धवती पृथिवी" यह पृथिवी का लक्षण है। उसको हेतु बनाकर जब किसी विवादग्रस्त वस्तु को पृथिवी सिद्ध करने के लिये] (विवादपदम्) विवादास्पद [वस्तु] को (पृथिवी) पृथिवी (इति) ऐसा [कहकर] (व्यवहर्तव्यम्) व्यवहार करना चाहिये, (गन्धवत्वात्) गन्ध-युक्त होने से। (यत्) जिसको (पृथिवी-इति) पृथिवी ऐसा कहकर (न व्यवह्रियते) व्यवहार नहीं किया जाता है (तत्) वह (गन्धवत्) गन्ध से युक्त (न) नहीं हुआ करता है। (यथा) जैसे (आपः) जल [यह सोदाहरण व्यतिरेक-व्याप्ति हुयी]।

(वा) अथवा (प्रमाणलक्षणम्) प्रमाण के लक्षण को ही ले लीजिये। (यथा) जैसे—(प्रमाकरणत्वम्) प्रमाकरणत्व [भी हेतु रूप में प्रयुक्त होने पर 'केवल-व्यतिरेकी-हेतु' कहा जायगा]। (तथाहि) जैसे—(प्रमाकरण-त्वात्) प्रमा का करण होने से (प्रत्यक्षादिकम्) प्रत्यक्ष आदि में (प्रमाणम्-इति) 'प्रमाण'—ऐसा (व्यवहर्तव्यम्) व्यवहार करना चाहिये। (यत्) जिसमें (प्रमाणम् इति) 'प्रमाण'—ऐसा (न व्यवह्रियते) व्यवहार नहीं किया जाता है (तत्) यह (प्रमाकरणम्) प्रमा का करण भी (न) नहीं कहा जाता है, (यथा) जैसे (प्रत्यक्षाभास—आदि) प्रत्यक्षाभास आदि। [यह व्यतिरेक व्याप्ति हुयी—इसके उदाहरण भी 'प्रत्यक्षाभास' आदि हैं]। (पुनः) फिर (इदम्) यह [प्रत्यक्षाभास-आदि] (तथा) वैसा [जहाँ 'यह प्रमाण है' ऐसा व्यवहार (न) नहीं होता है (तस्मात्) इसलिये (तथा) वैसा [प्रमाकरणत्व के अभाव वाला] (न) नहीं हुआ करता है। (पुनः) फिर (अत्र) यहाँ (यत्) जो (प्रमाकरणम्) प्रमा का करण होता है (तत्) वह (प्रमाणम्) प्रमाण होता है (इति व्यवहर्तव्यम्) ऐसा व्यवहार करना चाहिये (यथा) जैसे (अमुकः) अमुक (इति) इस प्रकार का (अन्वय दृष्टान्तः) अन्वय-दृष्टान्त (न, अस्ति) नहीं है (प्रमाण मात्रस्य) प्रमाण मात्र के ही (पक्षी कृतत्वात्) पक्ष-कोटि में होने से। अतः 'प्रमाकरणत्व' हेतु भी केवल व्यतिरेकी हेतु ही है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लक्षण का लक्षण करते हुये कहा गया है कि असाधारण-धर्म ही 'लक्षण' कहलाता है। प्रत्येक लक्षण में लक्ष्य तथा लक्षण का होना अनिवार्य है। तर्कशास्त्रीय-भाषा में लक्ष्य तथा लक्षण को साध्य एवं साधन के रूप में कहा जा सकता है। अतः लक्षण भी जब साधन अथवा हेतु रूप में प्रयुक्त होंगे तब उनकी गणना भी 'केवल व्यतिरेकी' हेतु के अन्तर्गत ही की जा सकेगी। इसका कारण यही है कि सभी लक्ष्य पदार्थ तो 'पक्ष' के

अन्तर्गत ही आजावेंगे तथा अन्वय-व्याप्ति के लिये कोई उदाहरण (दृष्टान्त) ही उपलब्ध न हो सकेगा जैसे पृथिवी के ही लक्षण को ले लीजिये–,'गन्धवती पृथिवी" अर्थात् गन्ध से युक्त होना यह पृथिवी का लक्षण है। तर्कभाषाकारने एतत्सम्बन्धी अनुमान को इस भाँति प्रदर्शित किया है:—"विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्त्तव्यम्, गन्धवत्वात्"। यहाँ सभी पार्थिवपदार्थ विवादास्पद हैं—सभी में "पृथिवी विद्यमान है" इस प्रकार का व्यवहार 'साध्य' है अथवा यों कहिये—कि सर्वत्र यह सिद्ध करता है कि सभी (पार्थिव) पदार्थों को पृथिवी नाम से कहना चाहिये, गन्ध से युक्त होने के कारण। ऐसी स्थिति में इस 'गन्धवत्व' हेतु की व्याप्ति यह बनेगी—"यत्र-यत्र गन्धवत्वं तत्र-तत्र पृथिवीति "व्यवहारः" अर्थात् जहाँ जहाँ गन्धवत्व होता है वहाँ वहाँ पृथिवीत्व भी हुआ करता है। [क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ में गन्धवत्व होता ही नहीं है]। फलस्वरूप पार्थिव परमाणु से लेकर भूमण्डल पर्यन्त सभी पदार्थ पक्ष (पृथिवी) के अन्तर्गत ही आ जावेंगे तथा ऐसा कोई पदार्थ उपलब्ध न हो सकेगा कि जिसे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सके। क्योंकि पृथिवी (पक्ष) में ही गन्ध है, उसके अतिरिक्त कहीं भी गन्ध न होगी। अतः उदाहरण के अभाव में गन्धवत्व (हेतु) सम्बन्धी कोई उदाहरण अथवा दृष्टान्त ही उपलब्ध न होगा। परिणामस्वरूप इस 'गन्धवत्व' (लक्षण सम्बन्धी) हेतु को अन्वयी हेतु' न कहा जा सकेगा। अतः इसे 'केवल व्यतिरेकी हेतु' ही कहा जायगा। इस हेतु का उदाहरण भी मिल जायगा। इस व्यतिरेकि-हेतु से सम्बन्धित अनुभाव बनेगा—"यत्र यत्र पृथिवीति व्यवहर्तव्यत्वाभावः तत्र-तत्र गन्धवत्वाभावः "यथा प्रायः" यह ठीक भी है क्योंकि जहाँ जहाँ पर पृथ्वा न होगी वहाँ वहाँ पर गन्ध भी न होगी। जैसे जल में गन्ध नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेक-व्याप्ति का उदाहरण भी मिल जायगा। अतः 'गन्धवत्व' हेतु को 'केवल-व्यतिरेकी-हेतु' ही कहा जायगा।

इस 'केवल-व्यतिरेकी हेतु' का दूसरा उदाहरण है—"प्रमाकरणत्व"। इस हेतु की अन्वय-व्याप्ति बनेगी—"यत्र-यत्र प्रमाकरणत्वं तत्र-तत्र प्रत्यक्षादि-व्यवहर्त्तव्यत्वम्"। किन्तु इस अन्वय-व्याप्ति का कोई भी ऐसा उदाहरण न मिल सकेगा कि जिसमें यह दिखलाया जा सके कि उसके लिये प्रमाकरणत्व हेतु के विद्यमान होने से प्रमाण शब्द का व्यवहार किया जा सकता है। क्योंकि जो भी प्रमा का करण होगा उसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के अन्तर्गत ही मानना होगा [क्योंकि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण प्रमा के करण है। अतः जितने भी अनुमान आदि अन्य प्रमाण हैं वे सभी

प्रमाण (पक्ष) के अन्तर्गत ही आ जावेंगे।] फलस्वरूप 'प्रमाकरणत्व' हेतु में अन्वय-व्याप्ति न घट सकेगी तथा वह 'अन्वयी-हेतु' न कहा जा सकेगा। ऐसी स्थिति में इस हेतु को भी 'केवल-व्यतिरेकी हेतु' ही कहा जायगा। तब इसकी व्याप्ति बनेगी—"यत्र-यत्र प्रत्यक्षादि व्यवहरत्वाभावः तत्र-तत्र प्रमाकरणत्वाभावः" यथा प्रत्यक्षाभासादयः। इसके उदाहरण भी मिल जावेंगे। जैसे—सायंकाल के समय अन्धकार में जाते समय मार्ग में पड़ी हुयी रज्जु (रस्सी) को देखकर सर्प का सन्देह हो जाया करता है तो यहाँ प्रत्यक्षादि के व्यवहार का अभाव होने से प्रमाकरण का भी अभाव ही रहेगा। अतः "प्रमाकरणत्व" हेतु भी "केवल-व्यतिरेकिहेतु" ही है।

ऊपर उद्धृत किये गये दोनों ही अनुमान-प्रयोगों में "विवादास्पदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यम्" "प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्" ऐसा कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस प्रकार "पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात्" में कहा गया है उसी प्रकार यहाँ भी "प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं प्रमाकरणत्वात्" [अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं प्रमा का करण होने से] ऐसा कहना चाहिये था। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि—

अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं, तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोर भेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात्। तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

(अत्र) यहाँ (व्यवहारः) व्यवहार [ही] (साध्यः) साध्य है, (प्रमाणत्वम्) प्रमाणत्व (न) नहीं। (तस्य) उस [प्रमाणत्व] के (प्रमाकरणत्वात् हेतोः) प्रमाकरणत्वरूप हेतु से (अभेदेन) अभिन्न होने से (साध्याभेददोषप्रसङ्गात्) साध्याभेद [हेतु तथा साध्य का अभेदरूप] दोष के प्राप्त हो जाने से [इस उक्त स्थल पर 'प्रमाणत्व' को साध्य नहीं कहा गया है अपितु प्रमाण-व्यवहार को ही साध्य कहा गया है।] (तत् एवम्) इस प्रकार (केवल व्यतिरेकिणः) केवल व्यतिरेकी हेतु (दर्शिताः) दिखला दिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि "प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्य प्रमाकरणत्वात्" इत्यादि लक्षण सम्बन्धी अनुमान के प्रयोगों में "पर्वतोऽग्निमान धूमवत्वात्" इत्यादि प्रयोगों में 'अन्तर' है और वह यह कि 'पर्वतोऽग्निमान्' इत्यादि अनुमान प्रयोगों में पर्वत में अग्नि का होना ही सिद्ध करना है। यहाँ पर अग्नि 'साध्य' है। किन्तु "प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमितिव्यवहर्तव्यम्" इत्यादि प्रयोगों में 'प्रमाणत्व' साध्य नहीं है अपितु यहाँ "प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं" इस प्रकार के व्यवहार को ही सिद्ध करना है। अतः यहाँ "प्रत्यक्ष आदि को प्रमाण शब्द कहा जाना" ही साध्य है। यदि इस स्थल पर 'प्रमाणत्व' को ही साध्य मान लिया जायेगा तो साध्य (प्रमाणत्व) और साधन [हेतु] (प्रमाकरणत्व)

में कोई भेद ही न रह जायगा क्योंकि प्रमाकरणत्व ही प्रमाणत्व है। अतः साध्य और साधन (हेतु) दोनों एक हो जावेंगे। किन्तु यह सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि 'साध्य' तो उसे कहा जाता है कि जो अभी असिद्ध है तथा जिसे सिद्ध करना है। और हेतु तो अपने रूप में ही विद्यमान रहता हुआ साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हुआ करता है। अतः साध्याभेद अर्थात् साध्य एवं हेतु का एक हो जाना रूप दोष आने से यहाँ 'प्रमाणत्व' को साध्य न कहा जाकर "यह प्रमाण है," इस प्रकार के व्यवहार को ही साध्य कहा गया है; अतः वह ठीक ही है। इसी भाँति जहाँ भी लक्षण को 'केवल व्यतिरेक हेतु' के रूप में प्रस्तुत करना होता है वहाँ 'व्यवहार' को ही साध्य मानना पड़ता है।

इस भाँति 'केवल-व्यतिरेकी-हेतु' के तीन उदाहरण प्रदर्शित किये गये। अब "केवलान्वयी हेतु" का वर्णन करते हैं:—

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा-शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्याभिधेयत्वं साध्यं, प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति यथामुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेयश्चाभिधेयश्च।

(कश्चिद् अन्य) कोई अन्य (हेतुः) हेतु (केवलान्वयी) 'केवलान्वयी' होता है। (यथा) जैसे–(शब्दः) शब्द (अभिधेयः) अभिधेय (अभिधाशक्ति द्वारा कथन किये जाने योग्य, अथवा किसी शब्द द्वारा कथन किये जाने योग्य] है (प्रमेयत्वात्) प्रमेय [प्रमा (ज्ञान) का विषय] होने से। (यत्) जो (प्रमेयम्) प्रमेय होता है (तत्) वह (अभिधेयम्) अभिधेय होता है (यथा) जैसे (घटः) घड़ा। (च) और (अयं) यह [शब्द] भी (तथा) उस ही प्रकार का [प्रमेय] है (तस्मात्) इसलिये (तथा इति) वैसा ही [अभिधेय] है। (अत्र) यहाँ (शब्दस्य) शब्द का (अभिधेयत्वम्) अभिधेयत्व (साध्यम्) साध्य है, (प्रमेयत्वम्) प्रमेयत्वम् ही (हेतुः) हेतु है। (च) और (स) वह (केवलान्वयी) केवलान्वयी [हेतु] (एव) ही है। [क्योंकि] (यत्) जो (अभिधेयम्) अभिधेय (न भवति) नहीं होता है (तत्) वह (प्रमेयम्) प्रमेय (अपि) भी (न भवति) नहीं होता है। [इस व्यतिरेक-व्याप्ति में] (यथा) जैसे (अमुकः) अमुक (इति) इस प्रकार का (व्यतिरेक दृष्टान्ताभावात्) व्यतिरेक सम्बन्धी कोई उदाहरण नहीं मिलता है। (हि) क्योंकि (सर्वत्र-सर्वत्र) [प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणों द्वारा ज्ञात होने वाला] (प्रामाणिकः) प्रामाणिक (अर्थः) अर्थ (एव) ही (दृष्टान्तः) दृष्टान्त अथवा

उदाहरण हो सकता है (च) और (स) वह (प्रमेयः) प्रमेय भी होता है (च) और (अभिधेयः) अभिधेय भी [होता है]। [अतः 'प्रमेयत्वात्' हेतु सम्बन्धी व्यतिरेकव्याप्ति का कोई उदाहरण उपलब्ध न होने के कारण इस हेतु को 'केवलान्वयी-हेतु' ही कहा जायगा।]

"केवलान्वयीहेतु" उसे कहा जा सकता है कि जिसमें केवल अन्वय व्याप्ति का ही उदाहरण मिलता है; व्यतिरेक—व्याप्ति का नहीं। जैसे "शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्"। यहाँ शब्द का अभिधेयत्व ही साध्य है [अभिधेय का अर्थ है कि जो अभिधा शक्ति का विषय हो अथवा जो शब्द द्वारा कहे जाने योग्य हो।] तथा 'प्रमेयत्व' ही हेतु है। प्रमेय का अर्थ है—प्रमा (यथार्थ-ज्ञान) का विषय। घट में प्रमेयत्व भी है और अभिधेयत्व भी। अतः "यत्र यत्र शब्दस्याभिधेयत्वं तत्र-तत्र प्रमेयत्वम्" यथा घटः" यह अन्वय-व्याप्ति ठीकरूप से इस प्रमेयत्व हेतु में विद्यमान है तथा उसका उदाहरण भी मिल रहा है। अतः यह हेतु" केवलान्वयी-हेतु" है। यदि इस हेतु को व्यतिरेक-व्याप्ति के रूप में प्रदर्शित किया जाय तो उसका कोई उदाहरण ही न मिलेगा। व्यतिरेक व्याप्ति यह बनेगी—"यद् अभिधेयं न भवति तत् प्रमेयमपि न भवति" अथवा "यत्र-यत्राभिधेयत्वाभावः तत्र तत्र प्रमेयत्वाभावः"। किन्तु इस व्याप्ति का कोई उदाहरण मिल सकना संभव नहीं है। क्योंकि किसी प्रामाणिक–[प्रमाण-सिद्ध] अर्थ को ही उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। शशश्रृङ्ग [खरगोश सींग] जैसे अप्रामाणिक अर्थ को तो उदाहरण नहीं बनाया जा सकता है। प्रमाणसिद्ध अथवा प्रामाणिक अर्थ [विषय] वही हो सकता है कि जो प्रमा का विषय अर्थात् प्रमेय हो। इस प्रकार का जो भी अर्थ होगा वह निश्चित रूप से शब्द द्वारा कथन किये जाने योग्य अथवा अभिधेय अवश्य ही होगा। क्योंकि किसी भी प्रमेय–अर्थ का कथन शब्द द्वारा ही किया जाता है। अतः ऐसा पदार्थ कि जिसमें प्रमेयत्व तथा अभिधेयत्व दोनों का ही अभाव दृष्टिगोचर हो, वही व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण बन सकेगा। किन्तु ऐसा कोई 'अर्थ' उपलब्ध ही नहीं है। अतः उदाहरण की अनुपलब्धि के कारण "प्रमेयत्वात्" हेतु सम्बन्धी व्यतिरेक-व्याप्ति का बन सकना संभव नहीं है। अतः "प्रमेयत्वात्" हेतु "केवलान्वयी–हेतु" ही है।

इस प्रकार (१) अन्वयव्यतिरेकी (२) केवल व्यतिरेकी और (३) केवलान्वयी तीनों प्रकार के हेतुओं का सोदाहरण विवेचन कर दिया गया। अब इसके पश्चात् 'हेतु' से सम्बन्धित पञ्चरूपों का वर्णन किया जायगा। इन पंचरूपों से युक्त हेतु को ही ठीक अथवा शुद्ध हेतु कहा जाता है। इन पाँच रूपों में

से किसी एक की भी कमी हो जाने पर हेतु को शुद्ध हेतु न कहकर 'हेत्वाभास' ही कहा जाता है। इस प्रकार के [कमी युक्त] हेतु द्वारा अपने साध्यकी सिद्धि भी नहीं हुआ करती है अर्थात् ऐसे हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाया करते हैं। इसी बात को आगे दिखलाते हैं :—

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि हेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, नत्वेकेनापि रूपेण हीनः। तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्वं, सपक्षसत्वं, विपक्षव्यावृति, अबाधितविषयत्वं, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति।

(च) और (एतेषाम्) इन (—अन्वयव्यतिरेकि—केवलान्वयि–केवलव्यतिरेकिहेतूनां त्रयाणाम्) (१) अन्वयव्यतिरेकी (२) केवलान्वयी तथा (३) केवलव्यतिरेकी तीनों हेतुओं के (मध्ये) मध्य में (यः) जो (अन्वयव्यतिरेकी) अन्वयव्यतिरेकी (हेतुः) हेतु है (स) वह (पंचरूपोपपन्नः) पाँचरूपों से युक्त (एव) ही (स्वसाध्यम्) अपने साध्य को (साधयितुम्) सिद्ध करने में (क्षमते) समर्थ होता है, (तु) किन्तु (एकेन–अपि) एक भी (रूपेण) रूपसे (हीन) रहित होने पर (न) नहीं [समर्थ होता है।] (तानि) वे (पञ्चरूपाणि) पाँच रूप हैः—(१) पक्षसत्त्व [हेतु का पक्ष में होना] (२) सपक्षसत्व [सपक्ष में भी होना] (३) (विपक्षव्यावृतिः) विपक्षव्यावृतत्व अथवा (हेतु का विपक्ष में न होना), (४) अबाधितविषयत्व (साध्य का बाधित न होना (५) असत्प्रतिपक्षत्व (प्रतिपक्षी हेतु न होना)।

उपर्युक्त हेतु सम्बन्धी पाँच रूपों में 'पक्ष', 'सपक्ष' 'विपक्ष' शब्द प्रयुक्त हुये हैं। इन शब्दों को भलीभाँति जाने बिना हेतु सम्बन्धी इन पंचरूपों का समझना कठिन है। अतः पहले इन्हीं को समझ लेना आवश्यक है। इन तीनों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार किये गये हैं:—

(१) पक्ष—"संदिग्धसाध्यवान् पक्षः" अर्थात् जिसमें साध्य सन्दिग्ध अवस्था में हो, उसको 'पक्ष कहा जाता है। जैसे "पर्वतो वह्निमान्" इत्यादि अनुमान द्वारा पर्वत में अग्नि की सिद्धि की जा रही है। जबतक अग्नि की सिद्धि न हो जाय तब तक पर्वत में अग्नि का सन्देह विद्यमान रहेगा ही। अतः सन्दिग्धसाध्य (अग्नि) से युक्त होने से पर्वत 'पक्ष' कहलाता है। धूमवत्व" अर्थात् धुँये का होना अथवा धुँआ हेतु है। यह हेतु (धूम) पक्ष (पर्वत) में विद्यमान है। अतः इस 'धूमवत्व' हेतु में पक्षसत्व है। अथवा धूम-हेतु उस (पर्वत) में रहता है। इसलिये 'पर्वत' ही पक्ष हुआ। अथवा यह कहिये कि यह हेतु रूप धूम पक्षरूप पर्वत का धर्म है। अतः यह उस धूम हेतु का प्रथमरूप 'पक्षसत्व' अथवा 'पक्षधर्मत्वं' हुआ।

(२) सपक्ष—"निश्चितसाध्यवान् सपक्षः" अर्थात् निश्चित साध्य से युक्त धर्मी को 'सपक्ष' कहते हैं। "पर्वतोवह्निमान् धूमवत्वात्। यथा-महानसः।" इस अनुमान में 'महानस अथवा रसोईघर ही सपक्ष है। क्योंकि रसोईघर (सपक्ष) में साध्य-अग्नि का निश्चय है। अतः निश्चित साध्य (अग्नि) से युक्त धर्मी रसोईघर या महानस ही सपक्ष हुआ। इस सपक्ष में हेतु का विद्यमान होना ही 'सपक्षसत्व' है। रसोईघर रूप सपक्ष में धूम हेतु की विद्यमानता निश्चित है। यह 'धूम' हेतु का द्वितीयरूप 'सपक्षसत्व' हुआ।

(३) विपक्ष—"निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः" अर्थात् जिसमें साध्य का अभाव निश्चितरूप से हो उसको 'विपक्ष' कहा जाता है। जैसे—उपर्युक्त अनुमान में महाह्रद (जलाशय—तालाब) 'विपक्ष' है। क्योंकि इस महाह्रद (तालाब) में साध्यरूप अग्नि का न होना (अभाव) निश्चित है। अतः महाह्रद ही विपक्ष हुआ। इस महाह्रद (तालाब) रूप विपक्ष में धूम (हेतु) नहीं रहता है। यह उस धूम रूप हेतु का तृतीयरूप 'विपक्षव्यावृतत्व' हुआ। 'विपक्षव्यावृतत्व' का अर्थ ही है (विपक्षाद् व्यावृतिः) विपक्ष में हेतु का न होना। ऊपर विपक्ष की परिभाषा के आधार पर तालाब (महाह्रद) को उसका उदाहरण कहा गया है। इस तालाबरूप विपक्ष में धूम रूप हेतु की विद्यमानता न होना ही विपक्षव्यावृतत्व" है।

इस प्रकार इन पक्ष, सपक्ष और विपक्ष के लक्षणों के प्रदर्शन के साथ ही हेतु के पंचरूपों में प्रथम तीन रूपों (पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृतत्व) का सूक्ष्मविवेचन भी कर दिया गया। अतः अवशिष्ट दो रूपों का सूक्ष्म विवेचन भी यहाँ कर देना अनुपयुक्त न होगाः—

(४) अबाधित विषयत्व—इस स्थल पर विषय का अर्थ है 'साध्य'। जिस हेतु का साध्य किसी अन्य प्रमाण से बाधित हो जाता है उसे बाधित विषयक [बाधितः विषयों यस्य] कहा जाता है किन्तु जिस हेतु का साध्य किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं हुआ करता है उसे अबाधितविषय कहा जाता हैं। इसका होना ही "अबाधितविषयत्व" है। उपर्युक्त अनुमान में धूमवत्व-हेतु का विषय (साध्य) जो पर्वत में अग्निमत्व (अग्नि में युक्त होना] है वह किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं हो रहा है। अतः यह हेतु अबाधित विषय है अथवा यह धूमवत्व हेतु "अबाधित विषयत्व" रूप चतुर्थरूप से युक्त है।

(५) असत्प्रतिपक्षत्व—असन् प्रतिपक्षो यस्य सः असत्प्रतिपक्ष" अर्थात् जिसका विपक्ष [अर्थात् विपरीत अर्थ] का साधक कोई दूसरा हेतु नहीं

हुआ करता है वह असत्तविपक्ष हेतु कहा जाता है। 'धूमवत्व' हेतु के न्याय (अग्नि) के विपरीत अर्थ का सिद्ध करनेवाला कोई अन्य हेतु नहीं है। अतः यह हेतु '-असत्यविपक्षत्व'' नामक हेतु के पंचमरूप से युक्त है।

एतानि तु पञ्चरूपाणि धूमवत्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते। तथा हि धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः। पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्वम्, सपक्षे महानसे तद् विद्यतेः इत्यर्थः। एवं विपक्षान्महाह्रदाद्व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः।

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम्। तथा हि धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यधर्मस्तच्चाग्निमत्त्वम्, तत्केनापि प्रमाणेन न बाधितं न खण्डितमित्यर्थः।

(एतानि) ये (पंचरूपाणि) पाँच रूप (तु) तो (धूमवत्वादौ) धूमवत्व आदि (अन्वयव्यतिरेकिणि) अन्वयव्यतिरेकिणि (हेतौ) हेतु में (विद्यन्ते) विद्यमान है। (तथाहि) क्योंकि तस्य इस [धूम] के (पर्वते) पर्वत में (विद्यमानत्वात) विद्यमान होने से ("धूमवत्वम्) धूमवत्व (पक्षस्य-पर्वतस्य) पक्ष पर्वत का (धर्मः) धर्म है। (एवम्) इसी प्रकार (सपक्षे) सपक्ष में भी (सत्वम) उसकी सत्ता है। (सपक्षे महानसे) सपक्षरूप महानस [रसोईघर] में (तद्) वह [धूमवत्व] (विद्यते) विद्यमान है ही [अतः धूमतत्व हेतु में सपक्षतत्व भी विद्यमान है ही] (एवम्) इसी प्रकार (विपक्षात्-महाह्रदात्) विपक्ष-महाह्रद [जलाशय-तालाब] से (व्यावृत्तिः) व्यावृत्ति [न होना] भी है। (तत्र) उस [जलाशयरूप विपक्ष] में [धूमवत्व हेतु] (नास्ति-इत्यर्थः) नहीं रहता है यह अभिप्राय है।

(च) और (एवम्) इसी प्रकार (धूमवत्वम्) धूमवत्व हेतु (अबाधितविषयम्) 'अबाधित विषय' है। (तथाहि) क्योंकि (धूमवत्वस्य) धूमवत्व (हेतोः) हेतु का (विषयः) विषय अर्थात् (साध्यधर्मः) साध्य का धर्म (तत्) वह जो कि (अग्निमत्वम्] अग्निमत्व है [तत्] वह [पवर्तरूप पक्ष में] [केनापि प्रमाणे] किसी भी प्रमाण से [बाधितम् न] बाधित नहीं है [खण्डित न-इत्यर्थः] अर्थात् खण्डित नहीं है। (अभिप्राय यह है कि पर्वत में अग्नि का अभाव [न होना] किसी भी प्रमाण से गृहीत नहीं है। अतः यह धूमवत्व हेतु 'अबाधितविषय' भी है।

एवमसत्प्रतिपक्षत्वम्—असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्वं हेतुः। तथा हि साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भात्।

तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्वे हेतौ विद्यन्ते तेनैतद् धूमवत्त्वमग्निमत्त्वस्य गमकं, अग्निमत्वस्य साधकम् ।

(एवम्) इसी प्रकार (असत्प्रतिपक्षत्वम्) असत्प्रतिपक्षत्व [धर्म भी धूमवत्व हेतु में विद्यमान है । असत्प्रतिपक्ष का अर्थ यह है :—](असन् प्रतिपक्षो यस्य), नहीं विद्यमान है प्रतिपक्ष जिसका (इति) इस प्रकार का (असत्प्रतिपक्ष). असत्प्रतिपक्ष (धूमवत्वं हेतुः) धूमवत्व हेतु है। (तथा हि) क्योंकि [एक हेतु के , (साध्यविपरीतसाधकम्) साध्य के विपरीत [अर्थ] को सिद्ध करने वाले (हेंतु, अन्तरम्) दूसरे हेतु को (प्रतिपक्षः—इति). प्रतिपक्ष-ऐसा (उच्यते) कहा जाता है अर्थात् 'प्रतिपक्ष' कहा जाता है [च] और [स] वह [धूमवत्वे] धूमवत्व [हेतौ] हेतु में [अनुपलम्भात्]. उपलब्ध न होने से [नास्ति] नहीं है।

[तत् एवम्] इस भाँति [धूमवत्वे हेतौ] धूमवत्व हेतु में [पंचरूपाणि] पाँचों रूप (विद्यन्ते) विद्यमान हैं। [तेन] इसलिये (एतत्) यह [धूमवत्वम्] धूमवत्व [हेतु] [अग्निमत्वस्य] अग्निमत्व का [गमकम्] बोधक अथवा ज्ञापक [अर्थात्] [अग्निमत्वस्य] अग्निमत्व का [साधकम्] साधक [शुद्ध हेत] है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि उपर्युक्त पाँचरूपों से युक्त "अन्वय-व्यतिरेकी हेतु" ही सद्-हेतु कहा जाता है। यदि इन पाँचों में से एक की भी कमी होती है तो उसे असद्-हेतु अथवा 'हेत्वाभास' कहा जाता है [इसका विस्तृत विवेचन आगे 'हेत्वाभास' सम्बन्धी प्रकरण में किया जायगा ।] हेतु के उपर्युक्त पाँच रूपों में से प्रथम तीन का स्पष्टीकरण इसी प्रकरण में पहले किया जा चुका है। शेष दो का भी केवल शाब्दिक परिचयमात्र दिया जा चुका है। अतः इन दोनों का विशद-विवेचन यहाँ कर देना उपयुक्त ही होगा :—

(४) **अबाधितविषयत्व**—अबाधितविषय को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले 'बाधितविषय' को ही समझ लें। बाधितविषय का लक्षण है :—"प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः"—अर्थात् जिस हेतु के विषय [अर्थात् साध्य का—यहाँ 'विषय' से अभिप्राय है "साध्य" ।] अथवा साध्य का अभाव किसी प्रबलतर दूसरे प्रमाणद्वारा निश्चित होता हो उस हेतु को 'बाधितविषय' कहा जाता है। जैसे—कोई व्यक्ति यह अनुमान प्रस्तुत करे कि—"अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्घटवत्"—अर्थात् अग्नि कृतक [जन्य] होने से घट के ही समान अनुष्ण [अर्थात् शीतल] है। जैसे घट कृतक [जन्य] है तथा अनुष्ण

है इसी भाँति जन्य होने से अग्नि भी घट के ही सदृश अनुष्ण है। इस अनुमान में 'अग्नि' 'पक्ष' है, उसमें अनुष्णत्व [उष्ण न होना] ही 'साध्य' है और 'कृतकत्व' हेतु है। इस कृतकत्व हेतु का जो साध्य "अनुष्णत्व" है उसका अभाव अर्थात् "उष्णत्व" अग्नि के स्पर्श द्वारा [त्वचा द्वारा किये गये प्रत्यक्ष से] प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः 'त्वचा-प्रत्यक्ष' रूप दूसरे प्रमाण द्वारा 'कृककत्वात्" हेतु का विषय अर्थात् साध्य—"अनुष्णत्व" का अभाव [अर्थात् उष्णत्व] की सिद्धि हो जाने से यह हेतु "बाधितविषय" है। तात्पर्य यह है कि उक्त अनुमान में साध्य [अनुष्णत्व] अन्य प्रमाण [प्रत्यक्ष] से बाधित हो रहा है। अतः इस [अनुष्णत्व] साध्य की सिद्धि के लिये जो 'कृतकत्व' हेतु दिया गया है वह बाधितविषयक हेतु ही है। अतः यह 'कृतकत्व' हेतु 'हेतु' न कहा जाकर 'हेत्वाभास' ही कहा जायगा। इसी भाँति यदि वह्नि विषयक ["पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्"] अनुमान में प्रयुक्त धूमवत्व हेतु के साध्य-रूप में विद्यमान 'वह्नि' का पर्वत [पक्ष] में किसी दूसरे प्रबल प्रमाण द्वारा अभाव निश्चित किया गया होता तो 'धूमवत्व' हेतु को भी "बाधित विषय" कहा गया होता। किन्तु धूमवत्व हेतु का विषय [साध्य] 'वह्निमत्व' किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं हो रहा है। अतः यह हेतु "अबाधित-विषयत्व" रूप हेतु सम्बन्धी चतुर्थरूप से युक्त ही कहा जायगा।

(५) असत्प्रतिपक्षत्व—"असत्प्रतिपक्ष" को जानने से पूर्व 'सत्प्रति-पक्ष' को समक्ष लेना आवश्यक है। जिस हेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान हो उसे 'सत्प्रतिपक्ष' कहा जाता है। प्रतिपक्ष का लक्षण है :—"साध्यविपरीत साधकं तुल्यबलं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः" अर्थात् साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करनेवाला, समान बल वाला दूसरा हेतु 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। जिस हेतु का इस प्रकार प्रतिपक्ष विद्यमान है उसको 'सत्प्रतिपक्ष' [हेत्वाभास] कहा जाता है। जैसे—शब्दः अनित्यः नित्यधर्मरहित्वात्"। इस अनुमान में 'अनित्यता' ही साध्य है। इसके विपरीत है "नित्यता"। इसकी सिद्धि करने वाला दूसरा हेतु है :—"शब्दः नित्यः अनित्यधर्मरहितत्वात्"। इसमें नित्यता ही साध्य है। ये दोनों ही हेतु तुल्यबल से युक्त तथा परस्पर विरोधी हैं और ये दोनों हेतु एक दूसरे के विपरीत अर्थ को सिद्ध करते हैं। अतः यह हेतु एक दूसरे के 'प्रतिपक्ष' हैं तथा इसी कारण इन दोनों हेतुओं को 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास नाम से कहा जाता है। किन्तु पूर्ववर्णित "धूमवत्व" हेतु का इस प्रकार का साध्य के विपरीत अर्थ का साधक तुल्यबलविरोधी कोई दूसरा

हेतु उपलब्ध नहीं होता है। अतएव उसे 'असत्प्रतिपक्ष' हेतु ही कहा जायगा अथवा यों कहिये कि इस 'धूमवत्व' हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' नामक पंचम रूप भी विद्यमान है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि 'धूमवत्व' हेतु उपर्युक्त पाँचों रूपों से युक्त है। अतः यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ तथा 'सद् हेतु' है। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि 'धूमवत्व' हेतु [साध्य-] अग्निमत्व का बोधक अथवा साधक हेतु है।

उक्त निर्णय के सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है कि उपर्युक्त अनुमान में 'धूमवत्व' हेतु द्वारा अग्नि-सामान्य की सिद्धि होती है अथवा विशिष्ट प्रकार की अग्नि की अर्थात् पर्वत में विद्यमान अग्नि की? यदि इनमें से प्रथम विकल्प [अर्थात्-अग्नि सामान्य] को माना जाय तो वह ठीक नहीं होगा क्यों कि "जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है", इस व्याप्ति ज्ञान के द्वारा ही सामान्य-अग्नि की सिद्धि हो जाती है। अतः एक बार सिद्ध की गयी हुयी बात को ही पुनः अनुमान द्वारा सिद्ध किये जाने से यहाँ "सिद्ध साधन" दोष आ जायेगा। अतः अग्नि-सामान्य की सिद्धि को मानना ठीक नहीं है। यदि यह स्वीकार किया जाय कि इस अनुमान के द्वारा विशेष-अग्नि की सिद्धि की जाती है तो भी ठीक नहीं, क्यों कि विशिष्ट-अग्नि (पर्वत में विद्यमान अग्नि आदि) के साथ धूम का साहचर्य कहीं भी नहीं देखा जा सका है [पर्वत में विद्यमान अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति का ग्रहण तो पहले कभी भी नहीं हुआ है।] ऐसी स्थिति में पर्वत में विद्यमान अग्नि की सिद्धि किस भाँति की जा सकती है? इसी शङ्का का समाधान करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिद्ध्यति। तथा हि अनुमानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः। पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिद्ध्यति। पर्वतधर्मेण, धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते। अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन।

(अग्नेः) अग्नि की (पक्षधर्मत्वम्) पक्षधर्मत्व [अर्थात् पर्वतरूप पक्ष में (अग्नि का) होना] तो (हेतोः) हेतु [अर्थात् धूम] की (पक्षधर्मता बलात्) पक्षधर्मता [पर्वत में विद्यमानता] के बल से (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है। (तथाहि) क्योंकि (अनुमानस्य) अनुमान के (द्वे अङ्गे) दो अङ्ग हुआ करते हैं (व्याप्तिः) (१) व्याप्ति (च) और (पक्षधर्मता) २—पक्षधर्मता। (तत्र) उनमें से (व्याप्त्या) व्याप्ति के द्वारा (साध्यसामान्यस्य)

[जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि होगी इस प्रकार के] साध्य-सामान्य की (सिद्धिः) सिद्धि होती है और (पक्षधर्मताबलात्) पक्षधर्मता [हेतु (धूम) का पक्ष (पर्वत में) में होना] के बल से (तु) तो (साध्यस्य) साध्य [अग्नि] के (पक्षसम्बन्धित्वम्) पक्षसम्बन्धी होना [अर्थात् पक्षरूप पर्वत में विद्यमान होना] रूप (विशेषः) विशेष की (सिद्धयति) सिद्धि होती है। (पर्वतधर्मेण) पर्वत के धर्म [पर्वत में विद्यमान] (धूमवत्त्वेन) धूमवत्व अर्थात् धूम के द्वारा (वह्निः अपि) अग्नि भी (पर्वतसम्बद्ध एव) पर्वत से सम्बन्धित ही (अनुमीयते) अनुमित [गृहीत] होती है। (अन्यथा) नहीं तो [पक्षधर्मता के अभाव में] (साध्यसामान्यस्य) साध्य [अग्नि] सामान्य [जहाँ जहाँ धूम होगा वहाँ वहाँ अग्नि भी होगी—इस प्रकार] के (व्याप्तिग्रहादेव) व्याप्ति ग्रह से ही (सिद्धेः) सिद्ध होने से (अनुमानेन कृतत्) अनुमान की आवश्यकता ही न रहेगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि अनुमान द्वारा 'अग्निसामान्य' तथा पर्वत में विद्यमान 'अग्निविशेष' दोनों की ही सिद्धि हो जाया करती है। अनुमान का अर्थ ही है—"व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान" [लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्—व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः"–इत्यादि का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है]। तदनुसार अनुमान के दो अङ्ग होते हैं (१) व्याप्ति (२) पक्षधर्मता। व्याप्ति का स्वरूप है—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः" अर्थात् जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है। इस व्याप्ति के आधार पर धूमसामान्य के होने पर अग्निसामान्य का होना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। पक्षधर्मता का अर्थ है :—साधन (हेतु) का पक्ष में होना। जिसमें साध्य की सिद्धि करना होता है वह पक्ष कहलाता है। उक्त अनुमान द्वारा पर्वत में अग्नि की सिद्धि करनी है। अतः पर्वत पक्ष हुआ। पर्वत (पक्ष) में धूम (हेतु) का विद्यमान होना ही पक्षधर्मता है। इसका स्वरूप है—"वह्निव्याप्यधूमवाँश्चायं पर्वतः" अर्थात् अग्नि से व्याप्त धुँआ पर्वत में है। इसके द्वारा "पर्वत में अग्नि है" इस प्रकार की अनुमिति हो जाया करती है। अतः धूम सामान्य की अग्निसामान्य के साथ व्याप्ति होने पर पक्षधर्मता के आधार पर पर्वतगत अग्निविशेष का अनुमान हो जाया करता है। पक्षधर्मता की सामर्थ्य से अग्निविशेष की इस सिद्धि को स्वीकार करने पर लिङ्गपरामर्शरूप अनुमान को स्वीकार करना आवश्यक तथा उपयुक्त ही है।

अन्वय-व्यतिरेकी-हेतु ही उपर्युक्त पंचरूपों से युक्त हुआ करते हैं। शेष हेतु तो चार-रूपों से ही युक्त हुआ करते हैं :—

यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपन्न एव सद्‌हेतुः। अन्यथा हेत्वाभासो अहेतुरिति यावत्।

केवलान्वयी चतूरूपोपन्न एव स्वसाध्यं साधयति। तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात्।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति, सपक्षाभावात्।

[इसी भाँति] (यः) जो (अन्यः) और दूसरे (अपि) भी (अन्वयव्यतिरेकी हेतुः) अन्वयव्यतिरेकी हेतु हुआ करते हैं (सः) वह (सर्वः) सब (पंचरूपोपपन्न एव) पाँचों रूपों से युक्त होने पर ही (सद् हेतुः) शुद्ध हेतु कहलाते हैं (अन्यथा) नहीं तो [किसी एक रूप से भी रहित होने पर] (हेत्वाभासः) हेतु के समान प्रतीत होने वाला (अहेतुः इति) अहेतु [अशुद्ध-हेतु] ही कहा जाता है।

[दूसरा] (केवलान्वयी) केवलान्वयी हेतु [तो] (चतुरूपोपपन्न एव) चार रूपों से युक्त होकर ही (स्वसाध्यम्) अपने साध्य को (साधयति) सिद्ध करता है। (हि) क्योंकि (तस्य) उस [हेतु] की (विपक्षाद् व्यावृत्तिः) विपक्ष से व्यावृत्ति [विपक्ष में न होना] (नास्ति) नहीं हुआ करती है (विपक्षाभावात्) विपक्ष का अभाव होने से।

(च) और (केवल व्यतिरेकी) केवलव्यतिरेकी [हेतु भी] (चतूरूपोपपन्न एव) चाररूपों से युक्त ही हुआ करता है। (हि) क्योंकि (तस्य) उस [केवल व्यतिरेकी-हेतु] का (सपक्षाभावात्) सपक्ष न होने से (सपक्षे) सपक्ष में (सत्त्वम्) सत्ता अर्थात् 'सपक्षसत्व' (नास्ति) नहीं हुआ करता है।

ऊपर वर्णन किये गये हुये तीन प्रकार [(१) अन्वय-व्यतिरेकी (२) केवलान्वयी तथा (३) केवलव्यतिरेकी] के हेतुओं में से केवल अन्वय व्यतिरेकी-हेतु ही उपर्युक्त पाँच रूपों [(१) पक्ष सत्व (२) सपक्ष सत्व (३) विपक्षव्यावृतत्व (४) अवाधितविषयत्व तथा (५) असत्प्रतिपक्षत्व] से युक्त होने पर ही सद् अर्थात् शुद्ध-हेतु की श्रेणी में रखा जा सकता है। पर्वत में 'अग्नि' (साध्य) की सिद्धि के लिये दिया गया 'धूमवत्व' हेतु उक्त पंचरूपों से युक्त होने के कारण 'शुद्ध हेतु' है। किन्तु इसी प्रकार का कोई हेतु इन पाँचों रूपों में से यदि किसी एक रूप से भी हीन होगा तो उसे शुद्ध हेतु न कहकर 'अहेतु' ही कहा जायगा क्योंकि वह साध्य की सिद्धि ही न कर सकेगा। ऐसे दोषपूर्ण हेतु को न्यायशास्त्र की भाषा में 'हेत्वाभास' कहा जाता है।

दूसरा हेतु 'केवलान्वयी' हेतु है। यह चार रूपों से ही युक्त हुआ करता है क्योंकि इस हेतु का कोई विपक्ष नहीं हुआ करता है। जब विपक्ष की सत्ता

ही न होगी तो वहाँ विपक्ष से व्यावृत्ति नामक हेतु का तृतीय रूप भी न होगा। जैसे—"घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्" यहाँ 'प्रमेयत्वात्' यह केवलान्वयी हेतु है। यहाँ 'घट' ही पक्ष है। सभी [शब्द द्वारा कथन किये जाने योग्य अर्थात्] अभिधेय पदार्थ 'सपक्ष' हैं। इनमें 'प्रमेयत्व' हेतु रहता है। अतः इसमें प्रथम दो रूपों की विद्यमानता तो है ही। अब आता है तृतीय रूप—विपक्षव्यावृतत्व"। किन्तु इस 'प्रमेयत्व' हेतु का कोई विपक्ष बनता ही नहीं क्योंकि विपक्ष वही हो सकता है कि जिसमें अभिधेयत्व के अभाव का निश्चय हो [निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः] किन्तु ऐसी किसी पदार्थ की संभावना ही नहीं की जा सकती है कि जहाँ अभिधेयत्व का अभाव हो। सभी पदार्थ अभिधेय ही हुआ करते हैं। अतः केवलान्वयी हेतु का जो साध्य हुआ करता है उसका सर्वत्र सद्भाव होने से केवलान्वयी हेतु का कोई विपक्ष बन ही नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में इस हेतु में "विपक्षव्यावृतत्व" नामक हेतु का तृतीय रूप नहीं हुआ करता है। 'प्रमेयत्व' हेतु के साध्य-(अभिधेयत्व) का किसी प्रमाण से बाध नहीं होता। अतएव यह हेतु "अबाधितविषयत्व" नामक चतुर्थ रूप से युक्त है। इसी प्रकार इस हेतु से सम्बन्धित 'साध्य' के अभाव का साधक कोई अन्य हेतु भी उपलब्ध नहीं होता है, अतः यहाँ हेतु का पंचम रूप 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी विद्यमान है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि 'केवलान्वयी-हेतु' हेतु के चार रूपों से ही युक्त हुआ करता है तथा इन [(१) पक्षसत्व (२) सपक्षसत्व (३) अबाधितविषयत्व तथा (४) असत्प्रतिपक्षत्व] चार रूपों से युक्त होकर ही वह अपने 'साध्य' की सिद्धि में समर्थ हुआ करता है।

इसी प्रकार 'केवलव्यतिरेकी-हेतु' भी चार रूपों से ही युक्त हुआ करता है। यह हेतु उपर्युक्त पंच रूपों में से द्वितीयरुप 'सपक्षसत्व' को छोड़ अन्य चार रूपों से युक्त होते हुये ही साध्य का साधक हुआ करता है। 'सपक्षसत्व' के न होने का कारण यह है कि 'केवल-व्यतिरेकी-हेतु' का जो साध्य होता है वह अनुमान से पूर्व कहीं भी सिद्ध नहीं रहा करता है क्योंकि अनुमान होने से पूर्व वह पक्ष रूप में तो संदिग्ध अवस्था में ही रहा करता है तथा पक्ष को छोड़ कर किसी अन्य [सपक्ष] में न मिलने से उसके सिद्ध होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतः 'केवलव्यतिरेकी हेतु' का 'सपक्ष' न होने के कारण 'सपक्षसत्व' नामक द्वितीय रूप से वह युक्त नहीं रहा करता है। जैसे-जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्"। इसमें "प्राणादिमत्व" (प्राण आदि से युक्त होना) हेतु-'केवलव्यतिरेकी हेतु' है। यह हेतु सभी जीवित शरीरों

में रहा करता है। अतः 'पक्षसत्व' है। जीवित शरीरों को छोड़ कर अन्यत्र (मृत शरीर आदि में) प्राणादिमत्व नहीं रहा करता है। अतः 'विपक्षव्यावृतत्व' भी इस हेतु में विद्यमान है। इस हेतु के साध्य (सात्मकत्व) का किसी प्रमाण द्वारा बाध भी नहीं होता है। अतः इसमें 'अबाधितविषयत्व' भी है। इस हेतु (प्राणादिमत्व) के साध्य (सात्मकत्व) के अभाव का साधक कोई अन्य हेतु भी विद्यमान नहीं है। अतः इसमें 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। अतः इस हेतु में "सपक्षसत्व" को छोड़ कर शेष चारों रूप विद्यमान हैं। अतः यह हेतु "केवल व्यतिरेकी-हेतु" है। यहाँ 'सपक्ष' वही हो सकता था कि जो सात्मक तो रहा होता किन्तु जीवित शरीर से भिन्न होता। किन्तु ऐसा कोई उदाहरण होना संभव ही नहीं है क्योंकि जो भी सात्मक होगा उसका अन्तर्भाव तो जीवित-शरीरों (पक्ष) में ही हो जायगा। अतः उक्त हेतु का कोई सपक्ष है ही नहीं। इस कारण 'सपक्षसत्व' नामक रूप से भी यह रहित है। अतः उक्त हेतु 'केवलव्यतिरेकी हेतु ही है। उपर्युक्त चार रूपों से ही युक्त हो कर यह (केवलव्यतिरेकी) हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ हुआ करता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि 'केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी' ये दोनों ही हेतु चार-चार रूपों से युक्त होते हुये ही अपने साध्य की सिद्धि कर सकते हैं। यदि ये दोनों हेतु भी चारों रूपों में से किसी एक रूप से भी हीन होते हैं तो वे साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते हैं और इस भाँति ये हेतु भी शुद्ध हेतु न कहे जाकर अहेतु अथवा हेत्वाभास ही कहे जावेंगे।

के पुनः पक्ष-सपक्ष-विपक्षाः ? उच्यन्ते। सन्दिग्धसाध्य धर्मा धर्मी पक्षः। यथाधूमानुमाने पर्वतः पक्षः। सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी। यथा-महानसो धूमानुमाने। विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी। यथा तत्रैव महाह्रदः इति।

तदेवमन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

प्रश्न—[अच्छा] (पुनः) फिर (पक्ष-सपक्ष-विपक्षाः) पक्ष, सपक्ष और विपक्ष (के) कौन [कहलाते] हैं ?

उत्तर—(उच्यन्ते) कहते हैं। (सन्दिग्धसाध्यधर्मा) सन्दिग्ध-साध्य-धर्म से युक्त (धर्मी) धर्मी [पर्वत आदि] (पक्षः) पक्ष (कहलाता) है। (यथा) जैसे—(धूमानुमाने) धुँये से [अग्नि के]

अनुमान में (पर्वतः) पर्वत (पक्षः) पक्ष है [क्योंकि उस (पर्वत) में अग्नि है अथवा नहीं ? यह सन्देह रहता ही है ! अतः सन्दिग्धसाध्य (अग्नि) वाला होने से पर्वत को पक्ष कहा जाता है ।]। (निश्चितसाध्यधर्मा) निश्चित साध्य-धर्म से युक्त (धर्मी) धर्मी (सपक्षः) सपक्ष कहलाता है । (यथा–) जैसे—(धूमानुमाने) धूम (लिङ्ग) से सम्बन्धित अनुमान में (महानसः) महानस [रसोईघर में अग्नि का निश्चय हो जाने से 'रसोईघर' ही 'सपक्ष' कहलाता है ।] और (निश्चितसाध्याभाववान्) जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हुआ करता है ऐसे (धर्मी) धर्मी (विपक्षः) 'विपक्ष' कहा जाता है ।(यथा) जैसे (तत्र एव) उस ही [धूम सम्बन्धी अनुमान] में (महाह्रदः इति) महाह्रद [जलाशय] है ।

[जिसमें कोई [धूम आदि] धर्म रहा करता है उसे 'धर्मी' कहा जाता है। किन्तु सभी धर्मी पक्ष नहीं कहे जा सकते हैं। जिसमें साध्य की स्थिति का सन्देह हुआ करता है उस ही को 'पक्ष' कहा जाता है। उदाहरण—जब धूम [लिङ्ग] के द्वारा पर्वत में अग्नि का अनुमान करना होता है तो वहाँ 'पर्वत' ही पक्ष है । क्योंकि पर्वत में ही साध्य (अग्नि) का संदेह है ।अतः सन्दिग्ध साध्य (अग्नि) को धारण करनेवाला धर्मी [पर्वत] ही पक्ष हुआ। पक्ष के इस लक्षण में यदि 'संदिग्ध' पद को न रखा गया होता तथा "साध्यधर्मा धर्मी पक्षः" इतना ही पक्ष का लक्षण किया गया होता तो यह लक्षण 'सपक्ष' में भी अतिव्याप्त हो जाता। क्योंकि साध्य की निश्चित स्थिति वाला धर्मी ही सपक्ष कहा जाता है। जैसे—धूम (हेतु) सम्बन्धी अनुमान में महानस (रसोई घर)। अतः सपक्ष 'रसोईघर' में पक्ष का उपर्युक्त (साध्यधर्माधर्मी-पक्षः) लक्षण चला जाता। इसी दृष्टि से पक्ष के लक्षण में 'सन्दिग्ध' पद का रखा जाना पूर्णतया आवश्यक ही है' 'सपक्ष' (रसोईघर) में साध्य (अग्नि) का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित ही है। यदि सपक्ष के उक्त लक्षण में 'निश्चित' पद न रखा गया होता तो यह लक्षण पक्ष में भी अतिव्याप्त हो जाता है। पक्ष में भी साध्य तो रहा ही करता है किन्तु उस साध्य की सत्ता वहाँ सन्दिग्ध अवस्था में ही रहा करती है, निश्चित रूप में नहीं।

जिसमें साध्य का अभाव निश्चितरूप से रहा करता है उसे विपक्ष कहा जाता है। वस्तुतः 'अभाव' तो किसी का धर्म नहीं हुआ करता है। इसी कारण इस (विपक्ष) के लक्षण में 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। धूम द्वारा अग्नि के अनुमान में महाह्रद (जलाशय) 'विपक्ष' है क्यों कि जलाशय में अग्नि का अभाव तो पूर्णरूपेण निश्चित ही है।]

(तत् एवम्) तो इस प्रकार (अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयी-केवलव्यतिरेकिणः) अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी [ये तीनों प्रकार के हेतु] (दर्शिताः) दिखला दिये गये।

इस भाँति 'अनुमान-प्रमाण' का सामान्यतः विवेचन किया गया। अब इसके अनन्तर हेत्वाभासों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया जायगा :—

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव।

(१) तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः। आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वा सिद्धश्चेति।

(अतः) इन (तीनों शुद्ध हेतुओं) के अलावा (अन्ये) अन्य [सभी हेतु] (हेत्वाभासाः) हेत्वाभास कहलाते हैं। (च) और (ते) वे (असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात्) (१) असिद्ध (२) विरुद्ध-(३) अनैकान्तिक (४) प्रकरणसम तथा (५) कालात्ययापदिष्ट भेद से (पञ्च एव) पाँच ही प्रकार के होते हैं।

(१) (तत्र) उन (पाँचों) में (लिङ्गत्वेन) लिङ्ग (ज्ञापक अथवा बोधक) के रूपमें (अनिश्चितः) निश्चित न होने वाला (हेतुः) हेतु (असिद्धः) असिद्ध [नामक हेत्वाभास कहलाता] है। [तत्र-असिद्धः] वह असिद्ध [नामक हेत्वाभास] (त्रिविधः) तीन प्रकार का हुआ करता है। (१) (आश्रयासिद्धः) 'आश्रयासिद्ध' (२) (स्वरूपासिद्धः) 'स्वरूपासिद्ध' (च) और (व्याप्यत्वासिद्धः) 'व्याप्यत्वासिद्ध'।

जो वस्तुतः हेतु नहीं हुआ करता है किन्तु हेतु के सदृश जिसकी प्रतीति हुआ करती है उसको 'हेत्वाभास' नाम से कहा जाता है। हेत्वाभास शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं (१) "आभासन्ते इत्याभासाः, हेतोराभासाः हेत्वाभासाः" अर्थात् हेतुगतदोष-जिस हेतु के ज्ञान से अनुमिति के करण अथवा साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्ध हो जाया करता है उसे 'हेत्वाभास' अथवा 'हेतुगत-दोष' कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर असिद्धत्व आदि दोष ही 'हेत्वाभास' नाम से कहे जाते हैं। (२) दूसरी व्युत्पत्ति है:—"हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासाः" [वस्तुतः हेतु न होते हुये भी] जो हेतु के समान प्रतीत हुआ करता है वह 'हेत्वाभास' कहलाता है। इस प्रकार के सभी हेतु दोषपूर्ण हुआ करते हैं, अतः वे हेतु के श्रेणी में नहीं आते हैं और उन्हें "हेत्वाभास" नाम से ही पुकारा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी जो हेतु असिद्धत्व आदि दोषों से युक्त हुआ करते हैं उन्हें 'हेत्वाभास' नाम से कहा जाता है।

प्रमाणादि १६ पदार्थों में से 'हेत्वाभास' नामक तेरहवें पदार्थ का लक्षण करते हुये तर्कभाषाकार ने लिखा है:—जो हेतु पक्षधर्मत्व आदि आवश्यक (पंच) रूपों में से किसी एक से भी हीन हुआ करते हैं किन्तु फिर भी जो हेतु-धर्म के योग से हेतु के समान भासित हुआ करते हैं वे 'हेत्वाभास' कहलाते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुये तर्कभाषाकार ने यहाँ पर भी लिख दिया है "ततोऽन्ये हेत्वाभासाः"। इसी कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि [१] अन्वयव्यतिरेकी, [२] केवलान्वयी [३] केवलव्यतिरेकी-जो ये तीन प्रकार के शुद्ध-हेतु कहे-गये हैं उनमें से प्रथम हेतु पाँचरूपों से युक्त होता हुआ 'शुद्ध हेतु' कहा जाता है तथा अवशिष्ट दोनों प्रकार के हेतु चार-चार रूपों द्वारा ही अनुमिति के बोधक होने के कारण शुद्ध-हेतु कहलाते हैं। इन तीनों हेतुओं से भिन्न [अर्थात् आवश्यक हेतु-रूपों में से किसी एक से भी ही हीन होने पर] हेतु-'हेत्वाभास' नाम से कहा जाता है। हेतु पंचरूपों से युक्त हुआ करता है। अतः एक एक रूप की हीनता के आधार पर हेत्वाभास के भी पाँच ही भेद स्वीकार किये गये हैं। और ये हैं:—(१) असिद्ध (२) विरुद्ध (३) अनैकान्तिक (४) प्रकरणसम तथा (५) कालात्ययापदिष्ट। ये हेत्वाभास भी पाँच ही प्रकार के हुआ करते हैं। न इनसे अधिक और न इनसे कम। इसीके निर्धारण के लिये "पञ्चैव" पद का प्रयोग किया गया है।

अत्र प्रथम हेत्वाभास का कथन करते हैं:—

[१] असिद्ध—हेत्वाभास:—

इसका कक्षण है:—जिस हेतु में लिङ्गत्व—व्याप्ति तथा पक्षधर्मता [दोनों अथवा दोनों में से कोई एक] सिद्ध अर्थात् निश्चित न हो वह 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है—"पर्वत में अग्नि से व्याप्य धूम है" इस प्रकार व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान ही परामर्श है तथा यही अनुमापक भी हुआ करता है। इसके लिये तीन बातों का होना अनिवार्य है [१] पक्ष [२] पक्षधर्मता तथा [३] व्याप्ति। इन तीनों में से क्रमशः प्रत्येक के अभाव के आधार पर यह 'असिद्धहेत्वाभास' भी तीन प्रकार का हो जाता है:—

[१] आश्रयासिद्ध [२] स्वरूपासिद्ध तथा [३] व्याप्यत्वासिद्ध।

[१] आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास—

आश्रयासिद्धो यथा, गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्रगगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव।

[आश्रयासिद्धः] [लक्षण—"यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः" अर्थात् जिस हेतु का आश्रय [अर्थात् पक्ष] ही न हो उसे "आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास" कहा जाता है।] [यथा] जैसे—["गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्"] अर्थात्—आकाश-कमल सुगन्धियुक्त है कमल होने से, तालाब में उत्पन्न हुये कमल के समान। [अत्र] यहाँ [इस अनुमान में] [गगनारविन्दम्] आकाश-कमल ही [आश्रयः] आश्रय [हेतु 'अरविन्दत्वात्' का आश्रय अर्थात् पक्ष] है [च] और [स] वह [नास्ति एव] [वस्तुतः] है ही नहीं।

उक्त अनुमान में "सुरभि" [सुगन्धित] साध्य है। इसकी सिद्धि के लिये प्रयुक्त हुये "अरविन्दत्वात्" हेतु का आश्रय [पक्ष] का अस्तित्व" ही विद्यमान नहीं है। अरविन्दत्वात् हेतु का आश्रय [पक्ष] है" गगनारविन्द" अर्थात् आकाशकमल। किन्तु आकाश में कमल का पुष्प होता ही नहीं है। अतः आकाशकमलःरूप पक्ष [आश्रय] का अस्तित्व ही नहीं है। अतएव "अरविन्दत्वात्" हेतु के पक्ष [आश्रय] के न होने से यह हेतु "आश्रयासिद्ध" नामक हेत्वाभास है।

[२] स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास—

स्वरूपासिद्धो यथा, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्, घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव, तस्य श्रावणत्वात्।

(स्वरूपासिद्धः) स्वरूपासिद्ध [यह है—] (यथा) जैसे—("अनित्य शब्दः चाक्षुषत्वात्" घटवत्) अर्थात् शब्द अनित्य है चाक्षुष [अर्थात् नेत्र द्वारा ग्राह्य] होने से, घट के समान। (अत्र) यहाँ [इस अनुमान में] (चाक्षुषत्वम्) 'चाक्षुषत्व' हेतु है (च) और (स) वह [आश्रय अथवा पक्ष] (शब्दे) शब्द में (नास्ति एव) है ही नहीं। (तस्य) उस [शब्द] के (श्रावणत्वात्) श्रावण [अर्थात् श्रोत्र-ग्राह्य] होने से।

असिद्ध-हेत्वाभास का द्वितीयभेद है 'स्वरूपासिद्ध'। इसका लक्षण है—"यो हेतुराश्रये नावगम्यते" अर्थात् जो हेतु आश्रय में न पाया जाता हो। तात्पर्य यह है कि जिस हेतु का आश्रय तो विद्यमान हो किन्तु वह हेतु आश्रय अथवा पक्ष में विद्यमान न हो उसको "स्वरूपासिद्ध" हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे—"शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से, घट के समान"। 'इस अनुमान में 'अनित्य' होना ही साध्य है, 'शब्द' ही आश्रय अथवा पक्ष है तथा 'चाक्षुषत्वात्' ही हेतु है। किन्तु शब्द का ग्रहण चक्षु द्वारा नहीं किया जाता है उसका ग्रहण तो श्रोत्र द्वारा किया जाता है। अतः "चाक्षुषत्वात्" हेतु आश्रय

[पक्ष] 'शब्द' में विद्यमान नहीं है। अतएव यहाँ "चाक्षुषत्वात्" हेतु-हेतु न होकर, "स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास' ही है। इसमें सपक्षसत्व रूप में' ही हेतु (कारण) के न होने से हेत्वाभास है।

आश्रयासिद्ध तथा स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासों में अन्तर—

"आश्रयासिद्धहेत्वाभास" में आश्रय अथवा पक्ष का अस्तित्व ही नहीं हुआ करता है।

"स्वरूपासिद्धहेत्वाभास" में आश्रय अथवा पक्ष का अस्तित्व तो हुआ करता है किन्तु हेतु उस आश्रय अथवा पक्ष में नहीं रहा करता है।

(३) व्याप्यत्वासिद्ध-हेत्वाभास—

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। अपरस्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा—शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत्सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरपटलं तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्ययुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

[जिसकी व्याप्ति सिद्ध न हो, उसको 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहा जाता है] (व्याप्यत्वासिद्धः तु द्विविधः) व्याप्यत्वासिद्ध नामक, हेत्वाभास दो प्रकार का होता है। (एकः) एक तो (व्याप्तिग्राहक प्रमाण भावात्) व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के न होने से (अपरः तु) और दूसरा (२) (उपाधिसद्भावात्) उपाधि के सद्भाव अर्थात् होने से। (तत्र) उनमें से (प्रथमः) पहला— (यथा) जैसे (शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्) "शब्द क्षणिक है [प्रतिज्ञा] (सत्त्वात्) सत् होने से [हेतु]"। (यत् सत्) जो सत् होता है (तत् क्षणिकम्) वह क्षणिक होता है (यथा) जैसे (जलधर पटलम्) मेघसमूह [उदाहरण] (च) और (तथा) उसी प्रकार (शब्दादिः इति) शब्द आदि भी हैं (उपनय)। [किन्तु] (सत्वक्षणिकत्वयोः) इस सत्व और क्षणिकत्व की (व्याप्तिग्राहकम्) व्याप्ति का ग्राहक (प्रमाणम्) कोई प्रमाण (न अस्ति) नहीं है [इसके विपरीत प्रत्यक्षरूप से दिखलाई पड़ने वाले घट आदि सत् पदार्थ स्थिर ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतः व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के अभाव में उक्त 'सत्वात्' हेतु व्याप्यत्वासिद्ध-हेत्वाभास ही कहा जायगा।] [यदि] (सोपाधिकतया) सोपाधिक [उपाधि से युक्त] होने से इस 'सत्त्व' हेतु को (व्याप्यत्वासिद्धौ) व्याप्यत्वासिद्ध (उच्यमानायाम्) कहा जाय तो [शब्द आदि में] अन्य [उपाधिभूत धर्म] से प्रयुक्त (क्षणिकत्वम्) क्षणिकत्व [शब्द में] है (इति) यह (अभ्युपगतं स्यात्) स्वीकार करना पड़ जायगा (जो कि नैयायिकों को अभीष्ट नहीं है।)।

—जब हेतु में व्याप्ति का अभाव हुआ करता है अर्थात् हेतु व्याप्य नहीं होता है अथवा जब हेतु में व्याप्यत्व नहीं रहा करता है तब वहाँ "व्याप्यत्वासिद्ध" हेत्वाभास हुआ करता है। लक्षण—"यत्र हेतोर्व्याप्ति र्नावगम्यते" अर्थात् जहाँ हेतु की व्याप्ति न बनती हो वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। इसके दो प्रकार होते हैं (१) व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभाव-अर्थात् जहाँ हेतु की व्याप्ति का ग्राहक कोई भी प्रमाण उपलब्ध न होता हो तथा (२) जहाँ हेतु में कोई उपाधि रहा करती हो। प्रथम भेद को "साध्येनासहचरित" भी कहा जाता है। इस प्रथम प्रकार का उदाहरण है :—'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्" अर्थात् शब्द क्षणिक है, सत होने से। जो सत् होता है वह क्षणिक होता है जैसे मेघसमूह। ऐसा कहने में सत्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इसके विपरीत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि जो सत् होता है वह स्थिर भी होता है। अतः जिसकी सत्ता (अस्तित्व) होगी वह क्षणिक नहीं हो सकता तथा जो क्षणिक होगा उसकी सत्ता भी नहीं होगी। अतएव इससे स्पष्ट है कि यदि शब्द की सत्ता है तो वह क्षणिक नहीं है। अतः सत्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण मिलता ही नहीं है। अतः यह प्रथम प्रकार का "व्याप्यत्वासिद्ध-हेत्वाभास" हुआ।

वस्तुतः उपर्युक्त अनुमान वाक्य बौद्धों का है। बौद्धों का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। वे उसी पदार्थ की सत्ता स्वीकार किया करते हैं कि जो "अर्थ क्रियाकारी" [अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने वाला] होता है। जो पदार्थ किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करता है उसे सत् मानने में कोई युक्ति नहीं है! संसार का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी पदार्थ का उत्पादक होने से ही 'सत्' हुआ करता है। अतः यह मानना उचित ही है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है क्योंकि क्षणिक पदार्थ को ही किसी कार्य का उत्पादक माना जा सकता है, स्थिर पदार्थ को नहीं, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस पदार्थ में जिस कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य हुआ करती है वह उसे उत्पन्न करने में विलम्ब नहीं किया करता है। परिणामस्वरूप जो पदार्थ जिस क्षण अस्तित्व में आता है उसके पश्चात् उत्तर क्षण में ही उसके सम्पूर्ण कार्य उत्पन्न हो जावेंगे, उसका कोई कार्य अवशिष्ट न रह जायेगा। अतः द्वितीयादिक्षणों में उसके अस्तित्व का कोई भी प्रयोजन न होने से वह द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जायगा। अतः यह अस्तित्व [अथवा सत्ता] क्षणिक पदार्थों में ही रह सकता है अक्षणिक (स्थिर) पदार्थों में नहीं।

अतएव सत्ता (अस्तित्व) होने से पदार्थों की क्षणिकता ही सिद्ध होती है तथा 'यत् सत् तत् क्षणिकम्'' यह व्याप्ति बनती है। अतः उनके मतानुसार ''शब्दः क्षणिकः सत्वात्'' यह अनुमान वाक्य ठीक ही है।

बौद्धों के उक्त सिद्धान्त के बारे में नैयायिकों का यह कथन है कि संसार का कोई भी पदार्थ किसी कार्य भी उत्पादक होने के कारण सत् नहीं हुआ करता है अपितु सत् होने के कारण ही वह उत्पादक हुआ करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ पहले स्वयं अपने अस्तित्व में आता है और तब वह किसी अन्य कार्य को उत्पन्न किया करता है। अतएव जिसका अस्तित्व होगा वही सत् कहा जायगा। फिर जो सत् है उसे क्षणिक कहा जाना कैसे संभव है? किसी भी सत् अथवा अस्तित्व वाले पदार्थ की सत्ता एक क्षण के लिये भी हो सकती है और अनेक क्षणों के लिये भी हो सकती है। क्योंकि सत्ता विद्यमान रहने पर ही वह किसी अन्य कार्य का उत्पादक हो सकेगा। ऐसी स्थिति में यह कहा जाना कि जो सत् होता है वह क्षणिक भी होता है, पूर्णतया अप्रामाणिक तथा सिद्धान्त-विरुद्ध बात है। क्योंकि सत्व की क्षणिकता के साथ व्याप्ति ही न बन सकेगी और न इस प्रकार की व्याप्ति का साधक ही कोई प्रमाण उपलब्ध हो सकेगा। अतएव यह कहा जाना अधिक उचित है कि जहाँ स्थिरता (अक्षणिकता) हुआ करती है वहीं सत्ता का भी दर्शन हुआ करता है। इस विवेचन से यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि ''सत्वात्'' हेतु—''व्याप्यत्वासिद्ध-हेत्वाभास'' ही है—शुद्ध हेतु नहीं।

इस पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि ''सत्वात्'' हेतु को सोपाधिक ही मान लिया जाय और इसे ''उपाधिसद्भाव व्याप्यत्वासिद्ध'' की श्रेणी में रखा जाय व्याप्ति ग्राहक प्रमाणाभाव से युक्त व्याप्यत्वासिद्ध की श्रेणी में नहीं। इसके समाधान में तर्कभाषाकार का कथन है कि—

उपाधि युक्त हेतु में साध्य का प्रयोजक हेतुरूप में प्रयुक्त धर्म नहीं हुआ करता है, अपितु उपाधिभूत धर्म ही हुआ करता है। जैसे—''स श्यामः, मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोभवत्'' इत्यादि पूर्व प्रदर्शित सोपाधिक हेतु से युक्त अनुमान वाक्य में—श्यामत्व (साध्य) का प्रयोजक अथवा कारण हेतुरूप में प्रयुक्त 'मैत्रीतनयत्व' नहीं है, अपितु अन्य [उपाधिरूप में] प्रयुक्त 'शाकपाकजन्यत्व' ही है। इस उदाहरण द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपाधिस्थल में साध्य (श्यामत्व) का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही होता है। तथा उस [श्यामत्वरूप] साध्य का प्रयोजक हेतुरूप में प्रयुक्त-

धर्म न होकर उपाधिभूत धर्म ही हुआ करता है। इसी भाँति 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' इत्यादि में भी क्षणिकत्व (साध्य) का प्रयोजक "सत्त्व" [हेतु] न होकर किसी अन्य [उपाधिभूत] धर्म को स्वीकार करना होगा किन्तु न्याय की दृष्टि से सिद्धान्त पक्ष यह है कि उदाहरणरूप में प्रयुक्त घट, आदि में क्षणिकत्व तो हैं ही नहीं! यदि "सत्त्वात्" हेतु को सोपाधिक माना जायगा तो 'घट' आदि में क्षणिकत्व के निवारण के लिये जिस भी उपाधि को प्रस्तुत किया जायगा वह उपाधि क्षणिकत्व [साध्य] का प्रयोजक नहीं बन सकेगी। अतएव यहाँ किसी भी उपाधि की संभावना नहीं की जा सकती है। नैयायिक तो बौद्धों द्वारा प्रतिपादित 'क्षणिकत्व' को स्वीकार ही नहीं करते हैं। बौद्ध-सिद्धान्तानुसार 'क्षणिकत्व' का अर्थ है एकक्षण में ही किसी पदार्थ की उत्पत्ति तथा विनाश का हो जाना। नैयायिकों के मतानुसार 'शब्द' अदि शीघ्र ही विनष्ट हो जाने वाले तो अवश्य हैं किन्तु एक ही क्षण में उनकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं हुआ करते हैं। उनकी दृष्टि में तो अतिशीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले पदार्थों का भी सम्बन्ध तीन-क्षणों के साथ हुआ करता है अर्थात् ऐसे पदार्थ भी प्रथम क्षण में उत्पन्न हुआ करते हैं, द्वितीय क्षण में उनकी स्थिति रहा करती है तथा तृतीय क्षण में उनका विनाश हुआ करता है। इस भाँति उनकी दृष्टि में "क्षणिकत्व" का कोई अस्तित्व ही नहीं हुआ करता है। उस क्षणिकत्व के होने का तो न 'सत्व' ही कारण है और न कोई अन्य कारण ही है। यदि यह किसी अन्य निमित्त से हुआ करता तो 'सत्त्वात्' हेतु को 'सोपाधिक' कहा जा सकता था। इस भाँति 'सत्त्वात्' हेतु 'उपाधि के सद्भाव' से 'व्याप्यत्वासिद्ध' नहीं है अपितु व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभाव की ही दृष्टि से "व्याप्यत्वासिद्ध-हेत्वाभास" है। इसी आधार पर "व्याप्यत्वासिद्ध" नामक हेत्वाभास के उक्त दो भेदों की कल्पना की गयी है।

अब 'उपाधिसद्भाव' से होने वाले व्याप्यत्वासिद्ध' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं —

द्वितीयो यथा—क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत्। अत्राह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं किन्तु निषिद्धमेव प्रयोजकं, उपाधिरिति यावत्। तथा हि "साध्यव्यापकत्वे-सतिसाधनाव्यापक" उपाधिरित्युपाधिलक्षणम्। तच्चास्तिनिषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम्। यतो यत्र यत्राधर्म-साधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति। एवं साधनं हिंसात्वं, न व्याप्नोति निषिद्धत्वम्। नहि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं,

यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्। तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्-भावादन्यप्रयुक्तव्याप्त्युजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव।

(द्वितीयः) दूसरा [अर्थात् "उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध" का उदाहरण] (यथा) जैसे—("क्रत्वन्तरवर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुवाह्यहिंसावत्") "यज्ञ के बीच की गयी हिंसा अधर्म की उत्पादिका है, हिंसा होने से, यज्ञ (क्रतु) से बाहर की गयी हिंसा के समान"। (अत्र) यहाँ (अधर्मसाधनत्वे) अधर्मसाधनत्व में (हिंसात्वम्) हिंसात्व (प्रयोजकं न) प्रयोजक अथवा कारण नहीं है (किन्तु) किन्तु (निषिद्धत्वम्) निषिद्धत्व (एव) ही (प्रयोजकम्) प्रयोजक अथवा कारण है (उपाधिः इति यावत्) तथा [इस प्रयोजक को ही] 'उपाधि' कहा जाता है [अत्र 'निषिद्धत्व" ही इस उक्त स्थल पर 'उपाधि' है।]। (तथाहि) क्योंकि '(साध्यव्यापकत्वे सति) साध्य का व्यापक होने पर [भी जो] (साधनाव्यापकः) साधन का व्यापक न होने वाला [धर्म] (उपाधिः) उपाधि कहलाता है (इति उपाधिलक्षणम्) यह उपाधि का लक्षण है। (च) और (तत्) वह [उक्त उपाधि का लक्षण] (निषिद्धत्वे) निषिद्धत्व [उपाधि] में (अस्ति] [पाया जाता] है। (निषिद्धत्वं हि) निषिद्धत्व (साध्यस्य) साध्यभूत (अधर्मसाधनत्वस्य) अधर्मसाधनत्व का (व्यापकम्) व्यापक है। (यतः) क्योंकि (यत्र यत्र) जहाँ जहाँ (अधर्मसाधनत्वम्) अधर्मसाधनत्व होता है (तत्र तत्र) वहाँ वहाँ (निषिद्धत्वम्) निषिद्धत्व (अपि) भी (अवश्यम्–इति) अवश्य होता है [यह साध्य-व्यापकत्व हुआ।] (एवम्) इसी प्रकार (निषिद्धत्वम्) निषिद्धत्व (साधनम्), साधनभूत (हिंसात्वम्) हिंसात्व का (न व्याप्नोति) व्यापक नहीं है [अर्थात् जहाँ जहाँ हिंसात्व है वहाँ वहाँ निषिद्धत्व भी अवश्य हो, ऐसा नहीं है] (यज्ञीयपशुहिंसायाः) यज्ञ सम्बन्धी पशु हिंसा के [विहित होने से] (निषिद्धत्वाभावात्) निषिद्ध न होने से। [यह साधन का अव्यापकत्व हुआ। इस प्रकार 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' रूप उपाधि का लक्षण 'निषिद्धत्व' में घट जाता है। अतः 'निषिद्धत्व' उपाधि है।]। (तत् एवम्) इस भाँति (निषिद्धत्वस्य) निषिद्धत्व (उपाधेः) उपाधि के (सद्भावात्) विद्यमान होने से (अन्यप्रयुक्त) अन्य प्रयुक्त [अर्थात् निषिद्धत्व प्रयुक्त] (व्याप्ति उपजीवि) व्याप्ति के आश्रित रहने वाला (हिंसात्वम्) हिंसात्व [हेतु] (व्याप्यत्वासिद्धम्–एव) व्याप्यत्वासिद्ध ही है।

जहाँ किसी उपाधि की विद्यमानता के कारण कोई हेतु असिद्ध हो जाया करता है वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास का द्वितीय प्रकार हुआ करता है। उपाधि का लक्षण ही है कि जो साध्य का व्यापक हो किन्तु साधन का

व्यापक न हो—वह उपाधि कहलाती है। "क्रत्वन्तरवर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनम्, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्" इस अनुमान में 'अधर्मसाधनत्व' ही साध्य है तथा 'हिंसात्वात्' साधन अथवा हेतु है। यहाँ 'निषिद्धत्व' नामक उपाधि है। यह उपाधि साध्य की व्यापक है क्योंकि जहाँ जहाँ भी अधर्मसाधनत्व होता है वहाँ वहाँ निषिद्धत्व भी अवश्य ही हुआ करता है। यह व्याप्ति है। किन्तु यह 'निषिद्धत्व नामक उपाधि साधन- की व्यापक नहीं है क्योंकि जहाँ जहाँ भी हिंसात्व होता हो वहाँ २ निषिद्धत्व अवश्य होता हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि यज्ञ से सम्बन्धित हिंसा में भी हिंसात्व तो है ही किन्तु उसका शास्त्र द्वारा निषेध नहीं किया गया ["वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति",] अतः उस यज्ञीय हिंसा का निषिद्धत्व नहीं है। इस भाँति 'निषिद्धत्व' में उपाधि का लक्षण घट जाता है। अतः उक्त अनुमान में 'हिंसात्वत्' शुद्ध हेतु न कहा जाकर 'उपाधिसद्भाव-व्याप्यत्वासिद्ध-हेत्वाभास' ही कहा जायगा।

उपाधि शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि "उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधाति इत्युपाधिः"। अर्थात् जो अपने समीपवर्त्ती में अपने धर्म का आधान कर दिया करती है, उसे 'उपाधि' कहते हैं। निषिद्धत्व ही वस्तुतः अधर्मजनकत्व का प्रयोजक है। निषिद्धत्व सम्बन्धी सधर्मजनकत्व धर्म यहाँ हिंसात्व में प्रतीत होता है। अतः उप अर्थात् अपने समीपवर्त्ती हिंसात्व में अपने धर्म [अधर्मजनकत्व] का आधान अथवा संक्रमण करने के कारण निषिद्धत्व' उपाधि हुयी। उपाधि शब्द की इस व्युत्पत्ति को ध्यान में रखते हुये ही तर्कभाषाकार ने "अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीविहिंसात्वम्" ऐसा लिखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि निषिद्ध होने के कारण ही कोई कार्य अधर्म का जनक हुआ करता है। इस भाँति अधर्मसाधनत्व की निषिद्धत्व के साथ व्याप्ति है। इस व्याप्ति का हिंसात्व में आरोप कर लिया जाता है। इस कारण हेतुरूप में जो "हिंसात्व" को दिया गया है वह अन्य प्रयुक्त अर्थात् निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति पर आधारित है। वस्तुतः वह व्याप्य नहीं है अथवा व्याप्यरूप में वह असिद्ध है अतः उक्त ["हिंसात्वात्"] हेतु-'व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास' ही है-शुद्ध हेतु नहीं।

(२) विरुद्ध-हेत्वाभास

(२) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतनित्यत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति।

(साध्यविपर्ययव्याप्तः) साध्य के विपर्यय [विपरीत अथवा अभाव] के साथ व्याप्त (हेतुः) (हेतु) (विरुद्धः) (विरुद्ध-हेत्वाभास कहलाता है (स)

वह (यथा) जैसे-("शब्दो नित्यः, कृतकत्वात्, आत्मवत्") : "शब्द नित्य है [प्रतिज्ञा], कृतक [जन्य] होने से [हेतु], आत्मा के समान [उदाहरण]। (अत्र यहाँ [इस अनुमान में] (कृतकत्वम्) कृतकत्व [हेतु] (साध्य-नित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन) साध्यभूत नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व से (व्याप्तम्) व्याप्त है। (यत्) जो (कृतकम्) जन्य होता है (तत्) वह (अनित्यम् एव) अनित्य ही होता है (नित्यं न) नित्य नहीं। (अतः) इसलिये (कृतकत्वम्) कृतकत्व [हेतु] (विरुद्धम्) विरुद्ध—[हेत्वाभास ही] है।

साध्य-विपर्यय- व्याप्त अर्थात् साध्याभाव [विपर्यय = विपरीत = अभाव] से व्याप्त हेतु विरुद्ध-हेत्वाभास होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त होता है उसे 'विरुद्ध-हेत्वाभास' नाम से कहा जाता है। जैसे—'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्, आत्मवत्" में "नित्यत्व" साध्य है तथा 'कृतकत्व' हेतु है। 'कृतकत्व' का अर्थ होता है उत्पन्न होने वाला अर्थात् जन्य। वास्तविकता तो यह है कि जो कृतक (जन्य) हुआ करता है वह अनित्य होता है। साध्य "नित्यत्व" का यहाँ अभाव है। व्याप्ति तो यह बनेगी कि जो कृतक होता है वह अनित्य होता है [क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है अथवा जो जन्म हुआ करता है उसका विनाश भी अवश्य हुआ करता है] अतः "शब्दः अनित्यः कृतकत्वात्" यह ही शुद्ध कहा जायगा। अतः यहाँ नित्यत्व साध्य का अभाव 'अनित्यत्व' विद्यमान है। अतएव यह 'कृतकत्व' हेतु-शुद्ध हेतु की श्रेणी में न आकर "विरुद्ध-हेत्वाभास" ही कहा जायगा।

(३) अनैकान्तिक-हेत्वाभास—

(३)सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविधःसाधारणानैकान्तिकऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति। तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, व्योमवत्। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्य-वृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृतो यः पक्ष एव वर्त्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः। स यथा भूर्नित्या गन्धवत्वात्। गन्धवत्वं सपक्षान्नित्याद् विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति।

(सव्यभिचारः) सव्यभिचार [हेतु] (अनैकान्तिकः) अनैकान्तिक-हेत्वाभास कहलाता है। (स) वह (द्विविधः) दो प्रकार का होता है:— (१) (साधारणानैकान्तिकः) साधारण-अनैकान्तिक (च) और (असाधारणानैकान्तिकः) (२) असाधारण-अनैकान्तिक। (तत्र) उनमें से (पक्ष सपक्ष विपक्षवृत्तिः) पक्ष, सपक्ष और विपक्ष [तीनों] में रहने वाला [अर्थात् विपक्ष की

व्यावृत्ति से रहित](साधारणः) साधारण अनैकान्तिक कहलाता है। (यथा) जैसे–("शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत्") अर्थात् शब्द नित्य है [प्रतिज्ञा] (प्रमेयत्वात्) प्रमेय होने से [हेतु], अकाश के समान [उदाहरण]। (अत्र) यहाँ (प्रमेयत्वम्) प्रमेयत्व (हेतुः) हेतु है (च) और (तत्) वह (नित्यानित्यवृत्ति) नित्य [पक्ष तथा सपक्ष] तथा अनित्य [विपक्ष] दोनों में रहने वाला है। इसके [विपरीत] (यः) जो (सपक्षात्) सपक्ष और (विपक्षात्) विपक्ष दोनों से (व्यावृत्तः) व्यावृत्त होकर (पक्षे एव) केवल पक्ष में ही (वर्त्तते) विद्यमान रहा करता है (स) वह (असाधारणानैकान्तिकः) असाधारण-अनैकान्तिक [हेत्वाभास] कहा जाता है। (स) वह (यथा) जैसे—("भूर्नित्या गन्धवत्वात्") "पृथिवी नित्य है [प्रतिज्ञा] गन्धवती होने से" [हेतु]। [यहाँ] (गन्धवत्वम्) गन्धवत्व [हेतु] (सपक्षात् नित्यात्) सपक्ष नित्य [आकाशादि] (च) और (विपक्षात्-अनित्यात्) विपक्ष अनित्य [जलादि]से (व्यावृत्तम्) व्यावृत्त [होता हुआ] (भूमात्रवृत्ति) केवल पृथिवी [पक्ष] में ही रहता है। [अतः यहाँ "गन्धवत्वात्" "असाधारण-अनैकान्तिक-हेत्वाभास" ही है]।

'व्यभिचार' शब्द का अर्थ ही है—व्यवस्थित न होना अथवा अव्यवस्था अथवा औचित्य का अतिक्रमण अथवा नियम के साथ न रहना। जो हेतु साध्य के साथ व्यवस्थित रूप में नहीं रहा करता है उसे 'साव्यभिचार हेतु' कहा जाता है। इसी का नाम 'अनैकान्तिक-हेत्वाभास" है। साध्य के साथ हेतु का यह व्यभिचार दो प्रकार से संभव है (१) कभी-कभी हेतु अपने उचित स्थान पर तो रहता ही है और उसके विपरीत स्थान पर भी रहा करता है, ऐसे हेतु को हेतु न कहा जाकर "अनैकान्तिक-हेत्वाभास" ही कहा जाता है। जो हेतु पंचरूपोपपन्न हुआ करता है वह पक्ष तथा सपक्ष में तो रहा ही करता है किन्तु विपक्ष में नहीं रहा करता है। किन्तु जो हेतु पक्ष तथा सपक्ष दोनों में रहने के साथ ही साथ विपक्ष में भी रहा करता है वह "साधारण-अनैकान्तिक-हेत्वाभास" कहलाता है। जैसे—"शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश के समान"। अनुमान के उक्त प्रयोग में 'नित्यत्व' ही साध्य है, 'प्रमेयत्व' हेतु है। 'शब्द' पक्ष है, व्योम (आकाक्ष) सपक्ष है तथा घट आदि पदार्थ कि जो नित्य नहीं है अर्थात् 'अनित्य' हैं वे 'विपक्ष' हैं। प्रमेयत्व हेतु इन पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में ही विद्यमान है। अर्थात् विपक्ष कहे जाने वाले अनित्य 'पदार्थ 'घट' आदि में भी 'प्रमेयत्व' विद्यमान है। अतः "प्रमेयत्व" "साधारण अनैकान्तिक-हेत्वाभास" ही है।

(२) कभी-कभी हेतु अपने उचित स्थल पर भी नहीं रहा करता है। ऐसी स्थिति में उस हेतु को 'असाधारण-अनैकान्तिक-हेत्वाभास कहा जाता है, शुद्ध हेतु नहीं। शुद्ध हेतु पक्ष, सपक्ष दोनों में रहा करता है, विपक्ष में नहीं रहा करता। किन्तु जो हेतु विपक्ष के ही सदृश सपक्ष में भी नहीं रहा करता है उसे "असाधारण-अनैकान्तिक-हेत्वाभास" कहा जाता है। जैसे "पृथिवी नित्य है गन्धयुक्त होने से" यहाँ नित्यत्व ही साध्य है और गन्धत्व हेतु है। भूमि (पृथिवी) 'पक्ष' है, आकाश आदि नित्यपदार्थ 'सपक्ष' हैं तथा 'घट' आदि अनित्य पदार्थ 'विपक्ष' हैं। 'गन्धवत्व' 'हेतु' -विपक्ष' अनित्य घट आदि में नहीं रहता है, यह तो ठीक है किन्तु इसके साथ ही सपक्ष-नित्य आकाश आदि में भी नहीं रहता है। हाँ, पक्ष "पृथिवी" में अवश्य रहता है। अतः केवल पक्ष (भूमि) में ही रहने के कारण यह "असाधारण-अनैकान्तिक-हेत्वाभास" है।

विशेष—(१) न्यायसूत्र में इस 'अनैकान्तिक-हेत्वाभास' को 'सव्यभिचार' नाम से कहा गया है—"अनैकान्तिकः सव्यभिचारः" [न्यायसूत्र—१.२.५] अतः उक्त हेत्वाभास को 'सव्यभिचार' और "अनैकान्तिक" दोनों नामों से कहा जाता है।

(२) तर्कसंग्रहकार ने "अनैकान्तिक-हेत्वाभास" के तीन भेद माने हैं (१) साधारण) (२) असाधारण (३) अनुपसंहारी। जो हेतु अन्वय तथा व्यतिरेकि दोनों ही प्रकार की व्याप्तियों के उदाहरणों से रहित हुआ करता है इसे 'अनुपसंहारी-हेत्वाभास' कहा जाता है। जैसे—"सर्वमनित्य प्रमेयत्वात्" अर्थात् सब कुछ अनित्य है प्रमेय होने से"। यहाँ सर्वम् (सब कुछ) के अन्तर्गत सभी कुछ आ जाता है। अतः उदाहरण का मिल सकना संभव ही नहीं है। अन्वयव्याप्ति—"जहाँ-जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ-वहाँ अनित्यत्व हैं—जैसे अमुक—का कोई उदाहरण ही न मिलेगा इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति—"जहाँ अनित्यत्व नहीं है वहाँ प्रमेयत्व भी नहीं है"—जैसे अमुक का भी कोई उदाहरण नहीं मिल सकेगा। अतः इस हेतु को "अनुपसंहारी-हेत्वाभास' ही कहा जायगा।

(४) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)—

(४) प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा-"शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्। शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते।

(यस्य हेतोः) जिस हेतु के (साध्यविपरीतसाधकम्) साध्य के विपरीत [अर्थ] का साधक (हेत्वन्तरम्) दूसरा हेतु (विद्यते) विद्यमान रहा करता

है (स एव) वह [हेतु] ही (प्रकरणसमः) "प्रकरणसम हेत्वाभास" [कहलाता] है। (स) वह (यथा) जैसे—("शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्") "शब्द अनित्य है [प्रतिज्ञा] नित्यधर्म से रहित होने से [हेतु]। [इसके विपरीत शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला उसका तुल्यबल विरोधी दूसरा अनुमान] "(शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वात्) "शब्दनित्य है [प्रतिज्ञा] अनित्य-धर्म से रहित होने से [हेतु] (इति) यह विद्यमान है। (अयमेव हि) यह [प्रकरणसम्] ही (सत्प्रतिपक्षः) 'सत्प्रतिपक्ष' (इति) इस नाम से भी (उच्यते) कहा जाता है।

'न्यायसूत्र' आदि प्राचीन ग्रन्थों में उक्त हेत्वाभास का नाम 'प्रकरणसम' ही वर्णित है किन्तु उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रायः इस हेत्वाभास का नाम "सत्प्रतिपक्ष" ही दिया गया है। 'सत्प्रतिपक्ष' इस नाम द्वारा तो इस हेत्वाभास का स्वरूप स्वयं ही सामने आ जाता है। प्रतिपक्ष शब्द का अर्थ ही है:—"साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते' अर्थात् साध्य के विपरीत (विरुद्ध) अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु ही प्रतिपक्ष कहलाता है। जिस हेतु का इस प्रकार का प्रतिपक्ष विद्यमान रहा करता है वह 'सत्प्रतिपक्ष' कहलाता है [सत्-अर्थात् विद्यमान है प्रतिपक्ष जिसका]। परिणामस्वरूप जहाँ दो हेतु एक दूसरे के विरुद्ध अर्थ को सिद्ध किया करते हैं वे दोनों 'सत्प्रतिपक्ष'–हेत्वाभास कहलाते हैं।

उपर्युक्त प्रथम अनुमान में "नित्यधर्मरहितत्वात्" तथा द्वितीय अनुमान में "अनित्यधर्मरहितत्वात्"–ये दोनों हेतु एक दूसरे के साध्य से विपरीत अर्थ को ही सिद्ध करते है। प्रथम हेतु शब्द में 'नित्यत्व' सिद्ध करना चाहता है तथा द्वितीय हेतु उस ही शब्द में अनित्यत्व। इसी कारण साध्यविपरीतसाधक तुल्यबल वाले द्वितीय हेतु के विद्यमान रहने से यह दोनों हेतु परस्पर 'सत्प्रतिपक्ष" हेत्वाभास कहलाते हैं किन्तु इन दोनों हेतुओं में से कोई भी हेतु अपने साध्य के सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। इस हेत्वाभास में दोनों ही हेतुओं का समान बलवाला होना आवश्यक है। अन्यथा एक के दुर्बल तथा दूसरे के सबल अथवा प्रबल होने पर 'सत्प्रतिपक्ष' नहीं होगा। ऐसी स्थिति में प्रबल हेतु दुर्बल हेतु का सदैव बाध ही करेगा। अतः दुर्लभ तथा प्रबल में पक्ष-प्रतिपक्ष भाव ही न बन सकेगा। इसी कारण तुल्यबलविरोधी हेतु ही 'प्रतिपक्ष' कहा जाता है।

यदि दोनों हेतुओं में से एक दुर्बल तथा दूसरा सबल होगा तो दुर्बल हेतु का प्रबल हेतु द्वारा बाध हो जायेगा। फिर ऐसी स्थिति में 'बाधित-हेत्वाभास'

ही होगा, सत्प्रतिपक्ष अथवा 'प्रकरणसम' हेत्वाभास नहीं। इसीलिये सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास में दोनों हेतुओं का तुल्यबल वाला होना आवश्यक माना गया है। तथा तुल्यबल वाले होने से ही दोनों में से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो पाता है। 'बाधित-हेत्वाभास' में तो अन्य प्रबल-प्रमाण द्वारा साध्य के अभाव का निश्चय हो जाया करता है। यही 'प्रकरणसम' तथा 'बाधितविषय' [अथवा कालात्ययापदिष्ट] हेत्वाभासों में अन्तर है।

(५) बाधितविषय अथवा कालात्ययापदिष्ट :—

(५) पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावोहेतुर्बाधितविषयः, कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।

[जिस हेतु के] (पक्षे) पक्ष में (प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावः) किसी अन्य (प्रबलतर) प्रमाण द्वारा साध्य का अभाव निश्चित कर लिया गया है (हेतुः) वह हेतु (बाधितविषयः) 'बाधितविषय' [हेत्वाभास] कहलाता है (च) और (कालात्ययापदिष्टः) [वही] कलात्ययापदिष्ट (उच्यते) [हेत्वाभास] कहा जाता है। (यथा) जैसे ("अग्निः अनुष्णः कृतकत्वात्, जलवत्") "अग्नि अनुष्ण [शीतल] है [प्रतिज्ञा] (कृतकत्वात्) जन्य होने से [हेतु], जल के समान [उदाहरण]। (अत्र हि) यहाँ (कृतकत्वस्य हेतोः) कृतकत्व हेतु का (साध्यम्) साध्य (अनुष्णत्वम्) अनुष्णत्व है, (तदभावः) उसका अभाव [अर्थात् उस अनुष्णत्वरूप साध्य का अभाव] (प्रत्यक्षेणैव) प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही (अवधारितः) निश्चित कर लिया गया है [क्योंकि पक्षभूत अग्नि में] (स्पार्शनप्रत्यक्षेण एव) स्पार्शन [त्वचा सम्बन्धी] प्रत्यक्ष से ही (उष्णत्वोपलम्भात्) उष्णत्व की उपलब्धि हो रही है।

'बाधितविषय' में 'विषय' शब्द का अर्थ है 'साध्य'। जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण द्वारा [पक्ष में] गृहीत हो जाता है उस हेतु से 'बाधितविषय' कहा जाता है। अथवा जिस हेतु के साध्य का किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण द्वारा बाध [बाध से अभिप्राय है "विपरीत अर्थ का निश्चय हो जाना।"] हो जाता है वह "बाधितविषय—हेत्वाभास" कहलाता है। इस ही का दूसरा नाम "कालात्ययापदिष्ट" भी है कि जो न्यायसूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैसे—'अग्नि अनुष्ण (शीतल) है, जन्य होने से, जल के समान"। यहाँ अग्नि में अनुष्णत्व

[अर्थात् उष्णता का न होना] ही साध्य है। अनुष्णत्व [रूप-साध्य] का अभाव ही है [उष्णत्व]। त्वचा सम्बन्धी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि अग्नि उष्ण ही हुआ करती है अनुष्ण नहीं। इस प्रकार यहाँ 'कृतकत्व' हेतु के साध्यभूत अनुष्णत्व का बाध त्वाच-प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा हो जाता है जो कि प्रबलतर प्रमाण है। अतः यह 'कृतकत्व' हेतु 'बाधितविषय' अथवा 'कालात्ययापदिष्ट-हेत्वाभास' है।

सत्प्रतिपक्ष तथा बाधितविषय हेत्वाभासों का अन्तर स्पष्ट ही है। कि 'सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास' में तो दोनों ही हेतु तुल्यबल वाले हुआ करते हैं तथा उन दोनों हेतुओं में से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर सकने में समर्थ नहीं हो पाता है। किन्तु 'बाधितविषय' हेत्वाभास में तो किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण द्वारा हेतु से सम्बन्धित साध्य के अभाव का ही निश्चय कर लिया जाया करता है। इस हेत्वाभास में कोई दूसरा प्रमाण प्रबल हुआ करता है।

इति व्याख्यातमनुमानम्।

(इति) इस प्रकार (अनुमानम्) अनुमान प्रमाण की (व्याख्यातम्) व्याख्या [समाप्त] हुयी।

अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता :—

'प्रत्यक्ष प्रमाण' को तो प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। अतः 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। किन्तु अनुमान प्रमाण के बारे में ऐसा नहीं है। चार्वाक-लोगों ने 'अनुमान-प्रमाण के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। वे केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं। अतः इस विषय में यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

वाचस्पति आदि दार्शनिक-विद्वानों ने चार्वाक के लिये भी अनुमान की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक बतलाया है। उनका कथन है कि जब चार्वाक किसी से यह कहता है कि "अनुमान प्रमाण नहीं है" तब उससे पूछना चाहिये कि आप किसी विशिष्ट व्यक्ति से ऐसा क्यों कहते हैं? तब वह यही उत्तर देगा कि वह व्यक्ति अनुमान प्रमाण को मानता है। अतः उसे भ्रम अथवा सन्देह है। उसके इस भ्रम अथवा सन्देह को दूर करने के लिये ही मैं उसे समझा रहा हूँ कि अनुमान-प्रमाण नहीं है।

उसके इस कथन पर उससे यह प्रश्न किया जा सकता है कि आपने यह कैसे ज्ञात किया वह व्यक्ति अज्ञान, सन्देह अथवा भ्रम में है? किसी

दूसरे व्यक्ति के अज्ञान, सन्देह अथवा भ्रम को जानने के लिये आपके पास क्या साधन है ? इसके उत्तर में उनका कथन यही हो सकता है व्यक्ति के बचनों द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि वह व्यक्ति अज्ञान, सन्देह, भ्रम अथवा विपर्यय में पड़ा हुआ है। अब चार्वाक से यही पूछा जा सकता है कि किसी दूसरे व्यक्ति के अज्ञान, सन्देह अथवा भ्रम को प्रत्यक्ष तो नहीं कहा जा सकता है क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति के अभ्यन्तर विद्यमान सन्देह, भ्रम आदि का प्रत्यक्ष किया जाना किसी लौकिकपुरुष द्वारा संभव नहीं है। अतएव इसके जानने का मार्ग उसके वचन-भेद-रूप लिङ्ग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता है। यह लिङ्ग-दर्शन से होने वाला ज्ञान ही 'लैङ्गिक' अथवा 'अनुमान' कहलाता है। अतः परपुरुषगत अज्ञान, सन्देह और विपर्यय आदि का ग्रहण अनुमान द्वारा ही संभव है। अतएव जब चार्वाक किसी अन्य से कहता है कि "अनुमान प्रमाण नहीं है", तब वह उसके तत्सम्बन्धी अज्ञान, सन्देह अथवा विपर्यय का अनुमान करके ही ऐसा कहा करता है। ऐसी स्थिति में उसके लिये अनुमान प्रमाण का स्वीकार किया जाना आवश्यक है। किन्तु यदि वह चार्वाक परपुरुषगत अज्ञान, सन्देह अथवा विपर्यय के जाने विना ही किसी को पकड़ लेता है और उससे कहता है कि "भाई अनुमान-प्रमाण नहीं है", तो वह उन्मत्त ही समझा जायगा। अतः किसी भी व्यक्ति के साथ इस सम्बन्ध में बुद्धिपूर्वक बात करने के लिये उसके अज्ञान, सन्देह अथवा विपर्यय आदि का ज्ञान परमावश्यक है तथा इस ज्ञान के लिये 'अनुमान' को छोड़कर कोई अन्य साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में न चाहते हुये भी चार्वाक को अनुमान-प्रमाण स्वीकार करना ही होगा।

इसके अतिरिक्त एक और भी है और वह यह कि चार्वाक लोग प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में जिस वस्तु आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है उसका अस्तित्व भी नहीं होता होगा। ऐसी स्थिति में घर से वाहर आ जाने पर चार्वाक को अपने घर के लोगों का ही प्रत्यक्ष नहीं होगा। तब क्या उनका अभाव वह स्वीकार करेगा ? अतः चार्वाक द्वारा अनुमान-प्रमाण को स्वीकार न किया जाना सर्वथा अनुचित तथा अनुपयुक्त ही है।

अनुमान-परम्परा तथा उसके भेद—

अनुमान-प्रमाण के सम्बन्ध में दार्शनिक-जगत् में तीन प्रकार की परम्परायें उपलब्ध होती हैं। (१) वैदिक-परम्परा (२) बौद्धपरम्परा तथा (३) नव्य-न्याय की परम्परा। अनुमान के लक्षण तथा भेदों का विवेचन

सर्वप्रथम वैदिक-परम्परा में ही प्रारम्भ हुआ। इस परम्परा की भी दो धारायें उपलब्ध होती हैं। (१) प्रथम धारा तो वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शनों की विचार धारा है। (२) दूसरी धारा के अन्तर्गत न्याय सांख्य तथा चरक-इन तीन शास्त्रों का समावेश किया जा सकता है। इन दोनों धाराओं में प्रमुख भेद यह है कि वैशेषिक तथा मीमांसा सम्बन्धी प्रथम परम्परा में अनुमान के दो ही भेद उपलब्ध होते हैं तथा न्याय, सांख्य और चरक वाली द्वितीय परम्परा में दो के स्थान पर तीन भेद उपलब्ध होते हैं। वैशेषिक तथा मीमांसा वाली प्रथम परम्परा का ज्ञान हमें (वैशेषिक दर्शन के) 'प्रशस्तपादभाष्य' तथा मीमांसा के 'शाबरभाष्य' में प्राप्त होता है। इन दोनों ही भाष्यों में अनुमान के दो भेदों का उल्लेख मिलता है :—

(१) तत्तु द्विविधम्। दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च।
(वैशेषिक—प्रशस्तपादभाष्य—पृष्ठ १०४)।

(२) तत्तु द्विविधम्। प्रत्यक्षतो दृष्ट सम्बन्ध सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च।
(मीमांसा–शाबरभाष्य–१।१।५)।

[इन दोनों दर्शनों के प्रथम भेद को एक में 'दृष्ट' तथा दूसरे में 'प्रत्यक्षतोदृष्ट' नाम से कहा गया है किन्तु यह कोई विशिष्ट महत्त्व की बात नहीं है। दोनों लगभग एक से ही हैं। द्वितीय भेद 'सामान्यतोदृष्ट' तो दोनों में एक ही प्रकार का है।]।

किन्तु न्याय, सांख्य तथा चरक सम्बन्धी [वैदिक-परम्परा की] द्वितीय धारा में अनुमान के तीन प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है। न्याय-सूत्र में "अनुमान-प्रमाण" का लक्षण तथा भेद प्रदर्शित करते हुये आया है :—

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च॥
न्याय० १।१।५॥"

इस सूत्र के अनुसार न्याय-शास्त्र में अनुमान के (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् तथा (३) सामान्यतोदृष्ट—ये तीन भेद किये गये हैं। "सांख्यकारिका" में "त्रिविधमनुमानमाख्यातम्" लिखकर उसकी टीका 'माठरवृत्ति' में न्यायसूत्र के अनुसार उन्हीं तीन भेदों को स्वीकार किया गया है। 'चरक' के 'सूत्रस्थान' में भी—"प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते" लिखकर उपर्युक्त तीनों भेदों को न्याय-सूत्र के अनुसार ही नामों द्वारा स्वीकार किया गया है।

इस भाँति वैदिक-दर्शनों में उपर्युक्त दो प्रकार की ["द्विविध"] तथा तीन प्रकार की ["त्रिविध"] भेद वाली परम्परायें उपलब्ध होती हैं।

किन्तु 'वाचस्पति मिश्र' कि जिन्होंने सभी दर्शनों पर टीकायें लिखी हैं, ने उपर्युक्त दोनों ही परम्पराओं का समन्वय सा कर दिया है। उन्होंने स्वलिखित "सांख्यतत्वकौमुदी" में पंचम कारिका की टीका में पहले अनुमान के दो ही भेद दिखलायें हैं (१) वीत और (२) अवीत। "तत्र अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विधायकं वीतम्" अर्थात् अन्वय मुख से प्रवर्त्तमान विधायक अनुमान को 'वीत' अनुमान कहा है। तथा "निषेधमुखेन प्रवर्त्तमानं अविधायकमवीतम्" अर्थात् निषेध मुख से प्रवर्त्तमान अविधायक-अनुमान को 'अवीत अनुमान' नाम से कहा है। इन दोनों में जो 'अवीत' नामका अनुमान है वही न्यायपरम्परा का 'शेषवत्' है :—

"तत्रावीतं शेषवत्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः। स एव विषयतया यस्यास्ति अनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्। यदाहुः—प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यप्रमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः।"

॥ सांख्यतत्वकौमुदी की कारिका ५ ॥

इस 'अवीत' के अतिरिक्त जो दूसरा 'वीत' नामक अनुमान है उसके "सांख्यतत्वकौमुदी" में दो भेद किये गये हैं।

(१) पूर्ववत् और

(२) सामान्यतोदृष्ट :—

"वीतं च द्वेधा। पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च॥" सां. त. कौ. कारिका-५॥

इस भाँति वाचस्पति मिश्र ने पहले अनुमान को 'वीत' और 'अवीत' दो भेद कर के वैशेषिक तथा मीमांसा वाली द्विविध परम्परा का समन्वय करने का प्रयास किया है। और तदनन्तर न्याय तथा सांख्य आदि सम्बन्धी त्रिविध-भेद वाली परम्परा को भी प्रदर्शित कर दिया है। वाचस्पति मिश्र द्वारा किया गया यह समन्वय केवल संख्या-भेद की सीमा तक ही रहता है, अर्थ का समन्वय नहीं हो पाता है क्योंकि वैशेषिक तथा मीमांसा सम्बन्धी परम्परा में 'वीत और अवीत' इन नामों का तथा 'अवीत' अर्थात् 'शेषवत्' इस भेद का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है।

(२) बौद्ध परम्परा में अनुमान के भेद—

अनुमान-प्रमाण के सम्बन्ध में दूसरी परम्परा बौद्धों की है। इस परम्परा में भी दो प्रकार की धाराओं का दर्शन होता है। प्रारम्भ में तो बौद्धों ने भी वैदिक-परम्परा का ही अनुसरण किया है तथा न्यायसूत्र-सम्बन्धी त्रिविध अनुमान का ही वर्णन किया है। त्रिविध-अनुमान सम्बन्धी यह वर्णन बौद्धों के केवल एक ग्रन्थ "उपाय हृदयम्" [पृष्ठ १३] में ही उपलब्ध होता है। दूसरी धारा

वह है कि जिसे पंचमशताब्दी में आचार्य दिङ्नाग ने जन्म दिया था। उन्होंने वैदिक-परम्परा से भिन्न अपनी एक नई परम्परा ही स्थापित की तथा न्याय-सूत्र की परम्परा से भिन्न प्रकार के अनुमान के लक्षण तथा भेद आदि किये।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'तर्कभाषा' में भी अनुमान के "पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्ट" नामक अनुमान के तीन भेद न दिखला कर (१) स्वार्थानुमान तथा (२) परार्थानुमान—ये दो भेद ही दिखलाये गये हैं। इन दो भेदों का वर्णन प्रमुखरूप से वैशेषिक-परम्परा में ही उपलब्ध होता है। बौद्धों ने भी इन दो भेदों को अपनाया है। इस भाँति यद्यपि बौद्ध-दार्शनिकों ने न्याय-परम्परा के अनुमान सम्बन्धी लक्षण तथा भेदों का खण्डन करने का पूर्ण प्रयास किया है किन्तु फिर भी वे वैदिक-परम्परा से अपने को अछूता नहीं रख सके हैं।

(३) तर्कभाषाकार का मत—

तर्कभाषा में अनुमान के न तो 'प्रत्यक्षतो दृष्ट' और 'सामान्यतो दृष्ट' नामक दो भेद ही स्वीकार किये गये हैं और न 'वीत' और 'अवीत' नाम के ही दो भेद। इसके अतिरिक्त 'पूर्ववत, 'शेषवत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट' नामक ही तीन भेदों का भी उल्लेख उसमें नहीं किया गया है। उसमें तो नव्यन्याय की पद्धति का अनुसरण किया गया है और तदनुसार 'स्वार्थानुमान' और 'परार्थानुमान' नामक दो भेदों का उल्लेख किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि न्याय-वैशेषिक सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में वर्णित अनुमान के उक्त भेद तर्कभाषाकार को अभिमत नहीं है। तर्कभाषा में वर्णित अनुमान के विभागों (भेदों) का स्पष्ट आशय यही है कि अनुमान के जितने भी प्रकार अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं उन सभी का अन्तर्भाव 'स्वार्थानुमान' एवं 'परार्थानुमान' के अन्तर्गत हो जाता है।

परार्थानुमान—

इस अनुमान के सम्बन्ध में यह बात जानने योग्य है कि यह अनुमान जिस वाक्य से सम्पन्न होता है उसे 'न्याय' कहा जाता है तथा उसके घटक वाक्यों को "न्यायावयव" कहा जाता है कहने का तात्पर्य यह है 'परार्थानुमान' इन अवयवों से युक्त हुआ करता है। इन अवयवों की संख्या के बारे में विभिन्न दर्शनों की मान्यतायें भिन्न-भिन्न हैं। न्याय दर्शन में इनकी संख्या ५ पाँच मानी गयी है:—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायद० १।१।३२॥] अर्थात् वे पाँच अवयव ये हैं—(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय और (५) निगमन। वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में परार्थानुमान का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—"पञ्चावयवेन वाक्येन

स्वनिश्चितार्थं प्रतिपादनं परार्थानुमानम्'' अर्थात् पाँच अवयवों से युक्त वाक्य के द्वारा अपने निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करने वाला 'परार्थानुमान' हुआ करता है। इस अनुमान वाक्य में प्रयुक्त होनेवाले पाँच अवयवों के नामों का उल्लेख 'प्रशस्तपादभाष्य' में इस प्रकार किया गया है:—"अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः"—[प्रशस्तपादभाष्य–पृष्ठ ११४]। अर्थात् (१) प्रतिज्ञा (२) अपदेश (३) निदर्शन (४) अनुसन्धान और (५) प्रत्याम्नाय। इन पाँचों के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैशेषिक-दर्शन में प्रथम अवयव का नाम तो वही है कि जो न्यायदर्शन में है किन्तु अन्य चार अवयवों के नाम न्याय दर्शन से सर्वथा भिन्न हैं—'हेतु' के स्थान पर 'अपदेश', उदाहरण' के स्थान पर 'निदर्शन', उपनय' के नाम के स्थान पर 'अनुसन्धान' तथा 'निगमन' के स्थान पर 'प्रत्याम्नाय'।

उपर्युक्त पाँचों अवयवों के प्रयोग में भेद—

न्याय तथा वैशेषिक-दर्शनों में तो अनुमान के उपर्युक्त पाँचों अवयवों का प्रयोग देखने को मिलता है किन्तु अन्य दर्शनों में इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कई विचारधारायें उपलब्ध होती हैं। सांख्य के तार्किक प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त इन तीन अवयवों का ही प्रयोग उचित मानते हैं। इसका उल्लेख सांख्यकारिका की माठरवृत्ति की पंचम कारिका में प्राप्त होता है।

मीमांसा और वेदान्त दर्शन में अनुमान के तीन अवयवों को ही स्वीकार किया गया है,—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन।

बौद्ध-दर्शन में अनुमान के दो ही अवयवों को माना गया है—उदाहरण और उपनय। जैन दर्शन में अनुमान के अवयवों की कोई नियत संख्या नहीं मानी गयी है अपितु जिसके प्रति अनुमान-वाक्य का प्रयोग किया जाया करता है उस ही की योग्यता के आधार पर अनुमान के अवयवों का प्रयोग किया जाया करता है। अतः इस दर्शन के अनुसार कभी पाँचों अवयवों का, कभी चार अवयवों का, कभी तीन का, कभी दो का और कभी केवल एक अवयव का ही प्रयोग किया जाता है।

अनुमापकता के प्रयोजक हेतु-रूप—

अनुमापकता के प्रयोजक रूप में विद्यमान हेतु के जिन रूपों का ज्ञान होने पर 'अनुमिति' का उदय हुआ करता है उनकी संख्या के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। इन मतों को प्रमुखरूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है (१) "पंचरूपतावादी वर्ग तथा (२) त्रिरूपतावादी वर्ग। वैशे-

षिक, सांख्य और बौद्ध—ये तीन दर्शन हेतु की त्रिरूपता को स्वीकार करते हैं। न्याय-दर्शन तो स्पष्टतः पञ्चरूपतावादी है। वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य में 'हेतु' अथवा 'लिङ्ग' का वर्णन करते हुये यह लिखा है—

"यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥"

[प्रशस्तपादभाष्य–पृष्ठ ६००]

जो अनुमेय अर्थात् पक्ष से सम्बद्ध 'पक्षसत्'—और तदन्वित अर्थात् सपक्ष में प्रसिद्ध–'सपक्षसत्' हो तथा उसके अभाव अर्थात् विपक्ष में न हो–'विपक्ष-व्यावृत' हो वही लिङ्ग अनुमापक [अनुमिति का उत्पादक अथवा साधक] होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैशेषिक-दर्शन में हेतु के तीन [पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृतत्व] ही धर्म स्वीकार किये गये हैं।

वैशेषिक-दर्शन में उपर्युक्त तीन ही हेतु के धर्म स्वीकार किये गये हैं तथा इसी त्रिरूपता के आधार पर हेत्वाभासों को भी त्रिरूपता का प्रतिपादन किया गया है:—

विपरीतमतो यस्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥

[प्रशस्तपादभाष्य पृ० ६००]

ऊपर उद्धृत दोनों कारिकायें प्रशस्तपादभाष्य में उपलब्ध होती हैं जिनसे विदित होता है कि प्रशस्तपाद ने अपने पूर्ववर्त्ती काश्यपाचार्य के मतानुसार इस त्रिरूपतावादी सिद्धान्त का निरूपण किया होगा।

इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध रूसी विद्वान् प्रो० चारावास्की ने अपनी पुस्तक "बुद्धिस्ट लॉजिक" में यह प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त सिद्धान्त के बारे में वैशेषिक-दर्शन पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है। बौद्धों के "अभिधर्मकोश", "प्रमाणसमुच्चय", "न्यायप्रवेशः, न्यायबिन्दु, 'हेतुबिन्दु' तथा 'तत्वसंग्रह' आदि अनेक ग्रन्थों ने इस त्रैरूप्य सिद्धान्त का ही विवेचन किया गया है तथा न्यायदर्शन में प्रतिपादित पचरूपों का खण्डन किया गया है। सांख्य-कारिका की पञ्चम कारिका की माठरवृत्ति सम्बन्धी व्याख्या में भी इसी उक्त सिद्धान्त का निरूपण मिलता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वैशेषिक, सांख्य तथा बौद्ध-दर्शनों को हेतु के 'पक्षसत्व', 'सपक्षसत्व', और 'विपक्षव्यावृतत्व'—ये तीन धर्म ही अभीष्ट हैं।

किन्तु न्याय-दर्शन की परम्परा में उपर्युक्त तीन रूपों के अतिरिक्त 'अबा-धितविषयत्व' तथा 'असत्प्रतिपक्षत्व'—इन दो रूपों की भी मान्यता प्रदान की गयी है। इस भाँति न्याय-परम्परा में हेतु की पंचरूपता स्वीकार की गयी

है। इस पञ्चरूपता सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्त्तक श्री उद्योतकराचार्य ही माने जाते हैं। इनके अनन्तर वाचस्पति मिश्र तथा जयन्तभट्ट आदि ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। किन्तु न्यायपरम्परा की यह पञ्चरूपता भी अपने दृढ़ रूप में स्थिर न रह सकी क्योंकि नव्य न्याय में गदाधर भट्टाचार्य आदि ने हेतु के गमकता उपयोगी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को ही प्रधानता प्रदान की और तदनुसार उन्होंने हेतु की त्रिरूपता की ही पुष्टि की।

इस त्रिरूपता तथा पंचरूपता के मतभेद के आधार पर ही हेत्वाभासों की संख्या में भी मतभेद हो गया। हेत्वाभासों की संख्या के आधार तो हेतु-रूप ही हैं। अतः वैशेषिक-दर्शन सम्बन्धी हेतु की त्रिरूपता के आधार पर हेत्वाभासों की संख्या भी तीन ही मानी गयी और न्याय-परम्परा सम्बन्धी हेतु की पञ्चरूपता के आधार पर हेत्वाभासों की संख्या पाँच मानी गयी।

न्यायदर्शनाभिमत पाँच हेत्वाभास हैं—(१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) प्रकरणसम (४) साध्यसम और (५) अतीतकाल। तर्कभाषा में वर्णित पाँच हेत्वाभासों के नाम हैं:-(१) असिद्ध (२) विरुद्ध (३) सव्यभिचार (४) प्रकरणसम (५) कालात्याप्रदिष्ट। इनमें असिद्ध के स्थान पर 'साध्यसम' को तथा 'कालात्ययापदिष्ट' के स्थान पर 'अतीतकाल' को रखा जा सकता है। किन्तु उनके स्वरूप में कुछ न कुछ अन्तर की प्रतीति अवश्य रहेगी।

[३] उपमानम्

(१) प्रत्यक्ष तथा (२) अनुमान प्रमाणों का प्रतिपादन करने के पश्चात् न्याय-दर्शनाभिमत तृतीय प्रमाण 'उपमान' का निरूपण करते हैं। अत्र यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'उपमान' प्रमाण का कथन प्रत्यक्ष अथवा अनुमान् प्रमाणों के पश्चात् ही क्यों किया जा रहा है उनसे पूर्व क्यों नहीं किया गया?

इसका उत्तर यह है कि उपमान प्रमाण का आधार भी 'प्रत्यक्ष' ही है। अतः प्रत्यक्ष से पूर्व उपमान का वर्णन किया जाना अनुपयुक्त था। उपमान प्रमाण "यथा गौस्तथा गवयः" इत्यादि अतिदेश वाक्यों पर आधारित हुआ करता है। "गो के सदृश पशु को 'गवय' कहा जाता है।" इस अतिदेश वाक्य में, श्रोता को पहले 'गौ' का ज्ञान होना आवश्यक है अर्थात् जिसने पहले 'गौ' का प्रत्यक्ष किया है वही व्यक्ति 'गवय' को भी समझ सकता है। अतः 'गवय' के ज्ञान से पूर्व 'गौ' का प्रत्यक्ष-ज्ञान होना आवश्यक है। फलतः उपमान प्रमाण के लिये भी पहले प्रत्यक्ष-प्रमाण का होना आवश्यक है। इसी कारण प्रत्यक्ष के पश्चात् ही उपमान का कथन किया जाना आवश्यक था।

अनुमान-प्रमाण से भी पूर्व 'उपमान' का कथन न किये जाने के भी अनेक कारण हैं। जिनमें प्रमुख हैं :—

(१) उपमान की अपेक्षा अनुमान के 'प्रामाण्य' में विवाद अल्प ही है। अनुमान को प्रमाण न मानने वालों की संख्या बहुत कम है। किन्तु उपमान को अप्रमाण कहने वालों की संख्या बहुत अधिक है। इसी कारण उपमान के प्रामाण्य को स्थापित करने में जितने अधिक विरोधी मतों का खण्डन करने की आवश्यकता हुआ करती है, अनुमान के प्रामाण्य को स्थापित करने में उससे कहीं कम विरोधी मतों के खण्डन की आवश्यकता हुआ करती है। अतः उपमान का प्रामाण्य जितना दुरूह है, अनुमान का प्रामाण्य उतना ही सुगम है। मानव का यह स्वभाव है कि वह 'सुगम' की ही जिज्ञासा पहले किया करता है। अतः मानव-स्वभाव की दृष्टि से अनुमान का ही निरूपण किया जाना पहले अपेक्षित था। अतः तदनुसार किया गया।

(२) दूसरा कारण यह है कि उपमान की अपेक्षा अनुमान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। अनुमान-प्रमाण द्वारा मनुष्य को अनन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है तथा उपमान प्रमाण द्वारा अत्यन्त सीमित पदार्थों का ही ज्ञान प्राप्त होता है। अतः मनुष्य के लिये उपमान की अपेक्षा अनुमान की ही अत्यधिक उपयोगिता होने के कारण मानव की प्रथम जिज्ञासा 'अनुमान' को जानने की ही हुआ करती है। अतः उपमान से पूर्व अनुमान का निरूपण किया जाना उचित ही था।

इति व्याख्यातमुपमानम्।

उपमान—प्रमाण का निरूपण—

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम्। यथा गवयमजानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवय' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात्पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानमुपमानं उपमितिकरणत्वात्। गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानान्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतीतिरूप मितिः। सैव फलम्। इदन्तु प्रत्यक्षानुमानसाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति।

[किसी शहरी व्यक्ति ने गवय (नीलगाय) को कभी नहीं देखा था। उसको किसी वनवासी पुरुष ने बतलाया कि "यथा गौस्तथा गवयः" अर्थात् जैसी गाय होती है वैसी ही गवय (नीलगाय) भी होती है। गौ के धर्म को

'गवय' में अतिदेश करने वाला '"यथा गौस्तथा गवयः" यह वाक्य "अति-देश-वाक्य" कहलाता है।] (अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतम्) अतिदेश वाक्य [यथा गौस्तथा गवयः] के अर्थ का स्मरण करने के साथ (गोसादृश्य विशिष्टपिण्डज्ञानम्) गौ की समानता से युक्त पिण्ड [अर्थात् गवय-नीलगाय-प्राणी] का ज्ञान ही (उपमानम्) उपमान-[प्रमाण] कहलाता है। (यथा) जैसे (गवयम्) नीलगाय को (अजानन्) न जानने वाला (नागरिकः) नागरिक-पुरुष [शहरी-व्यक्ति](अपि) भी (कुतश्चित्) किसी (आरण्यकात्) वनवासी (पुरुषात्) पुरुष से ("यथा गौस्तथा गवयः") 'जैसी गाय होती है वैसी ही गवय [नीलगाय] भी होती है" (इतिवाक्यम्) इस वाक्य को (श्रुत्वा) सुनकर (वनम्) वन को (गतः) जाता है और वहाँ पहुँचकर (वाक्यार्थम्) [उपर्युक्त अतिदेश] वाक्य के अर्थ का (स्मरन्) स्मरण करते हुये (यदा) जब (गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डम्) गौ की समानता से युक्त पिण्ड को (पश्यति) देखता है [अथवा वन में उस पिण्ड को देखकर उपर्युक्त अतिदेश-वाक्य का जब उसको स्मरण आता है।] (तदा) तब (तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतम्) उस वाक्यार्थ के स्मरण के साथ (गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानम्) गौ की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही (उपमितिकरणत्वात्) उपमिति [प्रमा] का करण [साधन] होने से (उपमानम्) उपमान-प्रमाण कहलाता है। (गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानानन्तरम्) गौ की समानता से युक्त [इस] पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् (अयम्) यह (असौ पिण्डः) पिण्ड ही (गवय पदवाच्यः) "गवय" पद द्वारा कहा जाने वाला है (इति) इस प्रकार की (संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिः) जो संज्ञा [गवय-पद] तथा संज्ञी [गवय–गोसदृशपिण्ड] की प्रतीति होती है उसी को (उपमितिः) उपमिति कहा जाता है। (सा एव) वह [उपमिति] ही (फलम्) [उपमान-प्रमाण] का फल है। (इदम्) यह ही (प्रत्यक्षानुमानसाध्यप्रमासाधकत्वात्) प्रत्यक्ष तथा अनुमान [प्रमाण] से सिद्ध न किये जा सकने योग्य होने के कारण (प्रमाणान्तरम्) दूसरा पृथक् प्रमाण (उपमानम्) उपमान (अस्ति) [नाम का] है।

(इति) इस प्रकार (उपमानम्) उपमान प्रमाणकी (व्याख्यातम्) व्याख्या हो गयी।

समानता आदि को बतलाने वाला वाक्य ही 'अतिदेशवाक्य' कहा जाता है :—"अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन साधर्म्यादिः" इति अतिदेशः। अथवा "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः, अन्यधर्मस्यान्यत्रारोपणम् ॥ सर्वलक्षणसंग्रह ॥"

अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा एक पदार्थ के धर्म का दूसरे पदार्थ में सम्बन्ध दिखलाया जाता है उस वाक्य को ही 'अतिदेश-वाक्य' नाम से कहा जाता है जैसे—"यथागौस्तथा गवयः" अर्थात् जैसी गाय होती है वैसी ही नीलगाय भी हुआ करती है। यह वाक्य गौ तथा गवय के सादृश्य को प्रकट करता है। अतः यही अतिदेश-वाक्य कहा जाता है। उपमान-प्रमाण का आधार-भूत अङ्ग यह वाक्य होता है।

कोई शहर में रहनेवाला व्यक्ति [कि जिसने पहले कभी नीलगाय को नहीं देखा है] जब किसी वनवासी व्यक्ति से उपर्युक्त 'अतिदेशवाक्य का श्रवण कर लेता है और तदनन्तर जब वह वन में जाता है तो वहाँ गाय के समान ही एक विशिष्ट पशु का दर्शन करता है। उसे देखकर वह वनवासी द्वारा कथित उपर्युक्त 'अतिदेश-वाक्य' का स्मरण करता है कि "जैसी गाय होती है वैसी ही नीलगाय भी होती है"। इसके पश्चात् उसे यह प्रतीति होती है कि प्रत्यक्ष दृश्यमान पशुविशेष ही नीलगाय (गवय) है।

ऊपर वर्णित प्रक्रिया में तीन अङ्ग विद्यमान हैं (१) गौ के समान पशु-विशिष्ट का प्रत्यक्ष देखना (२) उसे देखकर अतिदेश-वाक्य का स्मरण किया जाना तथा (३) यह गाय की समानता से युक्त पशुविशेष ही 'गवय-पद द्वारा कथन किये जाने योग्य" है अथवा यही 'गवय' है; इस प्रकार की प्रतीति अथवा ज्ञान। तर्कभाषाकार ने इन तीनों अङ्गां में से प्रथम तथा द्वितीय अङ्गों को उपमान-प्रमाण के अन्तर्गत रखा है तथा तृतीय अङ्ग को 'उपमिति' [प्रमा] कहा है। वन में जाकर गाय के समान विशिष्ट पशु को देखना [गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम्] और उसे देखकर पूर्वश्रुत अतिदेश वाक्य का स्मरण करना [" अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसद्वृतम्"]—उपमान-प्रम ण के इन दोनों अङ्गों के द्वारा—' यह दृश्यमान पशुविशेष ही नीलगाय है अथवा यह विशिष्टपशु ही 'गवय' शब्दवाच्य है" इस प्रकार का जो यथार्थ अनुभव (प्रमा अथवा ज्ञान) होता है वही उपमान - प्रमाण का फल अर्थात् 'उपमिति' है।

तर्कभाषाकार ने 'उपमिति' का स्वरूप लिखा है :—संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-प्रतीतिः" अर्थात् संज्ञा और संज्ञा के सम्बन्ध की प्रतीति का ही नाम 'उपमिति' है; किसी पदार्थ के नाम को ही 'संज्ञा' कहा जाता है। यहाँ गवय (नीलगाय) शब्द 'संज्ञा है। जिस पदार्थ का नाम हुआ करता है वह 'संज्ञी' कहलाता है। यहाँ 'गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड' [अर्थात् पशुविशेष] ही संज्ञी है क्योंकि उसही का नाम [संज्ञा] 'गवय' है। दोनों के सम्बन्ध

की दृष्टि से इसको इस रूप में कहा जा सकता है कि इस पशुविशेष की 'गवय' संज्ञा है अथवा इस पशुविशेष का वाचक 'गवय' शब्द है।

वैशेषिक, सांख्य तथा योग-दर्शनों में 'उपमान' को पृथकरूप से प्रमाण नहीं माना गया है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी "सांख्यतत्वकौमुदी" में उपमान के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन पक्षों को दिखलाकर उन तीनों अवस्थाओं में उपमान का अन्तर्भाव क्रमशः "प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द" के अन्तर्गत किया है। बौद्धों का भी कथन है कि "प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपमानं भिद्यते" [न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।६] अर्थात् प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण से भिन्न 'उपमान' नामका कोई पृथक प्रमाण नहीं है।

किन्तु 'उदयनाचार्य' आदि नैयायिकों ने "संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति" को ही उपमान-प्रमाण का फल माना है। इस प्रतीति का प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा किया जाना संभव नहीं है। यदि प्रत्यक्ष द्वारा ही इस प्रकार की उपमिति [प्रमा] हो जाया करती तो जिस व्यक्ति को "यथा गौस्तथा गवयः" यह ज्ञान न रहा होता, वह भी वन में जाकर, गवय (नीलगाय) को देखकर यह जान लिया करता कि इस पशुविशेष को ही 'गवय' नाम से कहा जाता है अथवा यह पशुविशेष ही 'गवय' शब्दवाच्य है। किन्तु ऐसा तो होना संभव ही नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष सम्बन्धी प्रमा तो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ही हुआ करती है। साथ ही इस प्रत्यक्ष प्रमा को अति-देश वाक्य के अर्थ को स्मरण करने की अपेक्षा भी नहीं पड़ती। ऐसी स्थिति में 'उपमिति' का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष-प्रमा के अन्तर्गत किया जाना संभव ही नहीं है।

अनुमान-प्रमाण द्वारा भी 'उपमिति' का होना संभव नहीं है क्योंकि इस उपमिति [प्रमा] में किसी भी प्रकार के अनुमापक हेतु की विद्यमानता ही नहीं हुआ करती है। फिर अनुमापक हेतु के अभाव में उपमिति का अनुमिति में अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है क्योंकि अनुमान तो 'हेतु' पर ही आधारित हुआ करता है। अतः अनुमान-प्रमाण में भी उपमान-प्रमाण का अन्तर्भाव किया जाना संभव नहीं है।

"शब्द-प्रमाण' में भी 'उपमान' का अन्तर्भाव किया जाना संभव नहीं है क्योंकि नैयायिकों द्वारा उपमान-प्रमाण का जो फल ["संज्ञासंज्ञीसम्बन्धी प्रतीतिः"] स्वीकार किया गया है शब्द-प्रमाण द्वारा उस फल की प्राप्ति की शङ्का भी किया जाना संभव नहीं है। हाँ, मीमांसकों द्वारा 'उपमान' का जो स्वरूप स्थापित किया गया है उस स्वरूप की दृष्टि से 'शब्द प्रमाण'

के अन्तर्गत उपमान-प्रमाण के अन्तर्भाव की शङ्का किसी अंश में अवश्य की जा सकती है। मीमांसकों द्वारा स्थापित 'उपमान' का स्वरूप यह है "यथा गौस्तथा गवयः" इस अतिदेश वाक्य को सुनने के अनन्तर कोई पुरुष। वन में जाकर गाय के सदृश 'पशु' का अवलोकन करता है तो उसे अनुभव होता है कि इस 'पशु' के समान ही मेरी गाय है। इनकी प्रक्रिया के अनुसार 'गवय' (नीलगाय) का देखना ही ज्ञान का 'कारण' है। अतः यही उपमान-प्रमाण है और "इसही के समान मेरी गाय है" यह ज्ञान उपमान-प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति है। किन्तु नैयायिकों को तो मीमांसकों का उपमान का यह स्वरूप अभिमत ही नहीं है।

नैयायिकों की दृष्टि में तो "संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीति" ही उपमान का फल [उपमिति] है। "सादृश्य-ज्ञान" ही इस उपमिति का कारण है तथा "अतिदेशवाक्यार्थस्मरण ही उसका अवान्तरव्यापार है। जैसा कि तर्कसंग्रह में कहा भी गया है:—"संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः।"

उपर्युक्त विवरणद्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि 'उपमान-प्रमाण' का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द प्रमाण के अन्तर्गत किया जाना संभव नहीं है। अतः 'उपमान' स्वतन्त्र रूप से एक पृथक प्रमाण ही है।

[शब्द]

(४) शब्द—प्रमाण का निरूपण :—

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान प्रमाणों के पश्चात् अब यह चतुर्थ प्रमाण है कि जो न्यायाभिमत है। शब्द-प्रमाण से सम्बन्धित संकेतग्रह के निमित्त अनुमान की आवश्यकता पड़ा करती है। इसी कारण अनुमान के पश्चात् 'शब्द-प्रमाण' को स्थान प्रदान किया गया है। अतः अत्र शब्द-प्रमाण सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत है :—

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। अतएव गौरश्वः पुरुषो हस्ती इति पदानि न वाक्यम्, परस्पराकांक्षाविरहात्। वह्निना सिञ्चेदिति न वाक्यं योग्यताविरहात्। नह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यतास्ति। तथा हि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारण—

भावलक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्। एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम्। सत्यामपि परस्पराकांक्षायां सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात्।

(आप्तवाक्यम्) आप्त [पुरुष के] वाक्य को (शब्दः) शब्द-प्रमाण कहा जाता है। (यथाभूतस्य-अर्थस्य) यथाभूत अर्थ का (उपदेष्टा) उपदेश करने वाला [अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसका उस ही रूप में कथन करने वाला] (पुरुषः) पुरुष (आप्तः) 'आप्त' कहलाता है [तथा उसका वाक्य 'शब्द-प्रमाण' होता है।]। (आकांक्षायोग्यतासन्निधिमताम्) आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त (पदानां समूहः) पदों के समूह को (वाक्यम्) 'वाक्य' कहा जाता है। (अतएव) इसलिये (परस्पराकांक्षाविरहात्) परस्पर आकांक्षा से रहित होने के कारण (गौरश्वः पुरुषो हस्ती इति पदानि) गाय, घोड़ा, मनुष्य, हाथी आदि पदों का समूह (न वाक्यम्) वाक्य नहीं है। [इसी प्रकार] "(वह्निना) अग्नि से (सिञ्चेत्) सींचे" (इति) यह भी (योग्यताविरहात्) योग्यता सम्बन्धी अभाव के कारण (न वाक्यम्) वाक्य नहीं है। (अग्नि सेकयोः) अग्नि तथा सिंचन में (परस्परान्वययोग्यता) परस्पर अन्वय की योग्यता (नहि अस्ति) नहीं है। (तथा हि) क्यों कि (अग्निना) 'अग्नि से' (इति-तृतीयया) इस तृतीया [विभक्ति] के द्वारा (सेकरूपं कार्यं प्रति) सिञ्चनरूप कार्य के प्रति (अग्नेः करणत्वम्) अग्नि के करणत्व [साधन होना] का (प्रतिपादितम्) प्रतिपादन किया गया है [किन्तु] (अग्निः) अग्नि [तो] (सेके) सिञ्चनरूप कार्य (करणीभवितुम्) का साधन होने (योग्यः न) योग्य नहीं है। (तेन) इस [कारण] से (अग्निसेकयोः) अग्नि और सिंचन के (कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धे) कार्य-कारण भाव रूप सम्बन्ध में (अयोग्यत्वात्) योग्यता न होने से ("अग्निना सिञ्चेत्") "अग्नि से सींचे" (इति) यह [पद-समूह] (वाक्यम् न) वाक्य नहीं है। (एवम्) इसी प्रकार (एकैकशः) एक एक करके (प्रहरे प्रहरे) प्रहर, प्रहर के पश्चात् (असहोच्चारितानि) एक साथ उच्चारण न किये गये [अर्थात् पृथक-पृथक प्रहारों में उच्चारण किये गये हुये] ("गाम् आनय") "गाय को लाओ" (इत्यादि) इत्यादि (पदानि) पद [समूह भी] (वाक्यं न) वाक्य नहीं है। [उनमें] (परस्पराकांक्षायां सत्यामपि) परस्पर अन्वय की आकांक्षा विद्यमान होते हुये भी (परस्परान्वययोग्यतायाम्) परस्पर अन्वय की योग्यता (सत्यामपि) विद्यमान होने पर भी (परस्परसान्निध्याभावात्) परस्पर सन्निधि [आसत्ति] के न होने के कारण उनको वाक्य नहीं कहा जा सकता है।

शब्द-प्रमाण का लक्षण—शब्द-प्रमाण का लक्षण है:—"आप्तवाक्यं शब्दः" । इस लक्षण में 'शब्दः' यह लक्ष्य है तथा "आप्तवाक्यम्" यह लक्षण है । इस लक्षण के अन्तर्गत दो शब्द हैं एक 'आप्त' और दूसरा 'वाक्य' । इन दोनों शब्दों को भलीभाँति समझ लेने पर लक्षण स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा । 'आप्त' का अर्थ है 'यथाभूत अर्थ का उपदेश देने वाला'—अर्थात् जो वस्तु, पदार्थ अथवा विषय जिस प्रकार का है उसका उस ही में [अर्थात् यथावत–यथाभूत-] कथन करने वाला पुरुष 'आप्त' कहलाता है । आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह का ही नाम 'वाक्य' है । 'आप्त' और 'वाक्य' शब्दों के उक्त अर्थों के अनुसार शब्द-प्रमाण का यह स्वरूप निर्धारित होता है कि ऐसा पद-समूह ही "शब्द-प्रमाण" है कि जो यथार्थरूप से कथन करने वाले पुरुष के द्वारा उच्चरित, परस्पर पदों की आकांक्षा से युक्त, परस्पर अन्वय-योग्य अर्थों का प्रतिपादक तथा परस्पर सन्निहित पदों से युक्त होता है ।

वाक्य का स्वरूप-"आकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहःवाक्यम्"–अर्थात् अकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों के समूह को ही वाक्य कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जो किसी एक अर्थ का पूर्ण-बोध कराता है उसी को वाक्य कहा जाता है । यहाँ पदों के विशेषण के रूप में तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है (१) आकांक्षा (२) योग्यता तथा (३) सन्निधि । इन तीनों में से यदि किसी एक भी विशेषण से रहित 'पद-समूह' होगा तो वह पदसमूह किसी अर्थ का पूर्ण-बोध नहीं करा सकेगा । अतः उसे वाक्य भी न कहा जा सकेगा । अतएव आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को ही 'वाक्य' कहना सर्वथा उचित तथा उपयुक्त है ।

अब यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वाक्य में पदों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त उपर्युक्त तीनों विशेषणों में से प्रत्येक विशेषण की अपनी-अपनी उपयोगिता क्या है ?

प्रथम विशेषण है 'आकांक्षा' । यदि कहीं पदों में परस्पर 'आकांक्षा' का अभाव होगा तो वह पदसमूह 'वाक्य' न कहा जा सकेगा । जैसे—'गौः' अश्वः, पुरुषः, हस्ती" अर्थात् 'गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी'—यह पदों का समूह तो कहा जायगा किन्तु इसे वाक्य न कहा जा सकेगा । क्योंकि इन सभी पदों में परस्पर आकांक्षा नहीं है । आकांक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये तर्कसंग्रहकार ने लिखा है:—"पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम्—आकांक्षा" । अर्थात् एक पद का दूसरे [पद] के बिना, अन्वय बोध

न करा सकना—ही आकांक्षा है। यद्यपि उपर्युक्त सभी (चारों) पदों में परस्पर अन्वय की योग्यता विद्यमान है तथा ये सभी पद परस्पर सन्निहित भी हैं किन्तु फिर भी इनको 'वाक्य' कहा जाना संभव नहीं है क्योंकि ये सभी पद 'आकांक्षा' [पारस्परिक अन्वय-बोध] से रहित हैं। अतएव तीनों विशेषणों से युक्त पदों के समूह को ही वाक्य कहना उचित है। जैसे—'गामानय' इस वाक्य में दो पद हैं (१) गाम् (२) आनय। यह दोनों पद परस्पर अन्वित होने से ही अर्थ का पूर्ण-बोध कराने में समर्थ हैं। अतः यह कहा जाता है कि 'गाम्' पद की 'आनय' पद में 'आकांक्षा' है। क्रिया-पद तथा कारक पद की परस्पर आकांक्षा हुआ करती है तथा एक दूसरे से सम्बन्धित शब्दों में भी परस्पर आकांक्षा हुआ करती है। 'गाम्' शब्द कहने पर यह आकांक्षा होती है कि 'गाय का क्या करें' इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार 'आनय' [लाओ] कहने पर यह आकांक्षा होती है कि "क्या लायें अथवा किसको लायें"? इत्यादि-इत्यादि। अतः "गाम् आनय" इस वाक्य में प्रयुक्त दोनों पद परस्पर साकांक्ष हैं। अतएव ये अर्थ के पूर्णरूप से बोधक हैं।

यद्यपि यह 'आकांक्षा' मनुष्य के हृदय में हुआ करती है किन्तु औपचारिक रूप से इसे शब्दों में भी मान लिया जाता है।

इसी प्रकार वाक्य के स्वरूप में पद-समूह के विशेषण के रूप में यदि 'योग्यता' नामक विशेषण को नहीं रखा जायगा तो ऐसा पदसमूह भी 'वाक्य' न कहा जा सकेगा। पदों के अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में [किसी प्रकार की] बाधा का न होना ["अर्थाबाधो योग्यता"] ही 'योग्यता' कहलाती है। 'जैसे 'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जल' पद के अर्थ में 'सिञ्चति' पद के अर्थ—सींचने—की योग्यता विद्यमान है। अतः इसे वाक्य कहा जा सकता है। किन्तु यदि कोई यह कहे कि "अग्निना सिञ्चति"—आग से सींचता है अथवा "अग्निना सिञ्चेत्"—आग से सींचे—इन पदसमूहों को वाक्य नहीं कहा जा सकता है। 'यद्यपि 'वह्निना' यह पद सुनने पर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि "वह्निना किं करोति? अथवा वह्निना किं कुर्यात्? [अग्नि से क्या करता है अथवा अग्नि से क्या करे?] और इस आकांक्षा का शमन भी 'सिञ्चति अथवा सिञ्चेत्' पदों द्वारा हो जाता है तथा इस भाँति उक्त दोनों पद परस्पर साकांक्ष भी हो जाते हैं; साथ ही एक पद के उच्चारण के 'पश्चात् दूसरे पद के उच्चारण में विलम्ब के न होने के कारण दोनों पद परस्पर-सन्निहित भी हैं किन्तु फिर भी उक्त दोनों पद 'योग्यता' से रहित ही हैं क्योंकि 'अग्निना' पद में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति करण कारक को सूचित

करती है अर्थात् अग्नि को सेचन रूप कार्य का करण [साधन] बतलाया गया है अथवा यों कहिये कि अग्नि को 'सेचन' रूप कार्य का कारण कहा

यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम् । यथा—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्"—इत्यादि । यथा च—"नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति" । इति यथा च तान्येव 'गामानय' इत्यादि पदान्यविलम्बितोच्चरितानि ।

गया है किन्तु अग्नि तो दाहक हुआ करता है, फिर उससे सिञ्चनरूप कार्य की संभावना कैसे की जा सकती है ?, अतएव यहाँ कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध का बन सकना संभव नहीं है । ऐसी स्थिति में 'अग्निना' पद में सिञ्चन की 'योग्यता' न होने के कारण उक्त दोनों पद परस्पर 'योग्यता' से रहित हैं। फलस्वरूप 'योग्यता' के न होने से 'अग्निना सिञ्चति' अथवा 'अग्निना सिञ्चेत्' इत्यादि पदसमूह को 'वाक्य' नहीं कहा जा सकता है । अतएव 'वाक्य' के स्वरूप में 'योग्यता' नामक विशेषण की उपयोगिता स्पष्ट ही है ।

इसी प्रकार तृतीय विशेषण 'सन्निधि' की भी सार्थकता है । यदि वाक्य के स्वरूप में 'सन्निधि' इस विशेषण का सन्निवेश नहीं किया जायगा तो 'सन्निधि' से रहित पदों के समूह को वाक्य भी न कहा जा सकेगा । 'सन्निधि' का अर्थ है पदों का विना किसी विलम्ब के उच्चारण किया जाना । यदि कोई व्यक्ति 'गाम्' इस पद का उच्चारण कर पुनः एक घंटे अथवा एक प्रहर के पश्चात् 'आनय' पद का उच्चारण करता है तो इस पद-समूह से पूर्णतः अर्थ का बोध न हो सकेगा । यद्यपि उक्त वाक्य ["गामानय"] के दोनों ही पदों में परस्पर आकांक्षा विद्यमान है तथा परस्पर अन्वय-योग्यता भी उनमें है किन्तु फिर भी उक्त वाक्य पूर्ण अर्थ का बोधक नहीं है क्योंकि 'गाम्' पद का उच्चारण करने के अनन्तर विलम्ब से 'आनय' पद का उच्चारण किये जाने से पदों में 'सन्निधि' का अभाव है । अतः विलम्ब से उच्चारण किये जाने वाले परस्पर साकांक्ष तथा परस्पर अन्वय योग्य अर्थों के प्रतिपादक पदों के समूह को भी 'वाक्य' नहीं कहा जा सकता है । अतएव पद-समूह का 'सन्निधि' से युक्त होना परमावश्यक है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जिस पदसमूह में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि में से किसी एक का भी अभाव हुआ करता है उस पद-समूह को 'वाक्य' नहीं कहा जा सकता है । अतः आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त ही पदों के समूह को 'वाक्य' कहा जाता है । इस कथन का उपसंहार करते हुये उदाहरणों द्वारा 'वाक्य' का स्पष्टीकरण भी करते हैं :—

(यानि तु) जो (साकांक्षाणि) आकांक्षा युक्त, (योग्यतावन्ति) योग्यता से युक्त तथा (सन्निहितानि) सन्निधि से युक्त (पदानि) पद हुआ करते हैं (तानि एव) वे ही (वाक्यम्) वाक्य [कहलाते] हैं। (यथा) जैसे—(स्वर्गकामः) "स्वर्ग की इच्छा रखने वाला [व्यक्ति या पुरुष] (ज्योतिष्टोमेन) ज्योतिष्टोम [नामक] (यजेत्) याग करे"—(इत्यादि) इत्यादि [वैदिक-वाक्य]। (यथा च) और जैसे—"(नदीतीरे) नदी के किनारे [तट] पर (पञ्च-फलानि) पाँच फल [के वृक्ष] (सन्ति) हैं" (इत्यादि) इत्यादि [लौकिक वाक्य]। (यथा च) और जैसे—(अविलम्बोच्चारितानि) बिना किसी विलम्ब के उच्चारण किये गये हुये [साथ ही साकांक्ष तथा पारस्परिक अन्वय की योग्यता के युक्त] (तानि) वे (एव) ही ("गामानय") "गाय को ले, लाओ" इत्यादि (पदानि) पद [वाक्य हो जाते हैं।]

आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के वैशिष्ट्य से युक्त पदों का समूह ही 'वाक्य' कहा जाता है। यह वाक्य 'वैदिक' तथा 'लौकिक' ["वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च"—तर्कसंग्रह] भेद से दो प्रकार का होता है। वैदिक वाक्य का उदाहरण—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वर्गप्राप्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ करे। इस वाक्य के अनुसार 'साध्य' है 'स्वर्ग की प्राप्ति', उसका साधन है 'यज्ञ' तथा स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष ही उसका 'अधिकारी' है। इस वैदिक-वाक्य में तीन पद हैं। ये तीनों पद परस्पर साकांक्ष, योग्यता सम्पन्न तथा सन्निधि से युक्त हैं। अतः यह तीनों पदों का समूह 'वाक्य' है। लौकिक वाक्य का उदाहरण—"नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति" अर्थात् नदी के तट पर पाँच फल [के वृक्ष] हैं। इस लौकिक वाक्य में भी चार पदों का प्रयोग हुआ है। ये चारों पद भी परस्पर साकांक्ष, केवल उत्पन्न तथा सन्निधि से युक्त हैं। अतः इस पदसमूह का नाम भी वाक्य है।

अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस विवेचन से पूर्व जिन पद-समूहों को आकांक्षा; योग्यता तथा सन्निधि में से किसी एक के न होने के कारण 'वाक्य' के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था क्या उनको भी किसी प्रकार से वाक्य कहा जा सकता है?

इस जिज्ञासा के सम्बन्ध में यह कहना है कि "गौः अश्वः पुरुषो हस्ती" इत्यादि पदसमूह में परस्पर आकांक्षा का होना संभव नहीं है। इसी भाँति 'वह्निना सिंचेत्' में भी 'योग्यता' का होना भी संभव नहीं है। अतः ये दो पदसमूह तो वाक्य हो नहीं सकते हैं। हाँ, "गाम्...आनय" इन पदों का

उच्चारण यदि विलम्ब से न किया जाय तथा ये पद परस्पर सन्निहित हो जायँ तो यह पदसमूह 'वाक्य' बन जायगा। इसी बात को "तान्येव···" इत्यादि शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो पद आकांक्षा तथा योग्यता से युक्त तो हैं किन्तु सन्निधि के अभाव में उन्हें वाक्य नहीं कहा जा सकता है; यदि उन पदों का भी अविलम्ब ही उच्चारण किया जाय तो इन पदों के समूह को भी 'वाक्य' कहा जा सकता है।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जो पद आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त हुआ करते हैं वे ही वाक्य कहलाते हैं ["यानि तु साकांक्षाणि ···वाक्यम्"] वाक्य के इस स्वरूप में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि इन तीनों को पदों के धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु आकांक्षा आदि तो चेतन के ही धर्म हो सकते हैं, पदों के नहीं। इसी शंका को स्पष्ट करते हुये कहते हैं :—

नन्वत्रापि न पदानि साकांक्षाणि किन्त्वर्थाः फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकांक्षिततत्वात्। न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकांक्षाः, आकांक्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात्।

शंका—(अत्र) यहाँ [वाक्य सम्बन्धी सभी उदाहरणों में] (अपि) भी (पदानि) पद (साकांक्षाणि) आकांक्षा-युक्त (न) नहीं है। (किन्तु) किन्तु (फलादीनाम्-आधेयानाम्) फल आदि आधेयों [रूप अर्थों] को (तीर-आदि-आधाराकांक्षितत्वात्) तीर आदि आधार [रूप अर्थ] की आकांक्षा होने से (अर्थाः) अर्थ ही आकांक्षा से युक्त हैं। (च) और [वस्तुतः] (विचार्यमाणे) विचार करने पर तो (आकांक्षायाः) आकांक्षा के भी (इच्छात्मकत्वेन) इच्छा के रूप में होने तथा [इच्छा के भी] (चेतनधर्मत्वात्) चैतन्य [आत्मा] का धर्म होने से (अर्थाः अपि) अर्थ भी (साकांक्षाः) आकांक्षा से युक्त (न) नही हुआ करते हैं। [अतः आकांक्षा आदि को पदों का विशेषण कहना उचित नहीं है।]।

इस शंका में मुखरूप में दो भाग विद्यमान हैं (१) पद आकांक्षा से युक्त नहीं हुआ करते हैं किन्तु अर्थ ही आकांक्षा से युक्त हुआ करते हैं (२) आकांक्षा तो वस्तुतः चेतन-आत्मा का धर्म है। अतः अर्थों को भी साकांक्ष कहना उचित नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि "साकांक्षाणिपदानि" इत्यादि वाक्य द्वारा पदों को साकांक्ष कहा गया है तथा तत्सम्बन्धी उदाहरणों में भी पदों को ही आकांक्षा से युक्त दिखलाया गया है किन्तु यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि—

(१) आकांक्षा युक्त होना पदों का धर्म नहीं है अपितु पदों के अर्थों का ही धर्म [साकांक्ष होना] है। जैसे—"नदी तीरे पञ्चफलानि सन्ति" इस वाक्य में 'फल' पद को 'तीर' पद की आकांक्षा नहीं है किन्तु 'फल' इस पद का जो अर्थ है वह ही 'तीर' पद के अर्थ में आकांक्षा से युक्त है। यहाँ 'फल' पद का जो अर्थ [अर्थात् फल-पदार्थ] है वह 'आधेय' [किसी आधार में रखने योग्य] है। अतः वह किसी आधार की आकांक्षा चाहता है। वह आधार है 'तीर' पद का, अर्थ [तट रूप पदार्थ]। इस भाँति 'फल' पद का अर्थ 'तीर' पद के अर्थ में साकांक्ष हुआ। इस भाँति 'तीर' पद का अर्थ भी अपने से सम्बन्धित 'नदी' पद के अर्थ में साकांक्ष है! इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आकांक्षा पदों में न रहकर अर्थों में ही रहा करती है। अतः साकांक्ष होना पदों का धर्म नहीं है, अर्थों का ही धर्म है।

किन्तु जब हम गंभीरता के साथ विचार करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'आकांक्षा' तो इच्छात्मक है और वह चेतन [आत्मा] का ही धर्म है। अतः उस आकांक्षा को अचेतन-अर्थों का भी धर्म नहीं कहा जा सकता है। जैसे "गाम् आनय" इस वाक्य का प्रथम पद 'गाम्' किसी व्यक्ति ने सुना तो उसके मन में [अर्थात् चेतन-आत्मा से युक्त मन में] एक आकांक्षा उत्पन्न हुयी कि 'गाय' को क्या करना है? लाना है, अथवा ले जाना है अथवा देखना है? आदि-आदि। इसी भाँति जब 'आनय' केवल इस पद को जब कोई सुनता है तो उसके भी चेतन आत्मा से युक्त मन में यही आकांक्षा उत्पन्न होती है किसको लाना है? इत्यादि। इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्पन्न होना ही आकांक्षा है। अतः वह स्पष्ट हो जाता है कि आकांक्षा न तो पदों में ही रहती है और न उनके अर्थों में ही अपितु श्रोता व्यक्ति के मन में ही रहा करती है। अतः इस चेतन आत्मा का ही धर्म कहा जाना उचित है।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं:—

सत्यम्। अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकांक्षाजनकत्वेन साकांक्षा इत्युच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकांक्षाणीत्युपचर्यन्ते। यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तरविषयाकांक्षाजनकानीत्युपचारात् साकांक्षाणि। एवमर्थाः साकांक्षाः परस्परान्वययोग्याः। तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते।

सन्निहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम्। तच्च साक्षादेव पदेषु सम्भवति नार्थद्वारा।

[समाधान-] (सत्यम्) [आपका यह कथन, कि पद अथवा अर्थ साक्षात् रूप से आकांक्षा युक्त नहीं होते] ठीक ही है किन्तु (तावत्-अर्थाः) अर्थ (स्वपदश्रोतरि) अपने [वाचक] पद का सुनने वाले [के मन] में (अन्योन्यविषयाकांक्षजनकत्वेन) एक दूसरे [पद] के विषय में आकांक्षा के उत्पादक होने से [परम्परया] (साकांक्षाः इति) आकांक्षा से युक्त हैं, ऐसा (उच्यन्ते) कहे जाते हैं। (तद्द्वारेण) उन [अर्थों] के द्वारा (तत्प्रतिपादकानि) उनके प्रतिपादक [वाचक] (पदानि-अपि) पद भी [परम्परया] (साकांक्षाणि इति-उपचर्यन्ते) उपचार से साकांक्ष कहे जाते हैं। (यद्वा) अथवा (पदानि-एव) पद ही (अर्थात् प्रतिपाद्य) (अपने) अर्थों का प्रतिपादन करके (अर्थान्तरविषयाकांक्षाजनकानि) दूसरे अर्थों के विषय में आकांक्षा को उत्पन्न किया करते हैं, (इति-उपचारात्-साकांक्षाणि) इसलिये उपचार (गौणरूप) से आकांक्षा से युक्त कहे जाते हैं। (एवम्) इसी प्रकार (साकांक्षाः) (परम्परा से) साकांक्ष (अर्थाः) अर्थ भी (परस्पर अन्वययोग्याः) परस्पर अन्वय के योग्य हुआ करते हैं (तद्द्वारेण) और उन (अर्थों) के द्वारा (पदानि-अपि) पद भी (परस्परान्वय योग्यानि-इति) परस्पर अन्वय के (उच्यन्ते) कहलाते हैं।

(एकेन-एव-पुंसा) एक ही पुरुष के द्वारा (पदानाम्) पदों का (अविलम्बेन-उच्चरितत्वम्) बिना विलम्ब के उच्चारण किया जाना ही (सन्निहितत्वम्) सन्निधि कहलाती है। (तच्च) और यह (साक्षात् एव) साक्षात् रूप से ही (पदेषु) पदों में (सम्भवति) हो सकती है (नार्थद्वारा) अर्थ के द्वारा [मानने की आवश्यकता] नहीं।

वस्तुतः यह सत्य है कि 'पद' आकांक्षा से युक्त [अर्थात् आकांक्षा के आधार] नहीं हुआ करते हैं। आकांक्षा तो श्रोता व्यक्ति के अन्दर ही विद्यमान रहा करती है अर्थात् आकांक्षा का आधार तो चैतन्य-आत्मा ही है। किन्तु औपचारिक [अर्थात् गौणरूप से] रूप से पदों में भी आकांक्षा विद्यमान रहा करती है। इस औपचारिकता (गौणरूपता) को हम दो प्रकार से समझ सकते हैं। प्रथम तो यह कि जब 'गाय' अर्थ के प्रतिपादक 'गाम्' पद को श्रोता व्यक्ति ज्ञात करता है तो उसके अर्थ का ज्ञान होने पर उस [श्रोता] के मन के अन्दर 'आनय' [लाओ] इत्यादि पद सम्बन्धी आकांक्षा उत्पन्न हो जाया करती है। इस भाँति एक अर्थ अन्य अर्थ तथा पद के विषय में आकांक्षा का उत्पादक (जनक) हुआ करता है। यह अर्थ ही श्रोता [व्यक्ति] के मानस में आकांक्षा का उत्पादक हुआ करता है। अतः इस

दृष्टि से अर्थ को "आकांक्षा से युक्त" कह दिया जाया करता है। इसी प्रकार परम्परया पदों को भी साकांक्ष कहा जा सकता है क्योंकि उन्हीं के द्वारा आकांक्षाजनक अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है। कहने के अभिप्राय यह हैं कि आकांक्षा का आधार तो चेतन [आत्मा] ही हुआ करता है किन्तु उसका जनक तो 'अर्थ' ही हुआ करता है। अतः जनकता-सम्बन्ध की दृष्टि से अर्थ को भी आकांक्षा से युक्त कहना उचित ही है। इस अर्थ का वाचक 'पद' हुआ करता है। अतः परम्परया पद को भी साकांक्ष कह दिया जाता है। अथवा दूसरे रूप में इस औपचारिकता को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि 'पद' ही तो किन्हीं अर्थों का द्योतनकर अन्य अर्थों के सम्बन्ध में आकांक्षा को उत्पन्न किया करता है। अतः यदि पदों को ही साक्षात् रूप से आकांक्षा का जनक मान लिया जाय तो कोई अनुपयुक्त न होगा। इस भाँति पद ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करके श्रोता-व्यक्ति के मानस में अन्य अर्थ अथवा अन्य अर्थ से सम्बन्धित पद के विषय में आकांक्षा के जनक हुआ करते हैं। अतः औपचारिकरूप से 'पदों' को भी साकांक्ष कहा जाना ठीक ही है।

आकांक्षा से युक्त अर्थों में परस्पर अन्वित होने की सामर्थ्य का ही नाम 'योग्यता' है। यह 'योग्यता' अर्थों में विद्यमान रहा करती है। परस्पर आकांक्षा से युक्त अर्थों का ही अन्वय हुआ करता है अतः परस्पर अन्वय सम्बन्धी योग्यता अर्थों में ही रहा करती है पदों में नहीं। किन्तु जिन पदों द्वारा अन्वय के योग्यो अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है वे पद भी अन्वय योग्य-पद ही कहे जाते हैं। इस दृष्टि से पदों को योग्यता सम्पन्न कहा जाना उचित तथा औपचारिक ही है।

किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा अविलम्ब से पदों के उच्चारण किये जाने का ही नाम 'सन्निधि' है। अविलम्ब' का अभिप्राय है—दो अथवा दो से अधिक साकांक्ष पदों के उच्चारण के मध्य में जो अनिवार्य समय लगा करता है उससे अधिक समय का न लगना। जिस भाँति आकांक्षो से युक्त पद ही परम्पर अन्वय के योग्य समझे जाते हैं उसी भाँति आकांक्ष तथा योग्यता से युक्त पदों का अविलम्ब के साथ उच्चारण किया जाना ही 'सन्निधि' कहलाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कोई पुरुष अथवा व्यक्ति आकांक्षा तथा योग्यता के वैशिष्ट्य से युक्त पदों का बिना किसी विलम्ब के उच्चारण किया करता है तो ऐसे पदों में 'सन्निधि' की विद्यमानता रहा करती है। जैसे कोई कहे—'देवदत्तः खादति'। इस वाक्य में दो पद हैं।

दोनों ही पद आकांक्षा से युक्त तथा योग्यता से सम्पन्न हैं। इन दोनों का उच्चारण भी अविलम्ब से किया गया है। अतः इस पदसमूह को 'वाक्य' कहा जायगा।

परिणामस्वरूप यह कथन ठीक ही है कि 'आकांक्षा' वस्तुतः श्रोता में ही हुआ करती है। इस 'आकांक्षा' के उत्पादक अर्थ हुआ करते हैं तथा ये अर्थ पदों में रहा करते हैं। अतएव औपचारिक [गौण] रूप से पदों को भी साकांक्ष कह दिया जाया करता है। 'अन्वय-योग्यता' तो साक्षात् रूप से अर्थों में ही रहा करती है किन्तु उन अर्थों के प्रतिपादक पदों को भी औपचारिक रूप से "योग्यता-सम्पन्न' कह दिया जाया करता है। किन्तु 'सन्निधि' तो साक्षात रूप से पदों में ही रहा करती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि 'आकांक्षा' और 'योग्यता' ये दोनों धर्म साक्षात् रूप से पदों के धर्म नहीं हैं। 'आकांक्षा' तो साक्षात् रूप से चेतन-आत्मा का ही धर्म है तथा योग्यता साक्षात् रूप से पदों का धर्म है किन्तु फिर भी औपचारिक [गौण] रूप से दोनों को पदों का धर्म कहा जा सकता है। ऐसा मानकर ही वाक्य के लक्षण में 'आकांक्षा' तथा योग्यता' पदों को विशेषण के रूप में रखा गया है। किन्तु 'सन्निधि' तो वस्तुतः साक्षात् रूप से पदों का ही धर्म है। अतः "आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमतां पदानां समूहः—वाक्यम्" वाक्य का यह लक्षण ठीक ही है। इस भाँति 'आकांक्षा' आदि के युक्ति संगत स्वरूप का स्पष्टीकरण कर देने के पश्चात् अत्र 'वाक्य' का परिष्कृत लक्षण बतलाते हैं :—

तेनाऽयमर्थः सम्पन्नः। अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषया-मर्थान्तरविषयां वाकांक्षां जनयतां प्रतीयमान परस्परान्वययोग्यार्थ प्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्।

(तेन) इसलिये [वाक्य के लक्षण का] (अयं अर्थः) यह अर्थ (संपन्नः) हुआ कि (अर्थप्रतिपादनद्वारा) अर्थ प्रतिपादन के द्वारा (पदान्तरविषयाम्) अन्य पदों के विषय में (अर्थान्तरविषयाम्) अथवा अन्य अर्थ के विषय में (श्रोतुः) श्रोता व्यक्ति की (आकांक्षाम्) आकांक्षा को (जनयताम्) उत्पन्न करने वाले (प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानाम्) प्रतीयमान [स्पष्ट रूप से] परस्पर अन्वय के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले (सन्निहि-तानाम्) सन्निधि-युक्त (पदानाम्) पदों का (समूहः) समूह (वाक्यम्) वाक्य कहलाता है।

इस प्रसङ्ग में दो प्रकार की आकांक्षाओं का संकेत आया है (१) पदान्तर-विषयक आकांक्षा (२) अर्थान्तरविषयक-अकांक्षा। इन दोनों को सूक्ष्मरूप में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। (१) जब 'पद' अर्थ-प्रतिपादन के द्वारा दूसरे पदों [पद + अन्तर = दूसरे पद] से सम्बन्धित आकांक्षा [इच्छा] को उत्पन्न किया करते हैं तब इसे 'पदान्तरविषयक-आकांक्षा' कहा जाता है। जब श्रोता-व्यक्ति किसी पद का श्रवण कर उसके अर्थ को जान लिया करता है तब उसके मन में उस [पूर्वोक्त] पद से सम्बन्धित अन्य पदों के जानने की इच्छा [आकांक्षा] उत्पन्न हुआ करती है।

इसी प्रकार पद ही अर्थ-प्रतिपादन के द्वारा दूसरे अर्थों से सम्बन्धित आकांक्षा [इच्छा] को भी उत्पन्न किया करते हैं। ऐसी स्थिति में इस आकांक्षा को 'अर्थान्तरविषयक-आकांक्षा' कहा जाता है। जब श्रोता-व्यक्ति किसी-किसी पद को सुनकर उसके अर्थ को समझ लिया करता है तब उसके मन में उस [पूर्व-अर्थ] से सम्बन्धित दूसरे अर्थों को जानने की भी आकांक्षा हुआ करती है।

'प्रतीयमान' का अर्थ है 'ज्ञायमान' अर्थात् स्पष्टरूप से प्रतीत होने वाला। यह शब्द 'परस्परान्वययोग्य' का विशेषण है। अर्थात् स्पष्टरूप से प्रतीत होने वाले परस्पर अन्वय के योग्य-अर्थों का प्रतिपादन करने वाले सन्निधि से युक्त पदों के समूह का ही नाम 'वाक्य' है।

आप्त-प्रमाण के इस वर्णन में पद-समूह को ही वाक्य कहा गया है। अतः यहाँ यह जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है कि पद किसे कहते हैं? इसी दृष्टि से अब 'पद' के स्वरूप का वर्णन किया जाता है:—

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञान विषयीभावः। एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदानेकवर्णानुभवासम्भवात्। पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय, अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कार-सहकृतेन, अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणै-कदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनीपदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिदार्ढ्यात् प्रत्य-भिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव। ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदा-र्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते।

(च) और (वर्णसमूहः) वर्णों के समुदाय का ही नाम 'पद' है। (च) और (अत्र) इस ['पद' के लक्षण] में (एकज्ञानविषयीभावः) "एक ज्ञान का विषय होना" ही (समूहः) 'समूह' कहा गया है। (एवम्) इस प्रकार (क्रमवताम्) क्रम से उत्पन्न होने वाले वर्णों के (आशुतरविनाशित्वेन)

अतिशीघ्र ही नाश हो जाने के [क्षणिक होने के] कारण (एकदा) एक बार अर्थात् एक काल में ही (अनेकवर्णानुभवासम्भवात्) अनेक वर्णों के अनुभव के असंभव होने से (पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय) पूर्व-पूर्व वर्णों का अनुभव करके (अन्त्यवर्णश्रवणकाले) अन्तिम वर्ण को सुनने के समय (पूर्व-पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन) पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार की सहायता से (पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन) पद-बोधन के संकेतग्रह से अनुगृहीत (अन्त्यवर्णसम्बन्धेन) अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध (श्रोत्रेण) श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा (प्रत्यभिज्ञानवत्) प्रत्यभिज्ञा के समान ही (सहकारिदार्ढ्यात्) सहकारी [संस्कार] की दृढ़ता से [अथवा प्रबलता से] (एकदा एव) एक बार अथवा एककाल में ही (सदसदनेकवर्णावगाहिनी) सत् [विद्यमान] अर्थात् अन्तिवर्ण एवं असत् [अविद्यमान] अर्थात् नष्ट हुये अनेक पूर्व वर्णों का ग्रहण [अवगाहन] करने वाली (पदप्रतीतिः) पद की प्रतीति (जन्यते) उत्पन्न हो जाया करती है। (प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे) प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष ["सोऽयं देवदत्तः"-इत्यादि] में (अतीता अपि पूर्वावस्था) अतीतकाल की पूर्वावस्था भी [जिसकी प्रतीति 'सः' पद द्वारा होती है] (स्फुरति एव) स्फुरित अर्थात् प्रतीत होती ही है। [इसी भाँति सत् और असत् अनेकवर्णों की प्रतीति भी एक साथ ही हो सकती है]। (ततः) उस [पद-प्रतीति] के पश्चात् [उसी क्रम से] (पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन) पूर्व पूर्व पदों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों की सहायता से युक्त (पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेन) पदों के अर्थबोध से अनुगृहीत (अन्त्यपदविषयेण) अन्तिम पद का ग्रहण करनेवाली (श्रोत्रेन्द्रियेण) श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा (अनेकपदावगाहिनी) सत् तथा असत् [प्रकार के] अनेक पदों का ग्रहण करने वाली (वाक्यप्रतीतिः) [पद-समूहात्मक] वाक्य की प्रतीति (क्रियते) की जाती है। [अर्थात् वाक्य की प्रतीति अथवा ज्ञान हो जाता है।]।

वर्णों के समूह को ही 'पद' कहा गया है। किसी एक ही काल में एक ही स्थान पर अनेक वस्तुओं की विद्यमानता को 'समूह' कहा जाता है। जैसे यदि एक ही स्थान पर अनेक पुस्तकें एक ही काल में विद्यमान हो तो उन्हें 'पुस्तक समूह' कहा जाता है। किन्तु अनेक वर्णों का तो कभी भी एक साथ [एक ही काल अथवा क्षण में] सुना जा सकना संभव ही नहीं है। फिर वर्णों के समूह का निर्माण एक साथ तथा एक ही काल में कैसे संभव है ? क्योंकि वर्ण तो क्रम से उत्पन्न हुआ करते हैं [क्रमवताम्] तथा उनका अतिशीघ्र नाश भी हो जाया करता है [आशुतरविनाशित्वेन]। कहने का

तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति अनेक वर्णों का एक साथ तो उच्चारण कर नहीं सकता। क्रम से ही उनका उच्चारण उसके द्वारा किया जाना संभव है। क्योंकि वर्ण तो अतिशीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले होते हैं। प्रत्येक वर्ण का सम्बन्ध केवल तीन क्षण से ही हुआ करता है। प्रथम क्षण में वर्ण की उत्पत्ति हुआ करती है। द्वितीय क्षण में वह स्थित [विद्यमान] रहा करता है और इसी द्वितीय क्षण में उसे सुना भी जाता है। तृतीय क्षण में वह नष्ट हो जाता है। जैसे—कोई व्यक्ति 'पट' शब्द का उच्चारण करे तो इस 'पट' शब्द में चार वर्ण होंगे—प्+अ+ट्+अ। इन चारों वर्णों का उच्चारण क्रम से ही किया जायगा। एक के पश्चात् दूसरा वर्ण नष्ट होता जायगा। अतः श्रोता व्यक्ति इन चारों वर्णों का एक साथ श्रवण न कर सकेगा। अतः एक साथ अनेक वर्णों का न तो उच्चारण ही किया जा सकता है और न श्रवण ही। ऐसी स्थिति में ये वर्ण "एक ज्ञान के विषय" [अर्थात् समूह] कैसे बन सकेंगे? इसी शंका का समाधान करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

"पूर्वपूर्ववर्णान् अनुभूय···जन्यन्ते" इत्यादि। इस कथन का भाव यह कि श्रोताव्यक्ति उच्चारणकर्त्ता के पूर्वपूर्व वर्ण का अपनी श्रोत्र (कान) इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण (अनुभव) किया करता है। यद्यपि ये वर्ण क्रमशः नष्ट होते जाते हैं किन्तु उन-उन वर्णों का अनुभव श्रोता-व्यक्ति के मन में एक संस्कार छोड़ जाया करता है। जब श्रोता-व्यक्ति किसी पद के अन्तिम वर्ण का श्रवण करता है तो उस समय उसके अन्दर (१) पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार विद्यमान रहा करते हैं (२) अन्तिम वर्ण का तो उसकी श्रोत्रेन्द्रिय (कान) साक्षात् रूप से अनुभव किया करती है। अतः पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कारों के साथ अन्तिमवर्ण का संयोग होने के साथ ही 'पद' की पूर्णरूप से प्रतीति हो जाया करती है (३) इसके अतिरिक्त श्रोता व्यक्ति के अन्दर पहले किये गये 'संकेतग्रह' [अर्थात् यह 'पट' है, यह 'घट' है इत्यादि रूप में विद्यमान] की विद्यमानता तो रहा ही करती है। वह इस संकेतग्रह के सहयोग को भी प्राप्त कर लेता है। परिणाम यह होता है कि श्रोत्र इन्द्रिय (कान) के द्वारा एक ही समय में पहले उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त हुये [अर्थात् असत् = 'प्+अ+ट्' आदि वर्ण] तथा उस समय साक्षात् रूप से अनुभव में आये हुये अन्तिम [अर्थात् सत्–'अ' आदि] वर्णों को ग्रहण करने वाली 'पट' आदि पदों की प्रतीति हो जाया करती है। इस प्रक्रिया से क्रम से उत्पन्न हो जाने वाले तथा अतिशीघ्र ही विनष्ट हो जाने वाले वर्णों का समुदाय भी एक ज्ञान के विषय का जनक हो जाया

करता है। अतः 'वर्णसमुदाय' का ही नाम पद है' पद का यह लक्षण उचित ही है।

अब जिज्ञासु-व्यक्ति के मन में पुनः यह 'शङ्का' उत्पन्न होती है कि जिस प्रकार के विषय के अनुभव से जिस प्रकार के संस्कार उत्पन्न हुआ करते हैं वे संस्कार उस प्रकार के विषय का स्मरण मात्र ही कराया करते हैं। उससे भिन्न कार्य में उन संस्कारों की सामर्थ्य नहीं हुआ करती है। अतः पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य संस्कारों के सहयोग से भी सद्-असद् वर्णों का एक साथ ग्रहण करने वाली प्रतीति का होना भी संभव नहीं है। फिर ऐसी स्थिति पुनः 'पद' की प्रतीति न हो सकेगी।

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुये कहते हैं—"सहकारिदाढ्यात्··· स्फुरत्येव"। इस कथन का अभिप्राय यह यह है कि यदि संस्कार दृढ़ता से युक्त हुआ करता है तो वह स्मृति से भिन्न अन्य कार्य का भी निमित्त हो जाया करता है। जैसे-कोई व्यक्ति कहे कि "जिस देवदत्त को मैने कल इन्द्र-प्रस्थ में देखा था, आज उसी को मैं कुरुक्षेत्र में देख रहा हूं"। उसके इस कथन से उसको यह अनुभव हो जाता है कि यह वही देवदत्त है ["सोऽयं देवदत्तः"]। इस प्रकार के अनुभव को ही प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। अनुभवजन्य संस्कार ही इस प्रत्यभिज्ञा का निमित्त हुआ करता है। यह संस्कार ही सहकारी बनकर चक्षु के द्वारा [अर्थात् चाक्षुष-प्रत्यक्ष के द्वारा] "सोऽयं देवदत्तः" इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान कराया करता है। इस प्रत्यभिज्ञा में पूर्वानुभूत विषय की अतीतावस्था तथा वर्त्तमान में भी अनुभव की जाती हुयी [वर्त्तमान] अवस्था—दोनों ही का स्फुरण अथवा भान हुआ करता है। 'सः—तत्ता' अर्थात् वह इस रूप में देवदत्त की पूर्वावस्था का तथा "अयम्—इदन्ता" अर्थात् यह—इस रूप में देवदत्त की वर्त्तमान अवस्था का भान द्रष्टाव्यक्ति को होता है। जिस भाँति प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी इस प्रत्यक्ष में इन्द्रिय [चक्षु] के सहयोगी-संस्कार की दृढता से पूर्वावस्था तथा वर्त्तमान-अवस्था-दोनों ही अवस्थाओं का भान एक साथ हो जाया करता है उसी भाँति पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार की दृढ़ता से इन्द्रिय (श्रोत्र) के द्वारा भी असत् [पूर्वावस्था में विद्यमान] तथा सत् [वर्त्तमान-अवस्था में विद्यमान] वर्णों का भी एक साथ भान हो जाया करता है। यद्यपि एकाकी इन्द्रिय अथवा एकाकी संस्कार में इस प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है किन्तु दोनों के सम्मिलित हो जाने पर अथवा दोनों का सहयोग हो जाने पर इस प्रकार की सामर्थ्य अवश्य हो जाया करती

है। अतः सद्-असद् दोनों ही प्रकार के वर्णों की एक साथ प्रतीति का होना पूर्णरूपेण संभव है।

"पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन" यह 'श्रोत्रेण' का विशेषण है। अर्थात्-पदव्युत्पादन [पद-बोधन] के संकेतग्रह से अनुगृहीत [श्रोत्र के द्वारा]। इसका अभिप्राय यह है कि जिस भाँति 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये' ["अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः"] इस प्रकार के संकेतग्रह से पद के अर्थ अथवा पदार्थ का बोध व्यक्ति को हो जाया करता है उसी भाँति 'घ' [घ्+अ] तथा 'ट' [ट्+अ] वर्णों के सम्मिलन से 'घट' शब्द का निर्माण हुआ करता है इस प्रकार के संकेतग्रह के आधार पर घट, पट आदि पद अथवा पदों का भी ज्ञान हुआ करता है। इस प्रकार के 'पद' सम्बन्धी ज्ञान का संकेतग्रह कर लेने वाले श्रोता-व्यक्ति को ही घट, या पट आदि पदों के अन्तिम वर्ण का अनुभव करने के साथ ही साथ घट, पट आदि पदों की प्रतीति भी हुआ करती है। इसी कारण इस प्रकार के 'संकेतग्रह' को 'पद' अथवा 'पदों' की प्रतीति में सहायक माना गया है।

अथवा व्याकरण-शास्त्र के अनुसार "सुप्तिङन्तं पदम्" के अनुसार पद—संज्ञा का विधान किया गया है। न्यायदर्शन में "ते विभक्त्यन्ताः पदम्" इस रूप में पद के स्वरूप का उल्लेख हुआ है। जो श्रोता-व्यक्ति 'पद' सम्बन्धी उक्त स्वरूप को भलीभाँति जानता है तथा पद-बोधन सम्बन्धी संकेतग्रह से भी परिचित है, वही व्यक्ति "घटं आनय" इत्यदि वाक्य का श्रवणकर 'घटम्' इस पद के अन्तिम वर्ण का अनुभव करते समय पद को प्रतीति कर लिया करता है।

"शब्द अथवा पद के द्वारा अर्थ का बोध हुआ करता है' यह एक सर्वसम्मत मत है। किन्तु 'पद' अथवा 'शब्द' के लक्षण के सम्बन्ध में सभी आचार्य एक मत नहीं है। न्याय के अनुसार 'क्रम से उत्पन्न होने वाले तथा आशुतरविनाशी वर्णों के समूह अथवा समुदाय' को ही पद कहा गया है। किन्तु वैयाकरण की दृष्टि में 'पद' की यह परिभाषा उचित नहीं है। उन्होंने तो वर्णों (ध्वनियों) से अभिव्यक्त होने वाले शब्द को 'स्फोट' रूप में स्वीकार किया है तथा उसी से अर्थ-बोध होता है, ऐसा माना है।

न्याय-दर्शन के अनुसार वर्णसमूह को ही 'पद' कहा गया है ["पदं च वर्ण समूहः"] और एक ज्ञान विषयीभाव को ही समूह बतलाया है। इस स्थल पर "एकज्ञानविषयीभावः" को इस भाँति स्पष्ट किया गया है—"एकज्ञान-विषयीभावः" = 'एकज्ञान विषयत्वम्' अथवा "एकं पदं इति ज्ञान विषयत्वम्" [चि०]। इस स्पष्टीकरण के आधार पर "जो वर्ण 'यह एक पद है' इस

प्रकार के ज्ञान का विषय हुआ करते हैं वे [अथवा वह वर्ण] 'पद' नाम से कहे जाते हैं। 'समूह' शब्द का इस प्रकार का अर्थ स्वीकार कर लेने पर प्रथम तो इस शङ्का का निवारण हो जायगा कि अतिशीघ्र नष्ट हो जाने वाले [अथवा क्षणिक] वर्णों से 'समूह' का निर्माण हो ही नहीं सकता। दूसरे यह कि समूह का उक्त लक्षण एकवर्णात्मक पदों में भी चला जायगा [जैसे 'अ' से विराट, अग्नि आदि का 'उ' से हिरण्यगर्भ, वायु आदि का ग्रहण किया जाता है।] क्योंकि ऐसे एक वर्णात्मक पदों में भी 'यह एक पद है' इस प्रकार की प्रतीति हुआ करती है।

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि आशुता विनाशी वर्णों में भी 'पद' की प्रतीति की जा सकती है। अतः पद-प्रतीति के निमित्त वैयाकरण द्वारा की गयी 'स्फोट' सम्बन्धी कल्पना को ही स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

अब यह बतलाते हैं कि विभिन्न पदों में वाक्य की प्रतीति किस भाँति हुआ करती है?

"श्रोत्रेन्द्रियेण अनेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते" अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय (कान) के द्वारा अनेक पदों का ग्रहण करने वाली वाक्य की प्रतीति हो जाती है। किन्तु वाक्य की यह प्रतीति केवल श्रोत्र-इन्द्रिय से ही नहीं हुआ करती है। पद–प्रतीति के सदृश वाक्य-प्रतीति में भी श्रोत्र (कान)–इन्द्रिय के तीन सहकारी हुआ करते हैं (१) पूर्व–पूर्व पदों के अनुभव से जनित संस्कार (पूर्वपूर्व पदानुभावजनितसंस्कारसहकृतेन), (२) श्रोत्र द्वारा अन्तिम पद का ग्रहण (अन्त्यपदविषयेण) तथा (३) श्रोताव्यक्ति के अन्दर होने वाली पदार्थ की प्रतीति। इन तीनों कारणों में से प्रथम दो की उपयोगिता तो पद-प्रतीति के सदृश ही है। तृतीय-कारण के सम्बन्ध में थोड़ा सा विचार अवश्य करना है। पहले यह कहा जा चुका है कि आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पद समूह का ही नाम वाक्य है किन्तु श्रोता व्यक्ति को पदों की पारस्परिक आकांक्षा तथा अन्वय-योग्यता, का ज्ञान तभी हो सकता है कि जब उसे पदों के अर्थों (पदार्थों) की प्रतीति अथवा पदार्थों का ज्ञान हो। इसी दृष्टि से वाक्य की प्रतीति में पदार्थ-प्रतीति को भी सहायक के रूप में स्वीकार किया गया है

(पदार्थ-प्रत्ययानुगृहीतेन)—

[यहाँ प्रत्यय का अर्थ है—ज्ञान]। इन तीनों सहकारियों से युक्त श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वाक्य की प्रतीति हुआ करती है।

अभी ऊपर पदार्थ-प्रतीति का वर्णन किया जा चुका है। इसमें 'पद का अर्थ' इस रूप में पदार्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु यह पदार्थ है

क्या ? इस बारे में भारतीय-विचारकों में मतभेद अवश्य उपलब्ध होता है। नव्य-नैयायिकों के अनुसार 'व्यक्ति' ही पदार्थ है। मीमांसक लोग 'जाति' को ही पदार्थ मानते हैं। बौद्ध-मत के अनुसार 'अतद्व्यावृत्ति'—तद्भिन्नभिन्नत्व ही पदार्थ है। वैयाकरणों ने जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा-इन चार रूपों के पदों के अर्थों को स्वीकार किया है ["गौः शुक्लश्चलो डित्थ-इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" (पातञ्जल-महाभाष्य में)]। इसी मत को मम्मट आदि साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने भी माना है। इन तर्कभाषा नामक पुस्तक का सम्बन्ध तो प्राचीन न्याय एवं वैशेषिक से है। अतः तदनुसार जाति विशिष्ट—व्यक्ति ही 'पदार्थ' है।

इस भाँति शब्द प्रमाण के लक्षण ["आप्तवाक्यं शब्दः"] में प्रयुक्त 'आप्त' तथा 'वाक्य' शब्दों की व्याख्या की गयी। अब उक्त लक्षण का उपसंहार करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम। लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किञ्चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं, यदाप्तवक्तृकम्। वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं, सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्।

(तत् इदं) तो फिर यही (वाक्यम्) वाक्य (आप्तपुरुषेण) आप्तपुरुष के द्वारा (प्रयुक्तम्) प्रयुक्त (सत्) होने पर (शब्द नामक) 'शब्द' नामक (प्रमाणम्) प्रमाण [कहा जाता] है। (अस्य) इसका (फलम्) फल (वाक्यार्थज्ञानम्) वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है। (तत् एतत्) वह यह (शब्दलक्षणं प्रमाणम्) शब्द प्रमाण (लोके वेदे च) लोक तथा वेद दोनों में (समानम्) समान रूप से होता है। (लोके) लोक में (तु) तो (अयम्) यही (विशेषः) विशेष बात है कि (यः कश्चित् एव) कोई-कोई [व्यक्ति] ही (आप्तः) आप्त (भवति) हुआ करता है। (सर्वः न) सभी पुरुष आप्त नहीं हुआ करते हैं। (अतः) इसीलिये (किञ्चित्) कोई-कोई (लौकिकं वाक्यम्) लौकिक-वाक्य (एव) ही (प्रमाणम्) प्रमाण हुआ करता है (यत्) जो कि (आप्तवक्तृकम्) आप्त पुरुष द्वारा कहा हुआ होता है। [परन्तु] (वेदे) वेद में (तु) तो (परमाप्त श्रीमहेश्वरेण) परम आप्त परमात्मा द्वारा (कृतम्) रचित (सर्वमेव वाक्यम्) सम्पूर्ण वाक्य (प्रमाणम्) प्रमाण हैं (सर्वस्य एव) सब ही [वाक्यों] के (आप्तवाक्यत्वात्) आप्त-वाक्य होने से।

"आप्तवाक्यं शब्दः" शब्द प्रमाण के इस लक्षण में 'शब्द' [प्रमाण] लक्ष्य है तथा 'आप्तवाक्यम्' यह लक्षण है। शब्द सम्बन्धी प्रमा [ज्ञान] के कारण का नाम ही शब्द-प्रमाण है। किन्तु सम्पूर्ण शब्दों को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसी का स्पष्टीकरण "आप्तवाक्यम्" इस लक्षण द्वारा किया गया है। आप्त [यथाभूत अर्थ का कथन करने वाले] पुरुषों द्वारा प्रयुक्त शब्द-समुदाय अथवा वाक्य को ही 'शब्द-प्रमाण' नाम से कहा जाता है। अतः 'आप्त-वाक्य होना' यही शब्द-प्रमाण का असाधारण-धर्म अथवा लक्षण है।

श्रोता-व्यक्ति को आप्तवाक्य का ज्ञान हुआ करता है तथा उस वाक्य द्वारा उसे वाक्यार्थ का ज्ञान भी हुआ करता है। इस वाक्यार्थ-बोध का ही नाम शाब्दी-प्रमा है तथा इसका कारण है 'आप्त वाक्य'। श्रोता-व्यक्ति द्वारा उस वाक्य की प्रतीति का किया जाना ही अवान्तर-व्यापार समझा जा सकता है। क्योंकि प्रमाण की प्रक्रिया में इन सभी का होना आवश्यक है।

जो वस्तु जिस रूप में विद्यमान है उसका उस ही रूप में [यथातथ्य रूप में] कथन करने वाला व्यक्ति ही 'आप्त' कहा जाता है—["यथा-भूतस्यार्थस्योपदेष्टा"] अथवा यह कहिये कि जो व्यक्ति किसी पदार्थ आदि का सम्यक् द्रष्टा अथवा ज्ञाता हो और वह उस ही रूप में उस का कथन भी करे तो उसे 'आप्त' कहा जा सकता है। 'आप्त' का यह लक्षण मनुष्य मात्र के लिये समान है। अतः ऐसे आप्त-पुरुष लोक में भी हुआ करते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि लोक में कोई विरला पुरुष ही 'आप्त' कहलाने योग्य हुआ करता है। इसका कारण यह है कि लोक में तो कुछ गिने चुने लोग ही इस प्रकार के हुआ करते हैं कि जो यथाभूत अर्थ के सम्यक द्रष्टा अथवा ज्ञाता हो। ये यथाभूत अर्थ के द्रष्टा अथवा ज्ञाता व्यक्ति भी यथार्थ ही कथन करते हों, यह भी आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में सभी को 'आप्त' कहा जाना संभव नहीं है। इसी कारण यह कहा गया है कि लोक में कोई विरले पुरुष ही 'आप्त' कहे जाने योग्य हुआ करते हैं।

हाँ, वेद सम्पूर्ण वाक्य 'आप्त-वाक्य' की ही श्रेणी में आते हैं। उसका कारण यह है कि वेद 'ईश्वरीय-ज्ञान' कहे जाते हैं। ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थों आदि का यथार्थ द्रष्टा तथा यथार्थ ज्ञाता है तथा वह किसी भी प्रकार के विकार से पूर्णतया रहित है। अतएव वह प्राणीमात्र के हित को ध्यान में रखते हुये यथाभूत अर्थ का उपदेश किया करता है। 'वेद' के सम्पूर्ण वाक्य उस ईश्वर के उपदेश के रूप में हैं। अतः वेद के सम्पूर्ण वाक्य 'शब्द प्रमाण' के अन्तर्गत आते हैं।

यही वैदिक तथा लौकिक वाक्यों की प्रामाणिकता में अन्तर है। इसी को तर्कभाषा में "तच्चैतच्छब्दलक्षणं·····सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्" इस रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

मीमांसकों के अनुसार वेद-वाक्य 'अपौरुषेय' हैं, अतः स्वतः प्रमाण है। किन्तु न्याय ने वेदवाक्यों को 'पौरुषेय' माना है। उनके अनुसार वेदों का कर्त्ता पुरुष-विशेष अर्थात् परमाप्त-परमेश्वर ही है। ["परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतम्"] अतः वेद के सभी वाक्य प्रामाणिक हैं।

शब्द-प्रमाण का प्रामाण्य

शब्दप्रमाण-विषयक प्रामाण्य के सम्बन्ध में दार्शनिक-आचार्यों तथा विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। चार्वाक-दर्शन में तो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। अतः उनकी दृष्टि में शब्द-प्रमाण का कोई अस्तित्व है ही नहीं। बौद्ध-दर्शन में केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार 'शब्द-प्रमाण' का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। इसी प्रकार न्याय का समानतन्त्र कहा जाने वाला वैशेषिक-दर्शन भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाणों को स्वीकार करता है। इनके अतिरिक्त (१) उपमान, (२) शब्द (३) अर्थापत्ति (४) ऐतिह्य (५) संभव और (६) अभाव—इन प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत ही माना है।

वस्तुतः वैशेषिकर्म दर्शन तो एक आस्तिक-दर्शन है। "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" (वैशे० १।१।१) की प्रतिज्ञा से इस दर्शन का प्रारम्भ हुआ है। और "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वैशे० १।१।३) इस सूत्र के द्वारा यह दर्शन वेद के प्रामाण्य का स्पष्टरूप से प्रतिपादन भी कर रहा है। किन्तु इतना होने पर भी वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य में शब्द-प्रमाण को एक पृथक-प्रमाण के रूप में स्वीकार न कर उसका अन्तर्भाव 'अनुमान' में ही दिखलाया गया है, यह आश्चर्य की बात है। शब्द-प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाते हुये प्रशस्तपाद-भाष्य में लिखा है :—

शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः। समानविधित्वात्। यथा प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थेभवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति। श्रुतिस्मृतिलक्षणोप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः, तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। चिङ्गाचानित्यो बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे, बुद्धिपूर्वोददातिरित्युक्तत्वात्॥" वैशे० प्रश० भा० पृ० १०७॥

अर्थात् समानविधि के आधार पर शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किया गया है। जैसे—अनुमान में (१) व्याप्तिग्रह (२) लिङ्गज्ञान, (३) व्याप्तिस्मृति के अनन्तर (४) अनुमिती की उत्पत्ति हुआ करती है ठीक उसी प्रकार से शब्द प्रमाण में भी (१) संकेतग्रह (२) वाक्यश्रवण (३) पदार्थ स्मृति के पश्चात् (४) शाब्दबोध हुआ करता है। अतः अनुमान तथा शब्द दोनों ही प्रमाणों की विधि समान होने के कारण शब्दप्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव मान लिया गया है।

वैशेषिक दर्शन शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव तो अनुमान में किया ही है, साथ ही श्रुति तथा स्मृति रूप आम्नाय को भी अनित्य तथा 'वक्तृप्रामाण्याधीनप्रामाण्य' माना है। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' वैशे० १।१।३॥ तथा "बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे" इन सूत्रों द्वारा 'वेद' की अनित्यता तथा परतःप्रामाण्य का भी प्रतिपादन किया है। इस भाँति वैशेषिक दर्शन ने वेद को मीमांसा-दर्शन के स्वतः प्रामाण्य के स्थान पर "तद्वचनात्-प्रामाण्य" कहकर परतःप्रमाण माना है। इस भाँति इस (वैशेषिक) दर्शन में शब्दप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव स्पष्ट किया है।

[मीमांसकों में दो सम्प्रदाय है (१) कुमारिलभट्ट मतानुयायी (२) प्रभाकर-मतानुयायी।] प्रभाकर-सम्प्रदाय के अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि भी वैशेषिक के समान ही शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में ही करते हैं। भेद केवल इतना है कि ये वैदिक-वाक्यों को तो पृथक शब्द-प्रमाण मानते हैं किन्तु लौकिक वाक्यों को शब्दप्रमाण नहीं मानते हैं। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दप्रमाण का फल है—'पदार्थसंसर्गबोध रूप शाब्दबोध"। लौकिक वाक्यों की प्रामाणिकता के लिये तो आप्त पुरुष द्वारा कथन किये जाने सम्बन्धी ज्ञान अपेक्षित है। आप्त वही हो सकता है कि जिसको कथन किये जाने वाले वाक्य का यथार्थ-ज्ञान हो। अतः 'पदार्थसंसर्ग' रूप वाक्यार्थ वक्ता [व्यक्ति] के ज्ञान के अन्तर्गत ही आ जायेगा। किन्तु इस प्रकार का ज्ञान अनुमान द्वारा संभव है। ऐसी स्थिति में लौकिक वाक्य को शब्दप्रमाण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह तो अनुमान द्वारा गृहीत 'पदार्थ-ससर्ग' का 'अनुवादक' ही कहा जा सकता है। वैदिक वाक्य अथवा वेदों के वाक्य तो अपौरुषेय हैं अतः उनका प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध है। उनके लिये 'आप्तोक्तत्व' ज्ञान की कोई आवश्यकता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में लौकिक-वाक्यों के प्रामाण्य हेतु पृथक से एक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शब्दप्रमाण के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतों का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है—

जब शब्दप्रमाण नहीं कहा जायगा, शब्द में प्रमा (ज्ञान) को उत्पन्न करने की क्षमता न होगी तो शब्द के प्रयोग की सार्थकता ही क्या रह जायगी ? शब्द का श्रवण करने पर भी जब उससे किसी भी प्रकार के (प्रमा) ज्ञान का होना संभव ही न होगा तो उसे श्रोत्रगम्य बनाने के लिये उसके उच्चारण का प्रयास करना भी निरर्थक ही होगा । फिर जब उस शब्द का श्रवण करने पर भी कोई प्राप्ति होना संभव ही नहीं है तो उसके श्रवण करने के लिये ही कौन व्यक्ति अपने कानों को उधर लगायेगा ? परिणामस्वरूप शब्द का उच्चारण करना और श्रवण करना निरर्थक हो जाने से सम्पूर्ण विश्व ही शब्दरहित हो जायगा । इस भाँति जो लोग शब्द के प्रमाणत्व में विश्वास नहीं रखते हैं उन लोगों का अपने वर्ग के अथवा अन्य वर्गों के लोगों के साथ सब प्रकार का व्यवहार ही लुप्त हो जायगा ।

इसके उत्तर में चार्वाक-मतानुयायी यह कह सकते हैं कि शब्द को प्रमाण न मानने का अर्थ यह नहीं है कि शब्द से किसी विषय का ज्ञान (अथवा प्रमा) ही नहीं होता । शब्द को अप्रमाण कहने का अभिप्राय केवल यही है कि शब्द किसी विषय में प्रमाण नहीं हुआ करता है कि जो प्रत्यक्षसिद्ध न हो । अतः मूलरूप से तो केवल प्रमाण 'प्रत्यक्ष' ही है, शब्द तो प्रत्यक्ष-गृहीत विषय का अनुवादक है । शब्द का श्रवण कर मानव जिस व्यवहार को किया करता है उस व्यवहार का आधार वह यही समझता है कि शब्द से जो बोध उसको हो रहा है वह प्रत्यक्षमूलक होने के कारण यथार्थ है ।

इस भाँति चार्वाक-मत में भी शब्द की उपयोगिता के संभव होने से शाब्दिक-व्यवहार की असिद्धि नहीं होती है ।

शब्द सम्बन्धी उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में बौद्ध-दर्शन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि मूलभूत प्रमाण दो ही है (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान संसार में दो ही प्रकार की वस्तुयें उपलब्ध होती हैं (१) विशेष (२) सामान्य । विशेष का अर्थ है स्वलक्षण-क्षणिक-भावात्मक व्यक्ति तथा सामान्य का अर्थ है अतद्व्यावृत्तिलक्षण 'अपोह' । इनमें प्रथम के ग्रहणार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का और द्वितीय के ग्रहणार्थ अनुमान-प्रमाण का स्वीकार किया जाना परमावश्यक है । इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु अनुभवगम्य नहीं है कि जिसके लिये शब्द को भी एक अतिरिक्त मूलभूत प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाय । अतः शब्द प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा गृहीत विषयों का

अनुवादक मात्र ही कहा जा सकता है। उसे स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। शब्द का श्रवणकर मानव जो व्यवहार किया करता है वह यही समझ कर करता है कि उसे शब्द से जो बोध हो रहा है वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान मूलक होने के कारण यथार्थ ही है।

इस प्रकार इस मत में भी शब्दमूलक-व्यवहार का अस्तित्व तो विद्यमान है ही।

वैशेषिक दर्शन के आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि शब्द सुनने पर तत्सम्बन्धी प्रमा (ज्ञान) की उत्पत्ति अवश्य होती है किन्तु वह प्रमा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा होने वाली प्रमा से विजातीय नहीं हुआ करती है। शब्द कभी अपने अर्थ की स्मृति को उत्पन्नकर उस अर्थ को ग्रहण करने वाली अलौकिक प्रत्यक्षात्मक-प्रमा की उत्पत्ति का प्रयोजक हुआ करता है और कभी अपने अर्थ को विषय करने वाली अनुमिति-प्रमा की उत्पत्ति का प्रयोजक हुआ करता है।

अतः इस दर्शन के अनुसार भी शब्द की उपयोगिता निर्विवादरूप से सिद्ध ही हैं।

उपर्युक्त विवरण द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि शब्दों द्वारा होने वाला लोकव्यवहार किसी भी मतानुयायी द्वारा त्याज्य नहीं है ऐसी स्थिति में उनको यह भी स्वीकार करना ही होगा कि शब्दों के द्वारा यथार्थ-बोध का भी त्याग किया जाना संभव नहीं है। इस भाँति जब शब्द यथार्थबोधात्मक-प्रमा (ज्ञान) का उत्पादक है तो उसके प्रमाणत्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है। अतः चार्वाक-आदि द्वारा शब्द के अप्रमाणत्व का कथन किया जाना पूर्णतया तत्वहीन ही है।

फलतः यह कहा जाना उपयुक्त ही है कि शब्द का श्रवण करने के पश्चात् शब्द से उपस्थित होने वाले अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का जो बोध होता है वह एक विजातीय यथार्थ बोध है तथा उस यथार्थ-बोध का करण होने के कारण शब्द एक स्वतन्त्र [तथा विजातीय] प्रमाण है।

प्रभाकर-मतानुयायियों ने जो शब्द-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में कर 'शब्द' को अनुवादक के रूप में स्वीकार किया है वह भी उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति-स्मृति में कुछ न कुछ विलम्ब अवश्य होगा। शब्द की प्रक्रिया में वैदिक-वाक्यों में संसर्ग-बोध की शक्ति का निर्णय हो ही चुका है। अतः निर्णीत शक्ति से युक्त वाक्य से पूर्व 'संसर्ग' का बोध हो जायगा। किन्तु अनुमान की प्रक्रिया द्वारा 'संसर्ग का बोध' विलम्ब से

होगा। अतः अनुमान को ही 'अनुवादक' कहना उचित होगा। किन्तु यदि इतने पर भी प्रभाकर मतानुयायी लौकिक-वाक्य को 'अनुवादक' ही कहना चाहते हैं तो फिर वैदिकवाक्यों में भी "अमी वैदिकः पदार्थाः परस्पर संसर्गवन्तः" व्यस्तयुन्दूषणाशंकैः पदैः स्मारितत्वात्" इस अनुमान से पूर्व ही संसर्ग का निर्णय हो जायगा और इस भाँति वैदिक-वाच्य को भी 'अनुवादक' स्वीकार करना होगा ऐसी स्थिति में वैदिक तथा लौकिक दोनों ही प्रकार के वाक्यो को 'अनुवादक' ही मानना होगा। अथवा यदि दोनों ही प्रकार के वाक्यों को प्रमाण माना जाय तब तो ठीक ही है। अतः प्रभाकर-मतानुयायियों का यह कथन कि वैदिक-वाक्य तो 'प्रमाण' है तथा लौकिक वाक्य 'अनुवादक' हैं, उचित नहीं है।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि 'पदार्थ-संसर्ग-बोध' ही वाक्यार्थ है। किन्तु इस 'पदार्थ-संसर्गबोध' के बारे में भी मीमांसकों में दो प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं (१) अभिहितान्वयवाद (२) अन्विताभिधानवाद।

(१) अभिहितान्वयवाद—कुमारिलभट्ट 'अभिहितान्वयवाद' को स्वीकार करने वाले हैं। उनका कथन है कि वाक्य का श्रवण करने पर पहले 'अभिधा शक्ति द्वारा पदों से पदार्थों की प्रतीति हुआ करती है। तदनन्तर उन पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध 'तात्पर्याशक्ति' द्वारा हुआ करता है। पहले पदार्थ 'अभिहित' अर्थात् अभिधाशक्ति द्वारा बोधित होते हैं और तत्पश्चात् उनका अन्वय अथवा पारस्परिक संसर्ग-बोध होता है। इसी का नाम 'अभिहितान्वयवाद' है। कुमारिलभट्ट को यही सिद्धान्त अभिमत है। अपने इस सिद्धान्त के लिये उन्हें 'तात्पर्याशक्ति' को भी पृथक से स्वीकार करना पड़ता है।

(२) अन्विताभिधानवाद—प्रभाकर मतानुयायियों को यह सिद्धान्त स्वीकृत है। उनका कहना है कि अभिधाशक्ति द्वारा केवल पदार्थों की ही प्रतीति नहीं हुआ करती है। 'अन्वित-पदार्थों की ही प्रतीति हुआ करती है। अभिधाशक्ति के लिये संकेतग्रह भी आवश्यक है यह संकेतग्रह केवल पदार्थ में ही नहीं हुआ करता है अपितु अन्वित पदार्थ में ही हुआ करता है। संकेत का ग्राहक तो प्रमुखरूप से 'व्यवहार ही है। और यह 'व्यवहार' केवल पदार्थ में न होकर किसी दूसरे के साथ सम्बद्ध अथवा अन्वित पदार्थ में ही हुआ करता है। अतः अभिधाशक्ति द्वारा 'अन्वित-अर्थ' ही अभिहित हो सकता है, केवल पदका अर्थ ही नहीं। इसी का नाम 'अन्विताभिधानवाद' है। इस सिद्धान्त में पदार्थों के प्रारम्भिक संसर्ग का बोध कराने के निमित्त 'तात्पर्या' जैसी किसी अन्य शक्ति की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है।

इस प्रकार न्याय-दर्शनाभिमत चारों प्रमाणों का विवेचन कर दिया गया। अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य (अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य तथा संभव) प्रमाण नहीं है। इसी का उत्तर देते हैं—

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्। प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात्।

(चत्वारि) चार (प्रमाणानि) प्रमाणों का (वर्णितानि) वर्णन कर दिया गया। (एतेभ्यः) इन [चारों] से (अन्यत्) अतिरिक्त (प्रमाण न) [कोई] प्रमाण नहीं है। (प्रमाणस्य सतः) प्रमाण के विद्यमान होने पर [अर्थात् इन चारों से अतिरिक्त यदि कोई प्रमाण है तो] (अत्र एव) इन्ही [चारों प्रमाणों] में (अन्तर्भावात्) [उसका] अन्तर्भाव हो जाने से [चार ही प्रमाण है।]

प्रमाणों की संख्या के बारे में भारतीय-दर्शनों में अनेक मत हैं। प्रमाणों की संख्या एक से लेकर आठ तक स्वीकार की गयी है :—

(१) चार्वाक-दर्शन केवल एक प्रत्यक्ष 'प्रमाण' को ही मानता है।

(२) बौद्ध तथा वैशेषिक दर्शनों में दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान।

(३) सांख्य तथा योग दर्शनों में तीन प्रमाणों को मान्यता प्रदान की गयी है (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम।

(४) न्याय-परम्परा में चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान और (४) शब्द।

(५) मीमांसा-दर्शन के प्रभाकर-सम्प्रदाय के मतानुयायियों ने पाँच प्रमाणों को माना है—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान (४) शब्द तथा (५) अर्थापत्ति। इस भाँति इन्होंने 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण को भी पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

(६) कुमारिलभट्ट के मीमांसा सम्प्रदाय अर्थात् भाट्ट-मीमांसको ने तथा वेदान्त-दर्शन ने उपर्युक्त पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त एक छठा 'अभाव' प्रमाण भी माना है। इस भाँति इनको ६-६ प्रमाण अभिमत हैं।

(७) इनके अतिरिक्त पौराणिक परम्परा में ऐतिह्य' तथा 'संभव' नामक दो अन्य प्रमाणों को भी मान्यता प्रदान की गयी है। इस प्रकार प्रमाणों की संख्या आठ तक पहुँच गयी है।

न्याय-परम्परा से जिन चार प्रमाणों का वर्णन किया गया है उनकी सर्वाङ्गीण उपयोगिता का वर्णन इस ग्रन्थ में भी भली-भाँति किया जा चुका है। इससे

यह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणों की संख्या चार से कम तो हो ही नहीं सकती है। हाँ, अधिक क्यों नहीं हो सकती है ? अब यही विषय प्रस्तुत है:—

न्याय-सम्प्रदाय में युक्ति तथा तर्क के आधार पर उपर्युक्त चार-प्रमाणों की ही सत्ता स्वीकार की गयी है। यदि कोई सम्प्रदाय इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त भी अन्य-प्रमाणों की सत्ता को स्वीकार करता है तो उसके द्वारा स्वीकृत प्रमाण की परीक्षा करनी होगी। यदि ऐसा कोई प्रमा का करण (प्रमाण) है तो उसका अन्तर्भाव उपर्युक्त चारों प्रमाणों में से किसी के अन्तर्गत अवश्य हो जायगा क्योंकि प्रमा के सभी साधनों [करणों] का इन चारों में संग्रह किया जा चुका है। उदाहरण के लिये पौराणिक-परम्परा को स्वीकृत 'ऐतिह्य' प्रमाण को ही ले लीजिये। यह 'ऐतिह्य-प्रमाण' वहाँ हुआ करता है कि जहाँ किसी वचन के वक्ता का कथन तो उपलब्ध होता नहीं है। केवल प्रवाद-परम्परा की दृष्टि से यह कह दिया जाया करता है कि "वृद्धजन ऐसा कह गये हैं"। इस प्रकार के कथन के बारे में यह ज्ञात करना होता है कि इसका कथन करने वाला व्यक्ति क्या कोई आप्त-पुरुष है ? यदि उसका वक्ता आप्त पुरुष है तब तो उसका अन्तर्भाव शब्दप्रमाण में ही हो जायगा। यदि उसका वक्ता कोई आप्त पुरुष नहीं है तब तो उसका कथन 'प्रमाण' की ही श्रेणी में न आ सकेगा। ऐसी दशा में उसको अतिरिक्त प्रमाण कैसे माना जा सकेगा ?

इसी भाँति पौराणिक-परम्परा में 'अभाव' नामक एक अन्य प्रमाण भी स्वीकार किया गया है। यदि किसी पात्र में एक मन अन्न आता है तो उस पात्र में आधे मन अन्न का रखना सम्भव ही है। इस प्रकार की संभावना का ही नाम 'संभव-प्रमाण' है। अथवा क्विंटल का ग्रहण करने में किलो के ग्रहण की संभावना स्वयं ही हो जायगी। एक मन में आधे मन की व्याप्ति होने से अथवा एक क्विण्टल में किलो की व्याप्ति होने से इस 'संभव' नामक प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान-प्रमाण में किया जा सकता है।

अब आगे अर्थापत्ति तथा अभाव नामक प्रमाणों के बारे में भी विचार किया जायगा तथा यह भी स्पष्ट किया जायगा कि उनका अन्तर्भाव किस प्रमाण के अन्तर्गत किया जा सकता है ?

उक्त विवरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः प्रमाणों की संख्या चार [प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द] ही है तथा इन चार-प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण नहीं है।

अर्थापत्तिः

"एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिकों की दृष्टि में 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द' इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। यदि इनके अतिरिक्त कोई प्रमाण है तो उसका अन्तर्भाव इन्हीं चार के अन्तर्गत हो जाता है। किन्तु मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों में 'अर्थापत्ति' नामक एक अन्य प्रमाण भी स्वीकार किया गया है तथा उसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि—

ननवर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति। अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनं 'अर्थापत्तिः'। तथा हि, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्। तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।

(अर्थापत्तिः) अर्थापत्ति (अपि) भी [एक] पृथक (प्रमाणम्) प्रमाण (अस्ति) है। [अर्थापत्ति का लक्षण–] (अनुपपद्यमानार्थदर्शनात्) अनुपपद्यमान [जिसका उपपादन किसी अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा किया जा सकना संभव न हो] अर्थ को देखकर (तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम्) उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना (अर्थापत्तिः) 'अर्थापत्ति' कहलाता है। (तथा हि) जैसे कि—(देवदत्तः) देवदत्त (दिवा) दिन में (न भुङ्क्ते) नहीं खाता है [किन्तु फिर भी] (पीनः) मोटा है, (इति) ऐसा (दृष्टे श्रुते वा) देखने अथवा सुनने पर [उसके द्वारा] (रात्रिभोजनम्) रात्रि में भोजन किये जाने सम्बन्धी (कल्प्यते) कल्पना कर ली जाती है। [क्योंकि] (दिवाऽभुञ्जानस्य) दिन में न खाने वाले व्यक्ति का (पीनत्वम्) मोटा होना (रात्रि भोजनं अन्तरेण) रात्रि-भोजन के बिना (न उपपद्यते) नहीं बन सकता है। (अतः) इसलिये (पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिः) पीनत्व [मोटा होने] की अन्य प्रकार से [अन्यथा = रात्रि के भोजन के बिना] अनुपपत्ति से प्रसूत अर्थात् उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति (एव) ही (रात्रिभोजने) रात्रि के समय भोजन किये जाने में (प्रमाणम्) प्रमाण हो जाती है। (तत् च) और वह [अर्थापत्ति] (प्रत्यक्षादिभ्यः) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से (भिन्नम्) भिन्न [अर्थात् पृथक रूप में ही विद्यमान एक प्रमाण] है (रात्रिभोजनस्य) रात्रिभोजन (प्रत्यक्षादि-अविषयत्वात्) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय न होने से।

प्रमाणों का प्रयोजन है प्रमेयों की सिद्धि करना। प्रमेयों सम्बन्धी प्रमा [ज्ञान] के लिये न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। किन्तु कुछ प्रमेय इस प्रकार के भी है कि जिनका ग्रहण प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों में से किसी के भी द्वारा संभव नहीं है। ऐसे प्रमेयों की सिद्धि के लिये इन चारों प्रमाणों से अतिरिक्त भी 'प्रमाण' मानना होगा। उदाहरण के लिये—दिन में भोजन न करनेवाले मनुष्य की पीनत्व [स्वास्थ्ययुक्त स्थूलता] ही अनुपपद्यमान अर्थ है तथा रात में भोजन का किया जाना ही उसका उपपादक अर्थ है। क्योंकि जो पुरुष दिन में भोजन नहीं करता है वह यदि रात में भी भोजन नहीं करेगा तो न तो वह स्वस्थ ही रह सकेगा और न स्थूल ही हो सकेगा।

अब यदि ऐसा देखने अथवा सुनने को मिले कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है किन्तु फिर भी वह पीन [स्वस्थ और स्थूल] है तो ऐसी कल्पना अवश्य ही की जायगी कि वह रात्रि में भोजन करता है।

इस उदाहरण में "दिन में भोजन न करनेवाले देवदत्त का 'पीनत्व' रात्रि के भोजन के विना अनुपपन्न है" यह ज्ञान ही अर्थापत्तिप्रमाण है तथा "देवदत्त रात्रि में भोजन करता है" यह कल्पना ही 'अर्थापत्ति' से उत्पन्न होनेवाली "प्रमा" है।

'अनुपपद्यमान' शब्द का अर्थ है उपपन्न अथवा सिद्ध न होने वाला। ऐसे उपपन्न अथवा सिद्ध न होने वाले अर्थ के दर्शन अर्थात् ज्ञान अथवा अनुभव से उसके उपपादक अथवा साधक अर्थ की कल्पना का किया जाना ही 'अर्थापत्ति' है। उपपन्न अथवा सिद्ध न होने वाले अर्थ का ज्ञान अथवा अनुभव सुनने अथवा देखने से ही हुआ करता है। इस प्रकार के ज्ञान अथवा अनुभव के आधार पर उसके साधक किसी दूसरे अर्थ की कल्पना कर ली जाया करती है। यह द्वितीय अर्थ की कल्पना ही 'अर्थापत्ति' से उत्पन्न होने वाली 'प्रमा' [ज्ञान] है।

उपर्युक्त उदाहरण में अनुपपद्यमान अथवा अनुपपन्न अर्थ का दर्शन ही 'रात्रिभोजन सम्बन्धी कल्पना' रूप प्रमा का कारण है। अतः यही 'अर्थापत्ति'-प्रमाण है। उपपादक [साधक] अर्थ की कल्पना ही 'अर्थापत्तिप्रमाण का फल' अर्थात् 'प्रमा' है।

अनुपपद्यमान-अर्थ का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को या तो श्रोत्र सम्बन्धी प्रत्यक्ष द्वारा हो सकता है अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा। इसी दृष्टि से तर्क-भाषाकार ने "पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते" इति 'दृष्टे श्रुते वा' में 'दृष्टे'

और 'श्रुते' पदों का प्रयोग किया है। कहने का अभिप्राय यह कि कभी तो श्रोता-व्यक्ति को यह सुनने को मिलता है कि देवदत्त दिन में नहीं खाता किन्तु पुष्ट है और कभी उसे स्वयं प्रत्यक्षरूप से इस तथ्य का प्रत्यक्ष हो जाता है। इन दोनों ही प्रकार की दशाओं में उपपादक [साधक] अर्थ-"रात्रि-भोजन" की कल्पना उक्त व्यक्ति द्वारा कर ली जाया करती है। इसी दृष्टि से शाबर भाष्य में लिखा गया है—'दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथानुपपद्यते।' और इसी आधार पर मीमांसकों ने दो प्रकार की 'अर्थापत्ति' स्वीकार की है (१) श्रुतार्थापत्ति (२) दृष्टार्थापत्ति। जहाँ श्रुत अर्थात् सुने गये अनुपपद्यमान अर्थ के उपपादक किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है ["श्रुतस्य अनुपपद्यमानस्य अर्थस्य उपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम्"] वहाँ 'श्रुतार्थापत्ति' नामक प्रमाण होता है। जहाँ 'दृष्ट' अर्थात् देखे गये अनुपपद्यमान अर्थ के उपपादक किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है ["दृष्टस्य अनुपपद्यमानस्य अर्थस्य उपपादकी भूतार्थान्तर कल्पनम्"] वहाँ 'दृष्टार्थापत्ति' नामक प्रमाण होता है।

मीमांसक की दृष्टि में 'अर्थापत्ति' एक पृथक् प्रमाण है। उनका कहना है कि 'अर्थापत्ति' का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अन्तर्गत किया जाना संभव नहीं है। इसी कथन की सिद्धि के लिये उन्होंने निम्नलिखित 'अनुमान' प्रस्तुत किया है :—

" तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।"

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली 'प्रमा' से उक्त [रात्रि-भोजन सम्बन्धी 'प्रमा'] प्रमा सर्वथा भिन्न है। अतः इस प्रमा के करण की दृष्टि से एक पृथक् से [अर्थापत्ति नामक] प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक है क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त द्वारा रात्रि में भोजन किये जाने सम्बन्धी [अथवा 'रात्रि भोजन' रूप 'प्रमा'] प्रमा का ग्रहण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान अथवा शब्दप्रमाणों में से किसी भी प्रमाण द्वारा किया जाना संभव नहीं है। देवदत्त के 'रात्रि भोजन' के साथ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष न होने की दशा में भी उक्त प्रमा उत्पन्न होती है। अतः इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार रात्रि-भोजन के साथ व्याप्ति का निश्चय न हो सकने तथा लिङ्ग परामर्श के बिना ही रात्रिभोजन 'सम्बन्धी ज्ञान के हो जाने के कारण यह ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा भी किया जाना संभव नहीं है। यह ज्ञान सादृश्यज्ञान तथा किसी अतिदेशवाक्य के अर्थस्मरण के अभाव में भी उत्पन्न होता है अथवा इस ज्ञान की उत्पत्ति अतिदेशवाक्य के

अर्थस्मरण के साथ सादृश्यज्ञान से नहीं होती है। अतः उक्त ज्ञान उपमान-प्रमाण का भी विषय नहीं बन सकता है। उक्त ज्ञान आप्तवाक्य द्वारा भी नहीं हो रहा है। अतः यह ज्ञान-प्रमाण का भी विषय नहीं बन सकता है।

इस भाँति देवदत्त में रात्रिभोजन की कल्पना रूप यह प्रमा (ज्ञान) अर्थापत्ति नाम की एक विजातीय प्रमा ही है। और इस प्रमा का जो कारण है वही 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण है।

विशेष—'अर्थापत्ति' शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं तथा इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर 'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्रमाण' तथा 'प्रमा' दोनों ही के लिये किया जाता है। (१) "अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्"—[इस व्युपत्ति के अनुसार] जिससे अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है वह प्रमा का करण 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण है। (२) "अर्थस्य आपत्तिः"—[इस व्युत्पत्ति के अनुसार] अन्य अर्थ की कल्पना रूप 'प्रमा' का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में अर्थापत्ति के लक्षण में "अर्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः" ऐसा कहा गया है। इस कथन में 'अर्थापत्ति' का प्रयोग 'प्रमा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तथा "अर्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्" में 'अर्थापत्ति' शब्द 'अर्थापत्ति-प्रमाण' के लिये प्रयुक्त हुआ है।

इस भाँति मीमांसक तथा वेदान्ती 'अर्थापत्ति-प्रमाण' का पृथकरूप में निरूपण करते हैं। किन्तु नैयायिकों की दृष्टि में इसे पृथक-प्रमाण नहीं स्वीकार किया गया है। अतः उपर्युक्त कथन का निराकरण करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं:—

नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथा हि, अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते, नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया।

(ऐतत्) यह [कथन] (न) ठीक नहीं है। (रात्रिभोजनस्य) रात्रि-भोजन के (अनुमानविषयत्वात्) अनुमान का विषय होने से [अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।] (तथाहि) जैसा कि [अनुमान के प्रक्रिया द्वारा स्पष्ट ही है–] (अयं देवदत्तः) यह देवदत्त (रात्रौ) रात्रि में (भुङ्क्ते) खाता है [यह 'प्रतिज्ञा' हुयी], (दिवाऽभुञ्जानत्वे सति)

दिन में न खाने पर भी (पीनत्वात्) मोटा होने से [यह 'हेतु' हुआ], (यः तु) जो (रात्रौ) रात्रि में (न) नहीं (भुङ्क्ते) खाता है (असौ) वह (दिवा) दिन में (अभुञ्जानत्वे सति) न खाने पर (पीनः न) मोटा नहीं होता (यथा) जैसे (दिवा) दिन (च) और (रात्रौ) रात्रि में (अभुञ्जानः) न खाने वाला (अपीनः) [कोई व्यक्ति मोटा न होकर] दुबला ही हुआ करता है। [यह व्यतिरेक व्याप्ति तथा उसका 'उदाहरण' हुआ] (च) और (अयम्) यह देवदत्त (तथा न) वैसा [दुर्बल] नहीं है [यह 'उपनय' हुआ], (तस्मात्) इसलिये (तथा न) [यह] वैसा [दिन तथा रात्रि में भोजन न करने वाला] नहीं है [अर्थात्' यह रात्रि में भोजन अवश्य करता है यह 'निगमन' हुआ]। (इति) इस प्रकार (केवलव्यतिरेक्यनुमानेन) केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा ही (रात्रिभोजनस्य) रात्रि-भोजन की (प्रतीयमानत्वात्) प्रतीति हो जाने से (अर्थापत्तिः) अर्थापत्ति को (पृथकत्वेन) पृथकरूप से (किम् कल्पनीया) क्यों अथवा किसलिये स्वीकार किया जाय ?

कहने का अभिप्राय यह है कि देवदत्त में जो 'रात्रि भोजन की कल्पना' होती है वह कोई विजातीय प्रमा न होकर अनुमिति' ही है। क्योंकि इस ['रात्रिभोजन' प्रमा की सिद्धि 'केवलव्यतिरेकी-अनुमान' द्वारा हो जाती है। इस व्यतिरेकी-अनुमान में अनुमान के पाँचों अवयव विद्यमान हैं। इसमें देवदत्त 'पक्ष' है, 'रात्रि भोजन' साध्य है तथा दिन में भोजन न करके भी पूर्ण स्वस्थ तथा मोटा होना ही हेतु है। व्याप्ति यह है—'जो रात्रि में नहीं खाता है वह दिन में न खाने पर पुष्ट भी नहीं हुआ करता है।" यह व्यतिरेक [साध्यभाव के साथ साधनाभाव की] व्याप्ति है—"यत्र यत्र रात्रि-भोजनाभावः [रात्रि भोजनरूप साध्य का अभाव] तत्र तत्र दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वाभावः" [साधनाभाव]। उक्त व्यतिरेकी व्याप्ति द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि जो रात्रिमें भोजन नहीं करता वह दिन में भोजन न करते हुये होने पर पीन [पुष्ट] भी नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है किन्तु फिर भी पीन अर्थात् पूर्ण स्वस्थ अथवा मोटा है अतएव वह निश्चितरूप से रात्रि में भोजन करता है। ऐसी स्थिति में 'रात्रि भोजन' रूप प्रमा की सिद्धि के लिये 'अर्थापत्ति' नामक एक पृथक प्रमाण स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव नैयायिकों के मतानुसार 'अर्थापत्ति' का अन्तर्भाव 'अनुमान' के अन्तर्गत हो जाता है।

॥ अभावः ॥

नन्वभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति। तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम्। तथाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते। अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः। इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते।

अभाव नामक प्रमाण—

वेदान्ती तथा भाट्टमीमांसक 'अभाव' नामक एक पृथक् प्रमाण मानते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार अभाव-प्रमाण का स्वरूप है :—

(ननु) निश्चितरूप से (अभाव आख्यम्) अभाव नाम का (अपि) भी [एक] (पृथक्) पृथक् (प्रमाणम्) प्रमाण (अस्ति) है। (च) और (अभावग्रहणाय) अभाव के ग्रहण के लिये (तत्) उस [अभाव अथवा अनुपलब्धि नामक प्रमाण] को (अङ्गीकरणीयम्) [अवश्य] स्वीकार करना चाहिये। (तथाहि) क्योंकि (घटादि अनुपलब्ध्या) घट इत्यादि की अनुपलब्धि से (घटादि-अभावः) घट आदि के अभाव का (निश्चीयते) निश्चय किया जाता है। (च) और (उपलब्धेः) उपलब्धि के (अभावः) अभाव का ही नाम (अनुपलब्धिः) अनुपलब्धि है। (इति) इस प्रकार (अभाव-प्रमाणेन) अभाव प्रमाण के द्वारा (घटादि-अभावः) घट आदि के अभाव का (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है।

वेदान्ती तथा भाट्टमीमांसक लोगों का यह कथन है कि "इह भूतले घटाभावः" अर्थात् इस भूभाग पर घड़े का अभाव है। इत्यादि प्रकार का अनुभव संसार में हुआ करता है। उचित-प्रकाश में नेत्र तथा भूतल का सन्निकर्ष होने पर भूतल का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु वहाँ घड़े का ग्रहण [उपलब्धि] नहीं होती है। जब उपलब्धि से सम्बन्धित सम्पूर्ण साधनों [प्रकाश, इन्द्रियव्यापर आदि] के विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष के योग घट आदि की उपलब्धि नहीं हुआ करती है तो हम यह निश्चयपूर्वक कह दिया करते हैं अथवा समझ लिया करते हैं कि इस भूतल में घट आदि का अभाव है। अतः ऐसी स्थिति में घट-आदि की अनुपलब्धि [ग्रहण न होने] के द्वारा घट आदि के अभाव का जो निश्चय कर लिया जाया करता है वह 'घटाभाव का निश्चय' ही 'प्रमा' है। और इस प्रमा का करण ही अभाव नामक प्रमाण है।

नैयायिकों को अभिमत प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण द्वारा उपर्युक्त 'घटाभाव' आदि का ग्रहण किया जाना संभव नहीं है क्योंकि इन्द्रिय का व्यापार तो 'भूतल' आदि के ग्रहण किये जाने में ही क्षीण हो जाता

हैं; साथ ही अभाव के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का होना भी संभव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो अभाव का ग्रहण किया ही नहीं जा सकता है। अभाव के साथ व्याप्ति के भी संभव न होने के कारण अनुमान द्वारा भी 'अभाव' का ग्रहण न किया जा सकेगा। इसी भाँति उपमान अथवा शब्द प्रमाण का भी विषय 'अभाव' नहीं बन सकता है। ऐसी स्थिति में 'घटाभाव' आदि के ग्रहण के लिये 'अभाव' को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार करना उचित ही है।

अब नैयायिकों की ओर से उपर्युक्त मत का निराकरण तर्कभाषाकार द्वारा किया जा रहा है :—

नैतत्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्।

(एतत्) यह [ठीक] (न) नहीं है। (यदि) "यदि (अत्र) यहाँ (घटः) घड़ा (अभविष्यत्) होता (तर्हि) तो (भूतलं इव) भूतल के समान (अद्रक्ष्यत) दिखलाई देता" (इत्यादि) इत्यादि (तर्कसहकारिणा) तर्क से सहकृत [अथवा इत्यादि तर्क में साथ] (अनुपलम्भसनाथेन) अनुपलब्धि से युक्त (प्रत्यक्षेण एव) प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही (अभावग्रहणात्) अभाव का ग्रहण होने से [घटाभाव इत्यादि रूप में विद्यमान 'अभाव' के ग्रहण के लिये पृथक् से अनुपलब्धि अथवा 'अभाव' नामक प्रमाण के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

तर्कभाषाकार का कहना है कि 'अभाव' का ग्रहण तो 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' द्वारा ही हो जाता है। इतना अवश्य है कि 'अभाव' का ग्रहण किये जाने में प्रत्यक्ष के साथ दो सहयोगी करण अवश्य रहा करते हैं। प्रथम तो यह तर्क कि 'यदि यहाँ घड़ा होता तो भूतल के सदृश ही वह भी दृष्टिगोचर होता।" द्वितीय है अनुपलब्धि—अर्थात् 'इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि उपलब्धि सम्बन्धी सभी साधनों के विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष किये जाने योग्य घट (घड़े) का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है' इस प्रकार की अनुपलब्धि। इन सहयोगियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि घटाभाव आदि के ग्रहण करने में अतिशय रूप में विद्यमान कारण (अर्थात करण) तो 'चक्षु' आदि इन्द्रिय ही है क्योंकि उस [चक्षुआदि इन्द्रिय] के विना अभाव का ग्रहण किया जा सकना संभव ही नहीं है। उस चक्षु आदि इन्द्रिय के व्यापारयुक्त होने पर ही अभाव का ग्रहण किया जा सकता है। अतएव उपर्युक्त तर्क तथा घट आदि पदार्थ की अनुपलब्धि रूप दोनों सहयोगियों की सहायता से चक्षुआदि इन्द्रिय द्वारा

घटाभाव आदि का ग्रहण 'प्रत्यक्षप्रमाण' द्वारा हो ही जायगा। अतः 'अभाव' नामक पृथक् प्रमाण को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष—(१) इस भाँति तर्कभाषाकार द्वारा 'अभाव' का प्रत्यक्ष-प्रमाण में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। किन्तु न्यायसूत्र [२।२।२] के अनुसार 'अभाव' का अन्तर्भाव 'अनुमान' प्रमाण में कहा गया है तथा न्यायभाष्यकार और न्यायवार्तिककार ने भी इस मत को अपनाया है। हाँ, वाचस्पति मिश्र ने अवश्य ही अभाव-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान-प्रमाण में दिखलाया है। अतः हो सकता है कि उसी का अनुसरण तर्कभाषाकार ने भी किया हो।

(२) वैशेषिक-दर्शन ने भी 'अभाव प्रमाण' का अन्तर्भाव 'अनुमान-प्रमाण' में ही किया है जैसा कि प्रशस्तपादभाष्य की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट ही है:—

"अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यकारणसद्भावे लिङ्गमेवमनुत्पन्नं कार्यकारण सद्भावे लिङ्गम्"। प्रश० भा० पृ० ५४२-५४३ ॥

(३) बौद्ध-न्याय में भी यह स्वीकार किया गया है कि अनुपलब्धिलिङ्गक-अनुमान के द्वारा ही 'अभाव' का ग्रहण कर लिया जाता है। अतः 'अभाव' नामक पृथक् प्रमाण को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किन्तु भाट्टमीमांसक तथा वेदान्ती आदि ने अभाव को पृथक् प्रमाण माना है। अतः उनका कथन है कि तर्कभाषाकार द्वारा किया गया उपर्युक्त निर्णय हमें स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा होना संभव ही नहीं है। इन्द्रियाँ तो सम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक हुआ करती हैं। इन्द्रिय और अभाव का सम्बन्ध होना संभव ही नहीं है। अतः असम्बद्ध 'अभाव' का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा नहीं किया जा सकता है :—

नन्विन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि। तथाहीन्द्रियाणि वस्तुप्राप्य-प्रकाशकारीणि ज्ञानकरणत्वादालोकवत्।

(ननु इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ तो (सम्बद्धार्थग्राहकाणि) सम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक हुआ करती हैं (तथाहि) जैसे कि [इस अनुमान द्वारा ही सिद्ध होता है] (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि) वस्तु को प्राप्त कर [वस्तु से सम्बद्ध होकर ही अर्थ का] प्रकाश करने वाली हुआ करती हैं [प्रतिज्ञा], (ज्ञानकरणत्वात्) ज्ञान का कारण होने से [हेतु], (आलोकवत्) प्रकाश के समान [उदाहरण]।

नैयायिकों के इस सिद्धान्त को, कि 'इन्द्रियाँ अर्थ से सम्बद्ध होकर उन उन अर्थों का प्रकाश किया करती हैं' स्वीकार करते हुये भाट्ट-मीमांसक आदि

का कहना है कि इस मन्तव्य के आधार पर 'अभाव' का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा न किया जा सकेगा। अपनी इस बात की सिद्धि के लिये उन्होंने दो प्रकार के अनुमानों के प्रयोग को प्रस्तुत किया है जिनमें से प्रथम अनुमान को अभी ऊपर प्रदर्शित किया गया है। उनके इस अनुमान का अभिप्राय यह है कि ज्ञान का जो करण (साधन) हुआ करता है वह किसी वस्तु आदि के साथ सम्बद्ध होकर ही उस वस्तु आदि का ज्ञान कराया करता है जैसे प्रकाश [आलोक]। प्रकाश ज्ञान का करण है। चाक्षुष-[नेत्र द्वारा होने वाले] प्रत्यक्ष प्रकाश भी निमित्त होता है। उसके बिना अन्धकार में किसी भी वस्तु आदि का प्रत्यक्ष किया जाना संभव नहीं है। यह प्रकाश जिस वस्तु आदि पर पड़ा करता है अथवा जिस वस्तु आदि के साथ यह प्रकाश सम्बद्ध हुआ करता है उसी वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष अथवा चाक्षुष-ज्ञान हुआ करता है। इसी भाँति इन्द्रियाँ भी ज्ञान की करण (साधन) हैं, अतः ये इन्द्रियाँ भी अपने से सम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करा सकने में समर्थ हो सकती हैं। इसी दृष्टि से उपर्युक्त अनुमान में इन्द्रियों के 'वस्तुप्राप्य-प्रकाशकारित्व' का उल्लेख किया गया है। अर्थात् इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही उसका प्रकाशन किया करती हैं।

उपर्युक्त अनुमान में इन्द्रियों का 'वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व' ही साध्य है। इस साध्य की सिद्धि के लिये "ज्ञानकरणत्वात्" यह हेतु प्रस्तुत किया गया है तथा 'आलोक' को उदाहरण के रूप में दिखलाया गया है। जैसे 'आलोक' [प्रकाश] ज्ञान का करण है तथा वह वस्तुओं अथवा पदार्थों के साथ सम्बद्ध होकर ही उनको प्रकाशित किया करता है। उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी ज्ञान का करण होने से आलोक के समान ही वस्तु अथवा पदार्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही उस वस्तु अथवा पदार्थ को प्रकाशित किया करती हैं।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में से घ्राण, रसना तथा त्वक्—इन तीन इन्द्रियों के विषय में सभी सिद्धान्तवादी एक मत हैं कि ये इन्द्रियाँ वस्तुतः वस्तु अथवा पदार्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही अपने-अपने अर्थ को प्रकाशित किया करती हैं किन्तु चक्षु तथा श्रोत्र–इन दो इन्द्रियों के सम्बन्ध में सभी एक मत नहीं हैं। बौद्धों का कहना है कि चक्षु, श्रोत्र [दोनों बाह्य-इन्द्रियाँ] तथा मन [अन्तः इन्द्रिय] ये तीनों इन्द्रियाँ वस्तुप्राप्यप्रकाशकारी नहीं हुआ करती हैं। जैसा कि कहा भी है:—"अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा" ॥ अभिधर्म २।४३ ॥" चक्षु [इन्द्रिय द्वारा जिस घट आदि अर्थ का प्रत्यक्ष किया जाता है वह 'घट' आदि अर्थ चक्षु से दूर स्थित रहा करता है। अथवा यों कहिये

कि न तो चक्षु [इन्द्रिय] ही घट आदि अर्थों के समीप जाती हुयी दृष्टिगोचर होती है तथा न 'घट' आदि पदार्थ ही चक्षु के समीप आते हैं। इसी भाँति श्रोत्र [इन्द्रिय] द्वारा जिस शब्द का ग्रहण किया जाता है उस [शब्द] की उत्पत्ति भी दूर ही हुआ करती है। न्याय-वैशेषिक के मतानुसार 'मन' को अणु माना गया है और वह शरीर के अभ्यंतर ही रहता है। वह भी बाहर स्थित वस्तु अथवा पदार्थ अथवा अर्थ के समीप तक नहीं पहुँचा करता है। मन को भी ज्ञान का करण कहा ही गया है। ऐसी स्थिति में चक्षु श्रोत्र तथा मन-इन तीनों इन्द्रियों को वस्तु प्राप्यप्रकाशकारी नहीं कहा जा सकता है।

इसी भाँति जैनमतानुयायी भी चक्षु को छोड़कर शेष इन्द्रियों को 'वस्तुप्राप्यप्रकाशकारी' मानते हैं [आव० नि० श०]। सांख्य [सांख्यसूत्र-१।८७], न्याय [न्या० सू० ३।१, ३२-५३], वैशेषिक [कन्दली पृ० ३३] तथा मीमांसा [शाबरभाष्य १।१।१३।] आदि सभी वैदिक दर्शन स्वाभिमत प्रक्रिया के अनुसार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वस्तुप्राप्यप्रकाशकारी स्वीकार करते हैं। अन्तः इन्द्रिय मन को केवल सांख्य, योग और वेदान्त ही ने वस्तु प्राप्य प्रकाशकारी माना है। अवशिष्ट वैदिकदर्शन, बौद्ध तथा जैनदर्शन मन को अप्राप्यकारी ही स्वीकार करते हैं।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाद मुख्यतः चक्षु और श्रोत्र दो ही इन्द्रियों के सम्बन्ध में है। अतः इन्हीं दोनों इन्द्रियों को पक्ष बनाकर एक दूसरा अनुमान तर्कभाषाकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है:—

यद्वा चक्षुश्रोत्रे वस्तुप्राप्यप्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत। त्वगादीनान्तु प्राप्यप्रकाशकारित्वमुभयवादिसिद्धमेव।

(यद् वा) अथवा (चक्षुश्रोत्रे) चक्षु और श्रोत्र [ये दोनों बाह्य-इन्द्रियाँ] (वस्तुप्राप्यप्रकाशकारिणी) वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर ही [वस्तु] का प्रकाश करने वाली हैं [प्रतिज्ञा] (बहिरिन्द्रियत्वात्) बाह्यइन्द्रिय होने से [हेतु] (त्वगादिवत्) त्वक् आदि [अन्य बाह्य-इन्द्रियां] के समान [उदाहरण]। (त्वगादीनाम्) त्वक् इत्यादि [अन्य तीन बाह्य इन्द्रियों] का (प्राप्यप्रकाशकारित्वम्) वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करना (तु) तो (उभयवादि सिद्धम् एव) दोनों ही वादियों [अर्थात् बौद्ध आदि मतानुयायियों तथा नैयायिकों] को अभिमत है ही। [इन्हीं तीनों बाह्य-इन्द्रियों के ही समान चक्षु और श्रोत्र इन दोनों बाह्यइन्द्रियों का भी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में वस्त के साथ सम्बद्ध होना आवश्यक ही है।]

अनुमान यह बना कि—चक्षु तथा श्रोत्र [इन्द्रिय] स्व सम्बद्ध वस्तु के प्रकाश अथवा ग्राहक हैं क्योंकि ये दोनों बाह्य-इन्द्रिय हैं। यहाँ पर यह व्याप्ति बनती है कि "जो जो बाह्य-इन्द्रिय होती है वह-वह स्वसम्बद्ध वस्तु की ही ग्राहक होती है।" जैसे त्वक्, घ्राण तथा रसना नामक इन्द्रियाँ। [इन तीनों इन्द्रियों के विषय में प्रायः सभी सिद्धान्तवादी एकमत हैं कि ये तीनों इन्द्रियाँ (त्वक्, घ्राण तथा रसना) किसी वस्तु से सम्बद्ध होकर ही उसका ग्रहण किया करती हैं।]। ये तीनों इन्द्रियाँ बाह्य-इन्द्रियाँ ही हैं तथा ये वस्तु प्राप्यप्रकाशकारी भी हैं। इसी भाँति चक्षु और श्रोत्र भी बाह्य इन्द्रिय ही हैं। अतः ये दोनों इन्द्रियाँ भी वस्तु को प्राप्तकर अथवा वस्तु से सम्बद्ध होकर ही उसका प्रकाशन अथवा ग्रहण कर सकती हैं। अतएव यह सिद्धान्त बन जाता है कि सभी इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक हुआ करती है।

अब यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा यह शंका प्रस्तुत की जाती है कि 'अभाव' के साथ तो चक्षु का सम्बन्ध होना संभव ही नहीं है। फिर चक्षु द्वारा अभाव का ग्रहण कैसे किया जा सकेगा? इसीको स्पष्ट करते हैं :—

न चेन्द्रियाभावयोः सम्बधोऽस्ति, संयोगसमवायौ हि सम्बन्धौ, न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्ध्यभावान्न समवायोऽपि।

(इन्द्रियाभावयोः) इन्द्रिय तथा अभाव का [कोई भी] (सम्बन्धः) सम्बन्ध (न अस्ति) नहीं [हो सकता] है (हि) क्योंकि [संसार में] (संयोगसमवायौ) संयोग और समवाय (सम्बन्धौ) [ये दो ही] सम्बन्ध हैं (च) और (तयोः) उनदोनों [अर्थात् इन्द्रिय और अभाव] के (तौ) वे दोनों [संयोग और समवाय सम्बन्ध] (न स्तः) नहीं हैं। [क्योंकि] (द्रव्ययोः) दो द्रव्यों का (एव) ही (संयोगः) संयोग हुआ करता है (इति) ऐसा (नियमात्) नियम होने से। (च) और (अभावस्य) अभाव के (द्रव्यत्वाभावात्) द्रव्य न होने से [इन्द्रिय के द्रव्य होने पर भी उसके दूसरे सम्बन्धी 'अभाव' के द्रव्य न होने से चक्षु-इन्द्रिय का अभाव के साथ संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता है।]। [और समवाय-सम्बन्ध दो अयुतसिद्धों का ही हुआ करता है। उन अयुतसिद्धों की भी गणना पाँच प्रकार की ही की गयी हैं तथा इन पाँचों में अभाव की गणना नहीं की गयी है। अतः] (अयुतसिद्ध्यभावात्) अयुत सिद्ध न होने से (समवायः अपि न) समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है।

पूर्वपक्षी मीमांसक के कथन का अभिप्राय यह है कि न्याय एवं वैशेषिक के अनुसार सम्बन्ध दो ही प्रकार के होते हैं (१) संयोग (२) समवाय। इन्द्रिय का अभाव के साथ इन दोनों में से कोई भी सम्बन्ध नहीं बन सकता है क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो दो द्रव्यों में ही हुआ करता है; जैसे इन्द्रिय और घट-दोनों ही द्रव्य हैं। इनका संयोग सम्बन्ध बन सकता है किन्तु 'अभाव' नाम का तो कोई द्रव्य नहीं है फिर इस अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अतः इन्द्रिय और अभाव का 'सयोग' सम्बन्ध तो होगा ही नहीं। इसी भाँति इन्द्रिय और अभाव का समवाय सम्बन्ध भी न बन सकेगा क्योंकि समवाय-सम्बन्ध तो उन दो पदार्थों का हुआ करता है कि जिनमें से कोई एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे से पृथक नहीं रह सकता है। और ये अपृथकसिद्ध पाँच ही माने गये हैं (१) अवयव-अवयवी (२) गुण-गुणी (३) क्रिया-क्रियावान् (४) जाति-व्यक्ति और (५) नित्यद्रव्य और विशेष। इन पाँचों में 'अभाव' कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय तथा अभाव दोनों ही एक दूसरे से पृथक रहा करते हैं। अतः ये दोनों [इन्द्रिय और अभाव] अयुतसिद्ध नहीं है। परिणामस्वरूप इन दोनों का समवाय-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध के बिना 'अभाव' का प्रत्यक्ष होना भी संभव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'अभाव' नामक एक पृथक् प्रमाण का स्वीकार किया जाना आवश्यक ही है।

इसके उत्तर में नैयायिकों का यह कहना है कि इन्द्रिय का अभाव के साथ संयोग अथवा समवाय-सम्बन्ध हम भी नहीं मानते हैं। हमारा तो यह कहना है कि "अभाव समवायौ च ग्राह्या सम्बन्धषट्कतः" के अनुसार अभाव का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किये जाने में इन्द्रिय तथा अभाव का "विशेष्यविशेषणभाव' नामक सम्बन्ध हुआ करता है। उसी सम्बन्ध के द्वारा इन्द्रिय से 'अभाव' का प्रत्यक्ष हो जायगा। अतः "अभाव" नामक एक पृथक् प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है [इसका विस्तृत विवेचन 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के विवरण में विस्तार के साथ किया जा चुका है।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कथन है कि "विशेष्यविशेषभाव' नामक सम्बन्ध में 'सम्बन्ध' का लक्षण ही नहीं घटता है। अतएव इस नाम का कोई सम्बन्ध है ही नहीः—

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च। यथा भेरीदण्डयोः संयोगः। स हि भेरी दण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा। तथा हि दण्डपुरुषयोः विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते।

न हि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरं, नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरमपितु स्वरूपमेव। अभावस्यापि विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्च। न चाभावे कस्यचित् पदार्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत्स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु पदार्थान्तरम्।

(च) और (विशेषणविशेष्यभावः) विशेषणविशेष्यभाव [सम्बन्धियों से] (भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्) भिन्न, उभयाश्रित (दोनों में आश्रित) तथा एक न होने से (सम्बन्ध एव) सम्बन्ध ही (न सम्भवति) नहीं हो सकता है। (हि) क्योंकि (सम्बन्धः) सम्बन्ध तो (सम्बन्धिभ्याम्) (१) (दोनों) सम्बन्धियों से (भिन्नः) भिन्न, (उभयसम्बन्ध्याश्रितः) (२) दोनों सम्बन्धियों के आश्रित तथा (एकः च भवति) (३) एक हुआ करता है। (यथा) जैसे (भेरीदण्डयोः) भेरी और दण्ड का (संयोगः) संयोग [सम्बन्ध है और] (स) वह [भेरीदण्डाभ्याम्] (१) भेरी तथा दण्ड [दोनों सम्बन्धियों] से (भिन्नः) भिन्न है [भेरी तथा दण्ड दोनों ही द्रव्य हैं और संयोग गुण है, अतः वह दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है] (उभयाश्रितः) (२) दोनों [भेरी तथा दण्ड] के आश्रित है (च) और (एकः) (३) एक है। किन्तु (विशेषणविशेष्यभावः) विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध (तथा) वैसा अर्थात् उस प्रकार का [(१) सम्बन्धियों से भिन्न (२) उभयाश्रित तथा (३) एक] (न) नहीं है। (हि) क्योंकि ["दण्डी पुरुषः" इस विशिष्ट प्रतीति में] (दण्डपुरुषयोः) दण्ड और पुरुष का (विशेषणविशेष्यभावः) विशेषणविशेष्यभाव (ताभ्याम्) उन [दण्ड और पुरुष के स्वरूप] से (न भिद्यते) भिन्न नहीं है [किन्तु उनका अपना ही स्वरूप है।]। (दण्डस्य) दण्ड का (विशेषणत्वम्) विशेषणत्व [उसके स्वरूप से भिन्न] (अर्थान्तरं न) कोई दूसरा पदार्थ नहीं है और (नापि पुरुषस्य) न तो पुरुष का ही (विशेष्यत्वम्) विशेष्यत्व [उसके स्वरूप से भिन्न] (अर्थान्तरम्) कोई दूसरा पदार्थ है (अपितु) किन्तु (स्वरूपं एव) [विशेषण और विशेष्यभाव तो उन दोनों का] स्वरूप ही है। (अभावस्य अपि) अभाव के भी (विशेषणत्वात्) विशेषण (च) और (विशेष्यत्वात्) विशेष्य होने से। [यदि विशेषणवि-

शेष्यभाव को स्वरूप से भिन्न कोई दूसरा ही पदार्थ स्वीकार किया जाय तो संयोग आदि के समान द्रव्य आदि छै पदार्थों में ही उसका अन्तर्भाव किसी न किसी पदार्थ में अवश्य होगा। किन्तु] (द्रव्यादि द्रव्य आदि [छै पदार्थों] में से (कस्यचित्) किसी (अन्यतमस्य) एक (पदार्थस्य) भी पदार्थ का (अभावे) अभाव में रहना (सम्भव न) संभव नहीं है [क्योंकि अभाव किसी का आश्रय हो ही नहीं सकता है। (तस्मात्) इसलिये (स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वम्) स्व [अर्थात् अभाव-घटाभाव आदि] से उपरक्त [युक्त] बुद्धि अर्थात् प्रतीति [घटाभावद् भूतलम्] को उत्पन्न करना (यत्) जो (अभावस्य) अभाव का (स्वरूपम्) स्वरूप है, (तत् एव) वह ही उसका [स्वरूपभूत] (विशेषणत्वम्) विशेषणत्व है, (पदार्थान्तरम्) [उस (अभाव) से भिन्न] कोई दूसरा पदार्थ (न) नहीं।

पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध का जो लक्षण है वह 'विशेषणविशेष्यभाव' नामक सम्बन्ध में घटता ही नहीं है। सम्बन्ध का लक्षण है—"सम्बन्धो हि (१) सम्बन्धिभ्यां भिन्नः (२) उभयाश्रितः (३) एकश्च"। अर्थात् जिन दो वस्तुओं अथवा दो पदार्थों से सम्बन्ध हुआ करता उन दोनों को 'सम्बन्धी' कहा जाता है, (१) इस प्रकार के दोनों सम्बन्धियों का सम्बन्ध उन दोनों वस्तुओं अथवा पदार्थों से भिन्न हुआ करता है(२) उक्त सम्बन्ध उन दोनों में विद्यमान भी रहा करता है। तथा (३) वह सम्बन्ध एक ही हुवा करता है। जैसे भेरी और दण्ड का संयोगसम्बन्ध। जब भेरी (नगाड़े) को दण्ड (डण्डे) से बजाया जाता है तो वहाँ पर भेरी और दण्ड का 'संयोगसम्बन्ध' हुआ करता है। यह 'संयोगसम्बध' अपने सम्बन्धी भेरी और दण्ड दोनों से भिन्न है। 'भेरी' तथा 'दण्ड' दोनों द्रव्य हैं और 'संयोग एक 'गुण' है अतः (१) 'संयोग' रूप 'गुण' अपने 'द्रव्य' रूप सम्बन्धियों [भेरी और दण्ड-दोनों से] भिन्न है। यह 'संयोग' भेरी और दण्ड दोनों में रहता है, अतः (२) उभयाश्रित भी है। 'उभयाश्रित' अर्थात् दोनों के आश्रित होने से वह 'एक' भी है। अर्थात् 'भेरी' का जो 'दण्ड' के साथ संयोग है, दण्ड या भेरी के साथ भी वही संयोग है। अतः 'एक' ही हुआ। इस भाँति उपर्युक्त 'संयोग' सम्बन्ध में सम्बन्ध के लक्षण के तीनों ही अंश घट जाते हैं। अतः 'संयोग' को 'सम्बन्ध कहा जाना उचित ही है।

इसी भाँति 'समवाय' नामक सम्बन्ध में भी 'सम्बन्ध' का लक्षण पूर्णरूप से घट जाता है। जैसे—तन्तु और पट का समवाय-सम्बन्ध है, यहाँ पट और तन्तु दोनों सम्बन्धी हैं तथा द्रव्य भी है किन्तु इन दोनों का सम्बन्ध 'समवाय

कोई द्रव्य नहीं है। वह (समवाय) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और अभाव के भिन्न एक पृथक ही पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः यह 'समवाय' सम्बन्धियों से भिन्न है और यह 'समवाय' दोनों (पट तथा तन्तु) में रहता है अर्थात् उभयाश्रित है तथा यह एक ही है। अतः इस 'समवाय-सम्बन्ध' में भी उपर्युक्त तीनों बातें विद्यमान होने से 'सम्बन्ध' का लक्षण पूर्णरूपेण घट जाता है। अतएव इसको भी 'सम्बन्ध' कहा जाता है।

किन्तु 'विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध' में सम्बन्ध के उपर्युक्त लक्षण के तीनों अंशों में से एक की भी विद्यमानता नहीं है। प्रथम अंश है—'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' अर्थात् कोई सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है। 'विशेषण-विशेष्यभाव' तो दोनों सम्बन्धियों से भिन्न न होकर सम्बन्धिस्वरूप ही है। "दण्डीपुरुषः' इस प्रतीति में 'दण्ड' विशेषण है और पुरुष विशेष्य है। अथवा यो कहिये कि 'दण्ड' में विशेषणता है और 'पुरुष' में विशेष्यता है। किन्तु यह 'विशेषणता' अथवा 'विशेष्यता' तीनों के स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है अपितु उन दोनों का स्वरूप ही है। 'दण्ड' में जो 'विशेषणता' है वह दण्ड से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वह तो दण्ड का स्वरूप ही है। तथा 'पुरुष' में जो 'विशेष्यता' है यह भी पुरुष के स्वरूप से भिन्न कोई पृथक् वस्तु नहीं है, अपितु पुरुष का स्वरूप ही है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि विशेषणता और विशेष्यता, दोनों सम्बन्धियों का स्वरूप ही है, सम्बधियों से भिन्न नहीं है। परिणामस्वरूप विशेषणविशेष्यभाव' दोनों सम्बन्धियों का स्वरूप ही हुआ, उनसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं। अतएव 'विशेषण-विशेष्यभाव' को 'सम्बन्ध' कहा जाना संभव है।

यदि इसके सम्बन्ध में यह कहा जाय कि विशेषणविशेष्यभाव' [अर्थात् विशेषणता और विशेष्यता] को सम्बन्धियों का स्वरूप ही क्यों माना जाय? उसे सम्बन्धियों से भिन्न कोई पृथक् पदार्थ क्यों न माना जाय? तो इसका समाधान इस प्रकार हो जायगा कि "घटाभाववद् भूतलम्" इस प्रतीति में 'घटाभाव' विशेषण तथा 'भूतलः विशेष्य है। इसके विपरीत "भूतलनिष्ठः घटाभाव" इस प्रतीति में 'भूतल' विशेषण तथा घटाभाव 'विशेष्य' है। इससे 'अभाव' का 'विशेषण' तथा 'विशेष्य' होना सिद्ध है। यदि 'विशेषणविशेष्य-भाव' को सम्बन्धियों का स्वरूप न मानकर "सम्बन्धिभ्यां भिन्नः" मान लिया जाय तो 'घटाभाव' में विद्यमान रहने वाली 'विशेषणता' और विशेष्यता' भी घटाभाव से भिन्न कोई अन्य पदार्थ होगी। अखिल विश्व के सम्पूर्ण भाव-पदार्थों का वर्गीकरण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय

इन ६ [छै] पदार्थों में ही किया गया है। ऐसी स्थिति में यदि 'विशेषण-विशेष्यभाव' कोई अलग से पदार्थ माना जायगा तो उसकी भी गणना उपर्युक्त छः पदार्थों में से किसी न किसी के अन्तर्गत करनी होगी। जैसे संयोग और समवाय को सम्बन्धियों से भिन्न मानने पर उनका इन्हीं छः पदार्थों में अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् 'संयोग' की गणना गुण के अन्तर्गत की जाती है तथा समवाय को तो छठा पदार्थ माना ही गया है। इसी भाँति यदि "विशेषणविशेष्यभाव' भी यदि सम्बन्धियों से भिन्न कोई पदार्थ है तो वह 'द्रव्य' आदि छः पदार्थों में से कोई न कोई अवश्य होगा क्योंकि इनसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ होता ही नहीं है।

फिर भी यदि "विशेषणविशेष्यभाव" को द्रव्यादि छः पदार्थों में से कोई पदार्थ मान भी लिया जाय तो ऐसा मानने पर इसमें अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आ जायेँगी। उनमें प्रमुखतम आपत्ति तो यही होगी कि द्रव्य, आदि छहां पदार्थों में से कोई भी पदार्थ 'अभाव' में नहीं रहता हे क्योंकि द्रव्य आदि सभी पदार्थ किसी भाव-पदार्थ में ही रहा करते हैं, अभाव में नहीं। ऐसी स्थिति में यदि 'विशेषणविशेष्यभाव' को "सम्बन्धियों से भिन्न" स्वीकार किया जायगा तो उस ['विशेषणविशेष्यभाव'] को उपर्युक्त द्रव्य आदि छहो पदार्थों में से कोई न कोई पदार्थ मानना ही होगा। किन्तु इन छहों पदार्थों में से कोई भी पदार्थ अभाव में नहीं रहा करता है। अतः 'विशेषणविशेष्यभाव' भी 'अभाव' में न रह सकेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त स्थिति में 'अभाव' न तो 'विशेषण' ही हो सकेगा और न 'विशेष्य' ही। किन्तु यह बात सर्वानुभव सिद्ध है कि 'अभाव' 'विशेषण' भी होता है तथा 'विशेष्य' भी। यह तभी संभव है कि जब 'विशेषणविशेष्यभाव' को 'सम्बन्धियों के स्वरूप' के रूप में स्वीकार किया जाय [अर्थात् विशेषणता और विशेष्यता को पदार्थ के स्वरूप से भिन्न न माना जाय]। और तभी 'अभाव' विशेषण तथा विशेष्य भी हो सकेगा। किन्तु यदि 'विशेषणविशेष्यणभाव' को 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' माना जायगा तब तो इस स्थिति में 'अभाव' न विशेषण ही बन सकेगा और न विशेष्य ही अतः 'विशेषणविशेष्यभाव' को 'सम्बन्धिस्वरूप' ही मानना होगा। ऐसा स्वीकार कर लेने पर 'सम्बन्ध' के लक्षण का प्रथम अंश "सम्बन्धिभ्यां भिन्नः" के 'विशेषणविशेष्यभाव' में न घट सकने के कारण 'विशेषणविशेष्यभाव' को 'सम्बन्ध' नहीं कहा जा सकता है।

इसी भाँति 'सम्बन्ध' के लक्षण के अन्य दो अंश भी 'विशेषणविशेष्यभाव' सम्बन्ध में नहीं घटते हैं। द्वितीय अंश "उभयाश्रितः" है। किन्तु विशेषणभाव

[अर्थात् विशेषणता अथवा विशेषणत्व] अथवा विशेष्यभाव [अर्थात् विशेष्यता अथवा विशेष्यत्व] में से कोई भी उभयाश्रित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि 'विशेषणभाव' केवल विशेषण में रहता है विशेष्य में नहीं तथा 'विशेष्यभाव' केवल विशेष्य में रहता है। विशेषण में नहीं। अतः इन विशेषण भाव और विशेष्य-भाव में से कोई भी उभयाश्रित नहीं है। फिर जब उन दोनों का अलग-अलग ही रहना सिद्ध है तो उनका 'एक' होना भी संभव नहीं है। विशेषणभाव पृथक् है क्योंकि वह मात्र विशेषण में ही रहता है और विशेष्यभाव भी पृथक् है क्योंकि वह केवल विशेष्य में ही रहता है। अतः 'एक' होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सम्बन्ध' के लक्षण के तीनों ही अंशों में से एक भी अंश 'विशेषणविशेष्यभाव' नामक सम्बन्ध में घटित नहीं होता है। अतः 'विशेषणविशेष्यभाव' को सम्बन्ध भी नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रक्रिया के आधार पर व्याप्यव्यापकभाव' तथा कार्य-कारणभाव आदि अन्य सम्बन्धों को भी सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है।

एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्ध बुद्धिजन-कत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्। कारणत्वमपि कार्यानुकृता-न्वयव्यतिरेकि स्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, न त्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात्कारणत्वाच्च। नह्यभावे सामान्यादिसंभवः।

अतएव यह ही परिणाम निकलता है कि 'संयोग' और 'समवाय' के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्बन्ध है ही नहीं। किन्तु इस 'अभाव' का तो चक्षु आदि इन्द्रिय के साथ न तो संयोग सम्बन्ध ही बनता है और न समवाय सम्बन्ध ही। क्योंकि संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों का ही हुआ करता है। किन्तु 'अभाव' कोई द्रव्य ही नहीं है। इसी प्रकार समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्धों कीं ही हुआ करता है। किन्तु 'अभाव' की गणना अयुतसिद्धों में की ही नह गयी है। अतः इन्द्रिय तथा अभाव का न तो संयोग-सम्बन्ध ही बनता है और न समवाय-सम्बन्ध ही। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा पहले सिद्ध किया जा चुका है। अतः 'इन्द्रिय' तथा 'अभाव' का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न हो सकने के कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा इन्द्रिय से 'अभाव' का ग्रहण किया जाना संभव नहीं है।

अभी यह भी कहा जा चुका है कि 'व्याप्य-व्यापक-भाव' तथा 'कार्य-कारण-भाव' आदि भी सम्बन्ध की श्रेणी में नहीं आते हैं। अतः इसका स्पष्टी-

करण करते हुये यह सिद्ध किया जा रहा है कि 'विशेषणविशेष्यभाव' की ही भाँति 'व्याप्य-व्यापक-भाव' तथा 'कार्य-कारणभाव' आदि भी वस्तु अथवा पदार्थ के स्वरूप से भिन्न कोई अतिरिक्त 'पदार्थ' नहीं है :—

(एवम्) इसी प्रकार (व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयः) व्याप्यव्यापकभाव तथा कार्य-कारण-भाव आदि (अपि) भी (ऊह्याः) समझने चाहिये। (स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वम्) स्व अर्थात् अपने से प्रतिबद्ध अर्थात् संबद्ध बुद्धि को उत्पन्न करने वाला जो (अग्नि-आदीनाम्) आदि का, (स्वरूपम्) स्वरूप है वह (एव) ही उनका (व्यापकत्वम्) व्यापकत्व है। [इसी प्रकार] (कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि) कार्य [पट आदि] के द्वारा जिसके अन्वय-व्यतिरेकि का अनुसरण किया जाता है ऐसे (तन्तु-आदीनाम्) तन्तु आदि का (स्वरूपम्) स्वरूप (एव) ही (कारणत्वम्) कारणत्व है। वह [व्याप्य-व्यापक-भाव तथा कार्य-कारण-भाव] (अर्थान्तरम्) कोई अन्य पदार्थ (न) नहीं है। (अभावस्यापि) अभाव के भी (व्यापकत्वात्) व्यापकता से युक्त [अर्थात् व्यापक] (च) और (कारणत्वात्) कारणता से युक्त [अर्थात् कारण] होने से। किन्तु (अभावे) अभाव में (सामान्य-आदि) सामान्य आदि [छहों पदार्थों में से किसी] का होना (संभवः) सम्भव (न) नहीं है।

जिस प्रकार 'विशेषणविशेष्यभाव', सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं हुआ करता है उसी भाँति 'व्याप्य-व्यापकभाव' तथा 'कार्य-कारण-भाव' भी सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं हुआ करते हैं। जैसे—धूम तथा अग्नि में व्याप्य-व्यापकभाव है। इस उदाहरण में धूम 'व्याप्य' (व्याप्त) है तथा अग्नि 'व्यापक' है। व्याप्ति को 'प्रतिबन्ध' कहा जाता है तथा जिसमें किसी की व्याप्ति हुआ करती है वह 'प्रतिबद्ध' कहलाता है। अतः 'प्रतिबद्ध' का अर्थ हुआ 'व्याप्त'। जैसे—धूम में अग्नि की व्याप्ति ["यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः"] है। अतः अग्नि से प्रतिबद्ध (व्याप्त) धूम हुआ। इस दृष्टि से "स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वम्" का अर्थ इस प्रकार किया जायगा—यहाँ 'अपने' इस अर्थ के वाचक 'स्व' शब्द का अर्थ है—अग्नि आदि 'व्यापक' पदार्थ। अतः 'स्वप्रतिबद्ध' का अर्थ हुआ अग्नि आदि से प्रतिबद्ध अर्थात् अग्नि आदि से व्याप्त। अग्नि से व्याप्त 'धूम' होता है। अतएव 'अग्नि से व्याप्त धूम है' इस प्रकार की बुद्धि अर्थात् प्रतीति का जनक [उत्पादक] जो अग्नि आदि का स्वरूप है वही उन [अग्नि आदि] का स्वरूप है तथा वही उनका व्यापकत्व [अथवा व्यापकता] है। उन अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न किसी ऐसे अन्य पदार्थ को 'व्यापकत्व' नहीं समझा जा सकता है कि जो अग्नि

आदि में विद्यमान रहता हो। इसी भाँति "अग्नि धूम का व्यापक है ["वह्निः धूमव्यापकः"]" इस प्रकार की प्रतीति का उत्पादक भी 'धूम' का स्वरूप ही है तथा उसी को 'धूम' का 'व्याप्यत्व' [अथवा व्याप्यता] भी कहा जाता है। इससे भिन्न, अन्य कुछ भी 'व्याप्यत्व' नहीं है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि 'व्याप्यव्यापक-भाव' भी सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अतएव 'व्याप्य-व्यापक-भाव' को भी सम्बन्ध कहा जाना संभव नहीं है।

यही बात 'कार्य-कारण भाव' के बारे में भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिये 'तन्तु' और 'पट' को ही ले लीजिये। तन्तु 'कारण' हैं तथा पट 'कार्य'। यहाँ भी 'तन्तु' में जो 'कारणत्व' है वह तन्तु का स्वरूप ही है। यह ऐसा स्वरूप है कि जिसके अन्वय तथा व्यतिरेक का पट [कार्य] द्वारा अनुसरण किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'तन्तु' के होने पर ही 'पट' की उत्पत्ति हुआ करती है तथा 'तन्तु' के न होने पर 'पट' की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है [यही कार्य द्वारा अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण है।] तन्तु के इस भाँति के स्वरूप के अतिरिक्त 'कारणत्व' अन्य कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार 'पट' में जो कार्यत्व है वह भी 'पट का स्वरूप' ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं। ऐसी स्थिति में 'कार्य' तथा 'कारण' नामक दोनों ही सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न 'कार्य-कारण-भाव' को कोई अन्य पदार्थ नहीं कहा जा सकता है। अतएव 'कार्य-कारण-भाव को भी सम्बन्ध कहा जाना संभव नहीं है।

इतना होने पर भी यदि उपर्युक्त व्याप्य-व्यापक-भाव और कार्य-कारण भाव आदि को सम्बन्धियों से भी भिन्न कोई अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार किया जाय तो 'विशेषण-विशेष्य-भाव' की ही भाँति इनका भी 'द्रव्य आदि' छः पदार्थों में से किसी एक में अन्तर्भाव स्वीकार करना होगा। किन्तु ऐसा स्वीकार किया जाना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है क्योंकि 'अभाव' में भी व्यापकत्व और कारणत्व रहा करते हैं। यह व्यापकत्व अथवा कारणत्व यदि किसी द्रव्य-आदि के रूप में होगा तो उसकी विद्यमानता अभाव में न हो सकेगी क्योंकि अभाव में तो कोई द्रव्य-आदि रहता ही नहीं है [इसका विश्लेषण पहले किया जा चुका है।]।

तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्यरूपाभ्यां भिन्नः। नाप्युभयाश्रितो, विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्वाद् विशेष्यभावस्याभावद्, विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावाद् विशेषणभावस्याभावात्।

नाप्येको, विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात् परं श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नम्। द्वावेतावेकश्च सम्बन्धः तस्माद् विशेषणविशेष्यभावो न सम्बन्धः। एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि। सम्बन्धशब्दप्रयोगस्तूभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात्।

तथा चासम्बद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति।

अब यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार से 'घटत्व, पटत्व' आदि जातियाँ कही व समझी जाया करती हैं, उसी प्रकार व्याप्यत्व, व्यापकत्व, कारणत्व आदि भी जातियाँ अथवा सामान्य कहे जाने योग्य हैं। किन्तु इस-प्रकार के कथन को भी ठीक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'अभाव' में तो उस सामान्य आदि (जाति) का भी रहना संभव नहीं है [इसका निरूपण द्रव्य आदि छः के साथ किया जा चुका है।]। फिर उक्त स्थिति में 'अभाव' को व्यापक अथवा कारण आदि न स्वीकार किया जा सकेगा। अतः अब यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गया कि 'व्याप्य-व्यापक-भाव, कार्य-कारण-भाव आदि भी वस्तु के स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह भी स्पष्ट होगया कि—

(i) (तत् एवम्) तो इस भाँति (विशेषणविशेष्यभावः) विशेषण विशेष्यभाव (विशेषणविशेष्यरूपाभ्याम्) विशेषण और विशेष्य के स्वरूपों से (भिन्नं न) भिन्न नहीं है। (ii) और (उभयाश्रितः) उभयाश्रित (अपि) भी (न) नहीं है, [अर्थात् 'विशेषणविशेष्यभाव' दोनों सम्बन्धियों में आश्रित भी नहीं है। क्योंकि] (विशेषणे) विशेषण में (विशेषणभावमात्रस्य) केवल विशेषणभाव [विशेषणत्व अथवा विशेषणता] के (सत्वात्) विद्यमान होने और (विशेष्यभावस्य-अभावात्) विशेष्यभाव [विशेष्यत्व अथवा विशेष्यता] के न होने से, (च) और [इस प्रकार] (विशेष्ये) विशेष्य में (विशेष्यभावमात्रस्य) केवल विशेष्यभाव के (सद्भावात्) विद्यमान होने तथा (विशेषणभावस्य-अभावात्) विशेषणभाव के न होने से [दोनों में से कोई भी उभयाश्रित नहीं है।]

(iii) [विशेषणविशेष्यभाव] (एकः अपि) 'एक' भी (न) नहीं है। (विशेषणं च विशेष्यं च) विशेषण और विशेष्य [विशेषण विशेष्य] (तयोः) उन दोनों का (भावः) भाव (इति) इस [विग्रह] में (द्वन्द्वात्) द्वन्द्व [समास] से (परम्) परे (श्रूयमाणः) सुनाजानेवाला (भावशब्दः) भाव पद (प्रत्येकम्) [विशेषण और विशेष्य दोनों पदों में से]

प्रत्येक के साथ (अभिसम्बद्धयते) सम्बद्ध होता है। (तथा च) और इस प्रकार (विशेषणभावः) विशेषणभाव (च) और (विशेष्यभावः) विशेष्यभाव (इति) ऐसा [अर्थ] (उपपन्नम्) उपपन्न होता है। [इससे स्पष्ट हो जाता है कि] (एतौ द्वौ) ये दो हैं (च) और (सम्बन्धः) सम्बन्ध (एकः) एक ही होता है। (तस्मात्) इसलिये (विशेषण-विशेष्य-भावः) विशेषणविशेष्यभाव नाम का (सम्बन्धः) [कोई] सम्बन्ध (न) नहीं है। (एवम्) इसी प्रकार (व्याप्यव्यापकभावादयः) व्याप्यव्यापकभाव (आदयः) आदि (अपि) भी [सम्बन्ध नहीं हैं! इस भाँति प्रबलतर युक्तियों द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि विशेषणविशेष्यभाव, व्याप्य-व्यापक भाव तथा कार्य-कारण-भाव आदि कोई भी सम्बन्ध नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि इन सभी में सम्बन्ध का लक्षण घटित नहीं होता है। इस भाँति उनका सम्बन्धत्व सिद्ध न होने पर भी उक्त सम्बन्धों के लिये प्रयुक्त] (सम्बन्ध शब्दप्रयोगः) सम्बन्ध शब्द का प्रयोग (तु) तो (उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येण) दो के द्वारा निरूपणीय होने की समानता के कारण (उपचारात्) उपचार से [गौणरूप से] होता है। [ऐसा समझना चाहिये]

इससे पूर्व 'सम्बन्ध' के लक्षण के प्रथम अंश [सम्बन्धियों से भिन्न होने रूप अंश] के बारे में विस्तार के साथ विचार कर यह निर्णय किया जा चुका है कि 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सम्बन्धियों के स्वरूप से 'भिन्न' कोई भी पदार्थ नहीं है। अब यहाँ यह विवेचन प्रस्तुत है कि 'विशेषण-विशेष्य-भाव' में सम्बन्ध के लक्षण का द्वितीयअंश [उभयाश्रित] भी विद्यमान नहीं है:—

सम्बन्ध के लक्षण का द्वितीय-अंश है—"सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में आश्रित रहा करता है। किन्तु यह अंश भी 'विशेषणविशेष्यभाव में नहीं घटता है। 'विशेषणविशेष्यभाव' का अर्थ है 'विशेषणभाव' और 'विशेष्यभाव'। क्यों ऐसा नियम है कि द्वन्दसमास के अन्त में जुड़ा हुआ पद दोनों ही पदों के साथ सम्बद्ध हुआ करता है ["द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते"]। विशेषणभाव से अभिप्राय है 'विशेषणता' अथवा 'विशेष्यत्व'। यह विशेषणत्व अथवा विशेषणता केवल विशेषण में ही विद्यमान रहा करती है, विशेष्य में नहीं। अतः यह 'विशेषणता उभयाश्रित नहीं हुयी। इसी भाँति विशेष्यभाव से अभिप्राय है—विशेष्यत्व' अथवा 'विशेष्यता'। यह विशेष्यत्व अथवा विशेष्यता भी केवल विशेष्य में ही रहा करती है, विशेषण में नहीं। अतः यह 'विशेष्यता' भी उभयाश्रित नहीं हुयी। इससे यह स्पष्ट होगया कि जब विशेषणभाव और

विशेष्यभाव दोनों ही उभयाश्रित नहीं हैं तो फिर ऐसी स्थिति में 'विशेषण-विशेष्यभाव' को उभयाश्रिति कैसे कहा जा सकता है ?

सम्बन्ध के लक्षण का तृतीय अंश है सम्बन्ध का 'एक होना'। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध एक ही होता है और वह दोनों ही सम्बन्धियों में समानरूप से रहा करता है। 'विशेषण-विशेष्य-भाव' में यह अंश भी विद्यमान नहीं है। 'विशेषण-विशेष्यभाव' इस समस्तपद का विग्रह इस प्रकार होता है—विशेषणं च विशेष्यं च इति विशेषणविशेष्यं ('द्वन्द्व' समास), तयोः भावः इति विशेषणविशेष्यभावः। यहाँ पर द्वन्द्व-समास के अन्त में 'भाव' शब्द जुड़ा हुआ है। तथा "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" अर्थात् द्वन्द्व समास के अन्त में आने वाले पद का द्वन्द्व समास के प्रत्येक पद के साथ पृथक्-पृथक् रूप से अन्वय हुआ करता है"—ऐसा नियम है। अतः इस [उक्त] नियम के अनुसार 'विशेषण' और 'विशेष्य' दोनों ही पदों के साथ 'भाव' शब्द का सम्बन्ध होने से 'विशेषणभाव' तथा 'विशेष्यभाव' ऐसे दो शब्दों का ज्ञान उपलब्ध होता है। इन ['विशेषणभाव' तथा 'विशेष्यभाव'] दोनों के अर्थ आदि का स्पष्टीकरण सम्बन्ध के लक्षण के द्वितीय अंश में विस्तार से किया जा चुका है जिससे स्पष्ट है कि ये ['विशेषणभाव' और विशेष्यभाव'] दोनों ही पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, एक नहीं। अतः 'विशेषणविशेष्यभाव' को 'एक' भी कहा जाना संभव नहीं है। इस प्रकार सम्बन्ध के लक्षण के तीनों ही अंश (१) 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' [अर्थात् दोनों ही सम्बन्धियों से भिन्न होना] (२) 'उभयाश्रितः' [दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित होना] तथा (३) 'एकश्च' [एक होना] 'विशेषणविशेष्यभाव' में विद्यमान होने से 'विशेषणविशेष्यभाव' को 'सम्बन्ध' नहीं माना जा सकता है।

इसी भाँति 'व्याप्यव्यापकभाव' तथा कार्य-कारण-भाव आदि में भी 'सम्बन्ध के लक्षण' सम्बन्धी उपर्युक्त तीनों अंशों के विद्यमान न होने के कारण इनको भी 'सम्बन्ध' नहीं कहा जा सकता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब इन सभी सम्बन्धों में उक्तरीति से सम्बन्धत्व की प्रतीति नहीं होती है तो फिर इन सभी सम्बन्धों के लिये शास्त्रों में 'सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है ?

इसका उत्तर यह है कि इनमें सम्बन्धत्व नहीं है, यह सत्य है, किन्तु इनमें सम्बन्ध का साधर्म्य तो है ही। और वह साधर्म्य है—"उभयनिरूपणीयत्व" अर्थात् उभय से बोधित होना। जैसा कि कहा भी गया है :—

"उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येण उपचारात्"।

इसी "उभयनिरूपणीयत्व" रूप साधर्म्य [समानता] के कारण उपचार अर्थात् गौणरूप से इन [व्याप्यव्यापकभाव आदि] को भी 'सम्बन्ध' कह दिया जाता है। तब कोई शब्द मुख्य-अर्थ का बाध कर मुख्य-अर्थ से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है तब यह अर्थ 'गौणी-लक्षणा-वृत्ति' द्वारा उपचार की ही दृष्टि से किया जाता है। अतएव इस अर्थ को 'औपचारिक-अर्थ' कहा जाता है। उपर्युक्त सम्बन्ध के तीनों अंशों से युक्त सम्बन्ध का लक्षण 'कार्यकारणभाव' आदि सम्बन्धों में घटित नहीं होता है किन्तु फिर भी इन सभी सम्बन्धों को 'सम्बन्ध' नाम से कहा ही जाता है। इसका प्रमुख कारण 'साधर्म्य' [समानता] ही है कि जो 'कार्यकारणभाव' आदि का भी 'सम्बन्ध' रूप में बोध करता है। संयोग, समवाय आदि सभी सम्बन्ध 'उभयनिरूपणीय' हुआ करते हैं। अर्थात् दोनों सम्बन्धियों का कथन [निरूपण] करने के पश्चात् ही उन्हें बतलाया जा सकता है। जैसे भेरी और दण्ड का संयोग है। इस संयोग-सम्बन्ध में यह आकांक्षा बनी रहती है कि 'भेरी' का संयोग किससे है? अथवा दण्ड का संयोग किससे है? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संयोग आदि सभी सम्बन्ध 'उभयनिरूपणीय' [दोनों ही सम्बन्धियों द्वारा बतलाये जाने योग्य] हुआ करते हैं। इसी प्रकार कार्य-कारण-भाव', 'व्याप्य-व्यापक-भाव 'तथा' विशेषणविशेष्यभाव' आदि भी उभयनिरूपणीय हैं अर्थात् ये सभी सम्बन्ध, कार्य और कारण अथवा व्याप्य और व्यापक अथवा विशेषण और विशेष्य इन युगलों के बिना निरूपणीय अथवा बोध्य नहीं होते हैं, अपितु उस युगल द्वारा ही निरूपणीय हुआ करते हैं। इस 'उभयनिरूपणीयत्व' रूप साधर्म्य [समानता] के कारण ही 'विशेषण-विशेष्य भाव' आदि को भी [वस्तुतः सम्बन्ध न होते हुये भी] उपचार-लक्षणा से 'सम्बन्ध' कह दिया जाता है।

तथा चासम्बद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति।

सत्यम्। भावावच्छिन्नत्वात् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, नत्वभावमपि। अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्य-भावमुखेनैवेति सिद्धान्तः।

इस भाँति पूर्वपक्षी की सभी युक्तियों का विवेचन करने के उपरान्त अब पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हुये कहते हैं:—

(तथा) इस भाँति [परिणाम यह निकला कि] (असम्बद्धस्य) [इन्द्रियों से] सम्बद्ध न होने वाले (अभावस्य) अभाव का (इन्द्रियेण)

इन्द्रिय के द्वारा [प्रत्यक्ष] (ग्रहणम्) ग्रहण (न सम्भवति) नहीं हो सकता है। [अतः अभाव के ग्रहण के लिये 'अभाव' नामक प्रमाण पृथक् से स्वीकार किया जाना चाहिये]।

कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय स्वसम्बद्ध पदार्थ की ही ग्राहक हुआ करती है तथा अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध होना संभव नहीं है। नैयायिकों का यह कथन कि इन्द्रिय 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सम्बन्ध के द्वारा 'अभाव' का ग्रहण किया करती है, युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि यह अभी निश्चित किया जा चुका है कि 'विशेषण-विशेष्य-भाव' नामका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अतः इन्द्रिय द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष किया जाना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में 'घटाभाव' आदि के ग्रहण के लिये 'अभाव' नामक एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक है। अतः तर्कभाषाकार का यह कथन कि "प्रमाण चार ही हैं" युक्तिसंगत नहीं है।

अब पूर्वपक्षी के उपर्युक्त मत का निराकरण किया जाता है :—

(सत्यम्) ठीक है [किन्तु 'इन्द्रिय स्वसम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक हुआ करती है' इस (व्याप्तेः) व्याप्ति के (भावावच्छिन्नत्वात्) भाव [पदार्थ] तक ही सीमित होने के कारण (भावम्) भाव [पदार्थ] को (प्रकाशयत्) प्रकाशित करने वाली (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (प्राप्तं-एव) प्राप्त अर्थात् सम्बद्ध-भाव [पदार्थ] को ही (प्रकाशयति) प्रकाशित करती है (तु) किन्तु (अभावम्) अभाव को (न) नहीं। (अभावम्) अभाव को (प्रकाशयत्) प्रकाशित करने वाली (इन्द्रियम्) इन्द्रिय तो (विशेषणविशेष्यभावमुखेन) विशेषण विशेष्यभाव द्वारा (एव) ही प्रकाशित करती है (इति) यह (सिद्धान्तः) सिद्धान्त [पक्ष] है।

नैयायिक का यह कहना है कि "इन्द्रिय स्वसम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक होती है।" यह नियम तो ठीक ही है। किन्तु यह नियम केवल भावात्मक पदार्थों के लिये ही है, अभाव के विषय में नहीं। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं (१) भावात्मक पदार्थ (२) अभावात्मक-पदार्थ। एक द्रव्य (१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष और (६) समवाय ये छः भाव अथवा भावात्मक पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त यदि 'अभाव' को भी पदार्थ मान लिया जाय तो वह सप्तम-पदार्थ होगा। और वह अभावात्मक ही होगा, भावात्मक नहीं। अतः इन्द्रिय द्वारा किसी भावात्मक पदार्थ का ग्रहण तभी किया जायगा कि जब उस भावात्मक-पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होगा किन्तु 'अभाव' को ग्रहण करने के लिये उस

[अभाव] के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध की कोई अपेक्षा नहीं है। उसका ग्रहण तो इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुये विना ही केवल "विशेषण-विशेष्य-भाव" के आधार पर ही इन्द्रिय द्वारा किया जा सकता है। अतः 'अभाव' का ग्रहण करने के लिये पृथक् से एक 'अभाव' नामक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

नैयायिक के उपर्युक्त कथन पर यह शङ्का प्रस्तुत की जा सकती है कि पूर्वपक्षी द्वारा 'विशेषण-विशेष्य-भाव' नामक सम्बन्ध के होने का खण्डन किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में यदि इन्द्रिय के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) के विना इन्द्रिय द्वारा 'अभाव' का ग्रहण माना जायगा तो अभाव का यह ग्रहण किया जाना इन्द्रिय से असम्बद्ध ही कहा जायगा। ऐसी स्थिति में जब इन्द्रिय के सम्बन्ध के विना अभाव का ग्रहण स्वीकार कर लिया जायगा तब इन्द्रिय अन्य सभी पदार्थों को भी विना सम्बन्ध के ग्रहण कर सकती है, यह भी माना जा सकता है। साथ ही किसी समीपस्थ स्थान में घटाभाव आदि किसी एक 'अभाव' के ग्रहण के समय असमीपस्थ अथवा दूरस्थ स्थानों में विद्यमान अन्य सभी प्रकार के अभावों का भी ग्रहण इन्द्रिय द्वारा कर लिया जाया करेगा। किन्तु इस प्रकार की बात को स्वीकार करना पूर्णतया अनुभव के विरुद्ध है तथा ऐसा न तो पूर्वपक्षी को ही अभिमत है और न नैयायिक को ही। साथ ही ऐसा मानने पर 'अतिप्रसङ्ग' दोष भी आ जायगा।

इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में नैयायिक का यह कथन है कि हम तो 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं तथा उसी के द्वारा 'अभाव' का ग्रहण करते हैं। अतः हमारे सिद्धान्तानुसार 'अतिप्रसङ्ग' नामक दोष के उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता है। इसके अतिरिक्त 'अभाव' का ग्रहण करने के लिये 'अभाव' में विशेषणता का होना आवश्यक है। किन्तु इस विशेषणता का असमीपस्थ अथवा दूरस्थ स्थानों पर विद्यमान 'अभावों' में होना संभव नहीं है, क्योंकि दूरस्थ स्थानों पर विद्यमान अभाव [समीप स्थानों में विद्यमान न होने के कारण] समीपस्थ स्थानों के विशेषण नहीं बन सकते हैं तथा असमीपस्थ अथवा दूरस्थ [कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे स्थान कि जो इन्द्रिय-गोचर नहीं हैं अथवा जहाँ पर इन्द्रिय की पहुँच नहीं है—इस प्रकार के स्थान समीप में भी हो सकते हैं किन्तु उनके व इन्द्रिय के मध्य दीवाल आदि का व्यवधान होने से वे इन्द्रियगोचर नहीं कहे जा सकते हैं, अतः उनको भी असमीपस्थ ही कहा जायगा।] स्थानों के साथ भी इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने के कारण असमीपस्थ अथवा दूरस्थ स्थानों

में भी विशेषण नहीं बन सकते हैं। जैसे "इह भूतले घटाभावः" इस कथन में यहाँ विद्यमान भूतल के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध है किन्तु जो स्थान इन्द्रिय के लिये अगोचर हैं उन स्थानों के साथ इन्द्रिय का न तो सम्बन्ध हो सकना ही संभव है और फिर ऐसी स्थिति में न असमीपस्थ अथवा दूरस्थ भूतल आदि स्थानों का विशेषण बन सकना ही संभव है। अतः असमीपस्थ अथवा दूरस्थ अभावों का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने सम्बन्धी 'अतिप्रसङ्ग' दोष हमारे सिद्धान्त में उत्पन्न ही नहीं होता है। और यदि आप फिर भी 'घटाभाव' आदि को 'असम्बद्ध'—ग्रहण ही कहते हैं तो यह दोष आपके सिद्धान्त में भी आता है। यही कहते हैं :—

असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः। समश्च परमते। यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्य स्तादृगर्थविचारणे ॥

(असम्बद्धाभावग्रहे) असम्बद्ध-अभाव का ग्रहण स्वीकार करने पर (अतिप्रसङ्गदोषः) अतिप्रसङ्ग नामक [आने वाले] दोष का (तु) तो (विशेषणतया) विशेषणता [अर्थात् इन्द्रियसम्बद्ध विशेषण-विशेष्य-भाव] के द्वारा (एव) ही (निरस्तः) निराकरण हो जाता है। (च) और (परमते) [यह अतिप्रसङ्ग दोष तो] दूसरे [अर्थात् पूर्वपक्षी] के मत में भी (समः) समान ही है।

(यत्र) जहाँ (उभयोः) दोनों [पक्षों] में (समः दोषः) समान दोष हो [तथा उस दोष का] (परिहारः) परिहार (अपि) भी (समानः) समान ही हो तो (तादृक्-अर्थविचारणे) उस प्रकार के अर्थ का विचार करते समय (एकः) किसी एक [पक्ष] पर (न पर्यनुयोक्तव्यः) आक्षेप अथवा दोषारोपण नहीं करना चाहिये।

न्यायदर्शन में तो छः प्रकार के सन्निकर्ष [सम्बन्ध] को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार संयोग आदि पाँच सम्बन्धों में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध पदार्थ में 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सन्निकर्ष के द्वारा 'अभाव' का ग्रहण हुआ करता है। जैसे—"घटाभाववद् भूतलम्" अर्थात् भूतल घटाभाव वाला है—इस प्रतीति में भूतल के साथ इन्द्रिय का 'संयोग' सम्बन्ध है। इस संयोग-सम्बन्ध से सम्बद्ध भूतल में 'घटाभाव का ग्रहण विशेषण रूप में विद्यमान है। इसी भाँति अन्य प्रकार के अभावों के ग्रहण में भी हुआ करता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर 'अतिप्रसङ्ग' आदि किसी भी प्रकार के दोष की आशंका नहीं की जा सकती है। जैसा कि ऊपर

स्पष्ट किया भी जा चुका है कि असमीपस्थ अथवा दूरस्थ स्थलों अथवा स्थानों के साथ संयोग आदि पाँच प्रकार के सम्बन्धों में से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अतः इन्द्रिय से सम्बद्ध 'भूतल' आदि में 'विशेषण-विशेष्यभाव' सन्निकर्ष द्वारा 'घटाभाव' आदि अभावों का ग्रहण हो जाता है।

ऐसा होने पर भी पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि 'विशेषण-विशेष्य-भाव' नाम का तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह तो हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। अतः नैयायिक को इन्द्रिय से असम्बद्ध 'अभाव' का ही ग्रहण किया जाना मानना होगा। तो यह दोष तो विद्यमान है ही। इसके उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि—

यदि आप हमारे द्वारा समाधान कर दिये जाने पर भी 'विशेषण विशेष्यभाव'—सन्निकर्ष द्वारा 'अभाव' के प्रत्यक्ष को 'असम्बद्ध' ही कहते हैं तो यह दोष तो अभाव-प्रमाण को पृथक से स्वीकार किये जाने वाले आपके मत में भी आता है क्योंकि 'अभाव-प्रमाण' को स्वीकार कर लेने पर भी उस [अभाव] प्रमाण का घटाभाव आदि अभावों के साथ संयोग अथवा समवाय कोई भी सम्बन्ध नहीं बनता है। ऐसी स्थिति में आपको भी 'अभाव' के ग्रहण को असम्बद्ध ही स्वीकार करना होगा।

ऐसी दशा में कि जब दोनों ही पक्षों में दोष समानरूप से विद्यमान हों तब किसी एक पक्ष को उस दोष का उद्भावन नहीं करना चाहिये क्योंकि उस दोष का परिहार जैसा एक पक्ष द्वारा किया जायगा वैसा ही दूसरे पक्ष द्वारा भी कर दिया जा सकता है। सभीवादियों द्वारा स्वीकृत इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर उस दोष के उठाये जाने का प्रश्न आप ही आप समाप्त हो जाता है। अतः उक्त दोष के समाप्त हो जाने पर नैयायिकों द्वारा किया गया अभाव-प्रमाण का प्रत्यक्ष-प्रमाण में अन्तर्भाव उचित ही है। और फिर नैयायिकों द्वारा स्वीकृत 'चार प्रमाणों' वाले सिद्धान्त का औचित्य भी स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तर्कभाषाकार ने 'अर्थापत्ति' प्रमाण का अन्तर्भाव" केवल-व्यतिरेकी-अनुमान" में तथा 'अभाव' प्रमाण का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' के अन्तर्गत किया है। इस भाँति उनके द्वारा 'अर्थापत्ति' और 'अभाव' के पृथक् प्रमाण होने का निराकरण किया गया है। इसी के आधार पर यह भी निश्चय हो जाता है कि 'ऐतिह्य' 'संभव' तथा 'चेष्टा' नामक प्रमाण भी कोई पृथक-प्रमाण नहीं हैं, अपितु इनका भी अन्तर्भाव नैयायिकों द्वारा अभिमत चार प्रमाणों के ही अन्तर्गत हो जायगा।

"इह वृक्षे यक्षः प्रतिवसति" अर्थात् इस वृक्ष पर यक्ष का निवास है। इस प्रकार के कथन को ही "ऐतिह्य" कहा जाता है। यह अथवा इस प्रकार की अन्य उक्तियाँ यदि आप्त-पुरुष द्वारा कथित हुआ करती हैं तो इनका अन्तर्भाव शब्दप्रमाण में किया जा सकता है। किन्तु यदि इस प्रकार की उक्तियाँ अनाप्त-पुरुषों द्वारा कथित हैं तब तो उनका प्रमाण ही न कहा जा सकेगा।

जिस पात्र में एक मन अन्न समाता है उसमें आधा [आदि] मन अन्न का रखा जाना—सम्भव है। इस प्रकार की सम्भावनाओं को 'सम्भव-प्रमाण' नाम से कहा जाता है। एक मन में आधे मन की व्याप्ति होने से इसका अन्तर्भाव 'अनुमान' प्रमाण में किया जा सकता है।

दो [आदि] संख्याओं को स्पष्ट करने के निमित्त दो [आदि] उँगलियों के संकेत को 'चेष्टा-प्रमाण' कहा जाता है। इसको भी पृथक-प्रमाण के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि इसके द्वारा उपयुक्त [अथवा प्रयुक्त] शब्द का स्मरणमात्र ही होता है। 'प्रमा' की उत्पत्ति तो वस्तुतः शब्द द्वारा ही होती है।

ऐसी स्थिति में यह निर्विवादरूप से कहा जा सकता है (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान और (४) शब्द—ये चार ही प्रमाण हैं तथा अवशिष्ट सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं चार के अन्तर्गत हो जाता है।

किन्तु कुछ ऐसे भी आस्तिक-दर्शन हैं कि जिन्होने न्यायदर्शन की अपेक्षा कम संख्या में प्रमाणों को स्वीकार किया है और वे हैं (१) सांख्य (२) योग, (३) वैशेषिक इत्यादि। सांख्य तथा योग में (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान और (३) शब्द-इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार किया गया है। उन्होंने 'उपमान' को पृथक प्रमाण न मानकर इन्हीं तीनों में उसका अन्तर्भाव मान लिया है।

वाचस्पति मिश्र ने अपनी सांख्यतत्वकौमुदी में 'उपमान' प्रमाण सम्बन्धी विभिन्न-दर्शनों द्वारा स्वीकृत [तीन] लक्षणों के आधार पर उनका अन्तर्भाव शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्ष-प्रमाणों के अन्तर्गत किया है। उन्होंने लिखा है:-

(१) "उपमानं तावत्, यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्। तज्जनिता धीरागम एव।"

(२) योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव। इत्यादि।"

(३) "यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं। तत्प्रत्यक्षमेव", । इत्यादि।

उनका कथन है कि 'उपमान' के तीन प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। उन तीनों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उपमान' नामका कोई पृथक-प्रमाण नहीं है अपितु उसका अन्तर्भाव उपर्युक्त तीनों प्रमाणों में हो जाता है:—

(१) न्यायदर्शन में कथित" प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्"— उपमान के इस लक्षण के अनुसार "यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य को यदि उपमान-प्रमाण स्वीकार किया जाय तो उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अर्थात् 'वाक्यार्थ-ज्ञान' ही उसका फल कहा जायगा तथा वाक्य द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान तो शब्द-प्रमाण का विषय है। अतः उक्त स्थिति में उपमान-प्रमाण का कार्य 'शब्द-प्रमाण' से ही चल जायगा। उसके लिये पृथकरूप से एक अतिरिक्त [उपमान] प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

(२) न्यायदर्शन के उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुये आचार्य वात्स्यायन ने लिखा है :—"संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः"। इसके अनुसार संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति को उपमान-प्रमाण का फल कहा जायगा। इस दृष्टि से वाचस्पति मिश्र ने उपमान का अन्तर्भाव 'अनुमान' में किया है। उनका कहना है जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में वृद्धलोगों द्वारा किया जाता है, यदि लक्षण, व्यंजना नामक वृत्तियों द्वारा उसका कोई अन्य अर्थ न लिया जाय तो वह शब्द उस अर्थ का ही वाचक हुआ करता है। वृद्धों द्वारा 'गवय' शब्द का प्रयोग 'गो सदृश' में किया जाता है। अतः वह शब्द गोसदृश का ही वाचक समझा जायगा। इस दृष्टि से अनुमान-प्रमाण द्वारा 'संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति' की जा सकती है। अतः इसके लिये भी 'उपमान' को पृथक-प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

(३) उपमान-प्रमाण के प्रतिपादन का तृतीयरूप मीमांसकों द्वारा अभिमत है। उनके अनुसार "यथा गौस्तथा गवयः" इस वाक्य को सुनने के पश्चात् जो व्यक्ति वन में जाकर गौ के समान प्राणी का दर्शन करता है उस व्यक्ति को प्रथम ज्ञान तो यही होता है कि इसके सदृश मेरी गौ है। इस स्थल पर अप्रत्यक्ष गौ में जो गवय के सादृश्य की प्रतीति हो रही है उसका करण (साधन) ' उपमान-प्रमाण' ही है—यह मीमांसकों का मत है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र ने उक्त सादृश्य-ज्ञान को प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय माना है। उनका कहना है कि गौ तो प्रत्यक्ष नहीं है, गवय प्रत्यक्ष है। किन्तु गौ तथा गवय का सादृश्य तो 'एक' ही है। यह सादृश्य गवय के प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान होने से गवय में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर है। अतः उससे अभिन्न

गौ में विद्यमान सादृश्य भी प्रत्यक्ष ही है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा इसका भी ग्रहण हो जायगा। इससे भी स्पष्ट हो गया कि उक्त कार्य के लिये 'उपमान' नामक एक अतिरिक्त प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त आधारों पर सांख्य-दर्शन में 'उपमान' प्रमाण को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त सांख्य में—'अभाव' का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्ष' में किया गया है [हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी एतत्सम्बन्धी प्रक्रिया नैयायिकों की अपेक्षा भिन्न है।] शेष 'अर्थापत्ति' तथा 'संभव' इन दोनों का अनुमान में तथा 'ऐतिह्य' प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द के अन्तर्गत किया गया है।

वैशेषिकमत—

वैशेषिक-दर्शन में केवल दो ही प्रमाणों [प्रत्यक्ष तथा अनुमान] को स्वीकार किया गया है। शेष सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव साक्षात् रूप से अथवा परम्परया 'अनुमान' में किया गया है।

हमने प्रमाणों का विवेचन प्रारम्भ करते समय प्रमाणों की संख्या से सम्बन्धित विभिन्नमतों का उल्लेख विस्तार के साथ कर दिया है। अतः प्रमाणों के इस विवेचन की समाप्ति पर भी उनके अतिसंक्षिप्त 'वर्गीकरण' को यहाँ प्रस्तुत करते हैं:—

(१) एकप्रमाणवादी—चार्वाक-मतावलम्बी केवल 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' को ही स्वीकार करते हैं।

(२) द्विप्रमाणवादी—बौद्ध तथा वैशेषिक-दर्शनों में 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' दो प्रमाणों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

(३) त्रिप्रमाणवादी—सांख्य तथा योगदर्शनों में 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा शब्द'—इन तीन प्रमाणों का निरूपण किया गया है।

(४) चतुःप्रमाणवादी—नैयायिक 'प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान' इन चार प्रमाणों को मानते हैं।

(५) पञ्चप्रमाणवादी—प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों द्वारा 'अर्थापत्ति' को भी एक पञ्चम-प्रमाण माना गया है।

(६) षट्प्रमाणवादी—कुमारिलभट्ट मतानुयायी मीमांसकों तथा वेदान्तियों ने अर्थापत्ति तथा अभाव को भी मिलाकर छः ६ प्रमाण माने हैं।

(७) अष्टप्रमाणवादी—पौराणिक-सम्प्रदाय में 'ऐतिह्य 'तथा 'संभव' इन दो प्रमाणों को सम्मिलित कर आठ प्रमाण माने गये हैं।

प्रामाण्यवादः

"प्रामाण्यवाद अथवा ज्ञानों के प्रामाण्य का निरूपण"

इस ग्रन्थ में पहले यह निरूपण किया जा चुका है कि प्रमा [अर्थात् यथार्थ-अनुभव] का करण ही प्रमाण कहलाता है—"प्रमाकरणं प्रमाणम्"। इसके अतिरिक्त 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग 'यथार्थ-ज्ञान' इस अर्थ में भी किया गया है। 'प्रामाण्यवाद' शब्द में प्रामाण्य का अर्थ है–प्रमाण का भाव अथवा प्रमाणत्व। अर्थात् 'यथार्थ-ज्ञान' का भाव अथवा प्रमाणत्व। दूसरे शब्दों में इसी को इस रूप में भी कहा जा सकता है –"ज्ञान की यथार्थता अथवा ज्ञान का याथार्थ्य।" ज्ञान की इस यथार्थता अथवा 'प्रामाण्य' विषयक वाद [विचार] को ही 'प्रामाण्यवाद' कहा जाता है—"प्रामाण्यसम्बन्धीवादः प्रामाण्यवादः"। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रामाण्य अथवा प्रमाणत्व का ज्ञान किस प्रकार होता है? इससे सम्बन्धित विचार को ही 'प्रामाण्यवाद' कहा जाता है। प्रामाण्य सम्बन्धी इस विषय में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा तथा वेदान्त–इन आस्तिक-दर्शनों में भी पर्याप्त भेद उपलब्ध होता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार निर्विकल्पक-ज्ञान के अतिरिक्त जितने भी प्रकार के ज्ञान उपलब्ध होते हैं उन सभी को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है (१) यथार्थज्ञान (२) अयथार्थ-ज्ञान। (१) यथार्थज्ञान को कभी 'प्रमा' शब्द द्वारा और कभी प्रमाण शब्द द्वारा व्यवहृत किया जाता है। (२) अयथार्थज्ञान को कभी 'अप्रमा' शब्द द्वारा और कभी 'अप्रमाण' शब्द द्वारा व्यवहृत किया जाता है। जब यथार्थज्ञान के लिये 'प्रमा' शब्द का व्यवहार होता है तब उसके 'असाधारण धर्म' को प्रमात्व कहा जाता है तथा जब यथार्थज्ञान के लिये 'प्रमाण' शब्द व्यवहृत होता है तब उसके 'असाधारण-धर्म' को 'प्रामाण्य' कहा जाता है। इसी भाँति अयथार्थज्ञान सम्बन्धी 'अप्रमा' के असाधारण-धर्म को अप्रमात्व तथा अप्रमाण सम्बन्धी असाधारणधर्म को 'अप्रामाण्य' कहा जाता है।

प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य-दोनों के आश्रयभूत ज्ञान का ही नाम 'व्यवसाय' है। प्रत्येक व्यवसाय [प्रतिकूल परिस्थिति के न होने पर 'अनुव्यवसाय' नामक मानस प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान-ग्राहक सामग्री का ही नाम 'अनुव्यवसाय' है। इसके अतिरिक्त 'प्रामाण्य' अथवा 'अप्रामाण्य' की ग्राहक-सामग्री, प्रवृत्ति के साफल्य अथवा वैफल्यमूलक-अनुमान

हैं। इस भाँति न्याय-दर्शन में ज्ञान तथा प्रामाण्य-दोनों की ग्राहक सामग्री पृथक्-पृथक् वर्णित है। पहले मनुष्य प्रमाण द्वारा जल आदि पदार्थों के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर उसके ग्रहण आदि के निमित्त उसमें प्रवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है। प्रवृत्ति होने पर यदि वह प्रवृत्ति सफल हो जाती है अर्थात् वहाँ 'अर्थ' की उपलब्धि हो जाया करती है तो व्यक्ति अपने उस ज्ञान को 'यथार्थ' समझ लिया करता है। किन्तु यदि उसकी प्रवृत्ति विफल हो जाया करती है तो व्यक्ति अपने उस ज्ञान को अयथार्थ अथवा भ्रम आदि रूप में समझा करता है। इस भाँति प्रवृत्ति की सफलता अथवा असफलता के आधार पर प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्णय हो जाया करता है।

उदाहरणार्थ—जलाशय आदि स्थलों में जल को देखकर प्यासा व्यक्ति जब उस स्थान पर पहुँचता है तथा जल को पीकर अपनी प्यास को शान्त कर लेता है तब जल की प्राप्ति के निमित्त किये गये अपने प्रयत्न की सफलता को देखकर वह इस भाँति अनुमान किया करता है कि उसे जो जल का ज्ञान हुआ था वह प्रामाणिक अथवा प्रमात्मक था क्योंकि उस ज्ञान के आधार पर जल-प्राप्ति के लिये जिस प्रयत्न को किया गया था वह सफल हुआ अथवा जिसे जल समझा गया था, वह जल के रूप में ही प्राप्त हुआ। किन्तु जब कोई व्यक्ति मरु-मरीचिका [अर्थात् मरुस्थल में चमकती हुयी सूर्य की किरणों] में जल देखकर जल-पान करने की अभिलाषा से वहाँ पहुँचता है तथा वहाँ वह जल भी प्राप्त नहीं कर पाता है तब वह ऐसा सोचता है कि उसे जो जल का ज्ञान हुआ था वह अप्रामाणिक अथवा अप्रमात्मक था क्योंकि उस ज्ञान के आधार पर जल-प्राप्ति के निमित्त जो प्रयत्न किया गया वह निष्फल अथवा विफल रहा। कहने का तात्पर्य यह है जिसे जल समझा गया वह जल के रूप में प्राप्त नहीं हुआ। अतः ऐसे स्थलों को जहाँ ज्ञान के पश्चात् प्रवृत्ति हो जाती है और उसके अनुसार किये गये प्रयत्नों के बाद उस ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है 'अभ्यास-दशा' कहा जाता है। इस अभ्यासदशापन्न-ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्णय 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' अथवा 'प्रवृत्तिवैफल्यमूलक-अनुमान द्वारा ही हुआ करता है। इस आधार पर अनुमान यह बनेगा—"इदं में जलज्ञानं प्रमाणं सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्'। [अर्थात् यह मेरा जल का ज्ञान प्रामाणिक अथवा प्रमाणयुक्त है सफलप्रवृत्ति का उत्पादक होने से।]। इस भाँति 'सफल-प्रवृत्तिजनकत्वात्' इस हेतु द्वारा 'अभ्यासदशापन्न-ज्ञान' का 'प्रामाण्य' प्रवृत्ति-साफल्यमूलक-अनुमान द्वारा गृहीत हुआ है। इसी प्रकार "प्रवृत्तिवैफल्यमूलक-अनुमान को भी समझना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि 'प्रमाण्य' अथवा अप्रमाण्य स्वतोग्राह्य नहीं हुआ करते हैं किन्तु परतोग्राह्य ही होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन कारणों के आधार पर प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्यक के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान हुआ करता है केवल उन्हीं कारणों के आधार पर प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं हुआ करता है अपितु उसके लिये अन्य कारणों की अपेक्षा हुआ करती है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रामाण्य के ज्ञान के लिये "प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमानरूप अन्य कारण की तथा 'अप्रामाण्य' के ज्ञान के लिये प्रवृत्तिवैफल्यमूलक-अनुमानरूप' अन्य कारण की अपेक्षा हुआ करती है। अतः नैयायिक-मतानुसार प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ज्ञान अथवा ग्रहण तो उक्त अनुमानों द्वारा होता है किन्तु प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य विषयक ज्ञान के ज्ञान का ग्रहण करने के लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं हुआ करती है। उसका ग्रहण तो "अनुव्यवसाय" द्वारा ही हो जाया करता है। ज्ञान के ज्ञान का ही नाम 'अनुव्यवसाय' है। जैसे—"अयं घटः" इस ज्ञान का आश्रय अथवा विषय घट है। इस प्रथम-ज्ञान को 'व्यवसाय' कहा जाता है। इसके अनन्तर "घटज्ञानवानहम्" अथवा "घटमहं जानामि" इस प्रकार का जो द्वितीय ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है उसका आश्रय अथवा विषय घट नहीं हुआ करता है अपितु इस द्वितीय-ज्ञान का विषय अथवा आश्रय 'घट-ज्ञान' ही हुआ करता है। अतः इस 'घटज्ञान' विषयक ज्ञान को ही 'अनुव्यवसाय' कहा जाता है। इसी के द्वारा 'ज्ञान का ज्ञान' हुआ करता है। इसी 'ज्ञान के ज्ञान' का ही नाम अनुव्यवसाय है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि न्याय-मत के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य-ग्राहक सामग्री "प्रवृत्तिसाफल्यमूलक-अनुमान" तथा "प्रवृत्तिवैफल्यमूलक-अनुमान" ही है। और ज्ञानग्राहक [अर्थात् ज्ञान के ज्ञान को ग्रहण करने वाली] सामग्री 'अनुव्यवसाय' है।

प्रामाण्य दो प्रकार का होता है (१) 'स्वतः प्रामाण्य' और (२) 'परतः प्रामाण्य'। न्याय तथा वैशेषिक दोनों ही दर्शन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही को "परतः" मानते हैं। मीमांसक कुमारिलभट्ट 'ज्ञान का प्रामाण्य' स्वतः मानते हैं तथा 'अप्रामाण्य' को 'परतः' मानते हैं। यहाँ 'स्वतः' और 'परतः' दोनों के लक्षणों का स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

स्वतः प्रामाण्य का लक्षणः—"ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्" तदर्थात् ज्ञानग्राहक सामग्री से अतिरिक्त सामग्री प्रामाण्यग्रह के लिये जहाँ अपे-

क्षित न होती हो उसे 'स्वतः-प्रमाण' कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य दोनों का ग्रहण एक ही सामग्री से हो जाता है उसे "स्वतः-प्रमाण" कहा जाता है अथवा जिसकी ज्ञानग्राहक सामग्री तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक ही हो उसे 'स्वतः-प्रमाण' कहा जाता है।

परतः प्रामाण्य का लक्षण:—"ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम् "अर्थात् जब ज्ञानग्राहकसामग्री और प्रामाण्यग्राहकसामग्री-पृथक् पृथक् होती है तब उसे 'परतः-प्रामाण्य' कहा जाता है।

मीमांसक-मत में ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री एक ही है और वह है "ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूताअर्थापत्ति" [इसका विवेचन हम आगे करेंगे।] किन्तु न्याय—मत में ज्ञानग्राहक—सामग्री 'अनुव्यवसाय' है तथा प्रामाण्यग्राहकसामग्री 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक—अनुमान' है अर्थात् दोनों ही पृथक्—पृथक् हैं। [इसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।]।

इस भाँति न्याय—वैशेषिक—मत में 'प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य' दोनों 'परतः' माने गये हैं। मीमांसक-मत में प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' माना गया है। सांख्य तथा योग दर्शनों में एतत्सम्बन्धी क्या मत है? इसका स्पष्ट उल्लेख सांख्य तथा योग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है। हाँ, माधवाचार्य कृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' में सांख्य को प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों का ग्राहक "स्वतः" को ही मानने वाला कहा गया है:—

"प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ॥"

सर्वदर्शनसंग्रह जैमिनिद० पृ० २७९ ॥

इस भाँति साँख्य-मत न्याय तथा मीमांसा दोनों ही से भिन्न है। सांख्य के इसी मत का निर्देश "श्लोकवार्तिक" सूत्र में "केचिदाहुः द्वयं स्वतः" इन शब्दों द्वारा प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य और योग दोनों को 'स्वतः' मानते हैं।

इनके अतिरिक्त अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानने वाला एक पक्ष और है जिसका वर्णन करते हुये "सौगताश्चरमं स्वतः" [सर्वदर्शन-संग्रह पृ० २७९] लिखकर सर्वदर्शन-संग्रह में स्पष्ट किया गया है कि यह पक्ष बौद्धों को अभिमत है।

किन्तु बौद्ध-आचार्य शान्तरक्षित ने उपर्युक्त चारों मतों से भिन्न एक नये मत की स्थापना की है। उनके मतानुसार 'अभ्यासदशापन्नज्ञान' में प्रामाण्य और अप्रमाण्य दोनों ही 'स्वतः' तथा 'अनभ्यासदशापन्न'—ज्ञान में

दोनों ही 'परतः' हैं। "तत्त्वसंग्रह" में इस मत का अनियम-पक्ष के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है [कारिका ३१२३]।

जैनपरम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने इसी रूप में तथा आचार्य 'देवसूरि' ने उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति भेद से प्रामाण्य को स्वतः तथा परतः दोनों ही प्रकार का स्वीकार किया है:—

"तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति ।

तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौतु स्वतः परतश्चेति ॥" परीक्षामुख—१।१३॥

अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में स्वतः कहा गया है।

इस भाँति प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के स्वतस्त्व और परतस्त्व के सम्बन्ध में आस्तिक तथा आस्तिक भिन्न दर्शनों में निम्नलिखित ६ प्रकार की मान्यतायें उपलब्ध होती हैं:—

(१) न्याय-मत में—प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः हैं।

(२) सांख्य-मत में—प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं।

(३) मीमांसक-मत में—प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः है।

(४) बौद्धैकदेशी-मत में—अप्रामाण्य स्वतः तथा प्रामाण्य परतः है।

(५) बौद्ध [शान्तरक्षित]-मत में—अभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों स्वतः तथा अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों 'परतः' हैं।

(६) जैन-परम्परा में—उत्पत्ति में दोनों परतः तथा ज्ञप्ति में दोनों स्वतः हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'तर्कभाषा' में जो प्रामाण्य के विवेचन का विषय उठाया गया है वह प्रमुखतः मीमांसक कुमारिलभट्ट के "स्वतः प्रामाण्यवाद" की दृष्टि से ही उठाया गया है तथा तर्कभाषाकार द्वारा उसका निराकरण भी किया गया है। अन्य मतों की उसमें चर्चा नहीं की गयी है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि यहाँ पहले मीमांसक-मत का संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाय।

मीमांसक-मत-निरूपण

इस मत में ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री को "ज्ञातता-न्यथानुपपत्तिप्रसूता-अर्थापत्ति" कहा गया है। अभिप्राय यह है 'अयं घटः' इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' नाम का एक धर्म उत्पन्न हो जाया करता है। इस [ज्ञातता] धर्म का अस्तित्व 'अयं घटः' इस ज्ञान के होने से पूर्व विद्यमान नहीं था। यह ज्ञातता नामक धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न हुआ है। अतः ज्ञातता नामक यह धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान से जन्य

हुआ। तात्पर्य यह है कि इस ज्ञातता नामक धर्म का कारण 'अयं घटः' यह ज्ञान ही है।

"ज्ञातता" नामक इस धर्म की प्रतीती "ज्ञातो मया घटः" इस ज्ञान में होती है। 'ज्ञातता' नामक इस धर्म की उत्पत्ति उसके कारणभूत ["अयं घटः" इस] ज्ञान के विना नहीं हो सकती है। अतः 'ज्ञातता' की अन्यथा-नुपपत्ति से प्रसूता अर्थापत्ति ही इस "ज्ञातता नामक धर्म" की ग्राहिका है। फिर जब 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' द्वारा ज्ञान का ग्रहण कर लिया जायगा तब उस ["अयं घटः" इस] ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का ग्रहण भी इसी अर्थापत्ति द्वारा हो जायगा। इस भाँति ज्ञानग्राहक तथा प्रामाण्य-ग्राहक-सामग्री की समानता स्पष्ट हो जाती है। इसी का नाम "स्वतः प्रामाण्य" है तथा यही मीमांसकाभिमत मत भी है।

किन्तु नैयायिकों की दृष्टि में 'ज्ञातता' नाम का कोई पदार्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में मीमांसकों के लिये 'ज्ञातता' की सिद्धि को भी करना आव-श्यक हो जाता है। क्योंकि इस 'ज्ञातता' की सिद्धि के विना 'स्वतः प्रामाण्य' की सिद्धि होना भी संभव नहीं है। अतः मीमांसक "विषयत्वान्यथानुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति" के द्वारा 'ज्ञातता' की सिद्धि करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय घट ही है, पट आदि नहीं। इस प्रकार के 'विषय' सम्बन्धी नियम के उपपादन का आधार क्या माना जाय? इसके उपपादन का एकही आधार हो सकता है और वह है "ज्ञातता"। न्याय के अनुसार इसका उपपादन "तदुत्पत्ति-सिद्धान्त" के आधार पर किया जा सकता है। बौद्ध-आदि मतों के अनुसार इसका उपपादन "तादात्म्य" सिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है।

'तदुत्पत्ति-सिद्धान्त' से अभिप्राय है कि ज्ञान के प्रति विषय भी कारण हुआ करता है। 'अयं घटः' यह ज्ञान घट से पैदा होता है अतः 'घट-ज्ञान' का विषय 'घट' ही होता है, पट आदि नहीं। नैयायिकों के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मीमांसकों का यह कथन है कि इसमें यह दोष आता है कि जैसे 'घट-ज्ञान' के प्रति विषयरूप 'घट' कारण हुआ करता है उसी प्रकार 'घट-ज्ञान' के प्रति 'आलोक' भी कारण हो सकता है। घट से उत्पन्न होने के कारण यदि 'घट-ज्ञान' का विषय 'घट' माना जा सकता है तो 'घट-ज्ञान' तो 'आलोक' से भी उत्पन्न होता है। अतः उसका [घट-ज्ञान का] विषय 'आलोक' भी माना जाना चाहिये। किन्तु कोई भी सिद्धान्तवादी व्यक्ति 'घट-ज्ञान' का विषय 'आलोक' को मानने के लिये उद्यत

न होगा। अतः नैयायिकों के 'तदुत्पत्ति' सिद्धान्त के आधार पर 'विषय-नियम'' का उपपादन किया जा सकना संभव नहीं है।

द्वितीय 'तादात्म्य' अथवा 'तदाकारता'पक्ष बौद्धों का अथवा वेदान्त आदि का है। ज्ञान के आकार द्वारा बाह्य अर्थों का अनुमान स्वीकार करने वाला बौद्ध वैभाषिक-मत है। किन्तु सौत्रान्तिक मत के अनुसार बाह्य अर्थों का अस्तित्व स्वीकार कर ज्ञान को तज्जन्य [उनसे उत्पन्न] तदाकार स्वीकार किया जाता है। इन मतों के आधार पर 'घट' तथा 'घटज्ञान' का तादात्म्य अथवा 'तदाकारता' होने के कारण घटज्ञान का विषय 'घट' ही बनता है, पट नहीं। इन मतों के बारे में भी मीमांसक का कथन है कि 'तादात्म्य' अथवा 'तदाकारता' के आधार पर भी 'विषय' सम्बन्धी नियम का निर्धारण करना उचित नहीं है क्योंकि 'ज्ञान' और 'विषय' वस्तुतः दोनों भिन्न हैं। 'घट' आदि विषयों का तो बाह्य-अस्तित्व है तथा उससे भिन्न ज्ञान का केवल आन्तरिक अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में घट तथा घट-ज्ञान का तादात्म्य-सम्बन्ध बन ही नहीं सकता है। फिर 'घट-ज्ञान' का विषय 'घट' ही क्यों होगा ? 'पट' क्यों नहीं होगा ? अतः विषय सम्बन्धी नियम का उपपादन 'तादात्म्य' के आधार भी किया जाना संभव नहीं है।

विषय नियम सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों मतों के निरस्त हो जाने पर केवल एक ही मार्ग बनता है और वह है "ज्ञातता" घट-ज्ञान' से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता केवल 'घट' में ही रहा करती है, पट आदि में नहीं रहा करती है। अतः इस आधार पर 'घट-ज्ञान' का विषय 'घट' ही हो सकता है, पट आदि नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'ज्ञातता' के आधार पर हो विषय सम्बन्धी नियम का उपपादन किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव यह 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता' अर्थापत्ति ही इस ज्ञातता की सिद्धि में प्रमाण है।

उपर्युक्त प्रकार से जब "ज्ञातता" की सिद्धि हो जाती है तब वह "ज्ञातता" ही अपने कारणरूप ज्ञान को "ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति" द्वारा स्वयं ही सिद्ध कर दिया करती है। और इसी अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान में रहने वाले 'प्रामाण्य' का भी ग्रहण कर लिया जाया करता है। इस भाँति ज्ञान-ग्राहक-सामग्री तथा प्रमाण्य-ग्राहक-सामग्री—दोनों के एक हो जाने से "ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्" स्वतः प्रामाण्य के इस लक्षण के पूर्णरूपेण घटित हो जाने से "स्वतः प्रमाण्य" का औचित्य स्वीकार्य हो जाता है। यही मीमांसक-मत है।

नैयायिकों द्वारा की गयी ज्ञातता की असिद्धि :—

"ज्ञातता" के सम्बन्ध में नैयायिकों का कथन है कि मीमांसक घट (विषय) तथा घट-ज्ञान (विषयी) अर्थात् "विषयविषयीभाव" की सिद्धि के लिये "ज्ञातता" को स्वीकार करते हैं किन्तु वास्तविकता तो यह है कि घट तथा घटज्ञान का "विषयविषयीभाव" ज्ञातता के आधार पर न होकर 'स्वाभाविक' ही है। 'ज्ञातता' के आधार पर 'विषयविषयीभाव' को स्वीकार करने पर उसमें निम्नलिखित दो प्रकार के दोष उत्पन्न होंगे :—

(१) प्रथम दोष तो यह उत्पन्न होगा कि जो अतीत और अनागत पदार्थ हैं वे 'ज्ञान' के विषय नहीं हो सकेंगे क्योंकि मीमांसकों के मतानुसार ज्ञान का विषय वही बन सकता है कि जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार हो। वर्त्तमान ज्ञातता का आधार वर्त्तमान पदार्थ ही हो सकता है। अतीत तथा अनागत पदार्थों का वर्त्तमान-काल में कोई अस्तित्व होना ही संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में ज्ञान से उत्पन्न होने वाली "ज्ञातता' उन [अतीत तथा अनागत पदार्थों] में कैसे रह सकेगी। अतः यदि विषय-सम्बन्धी-नियम का आधार 'ज्ञातता' को माना जायगा तो अतीत तथा अनागत पदार्थ 'विषय' ही न बन सकेंगे। अतः विषय-सम्बन्धी नियम का आधार 'ज्ञातता' को मानना उचित नहीं है।

(२) दूसरा दोष 'अनवस्था-दोष' है कि जो 'ज्ञातता' के आधार पर विषय-विषयीभाव को मानने में आयेगा। मीमांसकों के मतानुसार 'ज्ञातता' ज्ञान का विषय तभी हो सकती है कि जब उस [ज्ञान] से उत्पन्न ज्ञातता उसमें विद्यमान रहे। "ज्ञातता" का भी ज्ञान मानव को होता है। अतः ज्ञातता के ज्ञान के लिये भी हमें एक दूसरे प्रकार की ज्ञातता के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में प्रथम उत्पन्न हुयी 'ज्ञातता' ही विषय बनेगी तथा इस ज्ञातता रूप विषय के उपपादन के लिये हमें दूसरी 'ज्ञातता' को स्वीकार करना होगा। फिर यह द्वितीय ज्ञातता भी ज्ञान का विषय बनेगी। तब हमें एक तृतीय 'ज्ञातता' को स्वीकार करना होगा। इसी भाँति इस तृतीय 'ज्ञातता' के लिये भी चतुर्थ आदि ज्ञातताओं को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार कोई व्यवस्था ही न रह जायगी। यही 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होगा। अतः यह द्वितीय-दोष भी 'ज्ञातता' को विषय-नियम स्वीकार करने में बाधक है।

उक्त ज्ञातता के आधार पर विषय-नियम का खण्डन :—

उक्त दोषों के आने से यह निश्चय हो जाता है कि विषय-नियम का आधार 'ज्ञातता' नहीं है अपितु घट विषय और घटज्ञान का विषयविषयीभाव

स्वाभाविक ही है। इसी आधार पर न्याय का अपना सिद्धान्त यह है कि ज्ञानविषयता के अतिरिक्त 'ज्ञातता' नामक कोई पदार्थ नहीं है। मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का मूल-आधार उक्त 'ज्ञातता' ही है तथा उस ही आधार पर वे "ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूता-अर्थापत्ति" से ही ज्ञान और प्रामाण्य दोनों का ग्रहण मानकर 'स्वतः प्रामाण्य' को सिद्ध करते हैं। किन्तु जब "ज्ञातता" नामक आधार का ही खण्डन हो गया तब उस आधार पर की गयी उपर्युक्त अर्थापत्ति की भी समाप्ति स्वयं ही हो गयी।

मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन :—

इस प्रकार उपर्युक्त विषय-नियम के खण्डित हो जाने से "स्वतः प्रामाण्य" सम्बन्धी सिद्धान्त स्वयं ही निरस्त हो गया। अतः नैयायिकों की दृष्टि से "स्वतः प्रामाण्यवाद" का सिद्धान्त पूर्णतया अमान्य ही है।

मीमांसक प्रामाण्य को "स्वतः" तथा अप्रामाण्य को "परतः" स्वीकार करते हैं। किन्तु उनके द्वारा अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करना भी उचित नहीं है क्योंकि जिस "ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूता-अर्थापत्ति" द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण उनके द्वारा स्वीकार किया जाता है उसी अर्थापत्ति द्वारा 'अप्रामाण्य' का ग्रहण भी हो जायगा। जिस प्रकार यथार्थ-ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है उसी प्रकार 'अयथार्थ-ज्ञान' से भी 'ज्ञातता' उत्पन्न होती है। अतः यथार्थ-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली 'ज्ञातता' से यदि ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों का ग्रहण किया जा सकता है तो उसी भाँति अयथार्थज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता द्वारा ही ज्ञान तथा अप्रामाण्य दोनों का भी ग्रहण एक साथ ही किया जा सकता है। अतः मीमांसकों को प्रामाण्य के ही सदृश अप्रामाण्य को भी "स्वतः" ही स्वीकार करना चाहिये। किन्तु यदि वे 'अप्रामाण्य' को 'परतः' ही स्वीकार करने के पक्ष में हैं तो उन्हें प्रामाण्य को भी "परतः' ही मान लेना चाहिये। किन्तु मीमांसक इसे स्वीकार नहीं करते हैं। वे प्रामाण्य को तो स्वतः ही मानते हैं तथा अप्रामाण्य को करण-दोष-जन्य अर्थात् परतः ही स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त स्थिति में नैयायिकों का यह कहना है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य—दोनों की वस्तुस्थिति तो एक सी है। अतः या तो दोनों को स्वतः मानना उचित है अथवा दोनों को परतः मानना ही। दोनों का परतः ही मानना अधिक समीचीन होगा। न्याय का सिद्धान्त भी यही है।

परतः प्रामाण्य का निरूपण :—न्याय-अभिमत परतः प्रामाण्य में ज्ञान-ग्राहक तथा प्रामाण्यग्राहक सामग्री पृथक् पृथक् है। ज्ञान-ग्राहक-सामग्री

तो "अनुव्यवसाय" है तथा प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य-ग्राहक सामग्री—प्रवृत्ति के साफल्य अथवा वैफल्यमूलक अनुमान हैं।

ज्ञान के ज्ञान का ही नाम "अनुव्यवसाय" है। उदाहरण—"अयं घटः" यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का विषय 'घट' है। इस प्रथम ज्ञान [घट सम्बन्धी ज्ञान अथवा घट का ज्ञान] का ही नाम "व्यवसायात्मक ज्ञान" है। घटविषयक इस ज्ञान के पश्चात् "घटज्ञानवानहम्" अथवा "घटमहं जानामि" इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। इस द्वितीय ज्ञान का विषय 'घट' नहीं हुआ करता है। इसका विषय "घटज्ञान" होता है। इस प्रकार के [घट आदि विषयक] ज्ञान के ज्ञान को "अनुव्यवसाय" कहा जाता है। इसी के द्वारा 'ज्ञान' का ग्रहण हुआ करता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब नैयायिकों के मतानुसार "अयं घटः" इस ज्ञान से 'अनुव्यवसाय' की उत्पत्ति हुआ करती है तथा 'अयं घटः' इस ज्ञान से ही मीमांसकों की 'ज्ञातता' भी उत्पन्न हुआ करती है तो फिर दोनों में अन्तर ही क्या रहा ? इसका उत्तर यह है कि :—

मीमांसकों की 'ज्ञातता' तो 'घट' [विषय] में रहने वाला धर्म है किन्तु नैयायिकों का 'अनुव्यवसाय' घट में रहने वाला धर्म नहीं है; वह तो "आत्मा" में रहने वाला धर्म है।

मीमांसक "अयं घटः" से घट में ज्ञातता की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं तथा फिर उसी 'ज्ञातता' के आधार पर विषय-नियम का निरूपण करते हैं और उस ही के आधार पर "ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति" के द्वारा ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों का ग्रहण मानकर "स्वतः प्रामाण्यवाद" को स्थापितकर 'स्वतः प्रामाण्य' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। किन्तु नैयायिक विषय-नियम को स्वाभाविक मानते हैं तथा इसी आधार पर वे "ज्ञातता" का खण्डन करते हैं। साथ ही वे ज्ञान का ग्रहण "अनुव्यवसाय" द्वारा तथा 'प्रामाण्य' का ग्रहण "प्रवृत्तिसाफल्यमूलक-अनुमान" द्वारा स्वीकार कर "परतः प्रामाण्यवाद" को स्थापितकर उसी के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये उसीको सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि :—

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्त्तते। कश्चित्तु संदेहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।

(इदानीम्) अब (इदम्) यह [प्रामाण्यवाद] (निरूप्यते) निरूपण किया जाता है कि (जलादिज्ञाने) जल आदि का ज्ञान (जाते) हो जाने

पर (कश्चित्) कोई [अनभ्यास-दशा में ही] (तस्य) उसके (प्रामाण्य-मवधार्य) प्रामाण्य का निश्चय करके (जलादौ) जल आदि [के ग्रहण अथवा त्याग] में (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होता है। (तु) किन्तु (कश्चित्) कोई [प्रामाण्य का निश्चय किये विना ही] (सन्देहादेव) सन्देह से ही (प्रवृत्तः) प्रवृत्त होकर (प्रवृत्ति-उत्तरकाले) प्रवृत्ति के पश्चात् (जलादि-प्रतिलम्भे सति) जल आदि की प्राप्ति हो जाने पर (प्रामाण्यम्) [तत्सम्बन्धी ज्ञान के] प्रामाण्य का (अवधारयति) निश्चय [अभ्यासदशापन्न रूप से] करता है। (इति) यह (वस्तुगतिः) वस्तुस्थिति है।

शास्त्रों में ज्ञान के प्रामाण्य को दो प्रकार का माना गया है (१) स्वतः प्रामाण्य। (२) परतः प्रामाण्य। इन दो प्रकार के ज्ञान सम्बन्धी प्रामाण्यों के स्वीकार करने का कारण लोक की वस्तुस्थिति ही है। अतः लोक की इसी वस्तुस्थिति के बारे में तर्कभाषाकार कहते हैं :—

लोक में इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है कि कोई भी व्यक्ति जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है यदि उस वस्तु के ज्ञान को वह अपने लिये हितकर समझा करता है तो उस वस्तु के ज्ञान को स्वीकार करने का विचार उसके अन्दर उत्पन्न हुआ करता है [इसी को शास्त्रीय शब्दों में "उपादान बुद्धि" अर्थात् स्वीकारकर लेने का निश्चय—कहा जाता है।]। यदि वह उस वस्तु को अपने लिये हानिप्रद समझा करता है तो उसका त्याग करने सम्बन्धी विचार उसके अन्दर उत्पन्न हुआ करता है [शास्त्रीय शब्दों में उसे "हानबुद्धि" अर्थात् त्याग देने का निश्चय—कहा जाता है।] यदि उसके मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न होता है कि अमुक वस्तु से हमारा हित अथवा अहित कुछ भी होने वाला नहीं है तो वह उस वस्तु की ओर से तटस्थ अथवा उदासीन हो जाया करता है [इसी को शास्त्रीय शब्दों में "उपेक्षा-बुद्धि" अर्थात् तटस्थता अथवा उदासीनता का भाव—कहा जाता है।]। यह 'हानोपादानोपेक्षा-बुद्धि" ही मानवमात्र की प्रवृत्ति का कारण हुआ करती है। "प्रवृत्ति" शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के ग्रहण अथवा त्याग कर देने के लिये प्रयत्न करना। इसी प्रवृत्ति के आधार पर मानव या तो किसी भी कार्य को ग्रहण करने अथवा उसका त्याग करने अथवा उसके प्रति उदासीन रहने में प्रवृत्त हुआ करता है। इस प्रकार का ज्ञान ही हमारी प्रवृत्ति के प्रति निमित्त हुआ करता है।

संसार में हमको यह प्रतिदिन देखने को मिला करता है कि सांसारिक पुरुष या तो यथार्थ ज्ञान के आधार पर कुछ करने में प्रवृत्त हुआ करते हैं अथवा

संशय-ज्ञान के आधार पर। मानव जब बार-बार किसी वस्तु को देख लिया करता है तो उस वस्तु से सम्बन्धित अपने ज्ञान को प्रामाणिक समझा करता है। तब यदि उसे उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है तो वह उसकी प्राप्ति के निमित्त प्रवृत्त हुआ करता है। ऐसी प्रवृत्ति का आधार उसका 'यथार्थ-ज्ञान' ही होता है।

कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति संभावना के आधार पर ही किसी कार्य के करने में प्रवृत्त हुआ करता है। उसकी इस संभावना का आधार उसका संशयात्मक-ज्ञान हुआ करता है। ऐसे ज्ञान में उसे सफलता भी प्राप्त हो सकती है और असफलता भी। यदि उसे सफलता उपलब्ध होती है तो वह अपनी तत्सम्बन्धी प्रवृत्ति को 'सफलप्रवृत्ति' मानता है। इस सफलप्रवृत्ति को ही शास्त्रीय भाषा में "समर्थप्रवृत्ति" [प्रवृत्तिसामर्थ्य अर्थात् ज्ञान के अनुकूल प्रवृत्ति] कहा जाता है। इस सफलप्रवृत्ति के आधार पर वह व्यक्ति अपने ज्ञान को प्रामाणिक समझ लिया करता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की स्थितियों का साक्षात् रूप से अनुभव होने के कारण यह संदेह उत्पन्न हो जाया करता है कि क्या प्रवृत्ति से पूर्व ही तत्सम्बन्धी ज्ञान का प्रामाण्य हो जाता है अथवा प्रवृत्ति के अनन्तर तत्सम्बन्धी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है ?

ऊपर हमने दो प्रकार के ज्ञानों के आधार पर दो प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति "अभ्यासदशापन्न-ज्ञान" की स्थिति में हुआ करती है तथा दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति "अनभ्यासदशापन्न-ज्ञान" की स्थिति में। अभ्यासदशापन्न [अर्थात् अभ्यास दशा को प्राप्त] ज्ञान उसे कहा जाता है कि जिसके हम अभ्यासी हो जाया करते हैं। जैसे अपने घर के प्रत्येक कमरे आदि का हमारा ज्ञान "अभ्यासदशापन्न-ज्ञान" ही है। ऐसे स्थलों पर प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाया करता है। एतत्सम्बन्धी विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

'अभ्यासदशापन्न-ज्ञान' से भिन्न प्रकार के ज्ञान को "अनभ्यासदशापन्न-ज्ञान" कहा जाता है।

अब इस विषय में मीमांसक का यह कथन है कि यदि प्रवृत्ति के पूर्व ही प्रामाण्य का अवधारण कर लिया जायगा तब तो प्रवृत्ति की सफलता 'प्रामाण्य' की अनुमापक नहीं हो सकेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रवृत्तिसाफल्य-मूलक-अनुमान' के आधार पर नैयायिक प्रामाण्य का ग्रहण स्वीकार करते हैं, वह उचित प्रतीत नहीं होता है :—

अत्र कश्चिदाह—प्रवृत्तेः प्रागेव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः—येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्। अनधिगतेधर्मिणि सन्देहानुदयात्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते। ततः पुरुषः प्रवर्त्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

(अत्र) यहाँ [अर्थात् इस विषय में] (कश्चित्) कोई [भाट्ट मीमांसक] (आह) कहता है कि (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति के (प्राक् एव) पूर्व ही (प्रामाण्य-अवधारणात्) प्रामाण्य का निश्चय हो जाने से [प्रवृत्ति की सफलता प्रामाण्य का अनुमापक नहीं हो सकती है।] (अस्य) इसका (अर्थः) अर्थ यह है कि (येन) जिस [सामग्री] के द्वारा (यत्) जिस (ज्ञानम्) ज्ञान (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (तेन एव) उसही [सामग्री] के द्वारा (तद्गतम्) उस [ज्ञान] में रहने वाले (प्रामाण्यं अपि) प्रामाण्य का भी ग्रहण कर लिया जाता है। (ज्ञानग्राहकात्) ज्ञान के ग्राहक से (अन्यत्) भिन्न (ज्ञानधर्मस्य) ज्ञान के धर्मभूत (प्रामाण्यस्य) प्रामाण्य का (ग्राहकम्) ग्राहक (अन्यत् न) दूसरा नहीं है [कहने का तात्पर्य यह है कि नैयायिक जो ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' द्वारा तथा प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्ति-साफल्य-मूलक-अनुमान' द्वारा सिद्ध करते हैं, वह ठीक नहीं है।] (तेन) इसलिये [ज्ञानग्राहक और प्रामाण्य-ग्राहक सामग्री एक होने से] (ज्ञान-ग्राहकातिरिक्त-अनपेक्षत्वम्) ज्ञान ग्राहक [सामग्री] से अतिरिक्त [सामग्री] की [प्रामाण्यग्रह के लिये दूसरी सामग्री] की अपेक्षा न होने से (प्रामाण्यस्य) प्रामाण्य का (स्वतस्त्वं एव) स्वतोग्राह्यत्व ही है।

(च) और (ज्ञानम्) ज्ञान तो (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति से (पूर्वमेव) पहले ही (गृहीतम्) गृहीत हो जाता है। (अन्यथा) अन्यथा [यदि ज्ञान का ग्रहण पहले गृहीत न हो सकता हो तो ज्ञानरूप धर्मी का ग्रहण हुये बिना ही] (प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहः) प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सन्देह (अपि) भी (कथं स्यात्) कैसे हो सकेगा? (धर्मिणि) धर्मीरूप [ज्ञान] के ज्ञान के (अनधिगते) अज्ञात होने पर [उस ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य रूप धर्म का (सन्देह-अनुदयात्) सन्देह का उदय ही नहीं हो सकता है।

(तस्मात्) इसलिये (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति के (पूर्वमेव) पहले [अनभ्यास-दशा में] ही (ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या) ज्ञातता [रूप कार्य] की अन्यथा [ज्ञानरूप कारण के विना] अनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति के द्वारा (ज्ञाने) ज्ञान का (गृहीते) ग्रहण हो जाने पर (ज्ञानगतम्) ज्ञान में रहने वाले (प्रामाण्यं अपि) प्रामाण्य का भी (अर्थापत्त्या एव) उसी अर्थापत्ति के द्वारा ही (गृह्यते) ग्रहण हो जाता है। (ततः) तदनन्तर (पुरुषः) पुरुष (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होता है। (न तु) न कि (प्रथमम्) पहले (ज्ञान-मात्रम्) केवल ज्ञान (गृह्यते) ग्रहीत होता है (ततः) और उसके बाद (प्रवृत्त्युत्तरकाले) प्रवृत्ति के उत्तरकाल में (फलदर्शनेन) फल को देखकर (ज्ञानस्य) ज्ञान के (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य का (अवधार्यते) निश्चय होता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा तीन बातों पर प्रकाश डाला गया है :—(१) मीमांसक के अनुसार किसी भी कार्य आदि में प्रवृत्त होने से पूर्व ही तत्सम्बन्धी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। (२) मीमांसक को अभिमत 'स्वतः प्रामाण्य' के स्वरूप का दिग्दर्शन तथा (३) मीमांसक के अनुसार प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य के ग्रहीत हो जाने सम्बन्धी युक्ति का विवेचन।

अब हम इन उपर्युक्त तीनों बातों का क्रमशः विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं:—

(१) पहले हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि लोक में जो दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं उनके आधार पर निम्नलिखित दो प्रकार के विकल्पों की कल्पना की जा सकती है प्रथम तो यह कि (१) ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कर लेने के अनन्तर ही व्यक्ति की प्रवृत्ति किसी भी कार्य के करने में हुआ करती है। (२) द्वितीय यह कि प्रवृत्ति के अनन्तर ही प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है। इन दोनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प ही मीमांसकों को अभिमत है। उनका कथन है कि प्रामाण्य का निश्चय हो जाने के बाद ही व्यक्ति की प्रवृत्ति किसी कार्य के करने में हुआ करती है। उनके अनुसार ज्ञानों का प्रामाण्य तो स्वतः ही हो जाया करता है अर्थात् प्रामाण्य स्वतो-ग्राह्य है। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रामाण्य के स्वतोग्राह्य होने से यह कैसे सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाया करता है ? इसको समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले यह जान लें कि प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का स्वरूप क्या है ? अतः अब यहाँ इसी बात को स्पष्ट करते हैं:—

(२) ज्ञान के प्रामाण्य का अर्थ है "ज्ञान की यथार्थता।" वस्तुतः प्रामाण्य तो ज्ञान का धर्म है तथा ज्ञान उसका धर्मी है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान (धर्मी) के अन्दर प्रामाण्यरूप धर्म रहा करता है [क्योंकि "धर्ममस्यास्तीति धर्मी" के अनुसार 'धर्म' धर्मी में ही रहा करता है। प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता से अभिप्राय यह है कि जिस कारण-सामग्री के द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाता है उसी [सामग्री] के द्वारा उस ज्ञान से सम्बन्धित 'धर्म' अर्थात् 'प्रामाण्य' का भी ग्रहण हो जाया करता है। तात्पर्य यह है ज्ञानग्राहक तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री का एक ही होना स्वतोग्राह्यत्व है। यही स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप है। इस आधार पर 'ज्ञान' नामक धर्मी तथा 'प्रामाण्य' नामक उस [ज्ञान] के धर्म का ग्रहण एक ही सामग्री अथवा साधन के द्वारा हो जाया करता है। ऐसा नहीं होता कि किसी एक सामग्री द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाय और तदनन्तर किसी अन्य साधन द्वारा उसके 'प्रामाण्य' का ग्रहण किया जाय। जैसा कि नैयायिक मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक ही हुआ करती है। इस ही सिद्धान्त को 'स्वतः ग्राह्य' कहा जाता है। इसी के स्पष्ट करने के लिये तर्कभाषाकार ने लिखा है :—

"ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य"।

अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण करने के लिये ज्ञान-ग्राहक सामग्री से अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा न होना ही 'स्वतः प्रामाण्य' है। मीमांसक के मतानुसार 'ज्ञातता' द्वारा [अर्थापत्ति से] ज्ञान का ग्रहण हो जाया करता है तथा उसी अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान में रहने वाले 'प्रामाण्य' का भी ग्रहण हो जाया करता है। अतः उक्त 'प्रामाण्य' के ग्रहण करने हेतु उक्त अर्थापत्ति से भिन्न किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। प्रामाण्य सम्बन्धी 'स्वतोग्राह्यत्व' यही है।

(३) यह स्वीकार कर लेने पर भी, कि "उक्त 'अर्थापत्ति' द्वारा ज्ञान तथा 'प्रामाण्य' दोनों का ग्रहण हो जाता है", यह प्रश्न विद्यमान रहता ही है कि मीमांसक लोग तो 'प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान का ग्रहण मानते हैं', इस बात को स्वीकार करने में उनकी क्या युक्ति है? इसका उत्तर यह है कि यदि प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान का ग्रहण न हो जाया करता तो किसी भी ज्ञान के 'विषय' में इस प्रकार के सन्देह की उत्पत्ति ही न हुआ करती कि अमुक ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ। जैसे सायंकाल के समय किसी व्यक्ति ने दूर से ही किसी स्थाणु को देखा। दूरी के कारण वह यह निश्चय ही न कर सका

कि "यह स्थाणु है अथवा पुरुष है ?" अतः उसके मन में यह संशय उत्पन्न हुआ कि "उसका स्थाणु विषयक ज्ञान प्रामाणिक है अथवा अप्रामाणिक ?" इस उदाहरण में उस व्यक्ति के स्थाणुविषयक ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का संशय उसको होता है। प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही 'ज्ञान' के 'धर्म' हैं। यदि उस व्यक्ति को ज्ञान का ग्रहण न हुआ होता तो उस ज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रकार का संशय भी उत्पन्न न हुआ होता। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि जिस धर्मी का ज्ञान नहीं हुआ करता है उस [धर्मी] के धर्म के विषय में भी सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ करता है। जैसे कि उस व्यक्ति ने यदि 'स्थाणु' सदृश प्रतीत होने वाले पदार्थ [धर्मी] को ही न देखा होता तो उसको इस प्रकार का सन्देह भी नहीं हो सकता था कि यह "स्थाणु है अथवा पुरुष" ? इस प्रकार का सन्देह प्रवृत्ति से पूर्व ही उत्पन्न हुआ करता है। अतः यह भी निश्चित हो जाता है कि प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान का ग्रहण हो जाया करता है। ज्ञान के इस ग्रहण के साथ ही साथ ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाया करता है।

भाट्ट-मीमांसक के मतानुसार ज्ञान का ग्रहण 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण के द्वारा हुआ करता है। देखे गये अथवा सुने गये अर्थ की अन्यथानुपपत्ति से जहाँ उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण हुआ करता है। इस स्थल पर ज्ञातता [रूप कार्य] की अन्यथा [ज्ञानरूप कारण के विना] उपपत्ति न होने से उत्पन्न अर्थापत्ति [अर्थात् 'ज्ञातता-न्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति) के द्वारा अर्थान्तर की कल्पना की जाती है। जैसे—इन्द्रिय तथा घटरूप अर्थ के सन्निकर्ष से "अयं घटः" इत्यादि ज्ञान होता है। यह ज्ञान 'घट' में ही किसी धर्म की उत्पत्ति कर दिया करता है जिसे हम 'ज्ञातता' नाम से कहा करते हैं। 'ज्ञातता' का अर्थ है "जना गया हुआ होना"। इस ज्ञातता के आधार पर ही हमको "मया घटो ज्ञातः" इस प्रकार की अनुभूति हुआ करती है। यही घट-ज्ञान का ज्ञान है। अर्थात् "मैंने घड़े को जान लिया है" यही घड़े के ज्ञान का ज्ञान है। अतः उक्त ज्ञानता की उत्पत्ति ज्ञान से हुयी। अतएव ज्ञातता का कारण ज्ञान हुआ। इससे स्पष्ट हुआ कि ज्ञातता नामक धर्म [अन्यथा-अर्थात्] ज्ञान के विना [अनुपपन्न अर्थात्] नहीं बन सकता है। अतः इस ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से अन्य अर्थ [अर्थात् ज्ञान] की कल्पना ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से [प्रसूत] उत्पन्न हुआ करती है। एतत् नामक अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण हुआ करता है। और इसी अर्थापत्ति के द्वारा उस ज्ञान में रहने वाले

प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाया करता है। भाट्ट-मीमांसकों की दृष्टि में ज्ञान की अर्थबोधकता का ही नाम प्रामाण्य है। अतएव भाट्ट-मीमांसक के अनुसार प्रवृत्ति के पूर्व ही उक्त अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान तथा ज्ञान के [धर्म] प्रामाण्य-दोनों का ग्रहण हो जाया करता है। अतः ज्ञान सम्बन्धी प्रामाण्यों का स्वतो-ग्राह्य होना स्पष्ट ही है।

यह भाट्ट-मीमांसकों द्वारा विवेचित पूर्वपक्ष हुआ।

नैयायिक द्वारा उक्त मत का निराकरणः—

अब नैयायिक द्वारा उपर्युक्त मत का निराकरण किया जाता है। नैयायिक भाट्टमीमांसक के उपर्युक्त सिद्धान्त का विभाजन तीन भागों में करते हैं तथा उनका क्रमशः खण्डन भी प्रस्तुत करते हैं। ये तीन भाग हैं (१) ज्ञातता तथा उसके द्वारा किया जाने वाला ज्ञान का ग्रहण; (२) ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति का निराकरण, तथा (३) उसी आधार पर प्रामाण्य सम्बन्धी 'स्वतोग्राह्यत्व' का खण्डन।

अत्रोच्यते। ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव। तथा हि इदं किल परस्याभिमतम्। घटादिविषये ज्ञाने जाते "मया ज्ञातोऽयं घटः, इति घटस्य ज्ञातता प्रति सन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जातः इत्यनुमीयते। स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यते इत्यवधार्यते। एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यत इति।

(१) ज्ञातता तथा उसके द्वारा किया जाने वाला ज्ञान का ग्रहण :—

(अत्र) इस विषय में [अर्थात् उपर्युक्त भाट्ट-मीमांसक के सिद्धान्त के बारे में] (उच्यते) कहते हैं—(ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतया) ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न (अर्थापत्त्या) अर्थापत्ति के द्वारा (ज्ञानम्) ज्ञान का (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (इति) इस प्रकार से (यत्) जो (उक्तम्) कहा गया है (तत् एव) उसको ही (वयम्) हम [नैयायिक] (न मृष्यामहे) नहीं मान सकते हैं (तया) [फिर] उस [अर्थापत्ति] के द्वारा (प्रामाण्यग्रहः तु) प्रामाण्य का ग्रहण किया जाना तो (दूरतः एव) दूर की ही बात है। [तथा हि] जैसे कि (परस्य) [इस विषय में पूर्वपक्षी] दूसरे [भाट्ट-मीमांसक के पूर्वपक्ष] का (इदं अभिमतं किल) को स्वीकृत मत तो

यह है कि (घट-आदि) घट-आदि (विषये) विषयक (ज्ञाने) ज्ञान के (जाते) होने पर (मया ज्ञातोऽयं घटः) 'मैंने यह घड़ा जान लिया' (इति) इस प्रकार (घटस्य) घट की (ज्ञातता) ज्ञातता (प्रतिसन्धीयते) जानी जाती है। (तेन) उससे (इति) ऐसा (अनुमीयते) अनुमान किया जाता है कि (ज्ञाने जाते सति) ज्ञान के हो जाने पर [घट में] [ज्ञातता नाम] ज्ञातता नाम का (कश्चित् धर्मः जातः) कोई धर्म उत्पन्न हो गया है। (च) और (सः) वह [ज्ञातता नाम का धर्म] (ज्ञानात्) ज्ञान से (पूर्वम्) पूर्व [पहले] (अजातत्वात् उत्पन्न न होने (च) और (ज्ञाने जाते) ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् ही (जातत्वात्) उत्पन्न होने से (अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्) अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा (ज्ञानेन) ज्ञान से (जन्यते) उत्पन्न हुआ करता है (इति) ऐसा (अवधार्यते) निश्चय किया जाता है। (एवम्) इस प्रकार (ज्ञानजन्यः) ज्ञान से उत्पन्न (असौ) यह (ज्ञातता नाम धर्मः) ज्ञातता नामक धर्म (ज्ञानम्) ज्ञान के (अन्तरेण) विना (न उपपद्यते) उपपन्न नहीं होता है (कारणाभावे) कारण का अभाव होने पर (कार्य अनुदयात्) कार्य के उत्पन्न न होने से। (तेन) इसलिये (ज्ञाततया) ज्ञातता, (अर्थापत्त्या) अर्थापत्ति के द्वारा (स्वकारणम्) अपने कारण (ज्ञानम्) ज्ञान का (आक्षिप्यते) आक्षेप कराती है।

मीमांसक के मतानुसार जब हम घट आदि विषय का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमें "अयं घटः" [यह घड़ा है।] इस प्रकार का ज्ञान हुआ करता है। इसके अनन्तर "ज्ञातोमया अयं घटः" [अर्थात् मैंने इस घड़े को जान लिया] इस प्रकार की प्रतीति हुआ करती है। इस प्रतीति में घट में उत्पन्न होनेवाली 'ज्ञातता' का मान होता है! इस ज्ञातता [जाना गया होना] की अनुभूति प्रत्यक्षरूप से ही हुआ करती है। किन्तु ज्ञातता सम्बन्धी इस प्रकार की अनुभूति का होना तभी संभव है कि जब 'घट' में 'ज्ञातता' नाम का कोई धर्म विद्यमान रहता हो। अतः उक्त स्थिति में ऐसा अनुमान किया जाता है कि घट का ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान से घट [विषय] में ज्ञातता नामक कोई धर्म उद्भूत हो गया है। अथवा यह भी समझा जा सकता है कि उस ज्ञान से ही विषय [घट आदि] में ज्ञातता की उत्पत्ति हो जाया करती है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उक्त प्रकार के अनुमान का आधार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर तर्कभाषाकार द्वारा "स च······अवधार्यते" इस वाक्य द्वारा दिया गया है। तात्पर्य यह है कि 'घट ज्ञान' से पूर्व "ज्ञातोऽयं घट." ऐसी प्रतीति नहीं हुआ करती है। घट-ज्ञान हो जाने पर ही उक्त प्रतीति हुआ करती है। अतः घट-ज्ञान होने पर ही 'ज्ञातता' की

प्रतीति का होना (अन्वय) तथा ज्ञान के अभाव में ज्ञातता की प्रतीति का न होना (व्यतिरेक) इस अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा यह निश्चय कर लिया जाता है कि घट-ज्ञान से घट में कोई नवीन धर्म उत्पन्न हो गया है। इस धर्म की अनुभूति "ज्ञातोऽयं घटः" इस रूप में हुआ करती है। अतः इस धर्म को ही "ज्ञातस्य भावः" [ज्ञात का होना] 'ज्ञातता' नाम से कहा गया है।

इस ज्ञातता की उत्पत्ति ज्ञान से होती है। अतः ज्ञातता 'कार्य' है और 'ज्ञान' उसका 'कारण'। ज्ञातता का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से हुआ करता है किन्तु ज्ञान की प्रतीति प्रत्यक्षरूप से नहीं हुआ करती है। ज्ञान की प्रतीति तो 'अर्थापत्ति' द्वारा होती है। कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। ज्ञान का कार्य 'ज्ञातता' है। उसकी उत्पत्ति उसके कारणभूत ज्ञान के विना होना सम्भव नहीं है। अतः 'ज्ञातता' की अन्यथा [अर्थात् ज्ञान के विना] अन-उपपत्ति [अर्थात् सिद्धि न होने] से ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है। अतः भाट्ट मीमांसक के मतानुसार ज्ञान का ग्रहण "ज्ञाततान्यथानुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्ति" द्वारा ही होता है, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं।

उपर्युक्त विवरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति का आधार "ज्ञातता" ही है। अतः नैयायिक द्वारा 'ज्ञातता' का ही खण्डन किया जाना आवश्यक हो जाता है :—

'ज्ञातता' नामक धर्म की उत्पत्ति का निराकरण :—

सिद्धान्ततः इस निराकरण को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (अ) ज्ञान की विषयता से भिन्न ज्ञातता नाम का कोई पदार्थ नहीं है। (ब) ज्ञान की विषयता का नियामक 'ज्ञातता' को स्वीकार करने में दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। पहले हम उक्त निराकरण के प्रथम भाग को लेते हैं—

न चैतद्युक्तम्। ज्ञानविषयातिरिक्ताया ज्ञातताया अभावात्।

ज्ञान की विषयता से भिन्न ज्ञातता नामक किसी पदार्थ का न होना— (एतत्) [ज्ञातताविषयक भाट्टमीमांसक का उपर्युक्त] यह मत (युक्तम्) ठीक (न) नहीं है। (ज्ञानविषयतातिरिक्ताया) ज्ञान-विषयता [ज्ञान का विषय होना] के अतिरिक्त (ज्ञाततायाः) ज्ञातता [नामक पदार्थ] का (अभावात्) अभाव होने से।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मीमांसक के सिद्धान्तानुसार घट-ज्ञान के द्वारा घट आदि में एक नवीन धर्म उत्पन्न हो जाया करता है

जिसे 'ज्ञातता' नाम से कहा जाता है। इस ज्ञातता के सम्बन्ध में नैयायिक का कहना यह है कि ज्ञानविषयता [ज्ञान का विषय होना] के अतिरिक्त 'ज्ञातता' नामक कोई पदार्थ नहीं हुआ करता है। कोई भी घड़ा "अयं घटः" [यह घड़ा है] इस प्रकार के ज्ञान विषय हैं। इसी को घट की ज्ञातता कहा अथवा समझा जा सकता है। इससे भिन्न 'ज्ञातता' नाम का कोई पदार्थ है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

नैयायिक के द्वारा कथित उपर्युक्त बात का श्रवण कर भाट्ट-मीमांसक कहता है कि ज्ञानविषयता का ही नाम ज्ञातता नहीं है। ज्ञातता तो ज्ञानविषयता से भिन्न एक विशिष्ट धर्म है कि जो ज्ञानविषयता का निमित्त हुआ करता है। अतएव ज्ञानविषयता को ज्ञातता का कार्य कहा जा सकता है अथवा ज्ञातता को ज्ञानविषयता का कारण कहा जा सकता है। अपने इसी कथन की पुष्टि में भाट्ट मीमांसक अपने पक्ष को पुनः स्थापित करते हुये कहते हैं:—

ननु ज्ञानजनितज्ञाततताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथा हि न तावत् तादात्म्येन विषयता विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः; इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते। ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञातता सिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

(ज्ञानजनितज्ञाततताधारत्वम्) ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार होना (एव) ही (घटादेः) घट आदि का (ज्ञानविषयत्वम्) ज्ञानविषयत्व [ज्ञान का विषय होना अथवा ज्ञान विषयता] है। (तथा हि) क्योंकि (विषयविषयिणोः घटज्ञानयोः) विषय [घट] और विषयी [ज्ञान] का (तादात्म्य-अनभ्युपगमात्) तादात्म्य स्वीकृत न होने के कारण (तादात्म्येन) तादात्म्य [सम्बन्ध] से विषयता (न) नहीं बन सकती है। यदि (तदुत्पत्त्या) तदुत्पत्ति [जिस वस्तु से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय है ऐसा मान लिया जाय) से (विषयत्वे) विषयता मान ली जाये तो (इन्द्रियादेः अपि) इन्द्रिय आदि [आदि पद से आलोक] से भी (तस्य ज्ञानस्य) उस ज्ञान की (उत्पत्तेः) उत्पत्ति होने से (इन्द्रियादेः अपि) इन्द्रिय आदि का भी (विषयत्वापत्तिः) विषयत्व होने लगेगा [अर्थात् इन्द्रिय तथा आलोक आदि भी घट-ज्ञान के विषय कहलाने लगेंगे।] (तेन) इसलिये [तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति अथवा अन्य किसी भी प्रकार से विषय नियम का उपपादन सम्भव न होने से] (इदं अनुमीयते) यह

अनुमान किया जाता है कि (ज्ञानेन) ज्ञान ने (घटे) घट में (किञ्चित्) कुछ [ज्ञातता रूप धर्म] (जनितम्) उत्पन्न कर दिया है (येन) जिसके कारण (घट एव) घट ही (तस्य) उस (ज्ञानस्य) ज्ञान का (विषयः) विषय होता है, (अन्यः न) अन्य [पट आदि] (न) नहीं। (इति अतः) अतएव (विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतया) विषयता की अन्यथा [अर्थात् ज्ञातता के विना] अनुपपत्ति [सिद्धि न होने] से उत्पन्न (अर्थापत्त्या) अर्थापत्ति [प्रमाण] द्वारा (एव) ही (ज्ञातता सिद्धिः) ज्ञातता की सिद्धि होती है, (प्रत्यक्षमात्रेण) केवल प्रत्यक्ष से ही (न) नहीं।

भाट्टमीमांसक के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ अथवा वस्तु में ज्ञातता रहा करती है वह वस्तु अथवा पदार्थ ही किसी ज्ञान का विषय कहा गया है। ज्ञातता से ज्ञानविषयता की उत्पत्ति होती है। अतः ज्ञानविषयता ज्ञातता का कार्य हुआ। इस ज्ञानविषयता से भी अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता की सिद्धि हुआ करती है।

इस विवेचन में विचारणीय विषय तो यह है 'घट' को 'घट-ज्ञान' का विषय किस आधार पर स्वीकार किया जाय? जो भी आधार बनेगा वही विषयता का नियामक होगा। भारतीय-दर्शनों में उक्त विषयता के नियामक के रूप में प्रायः दो प्रकार के निमित्तों अथवा आधारों को स्वीकार किया गया है (१) तादात्म्य तथा (२) तदुत्पत्ति। 'तादात्म्य' से अभिप्राय होता है तद्रूपता अथवा तदाकारता का। घट-ज्ञान आदि का घट आदि के साथ तादात्म्य है। अतः घट आदि ही घट-ज्ञान आदि के विषय कहे जाते हैं। घट-ज्ञान घट के ही साथ ज्ञात होता है, पट के साथ ज्ञात नहीं होता। अतः घट में ही घटज्ञान का तादात्म्य संभव है, पट आदि में नहीं। अतएव घट ही घटज्ञान का विषय हुआ करता है, पट आदि नहीं।

ज्ञान तथा विषय के तादात्म्य के भी दो प्रकार माने गये हैं। प्रथम प्रकार तो विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि घट आदि प्रत्येक बाह्य-पदार्थ, घट-ज्ञान आदि के ही आकार हैं। अतः घट आदि का घट-ज्ञान आदि के साथ अभेद अथवा तादात्म्य निश्चित है। घट आदि पदार्थ जिस घट ज्ञान आदि के आकार हुआ करते हैं, वे घट आदि ही उस घट-ज्ञान आदि के विषय भी कहलाते हैं।

सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदायवादियों को दूसरा प्रकार अभिमत है। उनका मत यह है कि घट आदि बाह्य-विषयों की सत्ता घट-ज्ञान आदि से पृथक है। घट आदि विषयों के द्वारा घट आदि के आकार का ही ज्ञान दर्शक को हुआ करता है। परिणामस्वरूप जिस पदार्थ के आकार का ज्ञान हुआ करता है

वही पदार्थ तत्सम्बन्धी ज्ञान का 'विषय' भी कहा जाया करता है, अन्य नहीं।

वेदान्त तथा योगदर्शनों की दृष्टि से भी बुद्धि विषय के आकार में परिणत हो जाया करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रष्टा की बुद्धि ही विषयाकारिता में परिणत हो जाया करती है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि तादात्म्य अथवा तदाकारता द्वारा ही ज्ञानविषयता का नियमन हो जायगा। अतः ज्ञानविषयता के नियमनार्थ 'ज्ञातता' नामक धर्म की कल्पना करना असंगत ही है।

इस पर भाट्ट मीमांसक का कहना है कि उपर्युक्त तादात्म्य अथवा तदाकारता द्वारा ज्ञान-विषयता का नियमन किया जा सकना संभव ही नहीं है क्योंकि ज्ञान के विषय जो 'घट' आदि पदार्थ हैं, वे सभी बाह्य-पदार्थ हैं, अर्थात् घट आदि विषयों की स्थिति तो शरीर से बाहर ही है और घट-ज्ञान आदि विषयी [जिसका कोई विषय हुआ करता है।] की स्थिति आन्तरिक है। फिर जब दोनों [घट 'विषय' तथा घटज्ञान 'विषयी'] की स्थिति पृथक-पृथक स्थलों पर अवस्थित है तो फिर दोनों का तादात्म्य अथवा तदाकारता का हो सकना कैसे संभव हो सकता है ? अतः तादात्म्य के आधार पर ज्ञान-विषयता की व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना अनावश्यक न होगा कि तादात्म्य द्वारा ज्ञान की विषयता का नियमन किया जाना न तो मीमांसक को ही स्वीकृत है और न नैयायिक को ही। अतः दोनों ही पक्षों की दृष्टि में 'तादात्म्य' को विषयता का नियामक कहा जाना अभीष्ट नहीं है।

अब रहा विषयता के नियामक के रूप में 'तदुत्पत्ति' नामक आधार का स्वीकार किया जाना। 'तदुत्पत्ति' का अर्थ है—"तस्माद् उत्पत्ति" अर्थात् उससे उत्पत्ति। तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान की उत्पत्ति जिस पदार्थ से होती है वह पदार्थ ही तत्सम्बन्धी ज्ञान का विषय हुआ करता है, अन्य नहीं। जैसे-घट-ज्ञान घट से ही उत्पन्न होता है, पट से नहीं। अतः घट ही घटज्ञान का विषय हो सकता है, पट आदि नहीं। अतएव प्रत्येक ज्ञान के उत्पादकत्व के आधार पर उस उस ज्ञान के विषयत्व का नियमन हो जायगा। ऐसी स्थिति में ज्ञान की विषयता (अथवा विषयत्व) के नियमनार्थ 'ज्ञातता' की कल्पना किया जाना असंगत ही है।

मीमांसक का कथन है कि 'तदुत्पत्ति' सम्बन्धी उक्त आधार भी विषयता का नियामक नहीं हो सकता है क्योंकि घट के चाक्षुषज्ञान का उत्पादक घट

होगा और तदुत्पत्ति के सिद्धान्तानुसार वह घट ही उस ज्ञान का विषय होगा। इसी प्रकार चक्षु और आलोक (प्रकाश) को भी उक्त ज्ञान का विषय मानना होगा क्योंकि चक्षु तथा आलोक भी उक्त ज्ञान के उत्पादक हैं। किन्तु चक्षु तथा आलोक को उक्त ज्ञान का विषय नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः आत्मा, मन और इन्द्रिय को भी ज्ञान का उत्पादक मानना होगा तथा ये भी ज्ञान के विषय हो जावेंगे किन्तु इन सबको भी ज्ञान का विषय नहीं माना जाता है। अतः 'तदुत्पत्ति' के आधार पर भी ज्ञान की विषयता का नियमन किया जाना संभव नहीं है।

ऐसी स्थिति में कुमारिल भट्ट का यह कहना है कि ज्ञान की विषयता का तादात्म्य, तदुत्पत्ति आदि किसी अन्य नियामक के सिद्ध न होने के कारण यह अनुमान कर लिया जाता है कि घट आदि पदार्थों के ज्ञान से उन उन पदार्थों में किसी धर्म की उत्पत्ति हुआ करती है। और उस धर्म का आश्रय घट आदि पदार्थ हुआ करते हैं। अतः आश्रय होने से ही घट आदि पदार्थ घट-ज्ञान आदि ज्ञानों के विषय हो जाया करते हैं। इस प्रकार का जो धर्म उत्पन्न होता है उसीका नाम "ज्ञातता" है। 'घट' इत्यादि पदार्थों के ज्ञान से घट आदि पदार्थों में ही इस 'ज्ञातता' नामक धर्म की उत्पत्ति होती है, पट आदि पदार्थों में नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ जिस ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार हुआ करता है वही पदार्थ उस ज्ञान का आधार भी हुआ करता है। अतः घट पदार्थ घट-ज्ञान का ही विषय होता है और 'पट' पदार्थ पट-ज्ञान का ही। ऐसा नहीं होता कि घटज्ञान का विषय पट आदि अन्य पदार्थ हों और पटज्ञान का विषय घट आदि अन्य पदार्थ हों।

मैवम्। स्वभावादेवविषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृशः एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः।

इस विवरण से स्पष्ट हो गया है कि "ज्ञातो मया घटः" केवल इस प्रत्यक्ष से ही ज्ञातता की सिद्धि नहीं होती है किन्तु उक्त रीति से ज्ञानविषयता की अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति द्वारा भी उस [ज्ञातता] की सिद्धि हुआ करती है। ऐसी स्थिति में ज्ञातता नामक अतिरिक्त धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करना उचित ही है।

भाट्टमीमांसक के उपर्युक्त कथन के विरुद्ध नैयायिक का कथन यह है:—

(विषयविषयितोपपत्तेः) विषय तथा विषयिभाव के (स्वभावात् एव) स्वभाव से ही बन जाने से [पूर्वपक्षी का] (एवम्) उपर्युक्त प्रकार से

किया गया कथन (या) ठीक नहीं है। (अर्थज्ञानयोः) अर्थ और ज्ञान का [कुछ] (एतादृशः) ऐसा (स्वाभाविकः) स्वाभाविक (विशेषः) विशेष [सम्बन्ध] है कि (येन) जिससे (अनयोः) इन दोनों का (विषयविषयिभावः) विषय-विषयीभाव हों (एव) हो जाया करता है। [कहने का तात्पर्य यह है कि स्वभाव से ही पदार्थ अथवा वस्तु विषय होता है और (उसका) ज्ञान विषयी।]।

भाट्टमीमांसक का कहना यह था कि घट-ज्ञान से घट में ज्ञातता नाम का एक धर्म उत्पन्न हो जाया करता है। अतः घट उस घट-ज्ञान का विषय कहा जाता है। उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि विषयविषयिभाव तो स्वभाव से ही हुआ करता है। घट आदि पदार्थों का यह स्वभाव है कि वे 'विषय' होते हैं। इसी भाँति ज्ञान भी स्वभाव से ही विषयी हुआ करता है। अथवा जिस पदार्थ अथवा वस्तु का ज्ञान हुआ करता है वह [पदार्थ अथवा वस्तु] ही उस ज्ञान का विषय कहा जाया करता है और ज्ञान विषयी कहा जाता है। यह तो स्वाभाविक रूप से [स्वभाव से] ही सिद्ध है। इसके लिये किसी आधार को बनाना पूर्णतया निरर्थक ही है। यदि आप यह कहें कि पदार्थों अथवा वस्तुओं में इस प्रकार का स्वभाव क्यों विद्यमान रहा करता है? तो यह प्रश्न करना ही अनुचित है क्योंकि जो चीज स्वाभाविक है, उसके बारे में क्या सोचा?

इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्। ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात्।

किञ्च, ज्ञातताया अपिस्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तर प्रसङ्गस्तथा चानवस्था। अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति।

ज्ञातता के आधार पर विषयता को मानने में दो दोष प्रधानरूप से उत्पन्न होंगे।

(व) [१] ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने में प्रथम दोष :—

(इतरथा) अन्यथा [यदि ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता को ही विषयविषयीभाव का आधार माना जाय तो] (अतीतअनागतयोः) अतीत तथा अनागत [पदार्थों] का (विषयत्वम्) विषयत्व (न स्यात्) नहीं हो सकेगा। (धर्मिणि) धर्मी [अतीत, अनागत-पदार्थों] (असति) के अविद्यमान होने पर (धर्मजनन-अयोगत्) उनमें [ज्ञाततारूप] धर्म की

उत्पत्ति का योग न होने [अर्थात् ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति के असंभव होने] के कारण (ज्ञानेन) ज्ञान से (तत्र) उन [अतीतअनागत पदार्थों] में (ज्ञातताजनन-असंभवात्) ज्ञातता की उत्पत्ति का होना असंभव है।

(ब) [२]—ज्ञातता को विषयत्व का नियामक मानने में द्वितीय दोष :—

(किञ्च) और [दूसरा दोष यह भी होगा कि] (ज्ञाततायाः अपि) ज्ञातता के भी (स्वज्ञानविषयत्वात्) अपने [ज्ञातताविषयक] ज्ञान का विषय होने से [अर्थात् ज्ञातता भी अपने ज्ञातताविषयक-ज्ञान का विषय हुआ करती है अतः] (तत्र-अपि) उसमें भी (ज्ञाततान्तरप्रसङ्गः) दूसरी ज्ञातता के मानने का प्रसङ्ग उत्पन्न होगा (च) और (तथा) ऐसा मानने में (अनवस्था) अनवस्था दोष आयेगा। (अथचेत) और यदि [इस अनवस्था दोष को बचाने के लिये ज्ञातता में] (ज्ञाततान्तरम्) दूसरी ज्ञातता के (अन्तरेण अपि) [माने] विना ही (स्वभावात् एव) स्वभाव से ही (ज्ञाततायाः) ज्ञातता का (विषयत्वन्) विषयत्व हो (तर्हि) तो (एवम्) ऐसा मानने पर (घट-आदौ-अपि) घट आदि में भी (ज्ञाततया) ज्ञातता को मानने से (किम्) क्या लाभ ? [जैसे विना दूसरी ज्ञातता के माने ही ज्ञातता स्वविषयक ज्ञान का विषयक हो सकती है उसी प्रकार घट इत्यादि को भी ज्ञनता के बिना ही स्वभाव से ही ज्ञान का विषय स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उन घट आदि में ही ज्ञाततारूप धर्म के उत्पन्न होने सम्बन्धी बात को मानने की क्या आवश्यकता है ?

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि ज्ञातता को विषयता अथवा विषयत्व का नियामक माना जायगा तो उक्त सिद्धान्त में दो प्रकार के दोषों की उत्पत्ति होगी। प्रथम तो यह कि अतीत तथा अनागत पदार्थ ज्ञान के विषय ही न हो सकेंगे। "गत दिवस मेघों से आच्छादित था, आगामी दिवस भी मेघों से आच्छादित रहेगा।" अथवा "विगत दिवस में लू चल रही थी, आगामी दिवस भयंकर लू चलेगी"। इत्यादि ज्ञानों में अतीत तथा अनागत (भावी अथवा भविष्य में होने वाले) विषय भी तो हमारे ज्ञान के विषय बना करते हैं। यदि ज्ञातता के आधार पर ही किसी पदार्थ अथवा वस्तु को ज्ञान का विषय स्वीकार किया जायगा तो अतीत और अनागत सम्बन्धी विषय हमारे ज्ञान के विषय ही न हो सकेंगे क्योंकि जिन विषयों अथवा पदार्थों आदि की विद्यमानता हुआ करती है उन्हीं में किसी धर्म की उत्पत्ति का होना संभव है। किन्तु जो विषय अथवा पदार्थ आदि भूतकालीन हैं अथवा भविष्य

में होने वाले हैं, उन विषयों अथवा पदार्थों की विद्यमानता वर्त्तमान में तो होगी ही नहीं। फिर उनमें किसी धर्म की उत्पत्ति का होना कैसे संभव हो सकता है? इससे स्पष्ट है कि हमारे वर्त्तमान ज्ञान के द्वारा अतीत अथवा अनागत पदार्थों आदि में ज्ञातता की उत्पत्ति न हो सकेगी और इस भाँति अतीत अथवा अनागत सम्बन्धी पदार्थ आदि हमारे ज्ञान के विषय भी न बन सकेंगे। किन्तु लोक में इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है अर्थात् अतीत अथवा अनागत पदार्थ भी हमारे ज्ञान के विषय बना करते हैं। ऐसी स्थिति में 'ज्ञातता' को विषयता अथवा विषयत्व का नियामक मानना उचित नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा दोष अनवस्था सम्बन्धी दोष है। वह यह है कि 'यह ज्ञातता है', मैंने ज्ञातता को जान लिया' इस प्रकार से ज्ञातता भी तो हमारे ज्ञातता सम्बन्धी ज्ञान का विषय बनेगी तथा इस ज्ञातता को ज्ञान का विषय मानने के लिये एक अन्य ज्ञातता की भी आवश्यकता स्वीकार करनी होगी। इसी भाँति उस दूसरी ज्ञातता को भी ज्ञान का विषय बनाने हेतु एक तृतीय ज्ञातता की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

इस पर यदि भाट्टमीमांसक यह कहें कि ज्ञातता को ज्ञान का विषय बनाने के लिये किसी अन्य ज्ञातता की कल्पना नहीं करनी होगी क्योंकि वह तो स्वभाव से ही ज्ञान का विषय हो जायगी। तो फिर ऐसी स्थिति में अच्छा यही होगा कि घट आदि पदार्थों को भी स्वभाव से ही ज्ञान का विषय स्वीकार कर लिया जाय। इस प्रकार की स्थिति में ज्ञातता को मानने की आवश्यकता ही न पड़ेगी।

उपर्युक्त दोषों के कारण ज्ञातता सम्बन्धी सिद्धान्त ही निरस्त हो जाता है। फिर इस आधार पर ज्ञातता द्वारा ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य-दोनों का ही अर्थापत्ति द्वारा ग्रहण किये जाने सम्बन्धी सिद्धान्त भी समाप्त हो जाता है। फिर इसी आधार पर निर्मित प्रामाण्य सम्बन्धी स्वतोग्राह्यत्व का सिद्धान्त भी निरस्त हो जायगा। किन्तु यदि फिर भी 'दुर्जन-दोष' न्याय से थोड़ी देर के लिये 'ज्ञातता' को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उससे "स्वतः प्रामाण्य" की सिद्धि न हो सकेगी। अब इसी का कथन तर्कभाषाकार करते हैं :—

अस्तु वा ज्ञातता तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञाततांविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य। अथ केनचिज्ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते। एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुम्। केचच्चिज्ज्ञाततांविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये

सहैव गृह्येते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्। अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः।

(३) प्रामाण्य सम्बन्धी स्वतोग्राह्यत्व का निराकरण :—

(वा) अथवा [दुर्जन तोष न्याय से] (ज्ञातता) ज्ञातता को (अस्तु) मान भी लिया जाय (तथापि) तो भी (तन्मात्रेण) 'ज्ञाततामात्र' [अर्थात् यथार्थज्ञान तथा अयथार्थज्ञान दोनों ही अथवा सभी प्रकार के ज्ञानों से उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की ज्ञातता] से (ज्ञानम्) ज्ञानका (गम्यते) ग्रहण किया जाता है और (प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा) प्रमाण-ज्ञान की अव्यभिचारिणी [अर्थात्—यथार्थज्ञान से उत्पन्न] (ज्ञातताविशेषेण) किसी 'ज्ञातताविशेष' से (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य [का ग्रहण किया जाता है।] (इति) इस प्रकार (प्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकग्राह्यता) ज्ञानग्राहक सामग्री के द्वारा प्रामाण्य की ग्राह्यता (कुतः एव) कहाँ रही ? (अथ) और (प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा) प्रमाणज्ञान की अव्यभिचारिणी [अर्थात् यथार्थज्ञान से उत्पन्न हुयी] (केनचित्) किसी (ज्ञातताविशेषेण) विशेष प्रकार की ज्ञातता से (ज्ञानप्रामाण्ये) ज्ञान और प्रामाण्य (सदैव गृह्येते) का ग्रहण साथ ही हो जाता है, (चेत् एवम्) यदि ऐसा कहो तो (इदम्) यही बात (अप्रामाण्ये अपि) अप्रामाण्य के बारे में भी (वक्तुं शक्यम्) कही जा सकती है कि (अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा) अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी [अर्थात् अप्रमाण-ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली] (केनचित्) किसी (ज्ञातताविशेषेण) विशेष प्रकार की ज्ञातता [अयथार्थ अथवा भ्रम-ज्ञान से उत्पन्न हुयी ज्ञातता] से (ज्ञानाप्रामाण्ये) ज्ञान और अप्रामाण्य का (सहैव गृह्येते) ग्रहण भी साथ ही हो जाता है। (इति) इस प्रकार (अप्रामाण्यम्) अप्रामाण्य को (अपि) भी (स्वतःएव) स्वतः ही (गृह्यताम्) मानना होगा। [किन्तु भाट्टमीमांसक इसको नहीं मानते हैं। वह तो प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः ही मानते हैं। इस स्थल पर नैयायिक का कहना यह है कि इस युक्ति के आधार पर या तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को ही स्वतः मानना चाहिये अथवा दोनो को ही परतः]। (अथ) और यदि (एवम् अपि) ऐसा होने पर भी आप (अप्रामाण्यम्) अप्रामाण्य को (परतः) परतः ही मानते हों (तर्हि) तो (प्रामाण्यं अपि) प्रामाण्य को भी (परत एव) परतः ही (गृह्यताम्) मानना चाहिये। यहाँ 'परतः' से अभिप्राय है (ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः) ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री से।

फिर भी यदि 'ज्ञातता' को मान भी लिया जाय तो भी ज्ञानग्राहक तथा प्रामाण्य-ग्राहक सामग्री एक नहीं हो सकेगी। दोनों को पृथक-पृथक रूप में स्वीकार करना होगा क्योंकि ज्ञान का ग्रहण तो प्रत्येक ज्ञातता [अर्थात् ज्ञातता मात्र] से होगा। चाहे वह ज्ञातता यथार्थःज्ञान से उत्पन्न हुयी हो अथवा अयथार्थ ज्ञान से। इन दोनों ही प्रकार के ज्ञानों से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता के द्वारा उस [ज्ञातता] के कारणभूत 'ज्ञान' का अर्थापत्ति से बोध हो जायेगा। किन्तु इस दोनों प्रकार की ज्ञातता से प्रामाण्य का ग्रहण किया जाना संभव नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण तो केवल वही ज्ञातता करा सकेगी जिसकी उत्पत्ति यथार्थ ज्ञान से हुयी हो। ऐसी स्थिति में ज्ञान-ग्राहक-सामग्री तो 'ज्ञाततामात्र' [अर्थात् प्रत्येक प्रकार की ज्ञातता] ही होगी और प्रामाण्य-ग्राहक-सामग्री केवल यथार्थज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातताविशेष ही होगी। अतः ज्ञान ग्राहक तथा प्रामाण्य ग्राहक दोनों ही प्रकार की सामग्री में भेद हो जायगा और दोनों एक न होकर पृथक् पृथक् ही होंगी। जब ज्ञानग्राहक सामग्री पृथक् होगी और प्रामाण्यग्राहक-सामग्री पृथक् होगी तो फिर ऐसी स्थिति में 'स्वतः प्रामाण्य' भी सिद्ध न हो सकेगा।

इसके उत्तर में भाट्टमीमांसक यह कह सकते हैं कि ज्ञान से जो ज्ञातता विशेष उत्पन्न होगी उसके द्वारा ही ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य दोनों का एक साथ ही ग्रहण हो जायगा। और इस प्रकार ज्ञानग्राहक सामग्री तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री दोनों ही एक हो जायेंगी तथा इस ही आधार पर प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व भी सिद्ध हो जायेगा।

इसके सम्बन्ध में नैयायिक का यह कथन होगा कि यदि भाट्टमीमांसक इस प्रकार ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण कर लेंगे, तो इसी प्रकार उन्हें अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य मान लेना चाहिये क्योंकि फिर अप्रामाणिक ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातताविशेष से ज्ञान तथा ज्ञानगत-अप्रामाण्य दोनों का ग्रहण हो ही जायगा। अतः ज्ञान का अप्रामाण्य भी स्वतोग्राह्य हो जायगा। किन्तु भाट्टमीमांसक के अनुसार तो अप्रामाण्य परतोग्राह्य ही है। ऊपर दी गयी हुयी युक्ति के आधार पर उन्हें अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य ही मान लेना चाहिये। यदि इतने पर भी वे सन्तुष्ट नहीं हैं तथा अप्रामाण्य को परतोग्राह्य ही मानने पर दृढ रहना चाहते हैं तो उन्हें प्रामाण्य को भी परतोग्राह्य ही स्वीकार कर लेना चाहिये। यह तो सर्वथा अनुचित ही है कि जिस युक्ति के आधार पर वे प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध करते हैं उसी युक्ति के आधार पर वे अप्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता स्वीकार न करें।

परतः प्रामाण्य का अर्थ है "ज्ञानग्राहकसामग्री" तथा ज्ञानगत "प्रामाण्य-ग्राहक-सामग्री" पृथक-पृथक हैं।

अब तर्कभाषाकार न्यायाभिमत परतः प्रामाण्य का सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हैं :—

प्रामाण्यवाद सम्बन्धी न्यायाभिमत सिद्धान्तपक्षः—

ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथा हि जलज्ञानान्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा, फलवती, अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते। प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी।

(ज्ञानम्) ज्ञान का तो (मानसप्रत्यक्षेण एव) [अनुव्यवसायरूप] मनस-प्रत्यक्ष से ही (गृह्यते) ग्रहण हो जाता है। (पुनः) और फिर (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य का ग्रहण (अनुमानेन) [प्रवृत्तिसाफल्यमूलक] अनुमान से किया जाता है। (तथाहि) जैसे कि ["यह जल है" इस प्रकार के] (जलज्ञानानन्तरम्) जल ज्ञान के पश्चात् (जलार्थिनः) जलार्थी व्यक्ति की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (द्वेधा) दो प्रकार की होती है [अथवा हो सकती है] (फलवती) (१) सफला [प्रवृत्ति] (च) और (२) (अफला) विफला [प्रवृत्ति]। (तत्र) उसमें (या) जो (फलवती प्रवृत्तिः) सफला प्रवृत्ति है (सा) वह (समर्था) समर्था प्रवृत्ति कहलाती है। (तया) उसके द्वारा (तज्ज्ञानस्य) उस ज्ञान का (याथार्थ्यलक्षणम्) याथार्थ्यरूप (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य (अनुमीयते) अनुमित होता है। (प्रयोगः च) [उसके अनुमान वाक्य का] प्रयोग [इस प्रकार होगा]" (विवादाध्यासितम्) विवादग्रसित (जलज्ञानम्) जल ज्ञान (प्रमाणम्) प्रमाण है [प्रतिज्ञा] (समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्) समर्थ [सफल] प्रवृत्ति का जनक होने से [हेतु]; (यत् प्रमाणं न) जो [ज्ञान] प्रमाण नहीं होता है (तत्) वह (समर्थां प्रवृत्तिम्) समर्थ [सफल] प्रवृत्ति का (न जनयति) जनक [भी] नहीं होता है (यथा) जैसे—(प्रमाणाभासः) प्रमाणाभास [व्यतिरेकी उदाहरण]। (इति) यह (केवलव्यतिरेकी) केवल-व्यतिरेकी [अनुमान] है।

न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही का ग्रहण परतः प्रामाण्य द्वारा किया जाता है। जिस कारण-सामग्री द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाता है, उसी से प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण नहीं

किया जाता है अपितु ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' द्वारा किया जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी भी पदार्थ अथवा वस्तु का पहले निर्विकल्पकज्ञान हुआ करता है तथा इस [निर्विकल्पक-ज्ञान] के पश्चात् सविकल्पक ज्ञान हुआ करता है। सविकल्पक-ज्ञान-ही किसी अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान हुआ करता है। इस सविकल्पक ज्ञान में नाम, जाति, योजना आदि का निश्चय हो जाया करता है. अतः यह निश्चयात्मक-ज्ञान होता है। इस निश्चयात्मक ज्ञान का स्वरूप है—"अयं घटः" अर्थात् 'यह घट है', "इदं पुस्तकम्"—"यह पुस्तक है" इत्यादि। इसी को निश्चयात्मक-ज्ञान कहा जाता है। इस निश्चयात्मक ज्ञान को ही 'व्यवसायात्मक-ज्ञान' अथवा 'व्यवसाय' भी कहा जाता है। इस व्यवसायात्मक ज्ञान के पश्चात् "ज्ञातो मया घटः" अर्थात् 'मैंने घट को जान लिया' अथवा "घटमहं जानामि" अर्थात् "मैं घट को जानता हूँ" अथवा "घटज्ञानवानहम्" अर्थात् 'मैं घट के ज्ञान से युक्त हूँ' इत्यादि प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। 'इस ज्ञान को ही 'अनुव्यवसाय' कहा जाता है। यह व्यवसाय अथवा व्यवसायात्मक-ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने से ही 'अनुव्यवसाय' कहलाता है।

घट विषयक व्यवसायात्मक-ज्ञान का विषय 'घट' हुआ करता है। किन्तु घटज्ञानवानहम्" इत्यादि प्रकार का ज्ञान अनुव्यवसाय-ज्ञान है। यह घट-ज्ञान का ज्ञान है। इस प्रकार का अनुव्यवसाय जनसाधारण द्वारा अनुभव सिद्ध है। इसी को मन से किया गया प्रत्यक्ष अथवा मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। अतः न्याय के अनुसार ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष द्वारा किया जाता है।

किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष से न होकर प्रवृत्तिसाफल्यमूलक तथा प्रवृत्तिवैफल्यमूलक अनुमान द्वारा हुआ करता है। प्रवृत्ति का अर्थ है किसी भी पदार्थ को ग्रहण करने अथवा उसको त्यागने के लिये किया गया प्रयास। यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है (१) सफला प्रवृत्ति (२) विफला-प्रवृत्ति। सफलाप्रवृत्ति का ही दूसरा नाम 'समर्था प्रवृत्ति' है। जब किसी ज्ञान के आधार पर प्रवृत्त हुये व्यक्ति को ज्ञान के द्वारा जानी गयी वस्तु की प्राप्ति हो जाया करती है तो उस व्यक्ति की प्रवृत्ति सफला-प्रवृत्ति अथवा समर्था-प्रवृत्ति कही जाती है। किन्तु जब किसी वस्तु के ज्ञान के आधार पर प्रवृत्त हुये व्यक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हुआ करती है तब उसकी प्रवृत्ति को विफला अथवा सफला प्रवृत्ति कहा जाता है। सफला प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान के याथार्थ्य अथवा प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है

तथा अफला-प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान के अयथार्थ्य अथवा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। अनुमान के प्रयोग का विवरण मूल में "प्रयोगश्च......इति केवलव्यतिरेकी" इन पंक्तियों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है कि जो स्पष्ट ही है। यहाँ प्रयोग शब्द से तात्पर्य है—'अनुमान का प्रयोग'। उक्त अनुमान 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान है क्योंकि इस स्थल पर अन्वयव्यतिरेकी अनुमान की संभावना ही नहीं की जा सकती है। इस अनुमान में सफलप्रवृत्ति का जनक जो 'जलज्ञान' है वही पक्ष है। उसी में प्रामाण्यरूप साध्य की सिद्धि करनी है। अतः 'प्रामाण्य' ही साध्य है। यहाँ प्रामाण्य से अभिप्राय है ज्ञान की यथार्थता अथवा ज्ञान का याथार्थ्य। सफलप्रवृत्ति का जनकत्व ही हेतु है और 'प्रमाणाभास' ही व्यतिरेकी उदाहरण है।

अत्र च फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत्पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्।

अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तत्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्याभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यते इति।

(च) और (अत्र) इस व्यतिरेकी-अनुमान में (सफलप्रवृत्तिजनकम्) सफल-प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला (यत्) जो (जलज्ञानम्) जलज्ञान है (तत्) वह (पक्षः) पक्ष है। (तस्य) उसका (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य (याथार्थ्यमित्यर्थः) अर्थात् याथार्थ्य [ही] (साध्यम्) साध्य है। (प्रमाकरणत्वं तु न साध्यम्) प्रमाकरणत्व तो साध्य नहीं है (स्मृत्या) स्मृति में (व्यभिचारापत्तेः) व्यभिचारी होने से [समर्थ अथवा सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति का भी यथार्थ्यरूप प्रामाण्य ही माना जाता है। स्मृति का प्रमाकरणत्वरूप प्रामाण्य नहीं हुआ करता है। अतः यहाँ प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य ही लेना उचित है, प्रमाकरणत्व नहीं]। यहाँ पर (समर्थ प्रवृत्तिजनकत्वम्) समर्थ प्रवृत्ति का जनक होना ही (हेतुः) हेतु है, अर्थात् (फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वम्—इति) सफल प्रवृत्ति का उत्पन्न करने वाला होना।

(अनेन) इस (केवलव्यतिरेकी) केवलव्यतिरेकी अनुमान से (अभ्यासदशापन्नस्य) अभ्यासदशापन्न (ज्ञानस्य) ज्ञान के (प्रामाण्ये-अवबोधिते) प्रामाण्य के सिद्ध हो जाने पर (तद्दृष्टान्तेन) उसको दृष्टान्त स्वीकार कर (जलप्रवृत्तेः) जल के लिये प्रवृत्ति से (पूर्वं अपि) पहले भी (तज्जातीयत्वेन)

'तज्जातीयत्व' रूप [समर्थप्रवृत्ति-जनक-जातीयत्व] (लिङ्गेन) लिङ्ग से (अन्वयव्यतिरेकी–अनुमानेन) अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा (अन्यस्य–अनभ्यासदशापन्नस्य) अन्य अनभ्यासदशापन्न (ज्ञानस्य) ज्ञान का भी (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य (अनुमीयते) अनुमान कर लिया जाया करता है। (तस्मात्) इसलिये (परतः प्रामाण्यं एव) परतः प्रामाण्य ही होता है, [स्वतः कभी नहीं होता है]। अर्थात् (अर्थात्) ज्ञानग्राहकेणएव) ज्ञानग्राहक सामग्री के ही द्वारा (प्रामाण्यम्) प्रामाण्य (न गृह्यते) गृहीत नहीं होता है।

'प्रामाण्य' का अर्थ प्रमाकरणत्व किया जाना उचित नहीं है। ऐसा मानने पर यथार्थ-स्मृति सम्बन्धी ज्ञान का प्रामाण्य न हो सकेगा क्योंकि न्याय के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का माना गया है (१) स्मृति (२) अनुभव। ये दोनों भी यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो दो प्रकार के हुआ करते हैं। यथार्थ अनुभव का ही नाम प्रमा है तथा इस प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा जाता है। इस भाँति पारिभाषिक "प्रमाण" शब्द द्वारा यथार्थस्मृति का ग्रहण उसमें नहीं किया जाता है क्योंकि यथार्थस्मृति प्रमा के अन्तर्गत नहीं आती है। अतः यदि प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व किया जायगा तो यथार्थ-स्मृति सम्बन्धी ज्ञान का प्रामाण्य ही न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य ज्ञान अथवा ज्ञान की यथार्थता करना ही उचित होगा।

ऊपर तर्कभाषाकार द्वारा दिये गये विवरण में 'अभ्यासदशापन्न' तथा 'अनभ्यासदशापन्न' इन दो प्रकार के ज्ञानों का उल्लेख आया है। जहाँ जल के ज्ञान के पश्चात् उसकी प्राप्ति के निमित्त प्रवृत्ति भी हो चुकी होती है उस ज्ञान को "अभ्यासदशापन्न ज्ञान" कहा जाता है। इस ज्ञान में "समर्थप्रवृत्ति-जनकत्वात्" हेतु ठीक रूप से घट जाता है।

जहाँ जलज्ञान के पश्चात् जल को प्रवृत्ति से पहले ही उस जल-ज्ञान में प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाया करता है उसे "अनभ्यासदशापन्न ज्ञान" कहा जाता है। इस 'अनभ्यासदशापन्न ज्ञान' में 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु घट ही नही सकता है क्योंकि यहाँ उक्त ज्ञान से न तो समर्थ-प्रवृत्ति [सफल प्रवृत्ति] ही उत्पन्न हुयी है और न असमर्थप्रवृत्ति ही। ऐसी दशा में उसको समर्थ-[सफल] प्रवृत्ति-जनक कैसे माना जा सकता है। अतः इस प्रकार के 'अनभ्यासदशापन्न-ज्ञान' के स्थल में 'प्रामाण्य' के अनुमान के लिये। 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' के स्थान पर "समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानजातीयत्वात्" हेतु को रखना ही उपयुक्त है। यह ठीक है कि 'अनभ्यासदशापन्न-ज्ञान' से अभी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुयी है किन्तु यह ज्ञान समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञान के सदृश ही

जन्य होने से तज्जातीय होता है। अतः इसके आधार पर अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान द्वारा 'अनभ्यास दशापन्न-ज्ञान' के प्रामाण्य का निश्चय किया जा सकता है।

इसको और अधिक स्पष्टता के साथ इस रूप में कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान से पूर्व उस प्रकार के किसी अन्य ज्ञान से सफल-प्रवृत्ति का होना ज्ञात नहीं रहा करता है उसमें प्रामाण्य का निश्चय तब तक नहीं हुआ करता है कि जब तक उससे प्रवृत्ति का उदय होकर उसकी सफलता नहीं ज्ञात हो जाती, किन्तु जिस ज्ञान से पूर्व उस प्रकार के अन्य ज्ञान से सफलप्रवृत्ति का होना विदित रहता हैं उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय करने में देर नहीं लगती क्योंकि उस प्रकार के पूर्ववर्त्ती ज्ञान में प्रामाण्य के निश्चित रहने से उसके सजातीयत्वमात्र से ही उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाया करता है। अतः अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होने के पूर्व ही उस ज्ञान के विषयभूत अर्थ के सम्बन्ध में मानव की प्रवृत्ति होती है किन्तु 'अनभ्यासदशापन्न-ज्ञान' से प्रामाण्य का निश्चय हो जाने के पश्चात् प्रवृत्ति हुआ करती है क्योंकि उसमें प्रामाण्य सम्बन्धी निश्चय सुलभ हुआ करता है।

'प्रामाण्यवाद' सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से न्यायाभिमत निम्नलिखित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो जाता है कि :—

'ज्ञान' का ग्रहण सर्वत्र मानस-व्यापाररूप' अनुव्यवसाय' से तथा 'प्रामाण्य' का ग्रहण 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक-अनुमान' से हुआ करता है। अतः ज्ञान तथा प्रामाण्य का ग्रहण भिन्न-भिन्न सामग्री द्वारा होने के कारण "ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्व" रूप "परतः प्रामाण्य" का स्वीकार किया जाना ही उचित तथा युक्तियुक्त है।

अब 'प्रमाण' सम्बन्धी इस प्रकरण की समाप्ति करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

चत्वार्येव प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत॥
इति प्रमाणपदार्थःसमाप्तः।

(केशवः) [तर्कभाषाकार] केशव मिश्र ने (बालबोधाय) बालकों के बोध के लिये (यथाशास्त्रम्) न्याय-शास्त्र के अनुसार (युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्) थोड़ी सी संक्षिप्त युक्तियों का उल्लेख करते हुये (चत्वारि एव) चार ही (प्रमाणानि) [प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द] प्रमाणों के होने का (अवर्णयत्) वर्णन किया है।

(इति) इस प्रकार (प्रमाणपदार्थः) प्रमाण नामक पदार्थ का [निरूपण] (समाप्तः) समाप्त हुआ।

प्रमेयनिरूपणम्

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते।

"आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्" इति सूत्रम्।

"प्रमेयों का निरूपण"

(प्रमाणानि) प्रमाणों का (उक्तानि) कथन किया जा चुका। (अथ) इन [प्रमाणों] के पश्चात् (प्रमेयाणि) प्रमेयों का (उच्यन्ते) कथन किया जाता है :—

प्रमेय का साधारण अर्थ है—प्रमा [अर्थात् यथार्थज्ञान] का विषय। अखिल विश्व में प्रमा के विषयों की संख्या का निर्धारण किया जा सकना संभव नहीं है। विभिन्न दार्शनिक-सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रमेय सम्बन्धी पदार्थों का निरूपण किया है। जैसे—वैशेषिक दर्शन में ही द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छै को ही पदार्थ कहा गया है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने सिद्धान्तानुसार प्रमेय-पदार्थों की गणना निर्धारित की है।

न्यायशास्त्र में तो प्रमा का विषय [अर्थात् प्रमेय] उन्हीं को स्वीकार किया गया है कि जिनके द्वारा मनुष्य को निःश्रेयस [मोक्ष] की प्राप्ति में सहायता प्राप्त हो। ये वे ही पदार्थ हैं कि जिनके मिथ्याज्ञान से मानव संसार के आवागमन [जन्म और मृत्यु] के बन्धन में बँधा रहा करता है तथा जिसके तत्त्वज्ञान से वह संसार के बन्धन से अपने को मुक्त कर लिया करता है। न्यायशास्त्र में इनकी संख्या १२ कही गयी है। ये हैं :—

(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) प्रेत्यभाव (१०) फल (११) दुःख और (१२) अपवर्ग। ये बारह (तु) तो (प्रमेयम्) प्रमा के विषय हैं। (इति सूत्रम्) यह न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक का नवम सूत्र है।

इस सूत्र द्वारा न्यायाभिमत बारह-प्रमेयों का नाममात्र द्वारा (१—उद्देश) कथन किया गया है। अब उनका क्रमशः (२) लक्षण करते हुये उनकी (३) परीक्षा की जाती है। इन सभी प्रमेयों में आत्मा ही प्रधान है। इस ही कारण, उक्त सूत्र में उसको प्रथम स्थान पर रखा गया है। अतः सर्वप्रथम उस ही का निरूपण प्रस्तुत है :—

तत्रात्मत्वसमान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्त, प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च।

आत्मा—

(तत्र) उन [प्रमेयों] में से (आत्मत्वसामान्यवान्) आत्मत्वजाति से युक्त [अर्थात जिसमें आत्मत्व जाति रहती है उस ही को] (आत्मा) आत्मा [कहलाती] है ['आत्मा' कहा जाता है।]। (च) और (स) वह (देहेन्द्रियव्यतिरिक्तः) शरीर और इन्द्रिय से भिन्न है। (प्रतिशरीरम्) प्रत्येक शरीर में (भिन्नः) पृथक्-पृथक् है, (नित्यः) नित्य है (च) और (विभुः) विभु [व्यापक] है।

लक्षण के विवरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी वस्तु के लक्षण के द्वारा उस वस्तु का सजातीय तथा विजातीय दोनों ही प्रकार की वस्तुओं से भेद दिखला दिया जाया करता है। आत्मा का लक्षण किया गया है—कि "जो आत्मत्व जाति से युक्त हो उसे 'आत्मा' कहते हैं।" यहाँ आत्मा के सजातीय पदार्थ शरीर आदि सभी प्रमेय हैं तथा प्रमाण [प्रमेय को छोड़कर अवशिष्ट पन्द्रह] आदि सभी विजातीय पदार्थ हैं। इन सभी में 'आत्मत्व' नामक जाति (सामान्य) नहीं रहा करती है। वह तो केवल आत्मा में ही रहती है। अतः आत्मत्व जाति से युक्त 'आत्मा' ही है। यही 'आत्मा' का लक्षण है।

जन साधारण की यह प्रतीति होती है कि "मैं हूँ"। इस "मैं" की प्रतीति का जो आलम्बन है उस ही का नाम "आत्मा" है। 'आत्मा के स्वरूप' के सम्बन्ध में पर्याप्त मत-भेद की उपलब्धि हुआ करती है। उन्हीं के निराकरणार्थ न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र में "आत्मा" के विषय में चार प्रकार की स्थापनाओं का निर्धारण किया गया है और वह यह कि (१) आत्मा देह आदि से व्यतिरिक्त है। (२) प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। (३) नित्य है। और (४) विभु है।

(१) आत्मा देह आदि से भिन्न है। यहाँ आदि शब्द से देह, इन्द्रियों तथा मन का ग्रहण किया जाना है। अर्थात् देह, इन्द्रिय तथा मन-इन तीन से भिन्न 'आत्मा' है। चार्वाक-सम्प्रदायवादियों ने देह, इन्द्रिय तथा मन को ही आत्मा कहा है। कुछ चार्वाकों का कहना है कि "दुर्बल हो गया हूँ", "मैं स्थूल हो गया हूँ" इत्यादि प्रतीतियों से ऐसी अनुभूति होती है कि पृथिवी आदि पंचभूतों से निर्मित यह शरीर ही आत्मा है। उनका कथन है कि पृथिवी आदि पंचतत्वों से ही चैतन्य की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः चैतन्य

विशिष्ट यह शरीर (देह) ही आत्मा है। कुछ दूसरे चार्वाकों का कहना है कि "मैं बहरा हूँ", "मैं अन्धा हूँ" इत्यादि द्वारा "मैं" शब्द द्वारा जो प्रतीति होती है उससे ज्ञात होता है कि "मैं" शब्द वाच्य 'इन्द्रियाँ' ही हैं। अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं। कुछ अन्य चार्वाकों का मत है कि कि सुषुप्ति-अवस्था में इन्द्रियों का व्यापार शान्त हो जाया करता है तथा 'मन' से ही सम्पूर्ण व्यापारों की सिद्धि हुआ करती है। अतः 'मन' ही 'आत्मा' है। चार्वाकों के ही इन उपर्युक्त मतों के निराकरण हेतु यह कहा गया है कि वह आत्मा शरीर, ही इन उपर्युक्त मतों के निराकरण हेतु यह कहा गया है कि वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न है।

(२) वह आत्मा प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है। वेदान्तियों के मतानुसार वह आत्मा (ब्रह्म) एक ही है किन्तु जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि उपाधि भेद के कारण एक 'आकाश' ही अनेक रूपों में भासित हुआ करता है, उसी प्रकार से एक ही ब्रह्म उपाधिभेद से नाना रूपों में भासित हुआ करता है। वस्तुतः वह है एक ही। अतः इस मत के निराकरणार्थ यह कहा गया है कि वह (आत्मा) प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है।

(३) वह (आत्मा) नित्य है। बौद्धों का कथन है कि विज्ञान आदि 'पंचस्कन्ध' ही "मैं" का आलम्बन हैं तथा क्षणिक हैं। क्षणिक होने के कारण वह "मैं" ही प्रतिक्षण 'नवीन'='नवीन' उत्पन्न होता रहता है तथा नष्ट भी होता रहता है। अतः विज्ञान आदि पञ्चस्कन्धों से भिन्न 'आत्मा' कुछ भी नहीं है।

(४) चतुर्थ स्थापना है—आत्मा विभु अर्थात् व्यापक है। रामानुज सम्प्रदायवादी लोगों ने 'आत्मा' को अणु परिमाण वाला बतलाया है। इसके विपरीत जैन मतावलम्बी तो यह मानते हैं कि आत्मा शरीर के समान परिमाण वाला है। छोटे शरीरों में छोटा तथा बड़े शरीरों में बड़ा। अतः इन्हीं मतावलम्बियों के उक्त सिद्धान्त के निराकरणार्थ उसको विभु अर्थात् 'व्यापक' कहा गया है।

इन्हीं चारों स्थापनाओं की पुष्टि के लिये तर्कभाषाकार द्वारा क्रमशः युक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं :—

स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः। तथाहि बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रितः एव।

(१) आत्मा का देह (शरीर), इन्द्रिय आदि से भिन्न होना—

(च) और (स) वह [आत्मा] (मानसप्रत्यक्षः) मानसप्रत्यक्ष का विषय है। (विप्रतिपत्तौ तु) [अपना आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरे के

अन्दर आत्मा विद्यमान है अथवा नहीं, इस प्रकार का] मतभेद [अथवा सन्देह] होने पर तो (बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः) बुद्धि आदि गुण लिङ्गक होता है [अर्थात् बुद्धि आदि गुण रूप लिङ्ग के द्वारा वह अनुमान किये जाने योग्य होता है अथवा बुद्धि आदि गुणों के द्वारा वह अनुमेय हुआ करता है ।]। (तथा हि) जैसे कि [बुद्धि आदि गुणों के द्वारा आत्मा की सिद्धि का प्रकार यह है कि—] (बुद्धि–आदयः–तावत्) बुद्धि आदि (गुणाः) गुण हैं [यहाँ आदि पद द्वारा आत्मा में रहने वाले सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि सभी गुणों का ग्रहण किया जायगा ।] (अनित्यत्वे सति) अनित्य होते हुये (एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्) केवल एक इन्द्रिय से ही ग्रहण किये जाने योग्य होने से । (च) और (गुणः) गुण (गुणी आश्रितः एव) गुणी के आश्रित ही रहा करता है ।

शरीर आदि से भिन्न आत्मा है इसका प्रमाण आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होना ही है । मानवमात्र को "मैं हूँ" इस प्रकार का मानस-प्रत्यक्ष हुआ करता है । इस प्रकार का यह मानसप्रत्यक्ष ही आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है । मन नामक इन्द्रिय [अन्तः = अन्दर की, करण = इन्द्रिय अर्थात् अन्तः-करण = मन] द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष का ही नाम 'मानस प्रत्यक्ष' है । "मैं हूँ" इस प्रकार का प्रत्यक्ष मन नामक इन्द्रिय के द्वारा ही हुआ करता है, नेत्र आदि बाह्य-इन्द्रियों द्वारा नहीं । इसकी सिद्धि के लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं'—

शरीर (देह) का प्रत्यक्ष तो नेत्र अथवा त्वचा नामक बाह्य इन्द्रियों द्वारा ही हुआ करता है । मन से शरीर का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता । इन्द्रियाँ तो वस्तुतः अतीन्द्रिय हैं, अतः उनका तो प्रत्यक्ष होता ही नहीं है । उनकी सिद्धि तो अनुमान-प्रमाण द्वारा करनी होती है । इसी भाँति मन भी प्रत्यक्ष किये जाने योग्य नहीं है । उसकी भी सिद्धि अनुमान द्वारा ही हुआ करती है । ऐसी स्थिति में "मैं हूँ" इस प्रकार के मानस-प्रत्यक्ष द्वारा जिसकी प्रतीति की जाती है, वह शरीर, इन्द्रिय तथा मन-सभी से सर्वथा भिन्न है तथा उसी का नाम आत्मा है ।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा की सिद्धि मानस-प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाती है ।

अब यहाँ पूर्वोक्त तीन प्रकार के चार्वाकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों के आधार पर शरीर, इन्द्रिय तथा मन को ही 'आत्मा' माना जा सकता है क्योंकि इनमें भी विभिन्न प्रकार की "मैं" सम्बन्धी प्रतीतियाँ होती ही हैं। फिर ऐसी स्थिति में

शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न आत्मा की सिद्धि कैसे की जा सकती है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि—

उक्त स्थिति मे बुद्धि [ज्ञान] आदि गुणों के द्वारा शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। इसीलिये बुद्धि [ज्ञान], सुख, दुःख, इच्छा आदि गुणों को ही आत्मा का लिङ्ग [अर्थात् ज्ञापक] कहा गया है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग करना होगा कि बुद्धि [ज्ञान] आदि गुण हैं तथा गुण किसी गुणी के ही आश्रित रहा करते हैं। अतः बुद्धि [ज्ञान] आदि गुणों का भी आश्रय किसी को होना चाहिये। "गुणाश्रयो द्रव्यम्" के अनुसार गुणों का आश्रय द्रव्य ही हुआ करता है। अतः बुद्धि [ज्ञान] आदि गुणों का जो भी आश्रय होगा वह भी कोई द्रव्य ही होगा। न्यायशास्त्र में ९ ही द्रव्यों को स्वीकार किया गया है। आत्मा को छोड़कर वे द्रव्य भी आठ ही शेष रह जाते हैं। और ये हैं—पंचभूत [आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी], दिशा, काल तथा मन। आठों बुद्धि [ज्ञान] आदि गुणों के आश्रयभूत 'गुणी' हो ही नहीं सकते हैं। अतः इन आठ द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रय नवम द्रव्य मानना होगा। वह आत्मा ही है। इस बात को परिशेषानुमान द्वारा आगे सिद्ध किया जायगा।

अब यहाँ यह विषय विचारणीय हो गया है कि बुद्धि [ज्ञान) आदि गुण ही हैं। अथवा नहीं ? बुद्धि आदि को 'गुण' सिद्ध करने के लिये [बुद्ध्यादयः गुणाः] 'अनित्यत्वेसति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है। यदि यहाँ "ग्राह्यत्वात्" इतना ही हेतु रखा गया होता तो अनुमान-प्रमाण से ग्रहण किये जाने योग्य परमाणु रूप द्रव्य में भी गुण का लक्षण चला गया होता। अतः 'ग्राह्यत्वात्' के साथ 'इन्द्रिय' पद को भी जोड़ा गया। 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना कहने से परमाणु में उक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा क्योंकि वह [परमाणु] तो इन्द्रियग्राह्य न होकर अनुमानग्राह्य ही है। फिर यदि 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही हेतु गुण की सिद्धि के लिये रखा जाय तो यह हेतु पट, घट आदि द्रव्यों में भी चला जायगा क्योंकि घटादि तो इन्द्रियग्राह्य हैं ही। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ इन्द्रियशब्द के साथ 'एक' तथा 'मात्र' पदों को भी जोड़ा गया और इस भाँति 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' यह हेतु बना। घट आदि द्रव्यों का नेत्रों से तो प्रत्यक्ष किया ही जाता है किन्तु नेत्रों के बिना भी टटोल-टटोल कर स्पर्श के द्वारा त्वगिन्द्रिय से भी उनका ग्रहण किया जाना संभव है। अतः घटादि द्रव्यों के 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' न होने तथा दो इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' हेतु उनमें न जा सकेगा। अब यदि

इस 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' को ही गुणत्व का साधक-हेतु स्वीकार किया जाय तो 'सुखत्व' आदि जाति में यह हेतु अतिव्याप्त हो जायगा। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस द्रव्य का ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय द्वारा तद्गत जाति का भी ग्रहण कर लिया जाता है। जैसे सुख-दुःख आदि का ग्रहण 'मन' रूप एक इन्द्रिय द्वारा किया जाता है तो उसी मन रूप इन्द्रिय के द्वारा सुखत्व, दुःखत्व आदि जाति का ग्रहण भी कर लिया जाता है। ऐसी स्थिति में 'एकेन्द्रियमात्र-ग्राह्यत्वात्' हेतु के होने पर मन रूप एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से 'सुखत्व' आदि जाति भी गुण कही जाने लगेगी। इस अतिव्याप्ति के वारण के निमित्त हेतु में 'अनित्यत्वे सति' यह विशेषण भी जोड़ा गया है। 'सुखत्व' आदि जाति 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' होने पर भी 'अनित्य' नहीं है। अपितु नित्य ही है अतः अब यह 'अनित्यत्वेसतिएकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' हेतु सुखत्व आदि जाति में नहीं घटित होगा। और अब इस हेतु से यह सिद्ध हो जायगा कि बुद्धि आदि गुण ही हैं।

अब बुद्धि [ज्ञान] आदि के गुण सिद्ध हो जाने पर यह विचार करना है' कि न्यायशास्त्राभिमत नौ द्रव्यों में से पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में किसी को भी बुद्धि (ज्ञान) आदि गुणों का आश्रय नहीं कहा जा सकता है :—

तत्र बुद्ध्यादयः गुणाः न भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात्। ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते, यथा रूपादयः। नापि दिक्कालमनसां गुणा, विशेषगुणत्वात्। ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणा ते विशेषगुणा ते हि सर्व द्रव्यसाधारणगुणा, एव। बुद्ध्यादयस्तु विशेष-गुणा, गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत्, अतो न दिगादिगुणाः।

तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः। स एवात्मा।

(तत्र) उनमें (उनमें बुद्ध्यादयः) बुद्धि आदि [गुण] (मानसप्रत्यक्षत्वात्) मानस प्रत्यक्ष [के विषय] होने से [पृथिवी आदि पाँच] [भूतानाम्] भूतों के (गुणाः न) गुण नहीं हैं। (ये हि) जो [शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, यह पाँच] (भूताना गुणाः) भूतों के गुण हैं (ते) वे (मनसा) मन से (न गृह्यन्ते) गृहीत नहीं होते हैं। [अर्थात् उनका ग्रहण मन द्वारा नहीं किया जाता है।]। (यथा) जैसे (रूपादयः) रूप आदि [गुणों का मन से प्रत्यक्ष न होकर बाह्य-इन्द्रियों द्वारा ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। अतः बुद्धि आदि गुण आठ द्रव्यों में से पाँच भूतों के तो गुण हो ही नहीं सकते हैं।]। (दिक्कालमनसाम्) और दिशा, काल और मन-इन तीनों के

(अपि) भी (गुणाः न) गुण नहीं हो सकते हैं (विशेषगुणत्वात्) विशिष्ट गुण होने से। (ये हि) जो (संख्यादयः) संख्या आदि (दिक्कालादिगुणाः) दिशा, काल आदि के गुण होते हैं (ते) वे (विशेषगुणाः न) विशेष गुण नहीं हैं [किन्तु] (ते हि) वे तो (सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव) सभी द्रव्यों के साधारण गुण ही हैं। (बुद्धयादयः तु) बुद्धि आदि तो (विशेषगुणाः) विशेष-गुण हैं [प्रतिज्ञा] (गुणत्वे सति) गुण होते हुये (एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्) केवल एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से [हेतु], जैसे (रूपवत्) रूप [आदि-उदाहरण]। (अतः) इसलिये [बुद्धि आदि] (दिगादिगुणाः) दिशा, काल आदि के गुण (न) नहीं होते हैं।

(तस्मात्) इसीलिये (एभ्यः) इन [पृथ्वी आदि पञ्चभूत तथा दिक्, काल और मन] (अष्टभ्यः) आठ द्रव्यों से (व्यतिरिक्तः) भिन्न [किसी नवें द्रव्य को] (बुद्धयादीनां) बुद्धि आदि (गुणानाम्) गुणों का (आश्रयः) आश्रय (वक्तव्यः) कहना चाहिये। (स एव) वही [नवाँ द्रव्य] (आत्मा) आत्मा है।

आत्मा को छोड़कर जो अवशिष्ट आठ द्रव्य रह जाते हैं उनमें से (१) पृथिवी (२) बल (३) अग्नि (४) वायु और (५) आकाश इन पाँचों को 'पञ्चभूत' कहा जाता है। इन पाँचों भूतों के क्रमशः गुण है (१) गन्ध (२) रस (३) रूप (४) स्पर्श और (५) शब्द। इन पाँचों गुणों का प्रत्यक्ष घ्राण, आदि बाह्य इन्द्रियों द्वारा हुआ करता है, मन से नहीं। किन्तु बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष तो मन से हुआ करता है, बाह्य-इन्द्रियों से नहीं। इसी अन्तर के कारण बुद्धि [ज्ञान] आदि उक्त पाँच भूतों के गुण नहीं हो सकते हैं।

इसी प्रकार बुद्धि आदि गुण दिक्, काल तथा मन के भी गुण नहीं हो सकते हैं क्योंकि बुद्धि आदि विशेष गुण हैं। दिक्, काल तथा मन के जो गुण होते हैं वे विशेष-गुण नहीं कहलाते हैं, वे सामान्य गुण ही होते हैं (सभी द्रव्यों के साधारण गुण ही हुआ करते हैं।] जैसे सख्या, परिमाण आदि [संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व तथा अपरत्व ये सात सामान्यगुण स्वीकार किये गये हैं।]। बुद्धि आदि तो विशेषगुण हैं। अतः ये दिक्, काल तथा मन के भी गुण नहीं हो सकते हैं।

अब यहाँ यह यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि बुद्धि आदि ही विशेषगुण हैं, संख्या, परिमाण आदि नहीं। इस बारे में क्या युक्ति है ? इस बारे में यह अनुमान दिया गया है—"बुद्धयादयः विशेषगुणाः, गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्र

ग्राह्यत्वात्, रूपवत्। इस अनुमान में बुद्धि आदि को विशेष-गुण सिद्ध करने के लिये, 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है। 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' इस हेतु के साथ 'गुणत्वे सति' यह विशेषण जोड़ा गया है और इस भाँति इस हेतु को विशिष्ट-हेतु बनाया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' केवल इतना ही हेतु रखा जायगा तो यह हेतु 'रूपत्व' आदि जाति में भी चला जायगा तथा 'रूपत्व' जाति भी गुण कहलाने लगेगी। इसी के वारण के लिये 'गुणत्वे सति' यह विशेषण जोड़ा गया है। 'रूपत्व' आदि जाति 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' होने पर भी गुण नहीं है। अतएव 'गुणत्वे सति' विशेषण जोड़ने से 'रूपत्व' आदि जाति में गुण होने सम्बन्धी आशंका उत्पन्न ही नहीं होगी। अतः उक्त अनुमान के आधार पर बुद्धि [ज्ञान] आदि के विशेष गुण होने का निश्चय हो जाता है।

उक्त अनुमान में प्रयुक्त 'गुणत्वेसति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' इस हेतु के स्थान पर किसी किसी संस्करण में 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही पाठ उपलब्ध होता है। अर्थात् उसमें 'मात्र' पद का सन्निवेश नहीं किया गया है। किन्तु यदि यह हेतु 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही माना जायगा तो यह विशिष्ट हेतु संख्या, परिमाण आदि सामान्य गुणों में भी अतिव्याप्त हो जायगा क्योंकि संख्या आदि गुण भी हैं, साथ ही एकेन्द्रियग्राह्य भी हैं। 'मात्र' पद का हेतु में प्रयोग हो जाने से उक्त दोष नहीं आयेगा क्योंकि संख्या आदि सामान्यगुण केवल एक इन्द्रिय से ही ग्राह्य नहीं है। उनका ग्रहण तो नेत्र तथा त्वचा दोनों ही इन्द्रियों द्वारा किया जा सकता है। अतः 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' यह पाठ ठीक नहीं है।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त हेतु एक सद् हेतु है। इस सद् हेतु द्वारा बुद्धि आदि का विशेष गुण होना सिद्ध हो जाता है। दिशा आदि में सामान्य गुण ही रहा करते हैं, विशेष गुण नहीं। अतः ये दिशा, काल और मन के गुण नहीं हो सकते हैं। यह हम स्पष्ट कर ही चुके हैं कि मानस प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण ये [बुद्धि आदि गुण] पृथ्वी आदि पंचभूतों के भी गुण नहीं हो सकते हैं। अतः यह निश्चय हो जाता है कि बुद्धि आदि गुणों का आश्रय पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न कोई अन्य द्रव्य ही हो सकता है और वह है नवाँ द्रव्य 'आत्मा' ही। अतः बुद्धि आदि गुणों का जो आश्रय है—वही 'आत्मा' है।

[उपर्युक्त प्रकार से आत्मा की सिद्धि में 'परिशेषानुमान' का प्रयोग किया गया है। न्यायशास्त्र में अनुमान को तीन प्रकार का माना गया है (१) पूर्व-

वत् (२) शेषवत् तथा (३) सामान्यतोदृष्ट। इनमें से शेषवत्-अनुमान को ही 'परिशेषानुमान' कहा गया है।]

आत्मा की सिद्धि में प्रयुक्त 'अनुमान' का प्रयोग इस प्रकार किया जायगा :—

प्रयोगश्च, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणोऽपिभवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी। अन्वयव्यतिरेकी वा। तथा हि, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति। यथा पृथिव्यद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्यद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति। तथा च बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः। तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तो नवमं द्रव्यमात्मा सिद्धः।

(च) और [इस अनुमान का] (प्रयोगः) प्रयोग [अनुमान वाक्य] यह है—(बुद्ध्यादयः) बुद्धि आदि [गुण] (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न में आश्रित हैं [यह 'प्रतिज्ञा' हुयी], (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न रहते हुये होने पर भी गुण होने से [यह 'हेतु' हुआ] (यः तु) जो (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितः) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित (न भवति) नहीं हुआ करता है (असौ) वह (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यानाश्रितत्वे सति) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित न रहते हुये (गुणः अपि) गुण भी (न भवति) नहीं हुआ करता है [अपितु पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित रहने वाला गुण ही हुआ करता है; यह 'व्यतिरेकव्याप्ति हुयी] (यथा) जैसे (रूपादिः) रूप आदि (यह व्यतिरेकी-उदाहरण' हुआ)। (इति) इस प्रकार यह (केवलव्यतिरेकी) केवलव्यतिरेकी (अनुमान वाक्य) है।

(वा) अथवा (अन्वयव्यतिरेकी) अन्वयव्यतिरेकी (अनुमान-वाक्य इस प्रकार हो सकता है—) (तथाहि) जैसे (बुद्ध्यादयः) बुद्धि आदि (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं [प्रतिज्ञा], (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये होने पर भी (गुणत्वात्) गुण होने से [हेतु], (यः) जो

(यत् अनाश्रितः) जिस द्रव्य में अनाश्रित न रहते हुये होने पर भी (गुणः) गुण हुआ करता है (स) वह (तदतिरिक्ताश्रिताः) उससे भिन्न [द्रव्य] में आश्रित [गुण] (भवति) हुआ करता है [व्याप्ति], (यथा) जैसे (पृथिव्याद्यनाश्रितः) पृथिवी आदि [आठ द्रव्यों] में अनाश्रित (शब्दः) शब्द [गुण] (पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रयः) पृथिवी आदि [आठ द्रव्यों] से भिन्न [नवम द्रव्य] आकाश में आश्रित है [उदाहरण; इस भाँति यह अन्वय-व्याप्ति का उदाहरण हुआ और व्यतिरेक-व्याप्ति का उदाहरण पहले दिखलाया जा चुका है। इस प्रकार 'आत्मा' की सिद्धि करने वाला यह 'अन्वयव्यतिरेकी-अनुमान' वाक्य भी बन सकता है।]। (तथा च) इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि (बुद्ध्यादयः) बुद्धि आदि [गुण] (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित [गुण] हैं।

(तत् एवम्) इस प्रकार (पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तः) पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न [बुद्धि आदि गुणों का आश्रयभूत] (नवमं द्रव्यम्) नवाँ द्रव्य (आत्मा) आत्मा (सिद्धः) सिद्ध हो गया।

उपर्युक्त विवरण में पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न "आत्मा" की सिद्धि के निमित्त दो अनुमान-वाक्यों का प्रयोग किया गया है। (१) केवल व्यतिरेकी (२) अन्वयव्यतिरेकी।

प्रथम अनुमान वाक्य में "बुद्धि आदि गुणों का आश्रय पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य है" साध्य है। वह द्रव्य 'आत्मा' ही हो सकता है क्योंकि द्रव्यों की संख्या ९ ही है तथा पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में बुद्धि आदि गुण आश्रित नहीं रहा करते हैं। इस अनुमान में कोई अन्वयी-दृष्टान्त ऐसा न बन सकेगा कि जिसे बुद्धि आदि गुणों के आश्रय के रूप में प्रस्तुत किया जा सके, क्योंकि सभी आत्मा तो पक्ष के अन्तर्गत ही आ जावेंगे। परिणाम स्वरूप इस प्रथम अनुमान वाक्य में अन्वय-व्याप्ति नहीं बनेगी। अतः यह केवल व्यतिरेकी-अनुमान ही बन सकेगा।

अथवा द्वितीय-अनुमान-वाक्य द्वारा यहाँ अन्वय-व्यतिरेकी-अनुमान की भी संभावना की जा सकती है। जब यत् तथा तत् शब्दों द्वारा बुद्धि आदि विशेष गुणों का ग्रहण न कर सामान्य-गुणों का ही ग्रहण कर लिया जायगा तो इस स्थिति में अन्वयव्याप्ति भी बन जायगी। "जो गुण जिस द्रव्य के आश्रित नहीं रहा करता है वह गुण उससे भिन्न किसी अन्य द्रव्य के आश्रित रहा करता है" यह अन्वय व्याप्ति बन जायेगी। इसका उदाहरण जैसे—'शब्द' गुण। यह शब्द गुण पृथिवी आदि में आश्रित नहीं रहता है। अतः वह

पृथिवी आदि द्रव्यो से भिन्न 'आकाश' में आश्रित रहा करता है। इसी भाँति बुद्धि [ज्ञान] आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित नहीं रहा करते हैं। अतः वे [बुद्धि आदि गुण] इन आठों द्रव्यों से भिन्न [नवम् द्रव्य] आत्मा में रहा करते हैं।

इस प्रकार प्रथम में व्यतिरेकी तथा द्वितीय में अन्वय व्याप्तियों के बन जाने से 'आत्मा' की सिद्धि में "अन्वयव्यतिरेकी-अनुमान भी प्रयुक्त हो सकता है।

आत्मा सम्बन्धी निरूपण में अब यह निश्चय हो गया कि (१) यह आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न है। अतः अब उस आत्मा के (२) विभुत्व, (३) नित्यत्व तथा (४) प्रतिशरीर में भिन्नत्व को स्पष्ट करना है।

आत्मा का विभुत्व, नित्यत्व तथा प्रतिशरीर की दृष्टि से भिन्नत्व—

स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः, परममहत्परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।

(च) और (२) (स) वह [आत्मा] (सर्वत्र) सर्वत्र (कार्योपलम्भात्) कार्य [अदृष्ट के अनुरूप ही फल] की प्राप्ति होने से (विभुः) व्यापक (परममहत्परिमाणवान्—इत्यर्थः) अर्थात् परम महत् परिमाण वाला है। (च) और (३) (विभुत्वात) विभु होने से (असौ) वह [आत्मा] (व्योमवत्) आकाश के समान (नित्यः) नित्य [भी] है। (सुखादी-नाम्) [प्रत्येक व्यक्ति के] सुख दुःख आदि के (वैचित्र्यात) वैचित्र्य अथवा भिन्न २ होने से (प्रतिशरीरम्) प्रत्येक शरीर में [वह आत्मा] (भिन्नः) पृथक-पृथक है।

आत्मा का परिमाण

ऊपर (यह सिद्ध किया जा चुका है कि 'आत्मा' एक अतिरिक्त द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य सपरिमाण हुआ करता है। अतः वहाँ यह विचार कर लेना भी आवश्यक हो जाता है कि उस द्रव्यरूप 'आत्मा' का परिमाण क्या है? आत्मा के इस परिमाण के बारे में प्रमुखरूप से तीन मत उपलब्ध होते हैं—

(१) न्याय-वैशेषिक-दर्शनों के अनुसार उस आत्मा का परिमाण 'परम-महत्-परिमाण' है।

(२) जैनदर्शन के अनुसार वह आत्मा 'मध्यमपरिमाण' [अथवा शरीर समपरिमाण] वाला है।

(३) रामानुज आदि कुछ वेदान्तदर्शनों के अनुसार आत्मा [जीवात्मा] का "अणु-परिमाण" ही माना गया है।

(१) न्याय-वैशेषिकाभिमत प्रथम मत अथवा उस आत्मा का (२) विभुत्व—

आत्मा के विभुत्व के विषय में "स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः परम महत्परिमाणवानित्यर्थः" इस पंक्ति को विशेषरूप से समझ लेना आवश्यक है। 'आत्मा' के इसी प्रसङ्ग में आगे यह भी पंक्ति आती है कि—'सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः'। इस पंक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। अतः इस पंक्ति से यह भी प्रतीत हो जाता है कि आत्मा सम्बन्धी यह वर्णन 'शरीरस्थ आत्मा' अथवा 'जीवात्मा' का ही है। इस आत्मा अथवा जीवात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक का मत यह है कि यह 'आत्मा' विभु अर्थात् व्यापक है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुये तर्क भाषाकार ने लिखा है कि यह शरीरस्थआत्मा 'परम महत् परिमाण'से युक्त है। 'आत्मा' के इस विभुत्व अथवा परममहत् परिमाणयुक्त होने को सिद्ध करने के लिये "सर्वत्र कार्योपलम्भाद" यह हेतु दिया गया है।

आत्मा के विभु अथवा व्यापक होने का अर्थ है—"संसार के सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों से आत्मा का संयुक्त होना।" इसकी संभावना तीन ही रूपों में की जा सकती है। (१) प्रथम तो यह कि आत्मा कहीं एक ही स्थान में स्थिर रहे तथा अखिल विश्व के सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्य उसके समीप में आ जायँ। (२) अथवा आत्मा स्वयं ही मूर्त्तद्रव्यों के समीप यात्रा करे। (३) अथवा आत्मा का परिमाण ही इतना महान् हो कि सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्य उसकी परिधि के अन्तर्गत आ जायँ। इनमें से प्रथम रूप तो पूर्णतया अव्यावहारिक तथा अनुभव के विपरीत ही है। द्वितीय रूप भी बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के आत्मा सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों के पीछे-पीछे भ्रमण करती रहे, यह उचित नहीं जान पड़ता। यदि आत्मा सदैव इस ही चक्कर में भ्रमण करता रहेगा तो वह संसार के अन्य व्यवहारों को कब तथा किस भाँति सम्पन्न कर सकेगा। यदि ऐसा स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी वह विद्यमान सभी मूर्त्तद्रव्यों के साथ किसी एक ही समय में संयुक्त न हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि इतना घोर परिश्रम करने के उपरान्त भी वह [आत्मा] कभी एक क्षण के लिये भी व्यापक होने का गौरव प्राप्त न कर सकेगा। अतः आत्मा की व्यापकता—सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों से उसकी संयुक्तता केवल एक इस ही बात पर आधृत है कि वह परम महान् हो; उसका परिमाण इतना असीम हो कि विश्व में जहाँ कहीं भी कोई मूर्त्तद्रव्य हों वह उसकी परिधि के अभ्यन्तर ही हों।

उक्त रूप में जीवात्मा के परममहत् परिमाण युक्त होने से अखिल विश्व के सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों के साथ उसका एक ही काल में संयोग हो सकता है तथा इस संयोग के आधार पर उसे विभु अथवा व्यापक भी समझा जा सकता है। किन्तु उक्त रूप में उसे विभु मानने की क्या आवश्यकता है ? यह समझ में नहीं आता क्योंकि शीतकाल में शीतलहरी के समय शरीर के पूरे भाग में सर्दी की अनुभूति तथा ग्रीष्मकाल में लू चलते समय एक साथ ही सम्पूर्ण शरीर में तीव्र उष्णता की अनुभूति हुआ करती है। अतः सम्पूर्ण शरीर में उस 'आत्मा' के व्यापकत्व को स्वीकार किये जाने का औचित्य तो अवश्य प्रतीत होता है किन्तु समग्र विश्व में उस आत्मा के व्यापक होने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इस कथन के समाधान में तर्कभाषाकार द्वारा दिये गये "सर्वत्र कार्योपलम्भात्" हेतु को उपस्थित किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब समग्र विश्व में आत्मा का कार्य सर्वत्र उपलब्ध होता है तो ऐसी स्थिति में उसका सर्वत्र व्यापक होना उचित ही है।

आत्मा के कार्य दो प्रकार के हुआ करते हैं (१) प्रथम प्रकार के वे कार्य हैं कि जिन्हें आत्मा अपने प्रयत्न से उत्पन्न किया करता है। इस प्रकार के कार्यों को वह उन्हीं स्थानों पर उत्पन्न कर सकता है कि जहाँ पर उसकी अपने शरीर के साथ उपस्थिति हो। (२) दूसरे प्रकार के वे कार्य हैं कि जो उस आत्मा के अदृष्ट [धर्माधर्म अथवा पुण्य-पाप] द्वारा उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने हेतु उसे उन-उन कार्यों के उत्पत्ति-स्थानों में अपने शरीरसहित विद्यमान रहने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। उन उत्पत्तिस्थानों पर तो उसके अदृष्ट की उपस्थिति से ही कार्य हो जाया करता है। किन्तु यदि आत्मा को शरीर के अभ्यन्तर ही सीमित स्वीकार किया जायगा तो उसका अदृष्ट विश्व के, समीप एवं दूरवर्त्ती स्थानों पर किस भाँति पहुँच सकेगा ? सभी स्थलों पर स्वयं जाकर पहुँचना आत्मा के लिये संभव नहीं है क्योंकि 'अदृष्ट' तो आत्मा का गुण है, अतः वह अपने आश्रय [आत्मा] का त्याग न कर सकेगा तथा अद्रव्य एवं अमूर्त्त होने के कारण उसका गतिशील होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में एक ही समय में दूरवर्त्ती अनेक स्थलों पर अदृष्ट को सन्निहित करने के लिये आत्मा को व्यापक स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा भी नहीं है। आत्मा की इस व्यापकता को मान लेने पर उसका एक ही समय में सर्वत्र विद्यमान रहना तथा उसके अदृष्ट का भी एक ही समय में सर्वत्र विद्यमान रहना स्वयं ही सम्भव हो जायेगा। फिर ऐसी स्थिति में एक ही काल में विश्व के विभिन्न

(१) न्याय-वैशेषिकाभिमत प्रथम मत अथवा उस आत्मा का (२) विभुत्व—

आत्मा के विभुत्व के विषय में "स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः परम महतपरिमाणवानित्यर्थः" इस पंक्ति को विशेषरूप से समझ लेना आवश्यक है। 'आत्मा' के इसी प्रसङ्ग में आगे यह भी पंक्ति आती है कि—'सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः"। इस पंक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। अतः इस पंक्ति से यह भी प्रतीत हो जाता है कि आत्मा सम्बन्धी यह वर्णन 'शरीरस्थ आत्मा' अथवा 'जीवात्मा' का ही है। इस आत्मा अथवा जीवात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक का मत यह है कि यह 'आत्मा' विभु अर्थात् व्यापक है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुये तर्क भाषाकार ने लिखा है कि यह शरीरस्थआत्मा 'परम महत् परिमाण'से युक्त है। 'आत्मा' के इस विभुत्व अथवा परममहत् परिमाणयुक्त होने को सिद्ध करने के लिये "सर्वत्र कार्योपलम्भाद" यह हेतु दिया गया है।

आत्मा के विभु अथवा व्यापक होने का अर्थ है—"संसार के सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों से आत्मा का संयुक्त होना।" इसकी संभावना तीन ही रूपों में की जा सकती है। (१) प्रथम तो यह कि आत्मा कहीं एक ही स्थान में स्थिर रहे तथा अखिल विश्व के सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्य उसके समीप में आ जायँ। (२) अथवा आत्मा स्वयं ही मूर्त्तद्रव्यों के समीप यात्रा करे। (३) अथवा आत्मा का परिमाण ही इतना महान् हो कि सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्य उसकी परिधि के अन्तर्गत आ जायँ। इनमें से प्रथम रूप तो पूर्णतया अव्यावहारिक तथा अनुभव के विपरीत ही है। द्वितीय रूप भी बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के आत्मा सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों के पीछे-पीछे भ्रमण करती रहे, यह उचित नहीं जान पड़ता। यदि आत्मा सदैव इस ही चक्कर में भ्रमण करता रहेगा तो वह संसार के अन्य व्यवहारों को कब तथा किस भाँति सम्पन्न कर सकेगा। यदि ऐसा स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी वह विद्यमान सभी मूर्त्तद्रव्यों के साथ किसी एक हीं समय में संयुक्त न हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि इतना घोर परिश्रम करने के उपरान्त भी वह [आत्मा] कभी एक क्षण के लिये भी व्यापक होने का गौरव प्राप्त न कर सकेगा। अतः आत्मा की व्यापकता—सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्यों से उसकी संयुक्तता केवल एक इस ही बात पर आधृत है कि वह परम महान् हो; उसका परिमाण इतना असीम हो कि विश्व में जहाँ कहीं भी कोई मूर्त्तद्रव्य हों वह उसकी परिधि के अभ्यन्तर ही हों।

उक्त रूप में जीवात्मा के परममहत् परिमाण युक्त होने से अखिल विश्व के सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यों के साथ उसका एक ही काल में संयोग हो सकता है तथा इस संयोग के आधार पर उसे विभु अथवा व्यापक भी समझा जा सकता है। किन्तु उक्त रूप में उसे विभु मानने की क्या आवश्यकता है ? यह समझ में नहीं आता क्योंकि शीतकाल में शीतलहरी के समय शरीर के पूरे भाग में सर्दी की अनुभूति तथा ग्रीष्मकाल में लू चलते समय एक साथ ही सम्पूर्ण शरीर में तीव्र उष्णता की अनुभूति हुआ करती है। अतः सम्पूर्ण शरीर में उस 'आत्मा' के व्यापकत्व को स्वीकार किये जाने का औचित्य तो अवश्य प्रतीत होता है किन्तु समग्र विश्व में उस आत्मा के व्यापक होने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इस कथन के समाधान में तर्कभाषाकार द्वारा दिये गये "सर्वत्र कार्योपलम्भात्" हेतु को उपस्थित किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब समग्र विश्व में आत्मा का कार्य सर्वत्र उपलब्ध होता है तो ऐसी स्थिति में उसका सर्वत्र व्यापक होना उचित ही है।

आत्मा के कार्य दो प्रकार के हुआ करते हैं (१) प्रथम प्रकार के वे कार्य हैं कि जिन्हें आत्मा अपने प्रयत्न से उत्पन्न किया करता है। इस प्रकार के कार्यों को वह उन्हीं स्थानों पर उत्पन्न कर सकता है कि जहाँ पर उसकी अपने शरीर के साथ उपस्थिति हो। (२) दूसरे प्रकार के वे कार्य हैं कि जो उस आत्मा के अदृष्ट [धर्माधर्म अथवा पुण्य-पाप] द्वारा उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने हेतु उसे उन-उन कार्यों के उत्पत्ति-स्थानों में अपने शरीरसहित विद्यमान रहने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। उन उत्पत्तिस्थानों पर तो उसके अदृष्ट की उपस्थिति से ही कार्य हो जाया करता है। किन्तु यदि आत्मा को शरीर के अभ्यन्तर ही सीमित स्वीकार किया जायगा तो उसका अदृष्ट विश्व के, समीप एवं दूरवर्ती स्थानों पर किस भाँति पहुँच सकेगा ? सभी स्थलों पर स्वयं जाकर पहुँचना आत्मा के लिये संभव नहीं है क्योंकि 'अदृष्ट' तो आत्मा का गुण है, अतः वह अपने आश्रय [आत्मा] का त्याग न कर सकेगा तथा अद्रव्य एवं अमूर्त्त होने के कारण उसका गतिशील होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में एक ही समय में दूरवर्त्ती अनेक स्थलों पर अदृष्ट को सन्निहित करने के लिये आत्मा को व्यापक स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा भी नहीं है। आत्मा की इस व्यापकता को मान लेने पर उसका एक ही समय में सर्वत्र विद्यमान रहना तथा उसके अदृष्ट का भी एक ही समय में सर्वत्र विद्यमान रहना स्वयं ही सम्भव हो जायेगा। फिर ऐसी स्थिति में एक ही काल में विश्व के विभिन्न

स्थानों पर उसके कार्यों की उत्पत्ति में कोई किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न होगी।

विश्व में उत्पन्न हुये सभी द्रव्य सभी मनुष्यों के काम में आते हों, ऐसा नहीं है। यदि कोई वस्तु किसी एक के काम में आती है तो दूसरी वस्तु किसी दूसरे के काम में। कोई वस्तु ऐसी भी होती है कि जो अनेक पुरुषों के काम में आती है। कोई वस्तु ऐसी भी हो सकती है कि जिससे एक मनुष्य को सुख तथा दूसरे को दुःख की अनुभूति होती हो। ऐसा भी हुआ करता है कि मनुष्य के काम में आने वाली सभी वस्तुयें उसके समीपस्थ स्थानों की ही बनी न होकर अति दूर स्थित स्थानों की बनी हों कि जहाँ वह संभवतः अपने वर्त्तमान जीवन-काल में जा भी न सकता हो। संसार की वस्तुओं के साथ मानव के इस प्रकार के सम्बन्ध के बारे में कोई न कोई कारण अवश्य हुआ करता है और वह है अदृष्ट। कहने का तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिस मनुष्य के अदृष्ट से उत्पन्न हुआ करती है अथवा यह कहा जाय कि जिस वस्तु को मानव अपने अदृष्ट द्वारा उत्पन्न किया करता है वह वस्तु उस मनुष्य के काम में आया करती है। इस मान्यता से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो वस्तु जिसके धर्मपुण्यरूप अदृष्ट से उत्पन्न होगी उस वस्तु से उसे सुख तथा जो वस्तु जिस मनुष्य के अधर्मपापरूप अदृष्ट से उत्पन्न होगी उस [वस्तु] से उसे दुःख की प्राप्ति होगी। इसी भाँति जिस वस्तु की उत्पत्ति अनेक पुरुषों के अदृष्ट द्वारा होगी वह वस्तु अनेक पुरुषों के काम में आयेगी। अतः मनुष्य के काम में आने वाली वस्तु कभी तो उसके अदृष्ट द्वारा समीप में ही उत्पन्न हो सकती है और कभी बहुत दूर भी।

मानव के काम में आने वाली वस्तुओं के बारे में मानव के अदृष्ट द्वारा उत्पन्न होने वाली उपर्युक्त मान्यता की संभावना तभी की जा सकती है कि जब हम आत्मा की व्यापकता में विश्वास कर लें। इसी कारण तर्कभाषाकार ने "सर्वत्र कार्योपलम्भ" के आधार पर आत्मा के 'विभुत्व' को ही स्वीकार किया है तथा आत्मा के इस विभुत्व की सिद्धि के लिये ही आत्मा के परम-महत् परिमाण को भी माना है।

यह तो हम सभी प्रत्यक्ष भी देखा करते हैं कि एक ही कुम्हार द्वारा निर्मित तथा एक ही 'अवा' के अभ्यन्तर पकाये गये घड़ों में भी परस्पर भेद की प्रतीति हुआ करती है। कोई अधिक पक जाया करता है और कोई कम। इसी प्रकार हम देखते हैं कि एक ही बगीचे में स्थित एक ही प्रकार के जल से सिञ्चित वृक्षों के फलों की आकृति तथा स्वाद आदि में भी भेद हुआ करता

है। इस भेद का क्या कारण है ? इस भेद का कारण भोक्ताओं का अदृष्ट ही है। एक ही मानव के जीवन में जिस-जिस वस्तु का भोग प्राप्त हुआ करता है वह किन-किन स्थानों में विभक्त है ? इसकी गणना किया जाना संभव नहीं है। जिस-जिस स्थान पर वह व्यक्ति पहुँच जायगा वहीं-वहीं पर उस व्यक्ति को भोग की प्राप्ति होगी। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि मानव के लिये भोग की सामग्री सर्वत्र विद्यमान रहा करती है। यदि किसी स्थान विशेष पर किसी वस्तु की उत्पत्ति में मानव का "अदृष्ट" कारण बनता है तो उस 'अदृष्ट' को सर्वत्र ही कारण के रूप में स्वीकार करना होगा। इसकी संभावना तभी की जा सकती है कि जब उस अदृष्ट के अधिकरण 'आत्मा' की सत्ता को भी सर्वत्र स्वीकार कर लिया जाय। अतः आत्मा की सत्ता को सर्वत्र मानने की दृष्टि से उस (आत्मा) को "विभु" अथवा 'परममहत्' परिमाण वाला मान लेना उचित ही है। "सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः" इस पंक्ति का वास्तविक अभिप्राय भी यही है।

(२) जैनदर्शनाभिमत, आत्मा का मध्यम परिमाण वाला होना:—

जैन विद्वानों के अनुसार आत्मा 'मध्यम-परिमाण' [अथवा शरीरसमपरिमाण] वाला है। मध्यम-परिमाण वह परिमाण है कि जो आवश्यकतानुसार घट-बढ़ भी सकता है। अर्थात् आत्मा जब किसी प्राणी के छोटे अथवा बड़े शरीर में प्रवेश किया करता है तब वह शरीर के अनुरूप ही छोटा बड़ा हो जाया करता है। छोटे शरीर में छोटा हो जाया करता है और बड़े शरीर में बड़ा। चींटी के शरीर में चींटी के आकार का, मनुष्य के शरीर में मनुष्य के आकार का तथा हाथी के शरीर में हाथी के आकार का और वृक्ष के शरीर में वृक्ष के आकार में वह परिणत हो जाया करता है। अतः मध्यम-परिमाण से अभिप्राय 'शरीरसम-परिमाण' से ही है।

इस परिमाण को स्वीकार करने में प्रमुख दोष यह आता है कि मध्यम-परिमाण वाले सभी पदार्थ 'अनित्य' हुआ करते हैं। चूँकि मध्यमपरिमाण जन्य होता है, अतः अनित्य होता है और अनित्य पदार्थों में ही रहा भी करता है। नित्य पदार्थ तो अणुपरिमाणवाले हुआ करते हैं अथवा विभु [अर्थात् परम-महत्] परिमाण वाले हुआ करते हैं। जीवात्मा के फलभोग आदि की व्यवस्था उसको 'नित्य' मानने पर ही संभव है। अतः जीवात्मा को नित्य मानना भी परमावश्यक है। उसका नित्य होना भी तभी संभव है कि जब उसे या तो 'अणु परिमाण' वाला माना जाय अथवा 'विभु' माना जाय। अतः आत्मा [जीवात्मा] को 'मध्यमपरिमाण' अथवा 'शरीरसमपरिमाण' वाला कहना उचित नहीं है।

(३) जीवात्मा का अणुपरिमाण वाला पक्ष :—

वैष्णव-दर्शनों में आत्मा (जीवात्मा) का परिमाण "अणु" माना गया है। इस मत के अनुसार जीवात्मा शरीर के एकभाग 'हृदय' में ही स्थित रहा करता है

इस पक्ष में प्रमुख दोष यह दिया जाता है कि जब जीवात्मा का निवास शरीर के केवल एक देश में ही है तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शरीर की क्रियाओं का नियन्त्रण तथा शरीर के विभिन्न स्थानों में होने वाली पीड़ाओं आदि का अनुभव जीवात्मा को किस भाँति हो सकेगा !

इस दोष का निराकरण तो स्पष्ट ही है कि शरीर-स्थित चैतन्यवाहिनी नाड़ियाँ हृदय प्रदेश में स्थित अणु-आत्मा को शरीर के प्रत्येक भाग में संवेदनशील बनाये रखा करती हैं। अथवा सम्पूर्ण शरीर में ज्ञानवाही तथा क्रियावाही तन्तु अवस्थित हैं। इनके द्वारा शरीर के एक भाग (हृदय) में स्थित आत्मा को शरीरव्यापिनी क्रियाओं के नियन्त्रण आदि में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुआ करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा (आत्मा) शरीर के एकभाग में अवस्थित अवश्य रहता है किन्तु उसकी ज्ञानात्मक प्रभा प्रसरणशील है। वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहा करती है। अतः एक साथ सम्पूर्ण शरीर में शीत एवं उष्णता आदि का अनुभव तुरन्त ही होने लगा करता है। ज्ञानवाही एवं क्रियावाही तन्तुओं द्वारा शरीर के किसी भी स्थान पर हुयी क्रिया, पीड़ा आदि की सूचना तत्काल ही केन्द्रस्थान को पहुँच जाया करती है तथा उसकी प्रतिक्रिया भी उचित स्थान पर हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा को अणु-परिमाणयुक्त स्वीकार करने में किसी प्रकार का दोष अथवा बाधा आदि उपस्थित नहीं होगी।

इसके अतिरिक्त आत्मा (जीवात्मा) को अणु-परिमाण युक्त मानने पर मृत्यु के समय एक शरीर को छोड़ अन्य शरीर में जाने तथा उत्पत्ति के समय अन्य शरीर से नये शरीर में आने सम्बन्धी बात का भी उपपादन हो जायगा। इस बात का विभुत्व पक्ष में बन सकना संभव नहीं है। उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त जीवात्मा के अणु होने के सम्बन्ध में उपनिषदों के भी अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं जिनमें से कुछ ये हैं :—

"एषो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" ॥ मुण्डक उप० ३।९ ॥

अर्थात् यह 'अणु' आत्मा चित्त अर्थात् विशुद्ध ज्ञान द्वारा जानने योग्य है।

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः" ॥

कठोप० २।३।१७ ॥ इत्यादि।

अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र परिमाण से युक्त, शरीररूपी पुरी में निवास करने वाला यह आत्मा सदैव प्राणियों के हृदयस्थल में सन्निविष्ट [स्थित] रहा करता है।"

इसी प्रकार के अनेक उपनिषद् वाक्य हैं कि जिनमें आत्मा को 'अणु' कहा गया है। इन वाक्यों में अनेक स्थलों पर उसे 'अंगुष्ठमात्र' कहा गया है। यह पद उसके 'अणुत्व' का ही द्योतक है। "अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" इत्यादि वाक्य में भी आत्मा को 'अंगुष्ठमात्र' कहा गया है। इससे विदित होता है कि 'अंगुष्ठमात्र' पद सूक्ष्म-शरीर सहित आत्मा का ही ग्राहक है अथवा लक्षणा से अणुत्व का ही ज्ञापक है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो मध्यमपरिमाण के समान यह अंगुष्ठमात्रपरिमाण भी अनित्यत्व दोष से युक्त हो जायगा।

आत्मा (जीवात्मा) का इस शरीर से निकल कर जाना अथवा किसीशरीर में प्रविष्ट होना—अणुत्व पक्ष के अतिरिक्त अन्य पक्षों में बनता ही नहीं है। अतः आत्मा को 'अणु' मानना ही युक्तिसंगत तथा उचित प्रतीत होता है।

अणु परिमाण वाला यह आत्मा शरीर के अभ्यन्तर 'हृदय' नामक स्थान में ही रहा करता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हृदय ही आत्मा का स्थान है। जैसा कि कठोपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में कहा भी गया है:—

"सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः"

इसी कारण हृदय शब्द की "हृदि अयम्" ऐसी निरुक्ति भी की गयी है:—

"तस्य एतदेव निरुक्तं हृदि अयं हृदयमिति"।

परमात्मा—प्रसङ्गवश यहाँ 'परमात्मा' का भी संक्षेप में उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। सत् एवं चित् स्वरूप इस आत्मा (जीवात्मा) की अपेक्षा एक और महान् आत्मा है कि जो सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। अतएव उसे परम आत्मा अर्थात् 'परमात्मा' कहा जाता है। ऋग्वेद में निम्नलिखित एक मन्त्र आता है कि जिसमें 'आत्मा' तथा परमात्मा का संकेत स्पष्टरूप से उपलब्ध होता है:—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ ऋ० १।१६४।२०।

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुये हैं, वे परस्पर मित्र रूप में हैं तथा सहयोगी भी हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के स्वादयुक्त फलों का भक्षण करता है और दूसरा उसके फलों का उपभोग न करता हुआ ही सुशोभित हो रहा है। [तात्पर्य यह है कि वह अपने भोक्ता मित्र के साक्षी और सहायक के रूप में विराजमान रहता है।]।

उक्त मन्त्र में 'अलङ्काररूप से प्रकृति रूप 'वृक्ष' के ऊपर बैठे हुये जीवात्मा तथा परमात्मा रूप दो पक्षियों का वर्णन किया गया है। इनमें से 'जीवात्मा' उस 'प्रकृति' रूप वृक्ष के फलों का भोग किया करता है और "परमात्मा" उसका भोग नहीं किया करता है। इस मन्त्र द्वारा ईश्वर, जीव तथा प्रकृति इन तीनों तत्त्वों की नित्य सत्ता सिद्ध होती है। न्यायदर्शन भी इन तीनों की सत्ता में विश्वास करता है। ईश्वर नित्य है तथा वह जगत् का निमित्त कारण है। प्रकृति भी नित्य है तथा वह जगत् का उपादान-कारण है। जीवात्मा भी नित्य है। उसी के उपभोग, अपवर्ग आदि की प्राप्ति के निमित्त ईश्वर 'प्रकृति' रूप उपादान कारण से घट आदि के समान सृष्टि का निर्माण किया करता है। ईश्वर की सिद्धि के लिये नैयायिकों द्वारा "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इत्यादि जिन अनुमानों का प्रयोग प्रस्तुत किया गया है, उनका भी वस्तुतः अभिप्राय यही है।

(३) आत्मा का नित्यत्व—

तर्कभाषाकार ने आत्मा को 'विभु' कथन करने के अतिरिक्त 'नित्य' भी कहा है। इसके निमित्त उन्होंने यह अनुमान दिया है—"विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्" अर्थात् विभु होने से ही वह [आत्मा] आकाश के समान नित्य है। जो पदार्थ विभु हुआ करता है वह नित्य भी होता है—वह व्याप्ति है। इसी के आधार पर उक्त अनुमानवाक्य द्वारा आत्मा का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इस अनुमान वाक्य में—"आत्मा नित्य है" यह 'प्रतिज्ञा' है। विभु होने से' यह "हेतु" है। आकाश के समान' यह 'उदाहरण' है।

(४) प्रतिशरीर की दृष्टि से आत्मा का भिन्नत्व—

आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। इसकी सिद्धि के लिये तर्कभाषाकार ने "सुखादीनां वैचित्र्यात्" [अर्थात् सुख-दुःख आदि की विचित्रता से] यह हेतु दिया गया है। कहने का अभिप्राय यह है हम देखते हैं कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई ज्ञानी है तो कोई अन्य अज्ञानी; इस प्रकार भी भिन्नतायें हमें लोक में निरन्तर देखने को उपलब्ध हुआ करती हैं। सुख, दुःख, ज्ञान आदि तो आत्मा के धर्म हैं। यदि आत्मा एक ही होता तो एक व्यक्ति के सुखी होने पर सभी को सुखी होना चाहिये था अथवा एक व्यक्ति के दुःखी होने पर सभी को दुःखी होना चाहिये था। किन्तु ऐसा सोचना तो अनुभव के विरुद्ध है। लोक में इस प्रकार के परस्पर विरोधी धर्मों की अनुभूति निरन्तर हुआ करती है। अतः इस आधार पर अनुमान द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी व्यक्तियों के आत्मा पृथक्-पृथक् अथवा भिन्न-भिन्न ही हैं।

आत्मा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार से कहा जा सकता है:—

(१) सभी वैदिक-दर्शनों के 'आत्मा' को शरीर आदि से भिन्न तथा नित्य स्वीकार किया है।

(२) केवल वेदान्त-सम्प्रदाय ही 'एकात्मवाद' में विश्वास करता है किन्तु अन्य सभी वैदिक-दर्शनों में आत्मा के अनेकत्व को ही स्वीकार किया गया है।

(३) आत्मा के परिमाण के बारे में भी थोड़ा सा मतभेद उपलब्ध होता है। प्रायः सभी वैदिक-दर्शनों में आत्मा के विभुत्व को स्वीकार किया गया है। मात्र रामानुजाचार्य ने जीवात्मा के अणुत्व को स्वीकार किया है। साथ ही जैन दर्शन में आत्मा को मध्यमपरिमाण अथवा शरीरसमपरिमाणवाला माना गया है।

(४) आत्मा के विभुत्व को स्वीकार करने में कुछ आपत्तियाँ अवश्य प्रस्तुत की गयी हैं किन्तु उनका समाधान भी सम्यक् रूपेण कर दिया गया है। जैसे—

(अ) यदि सभी, आत्माओं को समानरूप से परममहत्परिमाण वाला स्वीकार कर लिया जायगा तो एक ही स्थान पर अनेक आत्मा साथ ही साथ किस प्रकार रह सकेंगे?

इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है कि दो समान आकार वाले मूर्त्तिमान पदार्थों का ही एक साथ एक समय में एक स्थान पर रहना संभव नहीं माना जाता है। किन्तु 'आत्मा' तो कोई मूर्तिमान् पदार्थ नहीं है। अतः उनके एक साथ एक ही स्थल पर रहने के बारे में किसी भी प्रकार की आपत्ति का किया जाना उचित नहीं है।

(ब) इसी प्रकार एक आपत्ति यह भी की गयी है कि यदि आत्मा विभु अर्थात् परममहत् परिमाण वाला है तो उसके द्वारा एक शरीर का छोड़ा जाना तथा दूसरे शरीर का ग्रहण किया जाना किस भाँति संभव हो सकेगा।

इसका समाधान भी यह किया गया है कि आत्मा के विभु अथवा सर्वव्यापक) होने पर भी जो शरीर जिस आत्मा के 'अदृष्ट' [धर्माधर्म आदि] से उत्पन्न हुआ करता है तथा जिसके सुख-दुःख आदि रूप भोग का साधन हुआ करता है वही शरीर उस आत्मा के द्वारा गृहीत [ग्रहण किया गया हुआ] माना जाता है।

सभी आत्मा सर्वव्यापक होने पर भी समस्त पदार्थों के भोक्ता नहीं हुआ करते हैं अपितु जिस पदार्थ की भोग्यता जिस आत्मा के अदृष्ट के अनुसार, हुआ करती है उस पदार्थ का ही भोक्ता वह आत्मा हुआ करता है।

(५) न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में 'आत्मा' को दो रूपों में कहा गया है (१) 'आत्मा' रूप में (२) 'परमात्मा' रूप में। दोनों में यही अन्तर है कि एक [आत्मा] कर्मफल का 'भोक्ता' है तथा दूसरा भोक्ता न होकर 'द्रष्टा' है।

"शरीरम्"

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनं, तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम्।

आत्मा का विस्तृत विवेचन करने के अनन्तर अब क्रम से प्राप्त 'शरीर' नामक प्रमेय का निरूपण करते हैं:—

२. शरीर-निरूपण—

(तस्य) उस [आत्मा] के (भोगायतनम्) भोग का आश्रय [आयतन] (अन्त्यावयवि) अन्त्य अवयवी (शरीरम्) 'शरीर' कहलाता है। (सुख-दुःखान्यतरसाक्षात्कारः) सुख-दुःख में से किसी एक का साक्षात्कार [प्रत्यक्ष-अनुभव] ही (भोगः) भोग कहलाता है। (च) और (स) वह [भोग] (यदवच्छिन्ने) जिससे अवच्छिन्न [सीमित] (आत्मनि) आत्मा में (जायते) रहा करता है (तत्) वह [उस विभु आत्मा का] (भोगायतनम्) भोगायतन है (तदेव) [और] वही (शरीरम्) शरीर है। (वा) अथवा (चेष्टाश्रयः) चेष्टाओं के आश्रय का ही नाम (शरीरम्) शरीर है। (चेष्टा तु) चेष्टा तो (हिताहित-प्राप्तिपरिहारार्था) हित और अहित के [यथाक्रम] प्राप्ति तथा परिहार [अर्थात् हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार] के लिये की गयी (क्रिया) क्रिया का ही नाम है; (स्पन्दनमात्रं तु न) केवल [अचेतन पदार्थ में होने वाली] गतिमात्र को ही [चेष्टा] नहीं कहा जाता है।

ऊपर 'शरीर' का यह लक्षण किया गया है—"तस्य भोगायतनं अन्त्यावयवि शरीरम्" अर्थात् जो आत्मा के भोग का आयतन अथवा आश्रय है और

अन्तिम अवयवी है, उसे 'शरीर' कहा जाता है। यद्यपि आत्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक है अथवा सर्वत्र विद्यमान है फिर भी वह सुख-दुःख आदि की अनुभूति शरीर में ही कर सकता है। अथवा इसी बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि जहाँ जिस आत्मा का शरीर विद्यमान है वहीं पर वह आत्मा सुख-दुःख आदि की अनुभूति कर सकता है। जिस स्थल पर उसका शरीर विद्यमान नहीं है वह सुख-दुःख आदि की अनुभूति नहीं कर सकता है। इस ही बात को तर्कभाषाकार ने इन शब्दों में कहा है कि "स (भोगः) च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते" अर्थात् यह भोग जिससे सीमित आत्मा में उत्पन्न होता है उसी को आत्मा के भोग का आयतन कहा जाता है। इसी को आत्मा के भोग का शरीर कहा जाता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब हाथ अथवा पैर में चोट अथवा काँटा लग जाया करता है तो उस समय आत्मा हाथ अथवा पैर में दुःख की अनुभूति किया करता है। तो इस दृष्टि से हाथ अथवा पैर को ही शरीर कहा जायगा क्योंकि उनमें शरीर का उक्त लक्षण चला जायगा और इस भाँति लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होगा। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि हाथ, पैर तो शरीर के अवयव हैं। उनको ही शरीर कैसे कहा जा सकता है? अतः उक्त दोष के निवारणार्थ शरीर के लक्षण में "अवयवि" पद रखा गया है। क्योंकि हाथ-पैर आदि तो शरीर के अवयव हैं, अवयवी नहीं। हाथ, पैर आदि शरीर के अवयव हैं। उन अवयवों से निर्मित शरीर अवयवी है। क्योंकि जिसके अवयव हुआ करते हैं उसी को अवयवी कहा जाया करता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि हाथ, पैर आदि में भी अँगुलियाँ ही उन हाथ, पैर आदि के अवयव हैं। अतः हाथ-पैर भी अवयवी की श्रेणी में आ जायेंगे। इस भाँति "भोगायतनं अवयवि शरीरम्" इतना ही लक्षण हाथ, पैर आदि में किये जाने पर यह लक्षण भी अतिव्याप्त हो जायेगा। अतएव इस दोष के वारण करने के लिये 'अन्त्य'अवयवि यह विशेषण रखा गया है। हाथ, पैर आदि अवयवी तो हो सकते हैं किन्तु उनको अन्त्य-अवयवी नहीं कहा जा सकता है। अन्त्य अवयवी तो सम्पूर्ण शरीर है। अतः "तस्य भोगायतन अन्त्यावयवि शरीरम्" ऐसा लक्षण बन जाने पर यह लक्षण हाथ, पैर आदि में अतिव्याप्त नहीं होगा क्योंकि अन्त्यावयवि उसे कहते हैं कि जो किसी अन्य अवयवी का अवयव नहीं हुआ करता है। अन्त्यावयवि का अर्थ ही है—"द्रव्यान्तरानारम्भक अवयवी" अर्थात् जो किसी अन्य द्रव्य का आरम्भक नहीं होता। हाथ-पैर आदि तो अवयवी कहे जा सकते हैं किन्तु अन्त्यावयवि नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि वे तो शरीर रूप द्रव्यान्तर के

आरम्भक हैं ही। शरीर तो किसी दूसरे द्रव्य का आरम्भक नहीं है। अतएव उसे अन्त्यावयवी कहा ही जा सकता है।

यदि केवल "अन्त्यावयवि शरीरम्" इतना ही लक्षण किया जाय और उसमें "भोगायतनम्" पद न जोड़ा जाय तो शरीर के इस लक्षण की घट आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि घट आदि भी तो द्रव्यान्तर के अनारम्भक हैं, अतः अन्त्यावयवी तो हैं ही। इसी अतिव्याप्ति के वारण के लिये लक्षण में "भोगायतनम्" पद रखा गया है। घट आदि आत्मा के भोगायतन नहीं हुआ करते हैं। अतः अब यह लक्षण घट आदि में न जा सकेगा।

न्यायसूत्रकार ने "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" यह शरीर का लक्षण किया हैं। इसी को ध्यान में रखकर तर्कभाषाकार ने "चेष्टाश्रयो वा शरीरम्" यह भी शरीर का लक्षण किया है। विशिष्ट प्रकार की क्रिया का नाम चेष्टा है। प्रत्येक क्रिया अथवा गति को चेष्टा नहीं कहा जा सकता है। हित की प्राप्ति अथवा अहित के परिहार के निमित्त जो क्रिया की जाया करती है उसको "चेष्टा" कहा जाता है। हित अथवा अहित का विवेक करना तो चेतन का ही धर्म है। अतएव चेतन आत्मा के संयोग से ही चेष्टा हुआ करती है। अतः प्रयत्न से युक्त आत्मा का संयोग जिसमें असमवायि-कारण होता है ऐसी क्रिया ही चेष्टा कही जाती हैं ["प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायि-कारणिका क्रिया"]। अतः शरीर का यह द्वितीय लक्षण भी ठीक ही है।

यहाँ यह शंका अवश्य की जा सकती है कि मृत-शरीर तो चेष्टाविहीन हुआ करता है। तब उसे शरीर कैसे कहा जा सकेगा? इसका समाधान कुछ व्याख्याकारों ने इस भाँति किया है कि जो कभी भी चेष्टा का आश्रय रहा है, वह शरीर है। अतः इस लक्षण में कोई दोष नहीं आता है। कुछ अन्य व्याख्याकारों का कहना है कि चेष्टा के आश्रयभूत अन्त्यावयवी में जो जाति रहा करती है वही मृत शरीर में भी रहा करती है। अतः किसी प्रकार की शंका का कोई अवसर नहीं है।

"इन्द्रियम्"

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्। अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति। तथापीन्द्रियसन्निकर्षेऽतिप्रसङ्गोऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति। शरीर-

संयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति।

(३) इन्द्रिय—निरूपण—

(शरीरसंयुक्तम्) शरीर से संयुक्त (अतीन्द्रियम्) अतीन्द्रिय [इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जाने योग्य] (ज्ञानकरणम्) ज्ञान का कारण (इन्द्रियम्) इन्द्रिय है। (अतीन्द्रियमिन्द्रियम्) [यदि इन्द्रिय का लक्षण केवल] 'अतीन्द्रियं इन्द्रियम्' (इति) इतना ही (उच्यमाने) कथन किया गया होता तो (कालादेः अपि) काल आदि में भी (इन्द्रियत्वप्रसङ्गः) इन्द्रियत्व [अर्थात् इन्द्रिय का लक्षण] का प्रसङ्ग चला गया होता [अर्थात् काल आदि में भी इन्द्रिय का लक्षण चला गया होता], (अतः) इसीलिये [इन्द्रिय के लक्षण में] (ज्ञानकरणम्) 'ज्ञान का करण' [यह विशेषण] (इति उक्तम्) भी रखा गया है।

[लक्षण में विद्यमान प्रत्येक पद का प्रयोजन ही 'पदकृत्य' कहलाता है। 'इन्द्रिय' के उक्त लक्षण में इस 'पदकृत्य' को तर्कभाषाकार ने स्वयं ही दिखला दिया है। उक्त लक्षण में प्रमुख पद है "ज्ञानकरणम्"। शेष 'शरीरसंयुक्तम्' और 'अतीन्द्रियम्' ये दोनों उस (ज्ञानकरणम्) के विशेषण हैं। यदि 'इन्द्रिय' का लक्षण 'अतीन्द्रियं इन्द्रियम्'—इतना ही किया गया होता तो काल आकाश आदि पदार्थ भी इन्द्रिय कहलाने लगते क्योंकि ये पदार्थ भी इन्द्रियों द्वारा गृहीत न होने से 'अतीन्द्रिय' हैं। अतएव इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये इन्द्रिय के उक्त लक्षण में "ज्ञानकरणम्" यह अंश भी रखा गया। काल, आकाश आदि ज्ञान के 'करण' नहीं हैं। अतः अतीन्द्रिय होने पर भी काल आदि को 'इन्द्रिय' नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के आधार पर आकाश, काल आदि को सभी कार्यों के प्रति साधारण कारण कहा गया है—इस दृष्टि से आकाश, काल आदि भी ज्ञान के "कारण" कहे जा सकते हैं किन्तु उनको 'ज्ञान का करण' नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रकृष्टकारण को ही "करण" कहा जाता है और आकाश, काल आदि साधारण कारण होते हुये भी प्रकृष्ट कारण की श्रेणी में नहीं आते हैं।]

(तथापि) फिर भी ['ज्ञानकरणं' को जोड़कर इन्द्रिय का "ज्ञानकरण-मतीन्द्रियं इन्द्रियम्" ऐसा लक्षण किया जाने पर भी] (इन्द्रियसन्निकर्षे) इन्द्रिय [और अर्थ] के सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में (अतिप्रसङ्गः)

अतिव्याप्ति होगी। (अतः) इसीलिये (शरीरसंयुक्तम्—इति) [शरीर से संयुक्त 'शरीरसंयुक्त' पद [इन्द्रिय के लक्षण में] (उक्तम्) कहा गया है।

[इन्द्रिय का अर्थ के साथ जो षोढा सन्निकर्ष दिखलाया गया है वह भी ज्ञान का करण है तथा उसका ग्रहण भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के 'ज्ञान का करण' तथा 'अतीन्द्रिय' होने से उक्त लक्षण 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' में भी अतिव्याप्त हो जायगा। 'इन्द्रियसन्निकर्ष' को अतीन्द्रिय इस कारण कहा गया है कि जिन पदार्थों का संयोग-सम्बन्ध हुआ करता है वे दोनों पदार्थ यदि प्रत्यक्ष होते हैं तब तो उन दोनों का संयोग भी प्रत्यक्ष हुवा करता है किन्तु यदि वे दोनों पदार्थ अथवा उन दोनों में से किसी एक का प्रत्यक्ष न होता हो तो उनका संयोग भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है— जैसे "वायु" का नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है तो किसी भी पदार्थ के साथ वायु के संयोग का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इसी भाँति सभी इन्द्रियाँ 'अतीन्द्रिय' हैं। अतएव इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय ही है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि "ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्" इन्द्रिय का यह लक्षण 'इन्द्रियसन्निकर्ष' में अतिव्याप्त हो जाता है। अतः उसके वारण के लिये 'शरीरसंयुक्तम्' यह पद भी उक्त लक्षण के साथ जोड़ा गया है। इन्द्रियसन्निकर्ष का शरीर के साथ संयोग होना संभव ही नहीं है क्योंकि संयोग आदि सन्निकर्ष द्रव्यरूप नहीं है और संयोग केवल द्रव्यों का ही हुआ करता है।]

"शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम्" इन्द्रिय का (इति) इतना ही लक्षण (उच्यमाने) कहे जाने पर (आलोकादेः) प्रकाश आदि में (इन्द्रियत्वप्रसङ्गः) इन्द्रियत्व प्राप्त होगा [क्योंकि प्रकाश का शरीर के साथ तो संयोग है ही, साथ ही वह ज्ञान का 'करण' भी है।] (अतः) इसलिये [उपर्युक्त अतिव्याप्ति के निवारण के लिये] (अतीन्द्रियम्-इति) "अतीन्द्रिय" इस पद को भी (उक्तम्) कहा गया है।

[प्रकाश तो अतीन्द्रिय नहीं है अतः अब "शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरण-मतीन्द्रियं 'इन्द्रियम्" इन्द्रिय का यह लक्षण प्रकाश आदि में अतिव्याप्त नहीं होगा।]

इस भाँति इन्द्रिय के लक्षण में "शरीरसंयुक्तं", 'ज्ञानकरणं' और 'अती-न्द्रियम्'—यह जो तीन पद रखे हैं उन सभी की सार्थकता स्पष्ट हो गयी है और लक्षण की पूर्णता का भी स्पष्टीकरण हो गया है।

तानि चेन्द्रियाणिषट्। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि।

(च) और (तानि) वे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (षट्) ६ हैं। (घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि) (१) घ्राण (२) रसना (३) चक्षु (४) त्वक् (५) श्रोत्र और (६) मन।

इन इन्द्रियों में से प्रथम पाँच इन्द्रियाँ बाह्येन्द्रिय कही जाती हैं। इनके द्वारा शरीर से बाहर के पदार्थों का प्रत्यक्ष हुआ करता है। छठी इन्द्रिय मन है। इसको अन्तः इन्द्रिय अथवा अन्तःकरण भी कहा जाता है। इसके द्वारा शरीर के अन्दर की वस्तु-आत्मा, उसके गुण तथा उसकी जाति का प्रत्यक्ष हुआ करता है।

सांख्य, वेदान्त आदि अन्य दर्शनों में इन्द्रियों के दो प्रकार माने गये हैं (१) ज्ञानेन्द्रियाँ (२) कर्मेन्द्रियाँ। जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है उन्हें "ज्ञानेन्द्रिय" कहा जाता है तथा जिन इन्द्रियों के द्वारा कर्म किये जाते हैं उनको कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। तर्कभाषाकार द्वारा बतलायी गयी इन्द्रियों में जो प्रथम पाँच इन्द्रियाँ हैं उन्हीं को "ज्ञानेन्द्रिय" कहा जाता है। कर्मेन्द्रियों के नाम हैं (१) वाक् (२) पाणि (३) पाद (४) पायु और (५) उपस्थ। वाक् इन्द्रिय से बोलने का कार्य, पाणि (हाथ) से वस्तुओं के लेनेदेने आदि का कार्य, पाद (चरण) से चलने का कार्य, पायु से मलत्याग का कार्य तथा उपस्थ इन्द्रिय द्वारा मूत्रत्याग का कार्य लिया जाता है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में कर्मेन्द्रिय नाम से किसी इन्द्रिय को मान्यता नहीं दी गयी है। उनकी दृष्टि में यह वर्णित सभी कर्मेन्द्रियाँ शरीर के अवयव ही हैं, इन्द्रिय नहीं। यदि आत्मा के किसी प्रयोजन का साधनमात्र होने के आधार पर ही उन्हें इन्द्रिय कहा जायगा तो पेट, पीठ आदि को भी इन्द्रिय की श्रेणी में रखना होगा, क्योंकि उनके द्वारा भी आत्मा के किन्हीं प्रयोजनों की सिद्धि हुआ ही करती है।

(१) घ्राणेन्द्रिय का निरूपण—

तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। नासाग्रवर्ति। तच्च पार्थिवं गन्धवत्वाद् घटवत्। गन्धवत्वञ्च गन्धग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुक्तं, तथा चक्षू रूपग्राहकं रूपवत्।

(तत्र) उन [छहों] में से (गन्धोपलब्धिसाधनम्) गन्ध की उपलब्धि का साधनभूत (इन्द्रियम्) इन्द्रिय को (घ्राणम्) घ्राण कहा जाता है। (नासाग्रवर्ति) वह नासिका के अग्रभाग में रहती है। (च) और (तत्)

वह [घ्राणेन्द्रिय] (पार्थिवम्) पृथिवीजन्य है [प्रतिज्ञा] (गन्धवत्वात्) गन्धवाली होने से [हेतु] (घटवत्) जैसे घट [उदाहरण] [अर्थात् उक्त घ्राणेन्द्रिय गन्ध से युक्त होने के कारण पृथिवीजन्य इन्द्रिय कही जाती है।]। (च) और (गन्धग्राहकत्वात्) गन्ध की ग्राहक होने से [घ्राणेन्द्रिय में] (गन्धवत्वम्) गन्धवत्व [अर्थात् गन्ध से युक्त होना] है। [व्याप्ति यह है कि] (यद् इन्द्रियम्) जो इन्द्रिय (रूपादिषु) रूप आदि [रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द] (पञ्चसु-मध्ये) पाँचों में से (यं गुणम्) जिस गुण का (गृह्णाति) ग्रहण करती है (तत्-इन्द्रियम्) वह इन्द्रिय (तद्गुणसंयुक्तम्) वह इन्द्रिय] उस से युक्त [कहलाती] है। (तथा) जैसे (रूपग्राहकम्) रूप को ग्रहण करने वाली (चक्षुः) चक्षु-इन्द्रिय (रूपवत्) रूप [गुण] से युक्त कही जाती है।

इन्द्रियों के जो 'घ्राण' आदि नाम रखे गये हैं वे सभी वस्तुतः अन्वर्थ ही हैं—"जिघ्रति-गन्धं गृह्णाति अनेन इति घ्राणम्" अर्थात् जिस इन्द्रिय के द्वारा गन्ध का ग्रहण किया जाता है उसी का नाम 'घ्राण' है। इसी दृष्टि से घ्राणेन्द्रियका लक्षण किया गया है—गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। यदि इस लक्षण में 'गन्ध' शब्द न रखा गया होता और "उपलब्धिसाधनं इन्द्रियं घ्राणम्" इतना ही घ्राणेन्द्रिय का लक्षण किया गया होता तो यह लक्षण चक्षु आदि इन्द्रिय में भी अतिव्याप्त हो जाता क्योंकि चक्षु-आदि भी उपलब्धि के साधन हैं ही। अतः इस दोष के वारण के लिये लक्षण में गन्ध' शब्द रखा गया है। इसी प्रकार यदि "गन्धोपलब्धिसाधनं घ्राणम्" इतना ही घ्राणेन्द्रिय का लक्षण किया गया होता तो केशर आदि सुगन्धित द्रव्य भी गन्धोपलब्धि के साधन हैं, अतः इनमें भी घ्राणेन्द्रिय का यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। अतएव इस दोष के वारण के लिये तर्कभाषाकार द्वारा लक्षण में "इन्द्रियम्" इस पद को रखा गया है। साथ ही गन्ध तथा घ्राण के सन्निकर्ष [संयुक्त समवाय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष] में भी लक्षण अति व्याप्त न हो जाय, इस दृष्टि से भी "इन्द्रियम्" इस पद को रखा गया है।

घ्राण इन्द्रिय पार्थिव है अर्थात् पृथिवी के परमाणुओं से बनी है। इसकी सिद्धि के लिये यह अनुमान होगा :—घ्राण इन्द्रिय पार्थिव है [प्रतिज्ञा], गन्ध गुण वाली होने से [हेतु] घट के समान [उदाहरण]। जो-जो गन्धयुक्त पदार्थ हुआ करते हैं वे सब पार्थिव ही हुआ करते हैं, ऐसा नियम है। व्याप्ति भी यह है कि जो इन्द्रिय रूप आदि पाँच गुणों में से जिस गुण का ग्रहण किया करती है वह इन्द्रिय उस ही गुण से युक्त भी हुआ करती है। जैसे चक्षु

इन्द्रिय रूप का ग्रहण किया करती है, अतएव वह रूप-गुण से युक्त भी होती है। इसी भाँति घ्राणेन्द्रिय गन्ध नामक गुण को ग्रहण किया करती है। अतः वह भी गन्ध गुण से युक्त है।

अन्य इन्द्रियों के लक्षणों में भी उपर्युक्त प्रकार से ही विचार कर लिया जाना चाहिये।

(२) रसनेन्द्रियं-निरूपण—

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। तच्चाप्यं रसवत्वात्। रसवत्वञ्च रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाल्लालावत्।

(रसोपलब्धिसाधनम्) रस की उपलब्धि का साधनभूत (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (रसनम्) रसना है। (जिह्वाग्रवर्ति) वह जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है। (च) और (रसवत्वात्) रस से युक्त होने से (तत्) वह [रसना-इन्द्रिय] (आप्यम्) जलीय अथवा जल से उत्पन्न होने वाली इन्द्रिय है। (च) और (रूपादिषु पञ्चसु मध्ये) रूप आदि पाँचों में से (रसस्य एव) केवल रसकी ही (अभिव्यंजकत्वात्) अभिव्यंजक होने से (रसवत्वम्) [यह रसनेन्द्रिय] रस से युक्त [अथवा रसवती] भी है (लालावत्) जैसे कि [रस को प्रकट करने वाली] लार [रस से युक्त] हुआ करती है।

"रसयति-रसं गृह्णाति अनेन इति रसनम्" अर्थात् जिसके द्वारा रस का ग्रहण किया जाता है उसी का नाम रसनेन्द्रिय है। रसनेन्द्रिय के लक्षण में भी घ्राणेन्द्रिय के समान ही चक्षु आदि में अतिव्याप्ति के वारण हेतु 'रस' शब्द को रखा गया है तथा रसनेन्द्रिय तथा रस के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति के वारण हेतु 'इन्द्रिय' पद रखा गया है।

रसनेन्द्रिय स्थान जिह्वा का अग्रभाग है। यहाँ भी रसनेन्द्रिय को जल से उत्पन्न सिद्ध करने के निमित्त "तच्च आप्यम्" इत्यादि अनुमान दिया गया है। रसनेन्द्रिय रस से युक्त है—इसकी सिद्धि के लिये भी 'रसवत्वञ्च' इत्यादि अनुमान का प्रयोग दिखलाया गया है। "लाला का अर्थ है—किसी वस्तु के खाते [चबलाते] समय मुख में निकलने वाला रस। इसी को 'लार' भी कहा जाता है। यह लार ही यह मधुर है, यह तिक्त है, आदि प्रकार से रस का व्यंजक हुआ करती है। यह लार केवल रस का ही व्यंजक हुआ करती है—रूप आदि की नहीं। इसी कारण उस [लार] को 'रसवत्' कहा गया है। इस ही भाँति रसना भी केवल रसकी ही व्यंजक हुआ करती है, अन्य रूप आदि की नहीं। अतएव यह रसनेन्द्रिय भी 'रसवती' है।

३. चक्षुरिन्द्रिय-निरूपण—

रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजसं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।

(रूपोपलब्धिसाधनम्) रूप की उपलब्धि का साधनभूत (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (चक्षुः) 'चक्षु' है। (कृष्णताराग्रवर्ति) वह [नेत्र की] कालीपुतली [कृष्णतारा] के अग्रभाग में रहा करती है। (च) और (तत्) वह (तैजसम्) तेज अर्थात् अग्नि से उत्पन्न है [प्रतिज्ञा], (रूपादिषु पञ्चसु मध्ये) रूपादि पाँचों में से (रूपस्य एव) केवल रूप की ही (अभिव्यंजकत्वात्) अभिव्यंजक होने से [हेतु], (प्रदीपवत्) जैसे [केवल रूप का अभिव्यंजक] प्रदीप (अग्नि से ही उत्पन्न) है [उदाहरण]।

"चष्टे-रूपं पश्यति अनेन इति चक्षुः" अर्थात् जिसके द्वारा रूप का ग्रहण किया जाता है वह इन्द्रिय 'चक्षु' कहलाती है। चक्षु सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षण में घ्राण आदि मे अतिव्याप्ति के परिहारार्थ 'रूप' शब्द का प्रयोग किया गया है। चक्षु तथा रूप के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'इन्द्रिय' पद को रखा गया है।

चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय का स्थान आँख का कृष्णवर्ण का तारा अर्थात् काली पुतली माना गया है। चक्षु अग्नि नामक तत्व से उत्पन्न है; अतः उसमें भी अग्नि से उत्पन्न अन्य पदार्थों से सदृश ही रश्मियाँ हुआ करती हैं। काली-पुतली में से होकर नेत्र की ये रश्मियाँ बाहर जाती हैं और किसी रूपवान् द्रव्य के साथ संयुक्त [संयोग सन्निकर्ष] होती हैं। इस भाँति उस द्रव्य में स्थित रूप के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष हुआ करता है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही सन्निकर्षों के द्वारा चक्षु-इन्द्रिय, रूपवान् द्रव्य तथा उसके रूप को ग्रहण किया करती है।

तर्कभाषाकार द्वारा चक्षु को 'तैजस' सिद्ध करने के लिये "तच्च तैजसम्··· इत्यादि" अनुमान को दिया गया है।

४. त्वगिन्द्रिय—

स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्, सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्।

(स्पर्शोपलब्धिसाधनम्) स्पर्श की उपलब्धि का साधनभूत (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (त्वक्) त्वक् है। (सर्वशरीरव्यापि) वह समस्त शरीर में व्याप्त है। (तत्) वह (तु) तो (वायवीयम्) वायु से उत्पन्न है [प्रतिज्ञा], (रूपादिषु पञ्चसु मध्ये) रूप आदि पाँचों में से (स्पर्शस्य एव) केवल स्पर्श की ही (अभिव्यञ्जकत्वात्) अभिव्यञ्जक होने से [हेतु] (अङ्गसङ्गिसलिल-

शैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्) जैसे शरीर में लगे हुये जल की शीतलता की अभिव्यंजक पंखे (व्यजन) की वायु [केवल स्पर्श को ही प्रकट करने वाली हुआ करती है]।

"स्पृशति अनेन इति" जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है वह इन्द्रिय त्वक् कहलाती है। त्वचा में स्थित इन्द्रिय को 'त्वक् इन्द्रिय' कहा जाता है। इसके लक्षण में भी चक्षु आदि में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु लक्षण में 'स्पर्श' पद का प्रयोग किया गया है। स्पर्श तथा त्वगिन्द्रिय के सन्निकर्ष में त्वगिन्द्रिय का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय, इसके निमित्त 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग लक्षण में हुआ है।

त्वक् इन्द्रिय तो सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान है। जब किसी स्पर्श से युक्त पदार्थ के साथ त्वगिन्द्रिय का संयोग हुआ करता है तो त्वगिन्द्रिय से संयोग-सन्निकर्ष के माध्यम से उस पदार्थ का ग्रहण हो जाया करता है। और संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष द्वारा उस पदार्थ के स्पर्श का भी ग्रहण हो जाया करता है।

त्वगिन्द्रिय वायुतत्व की इन्द्रिय है। इसकी सिद्धि के निमित्त "तच्च वायवीयम्" इत्यादि अनुमान तर्कभाषाकार द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय निरूपण—

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम् । तच्चकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्। तदपि शब्दग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यंजकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथाचक्षुरादिरूपग्राहकं रूपादियुक्तम् । शब्दग्राहकञ्च श्रोत्रमतः शब्दगुणकम्।

(शब्दोपलब्धिसाधनम्) शब्द की उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रिय 'श्रोत्र' है। (च) और (तत्) वह (कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नम्) 'कर्णशष्कुली' से घिरा हुआ (आकाशम्-एव) आकाश ही है, (द्रव्यान्तरम्) अन्य [कोई पृथक्] द्रव्य (न) नहीं, (शब्दगुणत्वात्) शब्दगुण युक्त होने से। (तदपि) और वह [शब्दगुणत्व] भी (शब्दग्राहकत्वात्) शब्द का ग्राहक होने से है [अर्थात् कर्णशष्कुलि से घिरा हुआ आकाश ही श्रोत्र है अथवा श्रोत्र आकाशात्मक ही है [यह प्रतिज्ञा है], शब्द का ग्राहक होने से (यह हेतु)] (यदिन्द्रियम्) जो इन्द्रिय (रूपादिषु पञ्चसु मध्ये) रूप आदि पाँचों में से (यद्गुणव्यंजकम्) जिस गुण की अभिव्यंजक हुआ करती है (तत्) वह [इन्द्रिय] (तद्गुणसंयुक्तम्) उसी गुण से युक्त हुआ करती है। (यथा)

जैसे (रूपग्राहकम्) रूप की ग्राहक (चक्षुरादि) नेत्र आदि [इन्द्रिय] (रूपादियुक्तम्) रूप आदि गुण से युक्त है [उदाहरण]। (च) और (श्रोत्रम्) श्रोत्र भी (शब्दग्राहकम्) शब्द का ग्राहक है [उपनय] (अतः) इसलिये वह (शब्दगुणकम्) शब्द गुण वाला है [निगमन]।

"शृणोति शब्दं गृह्णाति अनेन" इति' अथवा श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम्" अर्थात् जिस [इन्द्रिय] के द्वारा शब्द का ग्रहण किया जाता है उस इन्द्रिय को "श्रोत्र" कहा जाता है। चक्षु इत्यादि में अतिव्याप्ति दोष के निवारण हेतु श्रोत्रेन्द्रिय के लक्षण में "शब्द" पद का प्रयोग किया गया है तथा शब्द को ग्रहण करने वाले समवाय-सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति के कारण हेतु "इन्द्रिय" पद को रखा गया है। कर्णशष्कुली से घिरे हुये आकाश का ही नाम श्रोत्र है। यह श्रोत्र ही अपने अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले शब्द का ग्रहण समवाय-सन्निकर्ष द्वारा किया करता है।

पहले जिन चार इन्द्रियों का वर्णन किया जा चुका है, वे सभी इन्द्रियाँ पृथिवी आदि तत्वों से उत्पन्न होती हैं किन्तु श्रोत्र आकाश-जन्य नहीं है। उसे आकाशात्मक ही कहा जा सकता है। जैसे घट में घिरा हुआ आकाश घटावच्छिन्न आकाश अथवा घटाकाश कहलाता है वैसे ही कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न अथवा घिरा हुआ आकाश ही 'श्रोत्र' कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रोत्र, आकाश से भिन्न न होकर आकाशात्मक ही है। इसकी सिद्धि के लिये "तच्च"……इत्यादि अनुमान वाक्य प्रयुक्त हुआ है। इस अनुमान में शब्दगुणत्व अर्थात् शब्दगुण से युक्त होने के कारण 'श्रोत्र' को आकाशात्मक सिद्ध किया गया है। साथ ही "शब्द नामक गुण का श्रोत्र आश्रय है" इसकी सिद्धि भी "तदपि शब्दग्राहकत्वात्' इत्यादि अनुमान द्वारा की गयी है।

(६) मनो-निरूपण—

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणं, हृदयान्तर्वर्ति।

(सुखाद्युपलब्धिसाधनम्) सुख आदि की उपलब्धि का साधनभूत (इन्द्रियम्) [अन्तः] इन्द्रिय (मनः) मन है। (च) और (तत्) वह (अणुपरिमाणम्) अणु परिमाण वाला है और (हृदयान्तर्वर्ति) हृदय के अभ्यन्तर रहने वाला है।

"मनस्यति अनेन इति मनः" जिसके द्वारा मनन किया जाय उसे मन कहा जाता है। आत्मा में स्थित सुख-दुःख आदि गुणों का ग्रहण जिस इन्द्रिय के द्वारा किया जाता है, उसीका नाम मन है। रूप आदि की उपलब्धि के

साधनभूत चक्षु आदि में मन के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाय, इसके निमित्त उक्त लक्षण में 'सुख-आदि' का सन्निवेश किया गया है। जब मनका [परीतत् नाड़ी से भिन्न स्थान में] आत्मा के साथ संयोग होता है तब संयुक्त आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुख-दुःख आदि का ग्रहण मन से संयुक्त समवाय-सन्निकर्ष द्वारा हो जाया करता है। अतएव संयुक्त समवाय सन्निकर्ष में मन का उक्त लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय, इसके लिये लक्षण में 'इन्द्रिय' शब्द का सन्निवेश किया गया है।

'मन' अणु-परिमाण वाला है। इसको हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि जब चक्षु, श्रोत्र आदि कई इन्द्रियाँ एक साथ ही अपने-अपने विषयों [रूप, शब्द आदि] के साथ सम्बद्ध हुआ करती हैं तब उस समय एक साथ कई विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। इसके विपरीत एक-एक विषय का ही क्रमशः प्रत्यक्ष हुआ करता है। इससे मन का 'अणु' होना स्पष्ट ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ मन का संयोग हुआ करता है तथा मन से संयुक्त उस ही इन्द्रिय से सम्बन्धित प्रत्यक्ष भी हुआ करता है। यदि मन विभु [व्यापक] रहा होता तब तो उसका एक ही समय में अनेक अथवा सभी इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध हो सकता था तथा उस एक ही काल में उन सभी इन्द्रियों से सम्बन्धित विषयों का प्रत्यक्ष भी किया जा सकता था। इसी दृष्टि से न्यायदर्शन में मन की सिद्धि को करते हुये निम्नलिखित सूत्र लिखा गया है—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" ॥ न्या० सू० १।१।१६ ॥

मन हृदय के भीतर स्थित रहा करता है। यहाँ स्थित रहते हुये वह आवश्यकतानुसार इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर तत्तत् विषयों का ग्रहण कराया कराता है।

इन्द्रियों के अस्तित्व में प्रमाण—

ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम् ?

उच्यते, अनुमानमेव । तथा हि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत् ।

[प्रश्न-] (चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे) चक्षु आदि इन्द्रियों के अस्तित्व [होने] में (किम्) क्या (प्रमाणम्) प्रमाण है ?

[उत्तर] (उच्यते) बतलाते हैं। (अनुमानं एव) अनुमान ही [इन्द्रियों के अस्तित्व में] प्रमाण है। (तथा हि) जैसे कि (रूपाद्युपलब्धयः) रूप आदि का ज्ञान (करणसाध्याः) करण से साध्य है [प्रतिज्ञा], (क्रियात्वात्) क्रिया होने से [हेतु], (छिदिक्रियावत्) छेदन क्रिया के समान [उदाहरण]।

प्रश्नकर्त्ता के अभिप्राय का प्रश्न यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के जो गोलक आदि स्थान दृष्टिगोचर होते हैं, वस्तुतः वे तो इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म हैं। उनका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया जाना भी संभव नहीं है। अतः इन्द्रियों के अस्तित्व में कौन-सा ऐसा प्रमाण है? कि जिसके आधार पर उनकी सत्ता को स्वीकार किया जा सके।

इसी के उत्तर में कहा गया है कि अनुमान द्वारा हम इन्द्रियों के अस्तित्व को जान सकते हैं। जो भी क्रिया होती है वह किसी न किसी करण [साधन] द्वारा ही साध्य हुआ करती है। जैसे छेदन [काटना] क्रिया को ही ले लीजिये। यह क्रिया चाकू, हँसिया, फरसा आदि में से किसी भी करण [साधन] द्वारा साध्य हुआ करती है। इसी भाँति रूप आदि की उपलब्धि का किया जाना भी क्रिया है। अतएव उसका भी कोई न कोई करण होना आवश्यक है। अतएव रूप आदि की उपलब्धि का जो करण है, वही 'इन्द्रिय' कहलाती है। इस भाँति अनुमान द्वारा इन्द्रियों का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है। अतः उन इन्द्रियों का जो लक्षण आदि किया गया है, वह उचित ही है।

अर्थाः

४—"अर्थ" नामक प्रमेय का निरूपण—

अर्थाः षट् पदार्थाः। ते च द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाः। प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्त्तनम्।

प्रमेयों के निरूपण में (१) आत्मा (२) शरीर और (३) इन्द्रिय—इन तीन प्रमेयों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अब चतुर्थ प्रमेय 'अर्थ' का वर्णन क्रम-प्राप्त है। इस अर्थ के अन्तर्गत तर्कभाषाकार ने वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का वर्णन किया है। "तर्कभाषा" न्याय तथा वैशेषिक दोनों ही दर्शनों का सम्मिलित "प्रकरणग्रन्थ" है। किन्तु फिर भी उसका प्रमुख आधार न्यायदर्शन ही है। इसी दृष्टि से तर्कभाषा में न्याय-सम्बन्धी 'प्रमाण' आदि सोलह पदार्थों का निरूपण किया गया है। वैशेषिक-दर्शन के पदार्थों का निरूपण इस 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत किया गया है :—

(अर्थाः) अर्थ [से वैशेषिक दर्शन में कथित द्रव्य-आदि] (षट्) छः (पदार्थाः) पदार्थ हैं। (च) और (ते) वे हैं :—(१) द्रव्य (२) गुण (३)

कर्म (४) सामान्य (५) विशेष और (६) समवाय। (यद्यपि) यद्यपि [न्याय दर्शन में प्रतिपादित] (प्रमाणादयः) प्रमाण आदि [१६ पदार्थों] का (अत्रैव) इन [वैशेषिक दर्शन में वर्णित पदार्थों] में ही (अन्तर्भवन्ति) अन्तर्भाव हो जाता है (तथापि) फिर भी (प्रयोजनवशाद्) विशिष्ट प्रयोजन की दृष्टि से (भेदेन कीर्त्तनम्) [उनका] पृथक् कथन किया गया है।

प्रमाणादि षोडश पदार्थों के प्रतिपादन का विशिष्ट प्रयोजन—

न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में भी इस प्रश्न को उठाकर उसका उचित समाधान किया गया है। प्रश्न यह उठाया गया है कि जब प्रमाण आदि १६ पदार्थों का अन्तर्भाव केवल एक ही प्रमेय-पदार्थ के अन्तर्गत किया जा सकता था, तो फिर न्यायशास्त्र में १६ पदार्थों का निरूपण क्यों किया गया है ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुये भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि यद्यपि उन १६ पदार्थों का अन्तर्भाव केवल एक प्रमेय में ही किया जा सकता है किन्तु फिर भी उनका विशिष्ट प्रयोजन होने के कारण उनका पृथक् प्रतिपादन किया गया है। और वह विशिष्टप्रयोजन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि समस्त विश्व के कल्याण के लिये "अन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती" ॥ न्याय द० १।१।१॥ इस वचन के आधार पर (१) अन्वीक्षिकी [अर्थात् न्यायविद्या], (२) त्रयी [अर्थात् वेद-विद्या], (३) वार्त्ता [अर्थात् शिल्प, वाणिज्य, अर्थशास्त्र आदि], तथा (४) दण्डनीति [अर्थात् राजशास्त्र अथवा राजनीति] इन चार प्रकार की विद्याओं का पृथक्-पृथक् उपदेश दिया गया है। इन सभी का पृथक्-पृथक् निरूपण किये बिना उनके वास्तविक प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः इन चारों प्रकारों की विद्याओं का पृथक्-पृथक निरूपण किया जाना परमावश्यक है। इनमें से अन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या ही यह 'न्यायदर्शन' है। प्रमाणादि पदार्थ ही इस न्यायविद्या के प्रमुख अङ्ग हैं। न्यायविद्या इन प्रमाणादि १६ पदार्थों पर ही आधारित है। प्रमाणादि १६ पदार्थों का पृथक्-पृथक् निरूपण करके ही उक्त न्यायविद्या का सम्यक् विवेचन किया जा सकता है, इनके बिना नहीं। न्यायविद्या सम्बन्धी इन सोलह पदार्थों का ही विस्तृत विवेचन न्यायशास्त्र में किया गया है। अतः उक्त न्यायविद्या का प्रमुखग्रन्थ न्याय [दर्शन] शास्त्र ही है।

यदि प्रमाण आदि १६ पदार्थों का निरूपण न्याय में न किया गया होता तो न्याय-विद्या भी उपनिषदों के समान केवल अध्यात्मविद्या मात्र ही रह जाती। अतः न्यायविद्या के स्वतन्त्र-स्वरूप की रक्षा के निमित्त इन पदार्थों का

विस्तृत विवेचन न्यायशास्त्र के माध्यम द्वारा किया गया है। [देखिये—न्यायशा० वात्स्यायनभाष्य १।१।१॥–तत्रसंशयादीनां पृथकग्वचनमनर्थकम्–इत्यादि]

उक्त वात्स्यायनभाष्य के आधार पर ही तर्कभाषाकार ने "तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेनकीर्त्तनम्" यह पंक्ति लिखी है।

विशिष्ट प्रयोजन का द्वितीयभाग यह है कि प्रमाण-प्रमेय आदि के तत्त्वज्ञान को निश्रेयस [मोक्ष] का निमित्त बतलाया गया है। अतः द्रव्य आदि अर्थों से पृथक् प्रमाण-प्रमेय आदि पदार्थों का निरूपण किया जाना आवश्यक है। इसी आधार पर तर्कभाषा के कुछ अन्य टीकाकारों ने उपर्युक्त "तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्त्तनम्' इस पंक्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है :—"प्रमाणादीनां साक्षान्निश्रेयसाङ्गत्वविवक्षया प्राधान्येन कीर्त्तनम्" अर्थात् प्रगाण आदि के साक्षातरूप से निश्रेयस [मोक्ष] का साधन होने से उनका प्रधानरूप से पृथक् कीर्त्तन किया गया है।

द्रव्य निरूपण—

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

(तत्र) उन [द्रव्य आदि ६ पदार्थों] में जो (समवायिकारणम्) समवायिकारण होता है वह (द्रव्यम्) द्रव्य कहलाता है। (वा) अथवा (गुणाश्रयः) जो गुणों का आश्रय [होता] है [वह द्रव्य कहलाता है, यह द्रव्य का लक्षण है।]। (च) और (तानि) वे—(१) पृथिवी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) आकाश [इन पाँचों को पंचभूत भी कहा जाता है।] (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा और (९) मन (नव एव) नौ ही हैं।

'द्रव्य' का विवेचन करते हुये तर्कभाषाकार ने सर्वप्रथम द्रव्य का लक्षण ही किया है और तदनन्तर उनकी गणना की है। द्रव्य के लक्षण भी दो किये हैं। इनमें प्रथम लक्षण है :—"जो समवायिकारण होता है वह 'द्रव्य' कहा जाता है। इस लक्षण में 'समवायि' पद को न रखकर यदि "कारणं द्रव्यम्" इतना ही लक्षण किया गया होता तो उक्त लक्षण गुण तथा कर्म में भी अतिव्याप्त हो जाता क्योंकि गुण तथा कर्म भी किसी कार्य के असमवायि अथवा निमित्त कारण हुआ करते हैं। अतः कारण होने की दृष्टि से उक्त लक्षण ["कारणं द्रव्यम्' गुण तथा कर्म में भी चला जाता। इसीके वारण हेतु लक्षण में 'समवायि' पद को रखा गया है। यदि "समवायि द्रव्यम्" इतना ही द्रव्य का लक्षण किया गया होता तो भी गुण तथा कर्म में यह लक्षण चला जाता क्योंकि गुण तथा कर्म में गुणत्व तथा कर्मत्व जाति

समवाय सम्बन्ध से रहा ही करती है। अतः वे भी समवायी हुये। इसी दोष के वारण के लिये लक्षण में 'कारणम्' शब्द रखा गया है।

[यहाँ यह भी विचारणीय है कि गुण तथा कर्म में गुणत्व तथा कर्मत्व जाति का समवाय है किन्तु जाति तो नित्य हुआ करती है, अतः गुण तथा कर्म उसके समवायिकारण नहीं हो सकते हैं। क्योंकि गुण तथा गुणत्व का समवाय सम्बन्ध तो हो सकता है किन्तु गुणत्व जाति के समवायि कारण गुण नहीं हो सकते हैं। इत्यादि।]

'द्रव्य' का दूसरा लक्षण है—"गुणाश्रयोद्रव्यम्"। किन्तु इस लक्षण में पूर्वपक्षी द्वारा यह दोष पहले दिखलाया जा चुका है कि प्रथमक्षण में घट आदि द्रव्य गुणों का आश्रय न होने से द्रव्य ही न हो सकेंगे [न्याय एवं वैशेषिक के मतानुसार प्रथम क्षण में घट आदि द्रव्य निर्गुण ही उत्पन्न हुआ करते हैं और द्वितीयादि क्षणों में उनमें गुणों की उत्पत्ति हुआ करती है।] किन्तु तर्कभाषाकार ने 'गुणाश्रय' का 'गुणों के आश्रय होने की योग्यता को रखने वाला" तथा 'योग्यता' का अर्थ गुणों के अत्यन्ताभाव का अभाव" करके उक्त दोष का निवारण भी कर दिया है। उनका कहना है कि प्रथमक्षण में घट आदि में गुणों का अभाव रहा करता है किन्तु वहाँ गुणों का अत्यन्ताभाव (त्रैकालिकअभाव) तो नहीं होता। अतः "गुणाश्रयो द्रव्यम्" द्रव्य का यह लक्षण भी संगत हो जाता है।

द्रव्यों के इस प्रसङ्ग में "नवैव" पद रखकर यह स्पष्ट किया गया है कि द्रव्य नौ ही होते हैं। नौ से अधिक नहीं होते हैं। मीमांसकों ने इन नौ द्रव्यों के अलावा 'तम' की भी दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है :—

"तमः खलु चलन्नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति।।"

अर्थात् 'तम' में 'चलन' नामक क्रिया, नीलरूप, परत्व-अपरत्व, विभाग आदि गुण विद्यमान रहा करते हैं। अतः 'तम' को एक पृथक् द्रव्य स्वीकार किया जाना चाहिये। उसका अन्तर्भाव पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में नहीं किया जा सकता है। अतः उसे दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार करना ही उचित है। "नीलं तमः चलति ऐसी प्रतीति हुआ करती है। अतएव इस प्रतीति से 'तम में 'नील' गुण का होना तथा 'चलन' क्रिया का होना स्पष्ट ही है। गुणों का अथवा क्रिया का आश्रय द्रव्य ही हुआ करता है। अतः 'तम' का द्रव्य होना सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त 'गन्ध' नामक गुण के 'तम' में विद्यमान न होने से उसका अन्तर्भाव 'पृथिवी' में नहीं हो सकता है। 'तम'

में नील [अथवा कृष्ण] रूप भी रहा करता है। अतएव जल, वायु, आकाश, अग्नि, काल, दिक् और आत्मा आदि में भी उसके अन्तर्भाव की संभावना नहीं की जा सकती है क्योंकि इनमें से किसी में भी नील अथवा कृष्ण रूप नहीं रहा करता है। जल का रूप अभास्वर शुक्ल तथा अग्निका रूप भास्वर शुक्ल हुआ करता है, कृष्ण नहीं। शेष वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन ये ६ द्रव्य तो रूप रहित ही हैं। 'तम' नीलरूप युक्त है। अतः 'तम' का अन्तर्भाव उक्त नव द्रव्यों में नहीं किया जा सकता है। इसीलिये मीमांसक 'तम' को दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

इसके बारे में नैयायिकों का कथन यह है कि तेज के अभाव का ही नाम 'तम' है। तेज [अग्नि] को द्रव्य माना ही गया है। व ह अनित्य है। अतः उसका अभाव मानना भी आवश्यक तथा उचित ही है। तेज ही प्रकाश है। प्रकाश के अभाव का ही नाम अन्धकार अथवा 'तम' है। इस भाँति तेजोऽभाव से ही 'तम' का काम निकल जाता है। अतः तम को पृथक् द्रव्य के रूप में में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

'तम' को द्रव्य सिद्ध करने के लिये जो नीलरूप गुण तथा चलन रूप क्रिया का आश्रय कहा गया था—यह भी वस्तुतः भ्रम ही है। तम में नीलरूप आदि की प्रतीति तो उस ही प्रकार की है कि जैसे आकाश में नीलरूप की प्रतीति का होना। वास्तविकता तो यह है कि आकाश निराकार है, अतएव रूप रहित है। ऐसा होने पर भी लोक में आकाश की ओर देखकर "नीलंनभः" ऐसी प्रतीति तथा व्यवहार भी हुआ करता है। किन्तु यह तो कोरा भ्रम ही है। अतः जैसे आकाश के सम्बन्ध में होने वाली "नीलंनभः" की प्रतीति भ्रान्ति है उसी प्रकार "नीलं तमः" की प्रतीति भी भ्रान्ति ही है। इसी भाँति तमश्चलति भी भ्रान्ति ही हैं। वास्तविकता तो यह है प्रकाश अथवा आवरक द्रव्य ही चलता हुआ दृष्टिगोचर हुआ करता है। उसके चलने से जो-जो तेज का भाग आवरण में आजाया करता है, जहाँ-जहाँ तेज नहीं पहुँच पाता है वही तेजोऽभाव वाला स्थल चलता हुआ प्रतीत हुआ करता है। अतः 'तम' में चलनरूप क्रिया की प्रतीति भ्रान्ति ही है। इस प्रकार 'तम' की सिद्धि के विषय में दिये गये दोनों ही हेतु भ्रमरूप ही हैं। अतः 'तम' कोई द्रव्य नहीं है। इसी विषय की चर्चा वैशेषिक दर्शन के निम्नलिखित सूत्रों में भी की गयी है :—

"द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति वैधर्म्यादभावस्तमः॥ वैशे० द० ५।२।१९॥ तथा
तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च॥ वैशे० द० ५।२।२० ॥"

[पृथिव्यादि द्रव्याणि]

तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी, काठिन्यकोमलत्वाद्यवयवसंयोग विशेषेण युक्ता। घ्राण-शरीर मृत्पिण्ड-पाषाणवृक्षादिरूपा। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती। सा च द्विविधा, नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या च कार्यरूपा। द्विविधायाः पृथिव्याः रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा अनित्याः पाकजाश्च। पाकस्तु तेज. संयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्वं रूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः।

पृथिवी नामक द्रव्य का निरूपण—

(तत्र) उन नौ द्रव्यों में [से] (पृथिवीत्वसामान्यवती) पृथिवीत्व जाति [सामान्य] से युक्त (पृथिवी) पृथिवी [कहलाती] है। [वह] (काठिन्यकोमलत्वादि) कठोर [लोहा, पत्थर आदि में] और कोमल [रुई, धूल आदि में] आदि (अवयवसंयोगविशेषेण) अवयव संयोग विशेष से (युक्ता) युक्त [होती] है। [वह पृथिवी शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के भेद से तीन प्रकार की हुआ करती है] (घ्राण-शरीर-मृत्पिण्ड-पाषाणवृक्षादिरूपा) घ्राण [इन्द्रिय], शरीर [मानव आदि का] तथा मिट्टी का पिण्ड, पत्थर, वृक्ष आदि [विषय] रूप से [तीन भेदों वाली] है। [वह] (१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व और (१४) संस्कार नामक १४ चौदह गुणों से युक्त है। (च) और (सा) वह (द्विविधा) दो प्रकार की है (नित्याऽनित्या च) (१) नित्य और (२) अनित्य। (नित्या) नित्य (परमाणुरूपा) परमाणु रूप (च) और (अनित्या) अनित्य (कार्यरूपा) कार्यरूप [पृथिवी] है। (द्विविधायाः) दोनों प्रकार [नित्य और अनित्य] की (पृथिव्याः) पृथिवी के (रूपरसगन्धस्पर्शाः) रूप-रस-गन्ध-स्पर्श [ये चारों गुण] (अनित्याः) अनित्य (पाकजाश्च) और पाकज ही होते हैं। (पाकस्तु) पाक [शब्द का] अर्थ है (तेजःसंयोगः) तेज अर्थात् अग्नि सामान्य का संयोग। (तेन) उस (तेज अर्थात् अग्नि के संयोग] से (पृथिव्याः) पृथिवी [से निर्मित घट आदि] का (पूर्वम्) अपना पहले का [श्याम] (रूपादयः) रूप आदि [कच्चे घड़े का श्यामरूप तथा विशेष प्रकार का रस, गन्ध तथा स्पर्श] (नश्यन्ति) नष्ट हो जाया करते हैं तथा [उनके स्थान पर लालवर्ण का रूप, कठोर स्पर्श, विशिष्ट प्रकार का रस तथा गन्ध आदि] (अन्ये) दूसरे प्रकार के [गुण] (जन्यन्ते) उत्पन्न हो जाया

करते हैं। (इति) इसी कारण (पाकजाः) पाक अर्थात् अग्नि के संयोग से उत्पन्न होने के कारण ये 'पाकज' गुण कहे जाते हैं।

पृथिवी के इस निरूपण में सर्वप्रथम पृथिवी का यह लक्षण किया गया है कि पृथिवीत्व जाति जिसमें रहा करती है उसे पृथिवी कहा जाता है।

गन्ध की उत्पत्ति पृथिवी में ही होती है। पृथिवी से भिन्न द्रव्यों में नहीं होती। अतः समवाय सम्बन्ध के होने से गन्ध के प्रति पृथिवी को तादात्म्य सम्बन्ध से 'कारण' माना जाता है। इस भाँति गन्ध की समवायिकारणता सम्पूर्ण पृथिवी में रहा करती है तथा पृथिवी से भिन्न में नहीं रहा करती है। अतः उक्त कारणता जिस धर्म से अवच्छिन्न अर्थात् नियन्त्रित होगी वह धर्म भी सम्पूर्ण पृथिवी में विद्यमान रहेगा तथा पृथिवी से भिन्न में नहीं रहेगा। गन्ध की यह समवायिकारणता जिस धर्म से नियन्त्रित हुआ करती है उसी का नाम है "पृथिवीत्व"। यह [पृथिवीत्व] ही जाति है। अतएव यह जाति जिसमें रहा करती है उसी को 'पृथिवी' कहा जाया करता है।

[इसी प्रकार जल आदि के लक्षण में भी समझ लेना चाहिये।]

इस पृथिवी के कठिन, कोमल आदि भेद होते हैं। पृथिवी के जिन अवयवों का संयोग दृढ़ हुआ करता है वह 'कठिन' कही जाती है तथा पृथिवी के जिन अवयवों का संयोग शिथिल हुआ करता है वह 'कोमल' कही जाती है।

पृथिवी के स्वरूप भी अनेक हुआ करते हैं—घ्राण, शरीर, मृत्पिण्ड, पाषाण, वृक्ष आदि। न्यायसम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में पृथिवी के इन सभी रूपों को तीन भागों में विभक्त किया गया है ( ) शरीर (२) इन्द्रिय और (३) विषय। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वनस्पति आदि की गणना 'शरीर' वर्ग के अन्तर्गत की जाती है। मिट्टी के पिण्ड एवं पत्थर आदि का समावेश 'विषय' वर्ग में किया जाता है। यहाँ 'विषय' से अभिप्राय है शरीर तथा इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के भोग के साधनभूत द्रव्य।

पृथिवी के चतुर्दश गुण ये हैं—(१) रूप (२) रस (३) गन्ध, (४) स्पर्श (५) संख्या, (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग, (१०) परत्व (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व (१३) द्रवत्व और (१४) संस्कार [वेग तथा स्थितिस्थापक]।

पृथिवी के दो प्रकार स्वीकार किये गये हैं (१) नित्य-पृथिवी (२) अनित्य-पृथिवी। जो पृथिवी परमाणु रूप में है वह 'नित्य' कही जाती है तथा जो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होती है वह 'अनित्य' कही जाती है।

द्वयणुक से लेकर दृश्यमान पार्थिव-पदार्थों तक सभी अनित्य हैं। इन्हीं को अनित्य अथवा कार्यरूप-पृथिवी कहा जाता है। ऊपर जो पृथिवी के तीन स्वरूप [शरीर, इन्द्रिय और विषय] बतलाये गये हैं, प्रशस्तपाद भाष्य की दृष्टि से वे ही कार्यरूपा-पृथिवी के तीन प्रकार हैं। 'तर्कसंग्रह' आदि प्रकरण ग्रन्थों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

तर्कभाषाकार ने 'अनित्यापृथिवी' के जिन तीन रूपों का विवेचन किया है उनमें से 'शरीर' का उल्लेख पृथक् रूप से किया गया है। 'घ्राण' का वर्णन 'इन्द्रिय' में किया गया है। मृत्पिण्ड, पाषाण और वृक्ष आदि को विषय कहा गया है। विषय से तात्पर्य है—"शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमात्मनोभोगसाधनं द्रव्यं विषयः "न्यायकन्दली"—अर्थात् शरीर तथा इन्द्रिय से व्यतिरिक्त आत्मा के साधनभूत द्रव्य का ही नाम विषय है।

यह जो द्रव्य आदि के निरूपण से सम्बन्धित 'अर्थ' का प्रतिपादन किया जा रहा है वह वैशेषिक-दर्शन के अनुसार किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में 'अर्थ' के निरूपण के प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है।

अनित्य पृथिवी के भी दो भेद होते हैं (१) अणु (२) महत्। जो पृथिवी दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होती है उसे 'द्वयणुक' कहा जाता है। यह 'अणु' होती है। तीन द्वयणुकों के संयोग से जो पृथिवी उत्पन्न हुआ करती है उसे त्रुटि अथवा त्रसरेणु कहा जाता है। वह तथा उससे बड़ी सभी पृथिवी 'महत्' कही जाती है।

'नित्य' तथा 'अनित्य' दोनों प्रकार की पृथिवी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श 'अनित्य' तथा 'पाकज' हुआ करते हैं। 'पाकज' का अर्थ है—'पाक से उत्पन्न होनेवाला'। 'पाक' का अर्थ है—तेज अथवा अग्नि का विलक्षण संयोग। इस विलक्षण तेज अथवा अग्नि-संयोगरूप पाक से पृथिवी के पूर्ववर्त्ती रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नष्ट हो जाया करते हैं और उनके स्थान पर नवीन-नवीन रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्पत्ति हो जाया करती है। इस भाँति जो नवीन रूप, रस आदि गुणों की उत्पत्ति हुआ करती है उन्हें "पाकज" कहा जाता है। उदाहरणार्थ—कच्चा 'आम' हरे रंग का [अर्थात् उसका रूप हरा हुआ करता है।], खट्टेरसवाला, अव्यक्तसुरभि [गन्ध] वाला तथा कठोर स्पर्श से युक्त हुआ करता है। यही आम जब सूर्य के आतप [सूर्य तेज (अग्नि) का ही रूप है।] का सम्पर्क कुछ काल पर्यन्त प्राप्त किया करता है तब उसे "पका हुआ आम" कहा जाया करता है। इस दशा में उसका हरा रूप नष्ट हो जाया करता है तथा उसके स्थान पर उसमें

लाल अथवा पीला 'रूप' उत्पन्न हो जाया करता है। खट्टे 'रस' के स्थान पर 'मधुर' रस की उत्पत्ति हो जाया करती है। अव्यक्त सुरभि-गन्ध का नाश होकर उसके स्थान पर व्यक्तसुरभि गन्ध की उत्पत्ति हो जाती है तथा कठोर स्पर्श के स्थान पर कोमल-स्पर्श हो जाया करता है। पके आम के ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सूर्य्यातपसम्पर्क [तेज अथवा अग्नि] रूप पाक से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव ये 'पाकज' कहे जाते हैं।

इसी भाँति मिट्टी का कच्चा घड़ा आंवे में रखा जाकर जब अग्नि के तीव्र संयोग से पक जाया करता है तब उसके भी पूर्ववर्त्ती रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श का नाश होकर नवीन रूप, रस, गन्ध और स्पर्श उसे प्राप्त हो जाया करते हैं। इसप्रकार संसार के सभी पार्थिवद्रव्यों पर 'पाक' का प्रभाव हुआ करता है।

टिप्पणीः—(१) यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि ये रूप आदि चारों गुण 'पृथिवी' में ही 'पाकज' हुआ करते हैं, जल आदि में नहीं। जल को अनेकबार गर्म करने पर भी उसके 'रूप' आदि में परिवर्त्तन नहीं हुआ करता है।

पृथिवी में भी यह 'रूप' आदि सदा 'पाकज' ही होते हों, ऐसा भी सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं हुआ करता है। कहीं-कहीं विना पाक के ही अवयवों के गुणों से 'अवयवी' के गुण उत्पन्न हो जाया करते हैं। जैसे—हरितवर्ण के तन्तुओं से निर्मित 'पट' का हरा वर्ण (रंग) हरितवर्ण (रूप) के तन्तुओं के हरितवर्ण (हरे रंग) से ही जन्य हुआ करता है, पाकज नहीं हुआ करता। अतएव यह कहना ही उचित है कि पृथिवी में 'रूप' आदि चारों गुण "पाकज" भी होते हैं।

(२) कार्य द्रव्यों के ये रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक गुण भी दो प्रकार के होते हैं (१) पाकज (२) अपाकज। ये पृथिवी में ही "पाकज" हुआ करते हैं। "अपाकज" तो पृथिवी में भी हुआ करते हैं तथा यथायोग्य अन्य द्रव्यों में भी। अपाकज रूप आदि की उत्पत्ति तो कारणगुण पूर्वक हुआ करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि कार्यद्रव्य के कारणभूत 'अवयवों' में रहने वाले गुणों से उनके सजातीय गुण कार्यद्रव्य [अवयवी] में भी आ जाया करते हैं।]

अतः 'रूप' आदि चारों गुण 'पृथिवी' में पाकज भी होते है—इस बारे में न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही एक मत हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि पाकजोत्पत्ति सम्बन्धी प्रक्रिया में दोनों में पर्याप्त मतभेद है। वैशेषिक-दर्शन "पीलु-

पाक" में विश्वास रखता है। 'पीलु' शब्द का अर्थ है—परमाणु। अतएव पीलुपाक का अर्थ परमाणु-पाक हुआ। न्यायदर्शन को "पिठरपाक" में विश्वास है। पिठरपाक का अर्थ है पिण्ड अथवा अवयवी द्रव्य का पाक।

वैशेषिकाभिमत पीलुपाक—

वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तानुसार 'पाकज' गुणों की उत्पत्ति परमाणुओं में ही हुआ करती है, अविभक्त घट आदि द्रव्य में नहीं। घड़े के परमाणुओं में श्यामरूप का विनाश होकर रक्तरूप की उत्पत्ति हो सके—इसके लिये प्रत्येक परमाणु के मध्य अग्नि का प्रवेश आवश्यक है। अतः वैशेषिक के पीलु-पाक के सिद्धान्तानुसार पकते समय घड़े के सभी संयोगों का क्रमश विनाश होकर उसके परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाया करते हैं। तदनन्तर इन विभक्त हुये परमाणुओं में श्यामरूप का विनाश होकर रक्त (लाल) रूप की उत्पत्ति हुआ करती है। पुनः यह रक्त परमाणु क्रमशः संयुक्त होकर घट का निर्माण किया करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि घट आदि कच्चे द्रव्य के साथ अग्नि का संयोग होने पर नोदन अथवा अभिघात से घट के आरम्भक अणुओं में क्रिया उत्पन्न हो जाया करती है। क्रिया से परमाणुओं में विभाग हो जाता है। पुनः इस विभाग के फलस्वरूप परमाणुओं के संयोग का नाश होकर [कार्यद्रव्य] का भी नाश हो जाता है। फल यह होता है कि उन पृथकता को प्राप्त हुये परमाणुओं का [अग्नि के संयोग के कारण] कृष्णरूप नष्ट हो जाता है तथा उस कृष्णरूप के स्थान पर परमाणुओं में रक्तरूपता आजाती है। तदनन्तर भोग करने वाले आत्माओं के अदृष्ट के साथ आत्मा एवं उन रक्त परमाणुओं के संयोग से उनमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है। क्रिया से संयोग की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् द्व्यणुक आदि के क्रम से रक्तवर्ण के घट आदि 'कार्यद्रव्य' की उत्पत्ति हो जाया करती है। पुनः इस घट आदि कार्यद्रव्य में कारण-गुण के क्रम से रूप आदि की उत्पत्ति भी हो जाया करती है। इसी का नाम 'पीलुपाक' अर्थात् परमाणुओं का पाक है।

इसी पीलुपाक के सिद्धान्त में जो घड़े का नाश तथा उत्पत्ति मानी गयी है उसका भाव केवल यही है कि जब कार्यद्रव्य 'घट' को अग्नि में रखा जाता है तब उस समय घट आदि के परमाणु इतने अधिक सटे हुये [संयुक्त] होते हैं कि उनके बीच में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं हुआ करता है। ऐसी स्थिति में उनके मध्य अग्नि का प्रवेश होना संभव नहीं है। अतः जब परमाणु परस्पर विभक्त हो जाते हैं अर्थात् उन परमाणुओं में थोड़ा सा अन्तर हो जाया करता है तो इस विभाग के परिणामस्वरूप उनके मध्य

अग्नि को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है तथा घट के भीतर तक का प्रत्येक परमाणु रक्तवर्ण का हो जाया करता है। परमाणुओं के इसी अन्तर अथवा विभाग को घट का नाश कहा जाता है। रक्त रूप उत्पन्न हो जाने के पश्चात् घड़े के ठण्डा होते समय जैसे-जैसे अग्नि उनके बीच से निकलती जाती है वैसे ही वैसे परमाणु पूर्ववत् संयुक्त होते हैं। इसी पुनः संयोग के द्वारा घट का पुनर्निर्माण हुआ करता है। अतः वैशेषिक के इस मन्तव्य के अनुसार घट आदि अवयवी में पाक न होकर परमाणुओं में ही पाक हुआ करता है। यही वैशेषिक-दर्शन की 'पीलुपाक' की प्रक्रिया है। 'पीलु' का का अर्थ 'परमाणु' है, उसही का पाक होता है। यही 'पीलुपाक' का अभिप्राय है।

न्याय-दर्शनाभिमत पिठरपाक—

नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार पाकज गुणों की उत्पत्ति परमाणुओं में न होकर घट के सम्पूर्ण 'पिण्ड' में ही हुआ करती है। 'पिठर' शब्द का अर्थ है 'पिण्ड'— अर्थात् पाक परमाणुओं का नहीं हुआ करता है किन्तु सम्पूर्ण घट पिण्ड का ही हुआ करता है। इसी का नाम 'पिठरपाक' है।

नैयायिकों के कथन का अभिप्राय यह है कि घट इत्यादि कार्यद्रव्य के आरम्भक-परमाणु परस्पर इतने अधिक रूप में सटे हुये नहीं हुआ करते हैं कि उनमें अग्नि का प्रवेश असंभव हो। उनमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य हुआ करता है। यह बात इस आधार पर भी स्पष्ट हो जाती है कि मिट्टी के घड़े आदि में जब घृत अथवा तैल आदि रखा जाता है तो उसकी चिकनाई पात्र के बाहर भी झलकती हुयी दृष्टिगोचर हुआ करती है। अतः घट के परमाणुओं के बीच कुछ न कुछ सूक्ष्म अन्तर अवश्य हुआ करता है। ऐसी स्थिति में अग्नि उनके मध्य प्रविष्ट हो जाया करती है। अतएव पिठरपाक की दृष्टि से यह कहना उचित ही है कि परमाणुओं के विभक्त हुये बिना ही घट आदि [कार्य-द्रव्य] में लालिमा की उत्पत्ति हो जाया करती है।

पीलूपाकवादियों द्वारा पिठरपाक सम्बन्धी उपर्युक्त मत का खण्डन—

पीलूपाकवादियों का कहना है कि कार्यद्रव्य अर्थात् घट के पिण्ड में ही पाक से उत्पन्न होने वाले नवीन रूप आदि गुणों की उत्पत्ति तथा पूर्ववर्त्ती रूप आदि गुणों का विनाश सम्भव नहीं है क्योंकि यदि घट का पिण्ड, अग्नि में ज्यों का त्यों बना रहेगा तो उसके भीतर के अवयवों में अग्नि का प्रवेश भी न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में घड़े के अन्दर के अंग भी लाल नहीं हो सकेंगे। किन्तु घड़े को तोड़ने पर हम देखते हैं कि उसके अन्दर के अंग भी

रक्त वर्ण के हैं। तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि घड़ा अविकलरूप में ही अग्नि में विद्यमान रहा करता है ? यदि इसे मान भी लिया जाय तो यह भी निश्चित है कि ऐसी स्थिति में घट के आभ्यन्तरिक अंगों के साथ अग्नि का सम्बन्ध भी न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में घट में श्यामरूप का नाश तथा रक्तरूप की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। अतः "घटरूप पिण्ड अग्नि में ज्यों का त्यों बना रहता है", पिठरपाकवादियों का यह कथन उचित नहीं है।

इसके उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि घट आदि कार्यद्रव्यों के बीच कुछ न कुछ सूक्ष्म अन्तर अवश्य हुआ करता है। साथ ही अग्नि का संयोग होने पर अग्नि के ताप से प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ फैलती भी अवश्य है [आधुनिक विज्ञान का भी यही मन्तव्य है।] इस सिद्धान्त के अनुसार घट आदि के अवयवों में भी कुछ न कुछ फैलाव अवश्य ही होता होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उस [घट] के संयुक्त परमाणुओं में थोड़ा सा अन्तर अग्नि के सम्बन्ध के कारण अवश्य हो जाता है। उसी अन्तर में अग्नि का प्रवेश भी हो जाया करता है। अतः हमारा 'पिठरपाक' का सिद्धान्त सर्वथा उचित ही है।

(१) किन्तु वास्तविकता यह है कि पीलूपाकवादी वैशेषिक तो इस उत्पन्न हुये सूक्ष्म अन्तर को ही द्रव्यारम्भक परमाणुओं के संयोग का नाश कहते हैं और उसी के आधार पर घट आदि द्रव्य का नाश भी मान लेते हैं।

किन्तु पिठरपाकवादी नैयायिक तो परमाणुओं के मध्य अग्नि का प्रवेश मानने पर भी घट के आरम्भक परमाणुओं के संयोग का नाश नहीं मानते हैं तथा इसी आधार पर घट-द्रव्य का नाश भी नहीं मानते हैं। अपितु 'पिठर' अर्थात् 'पिण्ड' में ही पाक को मानते हैं।

पीलूपाक तथा पिठरपाक दोनों सिद्धान्तों में यही प्रमुख भेद है।

इन दोनों मतों में तर्कभाषाकार को न्याय-दर्शन सम्बन्धी मत ही अभिमत प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने नित्य तथा अनित्य दोनों ही प्रकार की पृथिवी को पाकजगुणों का आश्रय बतलाया है। उनका यह कथन न्यायसिद्धान्त में ही संगत हो सकता है क्योंकि न्यायमत में परमाणु तथा अवयवी दोनों में पाक माना गया है। वैशेषिकमत में तो अनित्य पृथिवी को पाकज गुणों का आश्रय कहा जाना संगत नहीं हो सकता है क्योंकि इस मत में परमाणुओं का ही पाक स्वीकार किया गया है। परमाणुओं के पक जाने के अनन्तर जब नवीन अवयवी की उत्पत्ति हुआ करती है तब उसमें कारणगत गुणों से ही नवीन-रूप आदि गुणों की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः इस मत के अनुसार पर-

माणुरूप में विद्यमान 'नित्य' पृथिवी का ही पाकज गुणों का आश्रय बन सकना संभव है। अनित्य पृथिवी तो पाकज गुणों का आश्रय बन ही न सकेगी।

आपो-निरूपण—[अप् = जल]

अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः। रसनेन्द्रिय-शरीर-सरित्-समुद्र-हिमकरकादिरूपाः। गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः, नित्या अनित्याश्च। नित्यानां रूपादयो नित्या एव। अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव।

(अप्त्वसामान्ययुक्ता) अप्त्व जाति से युक्त (आपः) जल हैं [अप् का अर्थ 'जल' है। 'अप्त्व' का अर्थ 'जलत्व' है। यह सम्पूर्ण जल में रहने वाली तथा जल से भिन्न में न रहने वाली एक जाति है। इस जलत्व जाति से युक्त 'जल' हुआ करता है।]। (रसनेन्द्रिय-शरीर-सरित्-समुद्र-हिमकारकादिरूपाः) रसनेन्द्रिय, [वरुणलोक में रहने वाले प्रसिद्ध जलीय—] शरीर, तथा नदी-समुद्र-हिम [वर्फ]-ओला आदि रूप में है। (गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः) [पृथिवी के जो चौदह गुण गिनाये थे उनमें से 'गन्ध' को हटा देने तथा उसके स्थान पर "स्नेह" को रख देने से] गन्धरहित तथा स्नेहयुक्त पूर्व [पृथिवी के सन्दर्भ में [वर्णित चौदह गुणों [अर्थात् १—रूप २—रस ३—स्नेह ४—स्पर्श ५—संख्या ६—परिमाण—७-पृथक्त्व ८—संयोग ९—विभाग, १०-परत्व ११—अपरत्व १२—गुरुत्व १३-द्रवत्व और १४—संस्कार] से युक्त है। वह भी (नित्या अनित्याः च) नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं [नित्य परमाणुरूप और अनित्य कार्यरूप होते हैं।]। (नित्यानां) नित्य [अर्थात् परमाणुरूप] के (रूपादयः) रूपादि गुण (नित्यः) नित्य (एव) ही [हुआ करते] हैं। (अनित्यानाम्) [और] अनित्य [कार्यरूप जलों] के (रूपादयः) रूप आदि गुण (अनित्याः) अनित्य (एव) ही हुआ करते हैं।

जल भी शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के भेद से तीन प्रकार के हुआ करते हैं। न्याय तथा वैशेषिक के अनुसार जलीय 'शरीर' अयोनिज हुआ करते हैं तथा वे वरुण लोक में होते हैं [न्यायमुक्तावली में]। जल से सम्बन्धित इन्द्रिय 'रसना' है। नदी, समुद्र, ओला आदि जलीय-विषय हैं।

जल में रहने वाले चार विशेषगुण हैं—(१) रूप (२) रस (३) स्नेह तथा (४) स्पर्श। शेष दस सामान्य गुण हैं। इन चौदह गुणों में जल का रूप अभास्वरशुक्ल होता है। अभास्वर का अर्थ है—दूसरे का अप्रकाशक। रस केवल मधुर होता है। जल के दो भेद होते हैं (१) नित्य (२) अनित्य। परमाणुरूप जल नित्य होता है तथा परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाला जल अनित्य हुआ करता है। 'इन्द्रिय' तथा 'शरीर' से भिन्न जितना भी जल है वह सब भोग का साधन होने से "विषय" कहा जाता है।

तेजो निरूपण—[तेज = अग्नि]

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः। चक्षुशरीरसवितृसुवर्णवह्निविद्युदादिप्रभेदम्। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत्। नित्यमनित्यञ्च पूर्ववत्। तच्चतुर्विधम्। १–उद्भूतरूपस्पर्शम् २–अनुद्भूतरूपस्पर्शम् ३—अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शम् ४–उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शञ्चेति।

(तेजस्त्वसामान्यवत्) तेजस्त्व [अग्नित्व] सामान्य [जाति] से युक्त (तेजः) तेज [अग्नि] है। (चक्षुशरीरसवितृ सुवर्णवह्निविद्युदादिप्रभेदम्) [वह अग्नि भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है–] चक्षु [इन्द्रिय], शरीर [सूर्यलोकवासियों के शरीर तैजस–शरीर होते हैं] और सूर्य, सुवर्ण, अग्नि, विद्युत आदि [विषय] भेद से युक्त होता है। वह (रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग परत्व-अपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत्) (१) रूप (२) स्पर्श (३) संख्या (४) परिमाण (५) पृथक्त्व (६) संयोग (७) विभाग (८) परत्व (९) अपरत्व (१०) द्रवत्व और (११) संस्कार [इन ग्यारह गुणों से] युक्त होता है। वह भी (पूर्ववत्) पहले के पृथिवी आदि के समान ही (नित्यमनित्यञ्च) नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का होता है [अर्थात् परमाणुरूप अग्नि नित्य तथा कार्यरूप अग्नि अनित्य होता है।]। (तत्) वह [अनित्य तेज] (चतुर्विधम्) चार प्रकार का होता है :—(१) (उद्भूतरूपस्पर्शम्) ऐसा तेज कि जिसका रूप और स्पर्श दोनों ही उद्भूत अर्थात प्रत्यक्षग्राह्य हो (२) (अनुद्भूतरूपस्पर्शम्) ऐसा तेज कि किसका रूप तथा स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत अर्थात् प्रत्यक्षरूप से ग्रहण किये जाने योग्य न हों। (३) (अनुद्भूतरूप-उद्भूतस्पर्शम्) ऐसा तेज कि जिसका रूप तो अनुद्भूत हो किन्तु जिसका स्पर्श उद्भूत हो। (४) (उद्भूतरूप-अनुद्भूतस्पर्शं च) और (४) ऐसा तेज कि जिसका रूप तो उद्भूत हो और जिसका स्पर्श अनुद्भूत हो।

अत्र आगे उक्त चारों प्रकार के अनित्य तेजों का क्रमशः सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करते हैं:—

उद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादितेजः पिण्डीभूतं तेजो वह्न्यादिकम्।

(१) (उद्भूतरूपस्पर्शम्) उद्भूतरूपस्पर्श वह तेज है जिसके रूप तथा स्पर्श दोनों ही प्रत्यक्ष अनुभव के योग्य हुआ करते हैं। अर्थात् जिसमें अग्नि [तेज] का भास्वर-शुक्लरूप तथा उष्ण स्पर्श दोनों ही प्रत्यक्षरूप से अनुभूत होते हों। (यथा) जैसे (सौरादि तेजः) सूर्य आदि का तेज अथवा (पिण्डीभूतं तेजः वह्न्यादिकम्) पुञ्जीकृत अग्नि आदि। [इन दोनों (अर्थात्

सूर्य और अग्नि) में अग्नि [तेज] का भास्वरशुक्लरूप तथा उष्ण स्पर्श दोनों ही उद्भूत अर्थात् प्रत्यक्षरूप से अनुभव किये जाने योग्य हैं ।]

तेज भी नित्य तथा अनित्य दो प्रकार का है । परमाणुरूप तेज नित्य होता है, उससे भिन्न सम्पूर्ण तेज अनित्य होता है । अनित्य तेज की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं (१) शरीर (२) इन्द्रिय और (३) विषय । तैजस शरीर [तेज से उत्पन्न शरीर] अयोनिज होते हैं तथा सूर्य आदि लोक में होते हैं । उसका निर्माण तेज के परमाणुओं से होता है किन्तु उसमें पृथिवी का भी उतना अंश सम्मिलित रहा करता है कि जितने कर-चरण आदि की रचना हो सकने से वह उपयोग-योग्य बन सके । तैजस इन्द्रिय 'चक्षु' है । शरीर और इन्द्रिय से भिन्न सम्पूर्ण अनित्य तेज भोग के साधन होने से 'विषय' कहलाते हैं । तेज का रूप भास्वरशुक्ल है, स्पर्श उष्ण है । यही उसके रूप तथा स्पर्श की पृथिवी आदि के रूप तथा स्पर्श से भिन्नता है ।

रूप तथा स्पर्श ये दोनों गुण उद्भूत-अवस्था में भी होते हैं और अनुद्भूत अवस्था में भी । उद्भूत तथा अनुद्भूत की परिभाषा यह है:—

"इन्द्रियग्रहणयोग्यत्वापादको धर्मविशेष उद्भूतस्तद्विपरीतश्चानुद्भूतः, चि०"

अर्थात् उद्भूतता वह धर्मविशेष है कि जिसके कारण ये रूप आदि इन्द्रियग्राह्य हो जाया करते हैं । इससे विपरीत धर्म अनुद्भूतता है । रूप तथा स्पर्श के पृथक्-पृथक् उद्भूत तथा अनुद्भूत होने से [अनित्य] तेज के चार प्रकार हो जाते हैं । इनमें से प्रथम प्रकार है "उद्भूतरूपस्पर्श" कि जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । इस प्रथम प्रकार के अन्तर्गत ही सुवर्ण की भी गणना की गयी है । इसी के बारे में कहते हैं:—

सुवर्णन्तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शम् । तदनुभूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्यात् । अनुद्भूतस्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत । अभिभवस्तु बलवत्सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः ।

(सुवर्णम् तु) सुवर्ण तो [पूर्वोक्त चारों भेदों से भिन्न] (उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शम्) 'उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श' [नामक एक पांचवाँ] भेद है [क्योंकि] (तदनुभूतरूपत्वे) उसके अनुद्भूतरूप होने पर वह (अचाक्षुषम्) चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य नहीं (स्यात्) रहेगा तथा (अनुद्भूतस्पर्शत्वे) अनुद्भूतस्पर्श वाला होने पर वह (त्वचा) त्वचेन्द्रिय द्वारा (न गृह्येत्) ग्रहण किये जाने योग्य नहीं होगा [अतः सुवर्ण के रूप तथा स्पर्श दोनों को उद्भूत ही मानना होगा । किन्तु उसमें अग्नि (तेज) के

भास्वरशुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श के स्थान पर पीत रूप और अनुष्णशीत स्पर्श ही उपलब्ध हुआ करता है। ऐसी स्थिति में उसको "उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श" नामक पंचम भेद से युक्त मानना होगा। उसके रूप और स्पर्श का] (अभिभवस्तु) अभिभव तो (बलवत्सजातीयेन) बलवान् सजातीय (पार्थिव-रूपेन स्पर्शेन च) पार्थिव रूप तथा स्पर्शने (कृतः) कर दिया है। [अतः पार्थिव रूप तथा स्पर्श से अभिभूत होने के कारण ही सुवर्ण में पीत-रूप तथा अनुष्णशीतस्पर्श की अनुभूति होती है]।

इस प्रकार नैयायिकों ने सुवर्ण को एक तैजस पदार्थ ही स्वीकार किया है। मीमांसक लोग तो सुवर्ण को पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से अतिरिक्त एक दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में सुवर्ण को 'तेज' के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है। अर्थात् सुवर्ण तेज का ही एक विशिष्ट भेद है क्योंकि इसमें रूप तथा स्पर्श दोनों ही उद्भूत होते हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सुवर्ण तैजस पदार्थ है तथा उसमें उद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श भी विद्यमान है तो उसमें भास्वरशुक्लरूप तथा उष्ण-स्पर्श होना आवश्यक है किन्तु न तो उसका भास्वरशुक्लरूप ही दृष्टिगोचर होता है और न उष्ण स्पर्श ही। ऐसी स्थिति में उसे तैजस कैसे माना जा सकता है ?

इसके उत्तर में नैयायिकों का यह कहना है कि स्वर्ण में जो उद्भूतरूप तथा स्वर्श हैं वे पार्थिव रूप तथा स्पर्श से अभिभूत [दब] हो गये हैं। किसी शक्तिशाली समान जातीय पदार्थ के द्वारा दब जाना ही 'अभिभव' कहलाता है। न्याय एवं वैशेषिक के अनुसार स्वर्ण की उत्पत्ति तैजस परमाणुओं से ही हुयी है किन्तु उसमें पृथिवी के अवयवों का भी संयोग रहा करता है। अतएव सुवर्ण का जो उद्भूत भास्वरशुक्लरूप है वह शक्तिशाली पार्थिव पीत-वर्ण से अभिभूत हो गया है। इसी भाँति उसका उष्ण स्पर्श भी शक्तिशाली पार्थिव अंश के अनुष्णशीत स्पर्श से अभिभूत हो गया है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है सुवर्ण में जब तेज सम्बन्धी रूप तथा स्पर्श की प्रत्यक्षतः अनुभूति नहीं होती है तो फिर यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि उसमें रूप तथा स्पर्श उद्भूत अवस्था में हैं ?

इसका उत्तर यह है कि उद्भूतरूप वाले द्रव्य का ही नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष हुआ करता है। यदि सुवर्ण में उद्भूतरूप विद्यमान न रहा होता तो उसका नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष भी न हुआ करता। जैसे—जल में विद्यमान तेज [अग्नि] का

नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। इसी भाँति उद्भूतस्पर्श वाले द्रव्य का ही त्वचा द्वारा प्रत्यक्ष होना संभव है। यदि सुवर्ण उद्भूतस्पर्श से युक्त न रहा होता तो उसका भी त्वचा द्वारा प्रत्यक्ष न हो सकता। अतः सुवर्ण में उद्भूत रूप तथा स्पर्श दोनों ही विद्यमान हैं। उसमें विद्यमान तैजस रूप तथा स्पर्श का शक्तिशाली पार्थिवरूप तथा पार्थिवस्पर्श द्वारा अभिभव कर दिया गया है। इसी कारण सुवर्ण में तैजस रूप तथा स्पर्श का प्रत्यक्ष-अनुभव नहीं हो पाता है।

अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम्। अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेज। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम्।

(२) (अनुद्भूतरूपस्पर्शम्) अनुद्भूतरूप स्पर्श (तेजः) तेज [अर्थात् जिसमें तेज का भास्वरशुक्लरूप तथा उष्ण-स्पर्श दोनों में से कोई भी उद्भूत अर्थात् अनुभव किये जाने योग्य न हो।] (यथा) जैसे (चक्षुरिन्द्रियम्) नेत्र-इन्द्रिय। [यह इन्द्रिय रूप की ग्राहक होने के कारण तैजस-इन्द्रिय है किन्तु उसमें न तो तेज [अग्नि] का भास्वरशुक्ल रूप ही अनुभव होता है। और न उष्ण-स्पर्श ही। अतः उसके रूप तथा स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत हुये। जो चक्षु आँख से दिखलाई देता है वह तो केवल गोलकमात्र है। चक्षु-इन्द्रिय तो उस गोलक में रहने वाली, गोलक से भिन्न एक शक्ति रूप ही है। ऐसी स्थिति में गोलक में रूप तथा स्पर्श दोनों के उद्भूत होने पर भी चक्षु-इन्द्रिय को 'अनुद्भूतरूपस्पर्श ही कहा जायगा।

(३) (अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शम) अनुद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श वाले (तेजः) तेज [का उदाहरण–] (यथा) जैसे (तप्तवारिस्थं तेजः) गरम जल में रहने वाली अग्नि [के उष्ण स्पर्श की अनुभूति तो होती है किन्तु उस [अग्नि] के भास्वरशुक्लरूप का दर्शन नहीं होता है।]।

(४) (उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शम्) उद्भूतरूप तथा अनुद्भूतस्पर्श [वाले तेज का उदाहरण–] (यथा) जैसे (प्रदीपप्रभामण्डलम्) दीपक का प्रकाशसमूह। [दूरस्थित होने पर भी दीपक के प्रकाश का भास्वर-शुक्ल रूप तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु उसके उष्ण स्पर्श की अनुभूति नहीं हुआ करती है।]।

विशेष—मीमांसकों ने सुवर्ण को पृथिवी आदि नव द्रव्यों से अतिरिक्त दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु न्याय तथा वैशेषिक में उसको

एक तैजस द्रव्य ही माना गया है। सुवर्ण तैजस, है–इस बात को सिद्ध करने के लिये "न्यायमुक्तावली" के तेजः प्रकरण में दो अनुमान प्रदर्शित किये गये हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) "सुवर्णं तैजसं असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगे सत्यपि अनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटः।"

अर्थात् सुवर्ण तैजस द्रव्य है क्योंकि अग्नि के संयोग से वह द्रव होता है, किन्तु पर्याप्त अग्नि के मध्यपर्याप्त समय तक पड़े रहने पर भी तथा द्रवत्व के विनाश का कोई प्रतिबन्धक न रहने पर भी उसके द्रवत्व का विनाश नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि जो तैजस् द्रव्य नहीं हुआ करता है वह अग्नि के संयोग से यदि द्रव होता है तो पर्याप्त अग्नि के बीच पर्याप्त समय तक रहने पर तथा द्रवत्व के विनाश का कोई प्रतिबन्धक विद्यमान न रहने पर उसके द्रवत्व का विनाश अवश्य हो जाया करता है। जैसे–मिट्टी का घड़ा, घृत, लौह आदि। मिट्टी के अनेक घड़े आंवे की आग के तीव्रतर ताप से पिघलकर झांवा बन जाया करते हैं। इसी प्रकार घृत भी यदि पानी आदि प्रतिबन्धक द्रव्य में नहीं रहा करता है तो अग्नि के साथ अधिक समय तक सम्पर्क रहने पर उसके भी द्रवत्व का नाश हो जाया करता है। इसी भाँति लौह आदि की भी गति हुआ करती है। किन्तु सुवर्ण की स्थिति इन सभी की स्थिति से भिन्न है। अतः उसका तैजस-द्रव्य होना स्पष्ट ही है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अग्नि का अत्यन्त संयोग होने पर तो कभी-कभी सुवर्ण के भी द्रवत्व का विनाश हो जाया करता है। अन्यथा वैद्य लोग सुवर्ण-भस्म कैसे बना पाते। इसका उत्तर यह है कि जब स्वर्णभस्म बनाई जाती है तब किसी प्रतिबन्धक द्रव्य के द्वारा सुवर्ण में द्रवत्व का प्रतिरोध कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में जब वह द्रव ही नहीं होने पाता तब उसके द्रवत्व के विनाश की बात ही कैसे उत्पन्न हो सकती है।

द्वितीय अनुमान यह है:—

(२) "अत्यन्ताग्निसंयोगो पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत्।"

सुवर्ण में जो पीला तथा गुरु भाग हुआ करता है, निश्चय ही वह पार्थिव-अंश है। किन्तु अग्नि का अत्यधिक संयोग होने पर भी उसके रूप में परिवर्तन नहीं हुआ करता है। अतः ऐसा अनुमान बनता है कि—

"सुवर्ण के पीत [पीले], गुरु भाग में किसी ऐसे द्रवद्रव्य का संयोग अवश्य विद्यमान है कि जिसके कारण उस अंश में रूप का परिवर्तन नहीं होने पाता है, क्योंकि पार्थिव द्रव्य में अग्नि का संयोग होने पर रूप की अपरिवर्तनीयता उसी स्थिति में हुआ करती है कि जब उसमें रूपपरिवर्त्तन के प्रतिबन्धक द्रवद्रव्य का संयोग हुआ करता है। जैसे किसी पीले वस्त्र को किसी पात्र में जल में डालकर जब उस पात्र को आग पर चढ़ा दिया जाता है तब उस वस्त्र में द्रवद्रव्य जल का संयोग होने के कारण ही उसके रूप का परिवर्त्तन नहीं हुआ करता है। इससे स्पष्ट है कि सुवर्ण में दो अंश विद्यमान हैं (१) पीला-कि जो पार्थिव अंश है और (२) दूसरा है द्रवत्वशाली अपार्थिव अंश, जिसके संयोग के कारण अग्नि का संयोग होने पर भी पार्थिव अंश के रूप [पीतत्व] का परिवर्त्तन नहीं हो पाता। यह द्वितीय अंश 'तेज' को छोड़कर कुछ अन्य नहीं हो सकता है क्योंकि यदि यह अंश पार्थिव रहा होता तो उसके संयोग से रूप-परिवर्त्तन का प्रतिबन्ध भी न हुआ होता। यदि उक्त अंश जलीय रहा होता तो उसमें स्वाभाविकरूप से ही द्रवत्व रहा होता। ऐसी स्थिति में यदि उक्त अंश पार्थिव, जलीय अथवा तैजस् न होकर कुछ अन्य ही रहा होता तो न तो उसके संयोग से रूपपरिवर्त्तन का प्रतिबन्ध ही हुआ होता तथा न उसमें द्रवत्व ही रहा होता, क्योंकि वायु इत्यादि के संयोग से न तो रूपपरिवर्त्तन का ही प्रतिबन्ध होता है और न उनमें द्रवत्व ही रहा करता है। अतएव सुवर्ण में स्थित जो अपीत और अगुरु अंश है उसको तैजस् मानना उचित ही है। उसी अंश के कारण पूरे पिण्ड को "सुवर्ण" नाम से कहा जाता है। अतः सुवर्ण कोई अतिरिक्त द्रव्य न होकर "तैजस्" द्रव्य ही है।

वायु-निरूपण—

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः। त्वग्-इन्द्रिय-प्राण-वातादिप्रभेदः। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्ववेगवान्। स च स्पर्शाद्यनुमेयः। तथाहि योऽयं वायौ वाति, अनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते, स गुणत्वाद् गुणिनमन्तरेणानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति। गुणी च वायुरेव। पृथिव्याद्यनुपलब्धेः। वायुपृथिवीव्यतिरेकेण अनुष्णाशीतस्पर्शाभावात्। स च द्विविधो नित्यानित्यभेदात्। नित्यः परमाणुरूपो वायुः, अनित्यः कार्यरूप एव।

(वायुत्वाभिसम्बन्धवान्) वायुत्व जाति के [समवाय] सम्बन्ध से युक्त (वायुः) वायु कहलाता है। [वह] (त्वगिन्द्रियप्राणवातादिप्रभेदः)

त्वक् इन्द्रिय, प्राण तथा [बाह्य] पवन आदि भेदों से युक्त है। (स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-वेगवान्) (१) स्पर्श (२) संख्या (३) परिमाण (४) पृथक्त्व (५) संयोग (६) विभाग (७) परत्व (८) अपरत्व और (९) वेग—इन नौ गुणों से युक्त है। (च) और (स) वह (स्पर्शाद्यनुमेयः) स्पर्श आदि के द्वारा अनुमेय है। (तथा हि) जैसे कि (वायौ वाति) वायु के चलने पर (यः) जो (अयम्) यह (अनुष्णाशीतस्पर्शः) अनुष्ण तथा अशीतस्पर्श (उपलभ्यते) उपलब्ध होता है (स) वह (गुणत्वात्) गुण होने से (गुणिनम्—अन्तरेण) गुणी के विना (अनुपपद्यमानः) अनुपपद्यमान होने से (गुणिनम्) गुणी का (अनुमापयति) अनुमान कराता है। (च) और [वह] (गुणी) गुणी (वायुः एव) वायु ही है (पृथिव्यादि—अनुपलब्धेः) [अनुष्ण और अशीत स्पर्श के अनुभव के स्थल में] पृथिवी आदि की उपलब्धि न होने से। (वायुपृथिवीव्यतिरेकेण) वायु और पृथिवी के विना (अनुष्णाशीत-स्पर्शाभावात्) अनुष्ण और अशीत स्पर्श का अभाव होने से [वायु के चलते समय जिस स्पर्श की अनुभूति हुआ करती है उसका आश्रय वायु ही है।] (च) और (स) वह [वायु] (नित्याऽनित्यभेदात्) नित्य और अनित्य के भेद से (द्विविधः) दो प्रकार का होता है। (परमाणुरूपः) परमाणुरूप (वायुः) वायु (नित्यः) नित्य है तथा (कार्यरूपः) कार्यरूप [वायु] (अनित्य एव) अनित्य ही है।

यहाँ वायु का लक्षण किया गया है—वायुत्व + अभिसम्बन्धवान्। अभिसम्बन्ध का अर्थ होता है अभिमत-सम्बन्ध। वायुत्व जाति [सामान्य] है जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहा करती है। अतः अभिसम्बन्ध से अभिप्राय होगा—समवाय-सम्बन्ध। अत्र वायु का लक्षण इस प्रकार से कहा जायगा कि जिसमें समवाय-सम्बन्ध से वायुत्व नामक जाति रहा करती है वह 'वायु' कहलाती है। तर्कभाषाकार ने वायु के दो ही प्रकारों का उल्लेख किया है (१) इन्द्रिय (२) विषय [न्यायमुक्तावली आदि ग्रन्थों में वायवीय-शरीर का भी उल्लेख मिलता है—"तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्"।]। इन्द्रिय के रूप में त्वक् का तथा विषय के रूप में प्राणवायु तथा बाहरी वायु—इन दो का कथन किया गया है। शरीर के अन्दर संचरण करने वाली वायु को ही 'प्राणवायु' नाम से कहा जाता है। कार्य-भेद की दृष्टि से उसके प्राण-अपान-समान-उदान तथा व्यान-ये पाँच नाम हो जाते हैं। यहाँ "वात" शब्द से उस वायु का अभिप्राय है कि जिसके स्पर्श की अनुभूति हम सभी को हुआ करती है।

प्राचीन न्याय एवं वैशेषिक के अनुसार वायु का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। इसी प्राचीन मत का अनुसरण करते हुये तर्कभाषाकार ने कहा है—"स च स्पर्शानुमेयः"। अर्थात् उस वायु की सिद्धि अनुमान [परिशेषानुमान] द्वारा की जाती है। वायु के बहने पर एक इस प्रकार के स्पर्श का अनुभव हुआ करता है कि जिसे न तो उष्ण ही कहा जा सकता है और न शीत ही। इस अनुष्णाशीतस्पर्श की अनुभूति प्रत्यक्ष हुआ करती है। स्पर्श एक गुण है। यह सिद्धान्त है कि गुण किसी गुणी में ही रहा करता है। अतएव यह अनुष्णाशीत स्पर्श जिस द्रव्य में आश्रित रहा करता है उसी का नाम 'वायु' है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार बनता है :—

"उपलब्ध होने वाला स्पर्श किसी द्रव्य में आश्रित है"—यह प्रतिज्ञा है। "गुण होने से"—यह हेतु है। जो-जो गुण होता है वह-वह किसी गुणी के आश्रित रहा करता है, जैसे रूप आदि—यह उदाहरण हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है नौ द्रव्यों में से (१) आकाश (२) काल (३) दिक् (४) आत्मा और (५) मन—इन पाँच द्रव्यों में तो 'स्पर्श' रहता ही नहीं है। अतः केवल (१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि और (४) वायु—इन चार द्रव्यों में ही स्पर्श रहा करता है। उनमें भी जल का स्पर्श शीतल तथा अग्नि का स्पर्श उष्ण हुआ करता है—इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। अब दो ही द्रव्य शेष रह जाते हैं (१) पृथ्वी (२) वायु। इन दोनों का स्पर्श अनुष्ण-अशीत हुआ करता है। पृथिवी इस अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय हो ही नहीं सकती है क्योंकि सिद्धान्त यह है कि पृथ्वी में जहाँ भी उद्भूत [अर्थात् इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य] स्पर्श हुआ करता है वहाँ रूप भी उद्भूत ही हुआ करता है। यदि इस अनुभूयमान अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय कोई पार्थिव पदार्थ रहा होता तो वह पदार्थ उद्भूतरूप से भी युक्त होता और नेत्रेन्द्रिय द्वारा उसका प्रत्यक्ष भी हुआ करता। किन्तु ऐसा होता ही नहीं है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि इस अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय पृथिवी आदि से भिन्न कोई अन्य द्रव्य ही है। उपर्युक्त चारों में से केवल 'वायु' ही शेष रहा है। अतः वह द्रव्य 'वायु' ही है। ऐसा परिशेषानुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है।

[कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः]

तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणं, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टादि निमित्तकार-

णम्। ततो द्व्यणुकानां त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणम्, शेषं पूर्ववत्। एवं त्र्यणुकैश्चतुर्भिश्चतुरणुकम्। चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं, स्थूलतरैरपरं स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत् तेजो, महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारण गतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। 'कारणगुणाहि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्। कार्य द्रव्यों अथवा स्थूलभूतों की उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम—

उपर्युक्त पृथिवी, अप्, तेज तथा वायु इन चार द्रव्यों के निरूपण में यह बतलाया जा चुका है कि ये चारों द्रव्य दो-दो प्रकार के होते हैं (१) नित्य और (२) अनित्य। कार्यरूप में विद्यमान पृथिवी आदि 'अनित्य' हैं। इन्हीं को 'स्थूलभूत'' नाम से भी कहा जाता है। इन चारों स्थूलभूतों की उत्पत्ति अपने अपने कारणों से हुआ करती हैं तथा बाद में समय आने पर विनाश भी हो जाया करता है। परमाणु रूप में विद्यमान नित्य पृथिवी आदि अनित्य स्थूलभूतों के समवायिकारण हुआ करते हैं। परमाणु रूप में विद्यमान पृथिवी आदि को सूक्ष्मभूत भी कहा जाता है। इन परमाणु रूप में विद्यमान [नित्य] पृथिवी आदि से स्थूल पृथिवी आदि की उत्पत्ति कैसे हुआ करती है? इसी का उल्लेख प्रस्तुत है:—

[सृष्टि का क्रम अनादि है। पूर्व सृष्टि के प्रलय की लम्बी अवधि के समाप्त होने पर जब नवीन सृष्टि की उत्पत्ति होने को होती है तब सर्वप्रथम पृथिवी आदि चार द्रव्यों की उत्पत्ति हुआ करती है। इन चारों द्रव्यों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है :—]

(तत्र) उनमें (पृथिव्यादीनाम्) पृथिवी आदि (चतुर्णाम्) चारों (कार्यद्रव्याणाम्) कार्यरूपद्रव्यों की (उत्पत्तिविनाशक्रमः) उत्पत्ति और विनाश के क्रम का (कथ्यते) कथन करते हैं। (द्वयोः परमाण्वोः) दो परमाणुओं में [परमात्मा के संकल्प और प्राणियों के अदृष्ट के कारण होने वाली] (क्रियया) क्रिया होने से [उनका] (संयोगे सति) संयोग होने पर [दोनों परमाणुओं के मिलने से] (द्व्यणुकम्) एक द्व्यणुक (उत्पद्यते) उत्पन्न हुआ करता है। (परमांणू) दोनों परमाणु (तस्य) उस द्व्यणुक के (समवायिकारणम्) समवायिकारण होते हैं, (तत्संयोगः) उन [दोनों परमाणुओं] का संयोग (असमवायिकारणम्) असमवायिकारण [तथा] (अदृष्टादि) [आत्माओं का] अदृष्ट आदि (निमित्तकारणम्) निमित्तकारण हुआ करते हैं। (ततः) तदनन्तर (त्रयाणाम्) तीन (द्व्यणुकानाम्) द्व्यणुकों का [भगवान् के संकल्प तथा आत्माओं के अदृष्ट आदि से जन्य (क्रियया संयोगे सति) क्रिया से [उनका] संयोग होने पर [तीन द्व्यणुकों

के मिलने से एक] (त्र्यणुकम्) त्र्यणुक की (उत्पद्यते) उत्पत्ति होती है। (तस्य) उस [त्र्यणुक] के (द्व्यणुकानि) तीनों द्व्यणुक (समवायिकारणम्) समवायिकारण होते हैं (शेषं पूर्ववत्) और शेष पूर्ववत् [अर्थात् तीनों द्व्यणुकों का संयोग त्र्यणुक का असमवायिकारण तथा अदृष्ट आदि निमित्त-कारण होता] है। (एवम्) इसी प्रकार (चतुर्भिः त्र्यणुकैः) चार त्र्यणुकों से (चतुरणुकम्) चतुरणुक, (चतुरणुकैः) चतुरणुकों से (अपरम्) अन्य (स्थूल-तरम्) स्थूलतर [द्रव्य], तथा (स्थूलतरैः) इन स्थूलतर पदार्थों से (अपरम्) दूसरे (स्थूलतमम्) स्थूलतम [पदार्थ उत्पन्न होते हैं।]। (एवम्) इस प्रकार (क्रमेण) क्रम से (महापृथिवी) [महा] स्थूल पृथिवी (महत्यः आपः) [महत्] स्थूल जल, (महत् तेजः) महत् स्थूल तेज (च) और (महान् वायुः) महान् स्थूल वायु (उत्पद्यते) उत्पन्न होते हैं। (कार्यगताः) कार्य [पृथिवी आदि] में स्थित रहने वाले (रूपादयः) रूप आदि गुण (स्व-आश्रय-समवायिकारणगतेभ्यः) अपने [रूप आदि] के आश्रयभूत द्व्यणुक आदि के समवायिकारण [परमाणु आदि] में रहने वाले (रूपादिभ्यः) रूप आदि [गुणों] से (जायन्ते) उत्पन्न हो जाया करते हैं। (हि) क्योंकि (कारणगुणाः) कारण में विद्यमान रहने वाले गुण (कार्यगुणान्) कार्य के गुणों को (आरभन्ते) उत्पन्न किया करते हैं (इति न्यायात्) इस नियम के होने से।

इस विवेचन में यह कहा गया है कि परमाणुओं में उत्पन्न हुयी क्रिया से उन दोनो परमाणुओं का संयोग हुआ करता है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब परमाणु जड़ है तो उनमें क्रिया की उत्पत्ति की संभावना किस भाँति की जा सकती है ? इसी के उत्तर में कहा गया है कि "अदृष्टादि निमित्त-कारणम्"। इसमें आदि शब्द से ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न का ग्रहण किया जाता है [आदि शब्दनेश्वरेच्छादीनां ग्रहणम्--चि०]। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्माओं के अदृष्ट [विगत धर्माधर्म] सम्बन्धी भोग के लिये भगवान् की इच्छा तथा प्रयत्न के परिणामस्वरूप परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति हुआ करती है। क्रिया से दो परमाणुओं में संयोग की उत्पत्ति हुआ करती है। पुनः दो परमाणुओं के संयोग से एक द्व्यणुक की उत्पत्ति हो जाया करती है। इसी प्रकार त्र्यणुक, चतुरणुक आदि के क्रम से स्थूल पृथिवी आदि चारों स्थूलभूतों की उत्पत्ति हो जाया करती है [त्र्यणुक के ही दूसरे नाम त्रुटि अथवा त्रसरेणु भी हैं।]

"कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न किया करते हैं" यह वैशेषिक का सूत्रनियम है। इस स्थल पर 'कारण' का अर्थ है "समवायिकारण"।

अतः उक्त नियम का अभिप्राय यह हुआ कि समवायिकारण के गुण अपने कार्य के गुणों को उत्पन्न किया करते हैं। जैसे पीत, नील आदि वर्ण के तन्तुओं से निर्मित वस्त्र में पीत, नील आदि रूप [गुण] उत्पन्न हो जाया करते हैं। 'पट' कार्य के समवायिकारण 'तन्तु' हैं। अतः कारण तन्तु के पीत, नील आदि गुण ही वस्त्र में भी पीत, नील आदि गुणों की उत्पत्ति किया करते हैं। इसी भाँति परमाणुओं में जो रूप आदि गुण विद्यमान रहा करते हैं वे ही रूप आदि गुण उनसे उत्पन्न द्व्यणुक आदि में आ जाया करते हैं। इसी प्रकार द्व्यणुकों के रूप आदि से त्र्यणुक के रूप आदि तथा त्र्यणुकों के रूप आदि से चतुरणुकों के रूप आदि उत्पन्न हुआ करते हैं।

कार्यद्रव्यों अथवा स्थूलभूतों के विनाश का क्रम—

इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदनादभिघाताद्वा क्रिया जायते। तया विभागस्तेनावयव्यारम्भकस्यासमवायिकारणीभूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः। एतेनावयव्यारम्भकासमवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो दर्शितः।

कार्य के विनाश के दो प्रकार हुआ करते हैं (१) समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश और (२) असमवायि कारण के नाश से कार्य का नाश। पहले यहाँ असमवायिकारण के नाश से कार्य के नाश होने सम्बन्धी प्रक्रिया को दिखलाते हैं:—

[१] (इत्थम्) इस प्रकार (उत्पन्नस्य) उत्पन्न हुये (रूपादिमतः) रूप आदि से युक्त (कार्यद्रव्यस्य) कार्यद्रव्य घट आदि के (अवयवेषु) अवयवरूप (कपालआदिषु) कपाल आदि में (नोदनात्) नोदन [चेतन प्रदत्त-प्रेरणा] (वा) अथवा (अभिघातात्) अभिघात [अचेतन पदार्थ के साथ संघर्ष] से (क्रिया जायते) क्रिया उत्पन्न हो जाती है। (तया) उस [क्रिया] से [संयुक्त कपाल आदि अवयवों में] (विभागः) विभाग [उत्पन्न होता है], (तेन] उस [विभाग] से (अवयवी-आरम्भकस्य) अवयवी [घट आदि] के आरम्भक (असमवायिकारणीभूतस्य) असमवायिकारण (संयोगस्य) [कपालों के] संयोग का (नाशः क्रियते) नाश हो जाता है। (ततः) उस [कपालों के संयोग के नाश] से (कार्यद्रव्यस्य) कार्यद्रव्य (घट-आदेः) घट आदि (अवयविनः नाशः) अवयवी का नाश हो जाता है। (एतेन) इस [उदाहरण] से (अवयवी-आरम्भक-असमवायिकारण नाशे) अवयवी [घट आदि] के आरम्भक [कपाल आदि के संयोगरूप] असमवायि-

कारण के नाश होने पर (द्रव्यनाशः) [कार्य] द्रव्य का नाश (दर्शितः) दिखलाया है।

'कार्यद्रव्य' अवयवी के रूप में हुआ करते हैं। उसके अवयव ही उस [कार्यद्रव्य] के समवायि-कारण हुआ करते हैं। उन अवयवों का परस्पर संयोग ही उस [अवयवी] का असमवायि कारण हुआ करता है। अवयवों के पारस्परिक-संयोग का नाश हो जाने पर जो अवयवी [कार्यद्रव्य] का नाश हो जाता है वही असमवायीकारण के नाश से 'कार्यद्रव्य' का नाश कहा जाता है। जैसे 'घट' को ही ले लीजिये। 'घट' एक अवयवी है उसके कपाल ही उस [घट] के अवयव हैं। उन कपालों के परस्पर संयोग से घट का निर्माण हुआ करता है। कपालों का संयोग ही 'घट' का असमवायिकारण है। यदि किसी भाँति उन कपालों में क्रिया उत्पन्न हो जाने से कपालों का विभाजन हो जाता है तो घट के असमवायिकारण कपाल-संयोग का भी विनाश हो जाता है। परिणामस्वरूप घट भी नष्ट हो जाता है। यही असमवायिकारण के नाश से, कार्यद्रव्य' के नाश की प्रक्रिया है।

क्वचित् समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो यथा पूर्वोक्तस्यैव पृथिव्यादेः संहारे सञ्जिहीर्षोर्महेश्वरस्य सञ्जिहीर्षा जायते। ततो द्व्यणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः, ततस्तयोः संयोगनाशे सति द्व्यणुकेषु-नष्टेषु स्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाशः। एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः। तद्गतानां रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः। अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः। यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाशः इति।

[२] (क्वचित्) कहीं (समवायिकारणनाशे) समवायिकारण के नष्ट होने से भी (द्रव्यनाशः) कार्यद्रव्य का नाश हुआ करता है। (यथा) जैसे—(पूर्वोक्तस्य) पूर्वोक्त (पृथिव्यादेः) पृथिवी आदि के (संहारे) संहार [विनाश] में (एवं) ही (सञ्जिहीर्षोः) संहार की इच्छा रखने वाले (महेश्वरस्य) ईश्वर की (सञ्जिहीर्षा) संहार करने की इच्छा (जायते) उत्पन्न हो जाती है। (ततः) उस [संहार सम्बन्धी इच्छा] से (द्व्यणुकारम्भकेषु) द्व्यणुकों के आरम्भक अथवा उत्पादक (परमाणुषु) परमाणुओं में (क्रिया) क्रिया उत्पन्न हो जाती है, (तथा) [फिर] उस [क्रिया के उत्पन्न हो जाने] से (विभागः) विभाग [की उत्पत्ति होती है। (ततः) उस [विभाग के उत्पन्न हो जाने] से (तयोः) उन दोनों [परमाणुओं] के (संयोगनाशे सति) संयोग का नाश हो जाने पर (द्व्यणुकेषु नष्टेषु) द्व्यणुकों के नष्ट हो जाने पर (स्वाश्रय-

नाशात्) अपने [अर्थात् त्र्यणुक के] आश्रय [द्व्यणुक] के नष्ट हो जाने से (त्र्यणुकादिनाशः) त्र्यणुक आदि का नाश हो जाता है। (एवम्) इस प्रकार (क्रमेण) इस [त्र्यणुक के नाश से चतुरणुक आदि के नाश] क्रम से (पृथिव्यादिनाशः) [स्थूल] पृथिवी आदि का नाश होता है। (यथा वा) अथवा जैसे (तन्तूनाम्) तन्तुओं के (नाशे) नष्ट हो जाने पर (पटनाशः) [होने वाला] पट का नाश [हो जाया करता है]। [ये दोनों उदाहरण समवायिकारण के नाश से कार्य के नाश को दिखलाने वाले उदाहरण हैं। इन दोनों में] (तद्गतानाम्) उन [त्र्यणुक आदि अथवा पट आदि] में रहने वाले (रूपादीनाम्) रूप आदि [गुणों] का (स्वाश्रयनाशेन) अपने आश्रय [समवायिकारण] के नाश हो जाने से (एवं) ही (नाशः) नाश हो जाता है। और (अन्यत्र) अन्यत्र [घट आदि स्थलों में] (तु) तो (आश्रये सति एव) आश्रय [घट आदि] के विद्यमान रहते हुये होने पर ही (विरोधिगुणप्रादुर्भावेण) विरोधीगुण [पाकज रक्त रूप-आदि] के उत्पन्न हो जाने से ही (विनाशः) [पूर्ववर्त्ती रूप आदि का] नाश हो जाता है। (यथा) जैसे (पाकेन) पाक [अग्निसंयोग] से (घटादौ) घट आदि में (रूपादिनाशः) [पूर्ववर्त्ती] रूप आदि का नाश हो जाया करता है।

जिस प्रकार पट के समवायि-कारण तन्तुओं के नाश से पट का नाश हो जाया करता है, उसी प्रकार सर्वत्र समवायी कारण के नाश से कार्यद्रव्य का नाश हो जाया करता है। पृथिवी आदि चार स्थूलभूत भी कार्यद्रव्य हैं [ये चारों कार्यद्रव्य अनित्य हैं ही] अतएव इनका भी नाश हुआ करता है। भगवान् के अन्दर सृष्टि के विनाश से पूर्व सृष्टि का संहार करने की इच्छा उत्पन्न हुआ करती है। इस इच्छा से प्रत्येक द्व्यणुक के उत्पादक जो दो-दो परमाणु हैं उन परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। क्रिया से विभाग की उत्पत्ति होती है। विभाग की उत्पत्ति से दो परमाणुओं के संयोग का नाश हो जाता है। इस भाँति द्व्यणुक का नाश हो जाता है। पहले बतलाया जा चुका है कि तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक बनता है। अतः द्व्यणुक ही त्र्यणुक के समवायी कारण हुये। अपने समवायी कारण [आश्रय—द्व्यणुक] के नाश से त्र्यणुक का नाश हो जाता है। इसी भाँति त्र्यणुकों के नाश से चतुरणुक भी नष्ट हो जाते हैं। इसी क्रम से महती पृथिवी भी नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप सृष्टि का ही संहार हो जाया करता है। सृष्टि के नाश की इस प्रक्रिया में त्र्यणुक से लेकर पृथिवी आदि तक का नाश तो समवायी कारण के नाश से हुआ करता है किन्तु द्व्यणुक का नाश असमवायि-कारण [दो परमाणुओं

के संयोग] के नाश से हुआ करता है। द्व्यणुक के समवायी कारण दो परमाणु हैं। वे नित्य हैं, उनका नाश कभी नहीं होता है।

कार्यगुणों के नाश की प्रक्रिया—

रूप आदि भी दो प्रकार के हुआ करते हैं (१) नित्य और (२) कार्य (अनित्य)। जो गुण कार्यरूप हैं उनके नाश की भी दो प्रकार की प्रक्रियायें हुआ करती हैं—(१) समवायि-कारण के नाश से रूप आदि गुणों का नाश तथा (२) विरोधी गुण के उत्पन्न हो जाने से रूप आदि का नाश। (१) जब रूप आदि के आश्रय [समवायिकारण]—'द्रव्य' का नाश हो जाता है तो आगामी क्षण में उसके रूप आदि गुणों का भी नाश हो जाता है। जैसे—'घट का नाश हो जाने के अनन्तर अगले ही क्षण में घटगत रूप आदि का भी नाश हो जाया करता है। (२) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रूप आदि गुण के आश्रय का नाश नहीं हुआ करता है तथा वह विद्यमान रहा करता है किन्तु उस रूप आदि के विरोधी गुणों के उत्पन्न हो जाने से रूप आदि गुणों का नाश हो जाया करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब विरोधी गुण उत्पन्न होने को होता है तब उसकी उत्पत्ति की सामग्री उपस्थित हो जाया करती है— इसी अवस्था को "प्रादुर्भाव" शब्द द्वारा कहा गया है। इसी से पूर्ववर्ती रूप आदि का नाश हुआ करता है। जैसे—जब पाक [अग्निसंयोग] के द्वारा घट इत्यादि में उसके श्याम रूप का विरोधी रक्त रूप उत्पन्न होने वाला हुआ करता है तो इस रक्तरूप के 'प्रादुर्भाव' से श्यामरूप का नाश हो जाता है। यहाँ रूप [गुण] के आश्रयभूत घट का विनाश बिना हुँये ही अथवा उसकी विद्यमानता होते हुए भी विरोधी गुण [रक्त रूप] के प्रादुर्भाव से पूर्ववर्त्ती [कृष्ण अथवा श्याम रूप] गुण का नाश हो जाया करता है।

विशेष—यहाँ जो द्वितीय प्रकार का वर्णन किया गया है उसकी संगति नैयायिकों के पिठरपाक के ही आधार पर ठीक बैठ सकती है।

परमाणु की सत्ता विषयक प्रमाण—अथवा-परमाणु की सिद्धि—

[परमाणु सिद्धिः]

अभी यह वर्णन किया जा चुका है कि द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से पृथिवी आदि ४ महाभूतों अथवा स्थूलभूतों की उत्पत्ति हुआ करती है। यह उत्पत्ति-क्रम तो तभी स्वीकार किया जा सकता है कि जब पहले परमाणुओं का अस्तित्व भी प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो। अतः यहाँ यह भी आवश्यक हो जाता है कि परमाणु की सत्ता को भी सिद्ध कर दिया जाय। अतएव अब परमाणु की सत्ता को सिद्ध करते हैं:—

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते, यदिदं जाले सूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत्। तच्च द्रव्यं कार्यमेव महद्द्रव्यारम्भकस्य,कार्यत्वनियमात्। तदेवं द्व्यणुकाख्यं द्रव्यं सिद्धम्। तदपिस्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत्। यस्तु द्व्यणुकारम्भकः स एव परमाणुः। स चानारब्ध एव।

[प्रश्न–] अच्छा तो (पुनः) फिर (परमाणुसद्भावे) परमाणु की सत्ता होने में (किम्) क्या (प्रमाणम्) प्रमाण है ?

[उत्तर–] (उच्यते) कहते हैं। (यत् इदम्) जो यह (जाले सूर्यमरीचिस्थं) [बन्द कमरे के किसी किवाड़ आदि में विद्यमान किसी छिद्र से आती हुयी] सूर्य की किरण में स्थित (सर्वतः) चारों ओर (सूक्ष्मतमम्) सूक्ष्मतम (रजः) धूलि-कण (उपलभ्यते) उपलब्ध होते हैं [अर्थात् दृष्टिगोचर होते हैं उनमें प्रत्येककण त्रसरेणु अथवा त्र्यणुक कहा जाता है। उनका छठा भाग परमाणु होता है।] [उनमें] (तत्) वह अर्थात् प्रत्येक कण [पक्ष] (स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धम्) अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्य [तीन द्व्यणुको] से बना हुआ है [साध्य] (कार्यद्रव्यत्वात्) कार्यद्रव्य होने से [हेतु], [जो-जो कार्यद्रव्य होता है वह अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है] (घटवत्) जैसे घट [उदाहरण], [उक्त धूलिकण भी इसी प्रकार का कार्यद्रव्य है (उपनय), अतः वह भी घट के समान ही अपने परिमाण से अल्पपरिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है। (निगमन), इस प्रकार इस अनुमान द्वारा उस त्रसरेणु अथवा त्र्यणुक रूप धूलिकण के अवयवरूप द्व्यणुक की सिद्धि होती है।] (च) और (तत्) वह [द्व्यणुक रूप] (द्रव्यम्) द्रव्य भी (कार्य-एव) कार्यद्रव्य ही है (महद्द्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात्) महत् [परिमाणवाले द्व्यणुक] के आरम्भक [अर्थात् समवायी कारण] के कार्यद्रव्य होने का नियम होने से। (तत् एवम्) तो इस प्रकार (द्व्यणुकाख्यम्) द्व्यणुक नामक (द्रव्यम्) [कार्य–] द्रव्य (सिद्धम्) सिद्ध हो जाता है। (तदपि) वह [द्व्यणुक] भी [पक्ष], (स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धम्) अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्य से बना हुआ है [साध्य] (कार्यद्रव्यत्वात्) कार्यद्रव्य होने से [हेतु] (घटवत्) जैसे घट [उदाहरण]। (यः तु) जो (द्व्यणुकारम्भक) द्व्यणुक का आरम्भक है (स एव) वह ही (परमाणुः) परमाणु है। (च) और (स) वह (अनारब्ध एव) अनारब्ध [अर्थात् किसी से उत्पन्न न होने वाला अथवा नित्य] ही है।

परमाणु भी इस सिद्धि में दो अनुमान प्रयुक्त हुये हैं। प्रथम अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि त्रसरेणु अथवा त्र्यणुक के आरम्भक [अर्थात् समवायीकारण] द्व्यणुक हुआ करते हैं। द्वितीय अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जो 'द्व्यणुक' के आरम्भक होते हैं उन्हीं को 'परमाणु' कहा जाता है।

प्रथम अनुमान में यह बतलाया गया है कि कमरे में दरवाजे अथवा खिड़की के किसी छिद्र से आती हुयी सूर्य की किरण में छोटे-छोटे धूलि के कण दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। ये धूलिकण अन्य सभी दृश्यमान द्रव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म होते हैं। ये दृश्यमान धूलिकण कार्यरूप हैं क्योंकि नेत्र द्वारा उनका प्रत्यक्ष होता ही है। और फिर जिस प्रकार घट नामक कार्य-द्रव्य अपने से छोटे परिमाण वाले कपाल आदि द्रव्यों से बना हुआ होता है उसी प्रकार उक्त धूलिकण [त्रसरेणु अथवा त्र्यणुक] नामक कार्यद्रव्य भी अपने से लघु परिमाण वाले द्रव्यों से निर्मित हुआ होगा—ऐसा अनुमान किया जाता है। इस प्रथम अनुमान के द्वारा त्र्यणुक के आरम्भक द्व्यणुक नामक द्रव्य की सिद्धि होती है।

[यहाँ यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि त्र्यणुक के आरम्भक को ही परमाणु क्यों न मान लिया जाय ? इसके उत्तर में यह कहा गया है त्र्यणुक अथवा त्रसरेणु का आरम्भक द्रव्य कार्य ही हो सकता है क्योंकि त्र्यणुक नेत्र द्वारा गृहीत होता है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि त्र्यणुक 'महत् परिमाण' से युक्त है। और नियम यह है कि जो महत् परिमाण वाले द्रव्य के आरम्भक [समवायीकारण] हुआ करते हैं वे कार्यद्रव्य ही होते हैं। परिणामस्वरूप त्र्यणुक के आरम्भक जो द्रव्य सिद्ध होते हैं वे कार्यद्रव्य ही हैं और वे हैं 'द्व्यणुक'। परमाणु तो नित्य है। उसे तो कार्यद्रव्य कहा जा सकना संभव ही नहीं है। अतः परमाणु को 'त्र्यणुक' का आरम्भक नहीं कहा जा सकता है]।

द्वितीय अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि द्व्यणुक भी अपने से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वह कार्यद्रव्य है। सभी कार्यद्रव्य अपने से स्वल्पपरिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न हुआ करते हैं, ऐसा नियम है। जैसे—घट। अतएव द्व्यणुक के आरम्भक द्रव्य के रूप में जो द्रव्य सिद्ध होता है, वही परमाणु है तथा वह किसी से उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् नित्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि परमाणु किसी का कार्यद्रव्य नहीं हुआ करता है, इसी कारण वह नित्य है।

ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य कार्यद्रव्यत्वाव्यभिचारात् तस्य कथमनारब्धत्वम् ?

उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात्। तथा च सति अनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः। तस्मादनारब्ध एव परमाणुः।

अब यहाँ परमाणु की नित्यता के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है:—

[प्रश्न—] (कार्यद्रव्यारम्भकस्य) कार्य [अनित्य] द्रव्य के आरम्भक [कारण] का भी (कार्यद्रव्यत्वाव्यभिचारात्) कार्य द्रव्य होने का नियम होने से [अनित्य द्व्यणुक के उत्पादक] (तस्य) उस [परमाणु] का (अनारब्धत्वम्) अनारब्धत्व अर्थात् नित्यत्व होना (कथम्) कैसे संभव है ?

[उपर्युक्त प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जब परमाणु को कार्यद्रव्य-'द्व्यणुक' का आरम्भक माना गया है तब फिर उस परमाणु को अनुत्पन्न अथवा नित्य कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि द्व्यणुक एक कार्यद्रव्य है तथा कार्य-द्रव्य के सभी आरम्भक स्वयं भी कार्यद्रव्य ही हुआ करते हैं–यह एक अव्यभिचरित [दोषरहित] नियम है। अतः परमाणु को भी कार्यद्रव्य [द्व्यणुक] का आरम्भक होने से कार्यद्रव्य ही मानना उचित है। ऐसी स्थिति में परमाणु को अनारब्ध [उत्पन्न न होने वाला] अर्थात् 'नित्य' कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?]।

[उत्तर—] (उच्यते) कहते हैं। [परमाणु को भी अनित्य कार्य-द्रव्य मानने पर] (अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात्) अनन्त कार्य-परम्परा का दोष आ जाने से [अर्थात् यदि परमाणु का भी कारण माना जाय तो फिर उसके कारण का भी कारण, फिर उसका भी कारण, इस प्रकार अनन्त कारण और अनन्तकार्य-परम्परा स्वीकार करनी होगी जिसका कहीं भी अन्त न होगा। (च) और (तथासति) वैसा होने पर [मेरु पर्वत तथा सरसों के दाना-दोनों के] (अनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण) अनन्त अवयवों से निर्मित होने के कारण समानता उत्पन्न हो जाने से (मेरुसर्षपयोः) मेरु [पर्वत] और सरसों [के दाने] का (अपि) भी (तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः) समान परिमाण का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा [क्योंकि मेरु पर्वत भी अनन्त अवयवों वाला है तथा सरसों का दाना भी अनन्त अवयवों से युक्त है। अतः जब दोनों ही अनन्त अवयवों से निर्मित हैं तब दोनों का परिमाण भी समान ही होना चाहिये, किन्तु ऐसा मानना पूर्णतया युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है तथा अनुचित भी है।] (तस्मात्) इसलिये (परमाणुः) परमाणु (अनारब्धः) अनारब्ध [नित्य] (एव) ही है।

"जो कार्य [अनित्य] द्रव्य का आरम्भक होता है वह भी कार्य [अनित्य] द्रव्य ही हुआ करता है।" इस नियम को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि यदि इसे नियम के रूप में स्वीकार किया जायगा तब तो प्रत्येक द्रव्य के अवयव कार्य-रूप ही होंगे और फिर उन अवयवों के अवयव भी कार्यरूप ही होंगे—उसके पश्चात् उन अवयवों के अवयव भी कार्यरूप ही होंगे। इस भाँति इस कार्य-परम्परा का कभी अन्त ही न हो सकेगा तथा अनवस्था दोष भी आ जायेगा। [कहने का तात्पर्य यह है कि परमाणु को भी कार्य [अनित्य] द्रव्य मानने पर उसके अवयवों की धारा कभी समाप्त ही न हो सकेगी]। इसके अतिरिक्त मेरु पर्वत सदृश विशालतम अवयवी भी अनन्त अवयवों से युक्त होगा और सरसों का छोटा दाना भी अनन्त अवयवों से युक्त होगा। और इस भाँति दोनों में अनन्त-अवयवों की समानता होने के कारण दोनों का परिमाण भी सामान होने लगेगा। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि मेरुपर्वत तथा सरसों के परिमाण में महान् अन्तर है। अतः परमाणु की सिद्धि में जिस अनुमान को प्रस्तुत किया गया है उसमें प्रतिकूल तर्क पूर्णतया बाधक है। परिणामस्वरूप यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि उपर्युक्त अवयव-धारा का कहीं न कहीं अन्त अवश्य हो जाता है अर्थात् अवयव के पश्चात् फिर उसके और अवयव अथवा खण्ड नहीं किये जा सकते हैं। अतः इस अन्तिम अवयव को ही परमाणु कहा जायगा। यह परमाणु अनारब्ध अथवा नित्य अथवा अनुत्पन्न और अवयव रहित है। फिर ऐसी स्थिति में मेरुपर्वत तथा सरसों के दाने-दोनों में परिमाण साम्य के होने की संभावना स्वयं ही निरस्त हो जायगी तथा यह भी स्पष्ट हो जायगा कि मेरु जैसा विशालतम अवयवी अधिक संख्या वाले परमाणुओं से बना है और सरसों का दाना न्यून संख्या के परमाणुओं से। इस भाँति दोनों का परिमाण सम्बन्धी भेद स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगा।

अतः परमाणु के विषय में यह सिद्ध है कि द्व्यणुक के उत्पन्न करने वाले परमाणु की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है द्व्यणुक से लेकर पृथिवी आदि पर्यन्त कार्य द्रव्यों की ही उत्पत्ति हुआ करती है। परमाणु तो कमरे की खिड़की के छिद्रों में से आने वाली सूर्य की किरणों में उड़ने वाले धूलिकण का छठा भाग हुआ करता है। इसी दृष्टि से दर्शन के अध्येताओं के बीच निम्नलिखित कारिका अति प्रसिद्ध है :—

"जालान्तर्गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्यषष्ठतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः॥"

द्व्यणुक आदि के अवयवों का नियम—

[द्व्यणुकादीनामवयवनियमः]

उपर्युक्त रूप से परमाणु की सिद्धि हो जाने के पश्चात् महाभूतों [अथवा स्थूलभूतों] के उत्पत्तिक्रम से सम्बन्धित यह दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि दो परमाणुओं से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुको से त्र्यणुक तथा चार त्र्यणुकों से चतुरणुक—इस क्रम से महाभूतों की उत्पत्ति क्यों स्वीकार की जाती है ? परमाणुओं से ही सीधे महाभूतों की उत्पत्ति क्यों नहीं स्वीकार की जाती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

द्व्यणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यत एकस्यानारम्भकत्वात्। त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्व्यणुकैरारभ्यत एकस्यानारम्भकत्वात्। द्वाभ्यामारम्भे कार्यगुणमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्। कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा। तत्र प्रथमस्यासंभवाच्चरममेषितव्यम्। न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति त्रिभिरेव महत्वारम्भोपपत्तेरिति।

(द्व्यणुकम्) द्व्यणुक तो (द्वाभ्यां एव परमाणुभ्याम्) दो परमाणुओं से ही (आरभ्यते) उत्पन्न होता है अथवा बनता है (एकस्य अनारम्भकत्वात्) एक [परमाणु] के आरम्भक न होने से, [वस्तुतः दो ही परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति हो जाती है फिर] (त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्) तीन आदि [परमाणुओं से द्व्यणुक बनता है, इस प्रकार की] कल्पना करने में कोई प्रमाण न होने से [दो परमाणुओं से ही द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है]। (त्र्यणुकम्) त्र्यणुक (तु) तो (त्रिभिः एव) तीन ही (द्व्यणुकैः) द्व्यणुकों से (आरभ्यते) उत्पन्न होता है (एकस्य अनारम्भकत्वात्) एक [द्व्यणुक] के आरम्भक न होने से। (द्वाभ्याम्) दो [द्व्यणुकों] से [त्र्यणुक का] (आरम्भे) आरम्भ अथवा उत्पत्ति मानने पर (कार्यगुणमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्) कार्य [त्र्यणुक] के गुण, महत् [परिमाण] की उपपत्ति न होने से [दो द्व्यणुकों को त्र्यणुक का उत्पन्न करने वाला नहीं माना जा सकता है]। (हि) क्योंकि (कार्ये) कार्य में (महत्वम्) महत्व [महत् परिमाण] के (कारणमहत्वात् वा) कारण के महत्-परिमाण से अथवा (कारणबहुत्वात् वा) कारण के बहुत्व [इन दो ही कारणों से] आता है। (तत्र) उसमें से [त्र्यणुक के महत्व अर्थात् महत्परिमाण के उपपादन के लिये (प्रथमस्य) प्रथम [अर्थात् कारणमहत्व] (असम्भवात्) के असम्भव होने से [त्र्यणुक के कारण द्व्यणुक में 'महत्-परिमाण' तो है ही नहीं क्योंकि

द्वयणुक का तो 'अणु-परिमाण' माना गया है। अतः कारणमहत्व की दृष्टि से त्र्यणुक में महत्व का होना असंभव है]। (चरमम्) अन्तिम [अर्थात् कारणबहुत्व को] ही त्र्यणुक के 'महत्-परिमाण' का उत्पादक] (एषितव्यम्) स्वीकार करना चाहिये। [यह बहुत्व तो 'तीन' संख्या से ही बन जाता है। अतः इससे अधिक] (चतुरादिकल्पनायाम्) चार आदि [द्वयणुकों को त्र्यणुक का कारण मानने] की कल्पना में (प्रमाणम्) कोई प्रमाण (न अस्ति) नहीं है। (त्रिभिः एव) तीन [द्वयणुकों] से ही (महत्वारम्भोपपत्तेः-इति) [त्र्यणुक के] महत्व की उपपत्ति हो जाने से [अर्थात् तीन से अधिक अथवा कम द्वयणुकों को त्र्यणुक का कारण नहीं माना जा सकता है। केवल तीन द्वयणुकों को ही त्र्यणुक का कारण कहा जा सकता है]।

एक 'द्वयणुक' का निर्माण दो परमाणुओं से ही हुआ करता है। यदि इस नियम को माना जाये तो इस सम्बन्ध में दो ही प्रकार की कल्पनायें की जा सकती हैं। प्रथम (१) तो यह कि एक ही परमाणु से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है अथवा दूसरा (२) यह है कि तीन अथवा अधिक परमाणुओं से 'द्वयणुक' की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रथम कल्पना की तो संगति ही युक्ति.संगत नहीं कही जा सकेगी क्योंकि यदि एक ही परमाणु को कार्य का उत्पादक मान लिया जायगा तब तो कोई भी कार्य निरन्तर ही चलता रहेगा क्योंकि परमाणु तो नित्य है तथा उसे किसी दूसरे की अपेक्षा भी नहीं है। अतः उसका कार्य निरन्तर चलता रहेगा और एसी स्थिति में कार्य भी नित्य हो जायेगा, जो कि नैयायिकों को अभीष्ट भी नहीं है। अतः एक ही परमाणु को किसी भी कार्य का आरम्भक मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय कल्पना को भी युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जब दो परमाणुओं से ही द्वयणुक की उत्पत्ति संभव है तो फिर तीन अथवा अधिक परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति के मानने की आवश्यकता ही क्या है? साथ ही इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। फिर ऐसे अप्रामाणिक विषय को स्वीकार करना भी संभव नहीं है। अतः यह मानना सर्वथा उचित तथा युक्तिसंगत है कि दो परमाणुओं से ही एक द्वयणुक का निर्माण होता है।

इसी प्रकार "तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक बनता है" यदि इस नियम को स्वीकार न किया जाय तो इस सम्बन्ध में भी तीन प्रकार की कल्पनायें करनी होंगी (१) एक द्वयणुक से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति हो जाती है। अथवा (२) दो द्वयणुकों से ही एक त्र्यणुक बन जाता है अथवा (३) चार, पाँच आदि द्वयणुकों से एक त्र्यणुक बनता है। इन तीनों में प्रथम कल्पना को तो

युक्ति संगत कहा ही नहीं जा सकता है जैसा कि अभी ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि 'एक' कारण ही किसी कार्य का आरम्भक नहीं हुआ करता है। फिर यदि द्वितीय कल्पना के आधार पर दो द्व्यणुओं से ही यदि त्र्यणुक की उत्पत्ति को माना जाय तो त्र्यणुक में पाया जाने वाला 'महत् परिमाण' उत्पन्न न हो सकेगा। क्योंकि 'महत्-परिमाण' की उत्पत्ति के दो ही कारण हुआ करते हैं (१) कारणमहत्व अथवा (२) कारण-बहुत्व। कहने का भाव यह है कि कार्य में "महत् परिमाण" की उत्पत्ति या तो उसके कारण में विद्यमान् 'महत्-परिमाण' से ही हो सकती है अथवा उस कार्य के कारण में विद्यमान बहुत्व संख्या से ही हो सकती है। इन दो कारणों के अतिरिक्त कार्य में "महत्-परिमाण" के उत्पन्न होने का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता है। त्र्यणुक का परिमाण तो 'महत् परिमाण' है। त्र्यणुक में इस 'महत्-परिमाण' की उत्पत्ति तभी हो सकती है कि जब इसके कारणभूत द्व्यणुक या परिमाण 'महत्-परिमाण' हो अथवा इसके कारण 'द्व्यणुक' की संख्या में बहुत्व हो। किन्तु द्व्यणुक का परिमाण तो 'अणु-परिमाण मानागया है। अतः कारण में, महत्-परिमाण' की विद्यमानता तो है नहीं। अतः 'कारण बहुत्व' को ही 'द्व्यणुक' के 'महत् परिमाण' का कारण मानना होगा। संख्या को बहुत्व अथवा बहुत संख्या का होना कम से कम तीन की अपेक्षा रखा करता है। अतः दो द्व्यणुकों से तो त्र्यणुक की उत्पत्ति का होना संभव नहीं है। फिर ऐसी स्थिति में बहुत्व संख्या वाले तीन द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति मानना उचित तथा युक्तिसंगत है। (३) फिर जब बहुत्व संख्या तीन में ही बन जाती है तो फिर चार अथवा पाँच द्व्यणुकों को त्र्यणुक का कारण स्वीकार करना बुद्धि-संगत नहीं कहा जा सकेगा। साथ ही इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः ऐसी अप्रामाणिक बात स्वीकार भी न होगी। अतः तीन द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति करते हैं:—

आकाश-निरूपण—

शब्दगुणमाकाशम्। शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत्। एकं विभु नित्यञ्च। शब्दलिङ्गकञ्च।

(शब्दगुणकम्) जो 'शब्द' नामक गुण का आश्रय है अथवा शब्द-नामक गुण से युक्त है यह (आकाशम्) अकाश है। [वह] शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत् (१) शब्द [विशेषगुण] तथा (२) संख्या (३) परिमाण (४) पृथक्त्व (५) संयोग और (५) विभाग [पाँच सामान्यगुण] [इन ६ गुणों] से युक्त है। वह (एकम्) एक है, (विभु) विभु है (च) और (नित्यम्)

नित्य है। (च) और (शब्दलिङ्गकम्) [वह] शब्द रूप लिङ्ग द्वारा अनुमान किये जाने योग्य है। अथवा शब्द रूप लिङ्ग ही उसका अनुमापक है।

अकाश का विशेषण "शब्द" है। शेष संख्या आदि पाँच सामान्यगुण हैं। आकाश का लक्षण है—"शब्दगुणम्"। शब्द ही आकाश का 'असाधारण धर्म' है। इस 'शब्द' नामक लिङ्ग द्वारा उस आकाश का अनुमान किया जाता है। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है :—

शब्दलिङ्गकत्वमस्य कथम् ?

परिशेषात्। प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः।

तथा हि शब्दस्तावद् विशेषगुणः सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत्। गुणश्च गुण्याश्रित एव। न चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति, श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य। ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते, यथा रूपादयः। शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते। न दिक्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात्। अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्तः शब्दगुणी एषितव्यः।, स एवाकाश इति।

[प्रश्न—] (अस्य) इस [आकाश] का (शब्दलिङ्गत्वम्) शब्दलिङ्गत्व (कथम्) कैसे है ?

[उत्तर—] (परिशेषात्) परिशेष [अनुमान] से [सिद्ध होने से]। (प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात्।) प्राप्त [पदार्थों] का निषेध हो जाने पर अन्य [किसी की प्राप्ति] का प्रसङ्ग उपस्थित होने से (परिशिष्यमाणे) शेष रहनेवाले [पदार्थ] में (सम्प्रत्ययः) प्रतीति कर लेना [अथवा अनुमिति कर लेना] (परिशेष) परिशेष [अनुमान कहलाता है। इस भाँति का परिशेषानुमान का लक्षण किया गया है।]।

["आकाश" की सिद्धि के विषय में परिशेषानुमान का उपर्युक्त लक्षण इस प्रकार घटता है कि—] (तथा हि) जैसे कि (शब्दः तावत् विशेषगुणः) शब्द विशेष गुण है [प्रतिज्ञा], (सामान्यवत्वे सति) सामान्य [जाति] से युक्त होकर (अस्मदादिबाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वात्) हमारी एक बाह्य [श्रोत्र] इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने योग्य होने से [हेतु], (रूपादिवत्) रूप आदि के समान [उदाहरण]। (च) और (गुणः) गुण (गुणी-आश्रितः-एव) गुणी के आश्रित ही रहा करता है। [आकाश को छोड़ कर शेष आठ द्रव्यों में से] (पृथिव्यादिचतुष्टयम्) पृथिवी आदि चार [पृथिवी, अप्, तेज, वायु]

(च) और (आत्मा) आत्मा [ये पाँच] (अस्य) इस [शब्दगुण] के (गुणी भवितुं न अर्हति) गुणी नहीं हो सकते हैं, (शब्दस्य) शब्द के (श्रोत्रग्राह्यत्वात्) श्रोत्र-ग्राह्य होने से [पृथिवी आदि चार और पाचवाँ आत्मा—इन पाँचों के जो विशेष गुण है उनमें से कोई भी श्रोत्र-ग्राह्य नहीं है। अतएव श्रोत्रग्राह्य 'शब्द' इन पाँचां में से किसी का भी गुण नहीं हो सकता है ।] (हि) क्योंकि (पृथिव्यादीनां ये गुणाः) पृथिवी इत्यादि के जो गुण हैं (ते) वे (श्रोत्रेन्द्रियेण) श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा (न गृह्यते) गृहीत नहीं होते हैं, (यथा) जैसे (रूपादयः) रूपादि । (शब्दः तु) [किन्तु] शब्द तो (श्रोत्रेण) श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा (गृह्यते) गृहीत होता है [अतः शब्द पृथिवी आदि चार तथा आत्मा इन पाँचों का गुण नहीं है ।] । और (न) न (दिक्कालमनसाम्) दिक् , काल तथा मन [इन तीनों का ही गुण है (विशेषगुणत्वात्) विशेष गुण होने से [दिक् , काल और मन—इन तीनों में रहने वाले गुण तो सभी सामान्य गुण हैं, विशेष गुण नहीं । किन्तु शब्द तो विशेषगुण है । अतः वह इन तीनों का भी गुण नहीं हो सकता है ।] । (अतः) इसलिये (एभ्यः—अष्टभ्यः—अतिरिक्तः) इन आठों से अतिरिक्त (शब्दगुणी) शब्द नामक गुण का गुणी (एषितव्यः) [जो नव द्रव्यों में अवशिष्ट रहा हो, उसी को] मानना चाहिये । (स एव) वह ही (आकाशः—इति) आकाश है।

आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव उसकी सत्ता का ज्ञान हमें 'शब्द' नामक लिङ्ग के द्वारा अनुमान प्रमाण से हुआ करता है। आकाश की सिद्धि के लिये न्याय तथा वैशेषिक में जिस अनुमान का प्रयोग किया गया है उसी का नाम "परिशेषानुमान" है । इसी का लक्षण है—"प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः" [न्यायभाष्य--१।१।५।।]। इन अनुमान में जो प्रसक्त अर्थात् प्राप्त होते हैं उनका निषेधकर दिया जाता है। प्राप्त से जो भिन्न [पदार्थ] हुआ करते हैं उनमें यह दिखला दिया जाता है कि वहाँ प्राप्ति [प्रसङ्ग] ही नहीं है । जो अवशिष्ट बचता है उसमें होने का निश्चय किया जाता है । अब इसी अनुमान के आधार पर 'शब्द' नामक विशेष गुण के आश्रय का ज्ञान प्राप्त करना है। अनुमान इस प्रकार बनता है :—शब्द किसी के आश्रित रहता है [प्रतिज्ञा], गुण होने से [हेतु], जैसे रूप [उदाहरण] । यहाँ शब्द के आश्रयरूप में पृथिवी आदि आठ द्रव्य प्रसक्त (प्राप्त) होते हैं [आकाश तो साध्य ही है अतः वह प्रसक्त [प्राप्त] नहीं होता है ।] अतः पृथिवी आदि आठों द्रव्य शब्द के आश्रय नहीं हो सकते हैं—इसी को स्पष्ट करना है [यही प्रसक्त का प्रतिषेध है ।] इसी प्रतिषेध

को दो अनुमानों द्वारा स्पष्ट किया गया है—(१) "शब्द पृथिवी, अप्, तेज, वायु तथा आत्मा का गुण नहीं है [प्रतिज्ञा], शब्द के श्रोत्रग्राह्य होने से [हेतु], जो पृथिवी आदि के गुण होते हैं वे श्रोत्रग्राह्य नहीं हुआ करते हैं जैसे रूप आदि [व्यतिरेकी उदाहरण]।" (२) "शब्द, दिशा, काल, मन-इन तीनों का गुण नहीं है [प्रतिज्ञा], विशेष गुण होने से [हेतु], जैसे रूप आदि [अन्वयी उदाहरण]।" "शब्द तो विशेष गुण है" इसकी सिद्धि के लिये भी "शब्दस्तावत्...रूपादिवत्"-यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त दोनों अनुमानों द्वारा प्रसक्त [प्राप्त] का प्रतिषेध किया गया है। गुण, कर्म आदि में तो शब्द रह ही नहीं सकता है क्योंकि गुण आदि में गुण नहीं रहा करते हैं। यही प्राप्ति का प्रसङ्ग न होता है [अन्यत्र-अप्रसङ्गात्]। अब जो इन आठों द्रव्यों को छोड़कर शेष बच गया है, वही नवम द्रव्य 'आकाश' है तथा वही शब्द गुण का आश्रय है। इस भाँति परिशेषानुमान द्वारा आकाश की सिद्धि की जाती है।

आकाश का एकत्व, विभुत्व तथा नित्यत्व—

स चैको, भेदे प्रमाणाभावात्। एकत्वेनैवोपपत्तेः। एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम सामान्यमाकाशे न विद्यते सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात्—विभुचाकाशं परममहत्परिमाणवदित्यर्थः; सर्वत्रतत्कार्योपलब्धेः। अतएव विभुत्वान्नित्यमिति।

(च) और (स) वह [आकाश] (एकः) एक है (भेदे) [इस आकाश के] अनेक होने में (प्रमाणाभावात्) प्रमाण न होने से (एकत्वेन एव) एकत्व से ही (उपपत्तेः) सब काम हो जाने से [आकाश को अनेक मानने की आवश्यकता नहीं है।] (च) और (एकत्वात्) एक होने के कारण ही (आकाशत्वं नाम) आकाशत्व नामक (सामान्यम्) जाति (आकाशे) आकाश में (न विद्यते) नहीं रहा करती है (सामान्यस्य-अनेकवृत्तित्वात्) जाति के अनेक में रहने वाली होने से (च) और (आकाशम्) आकाश (विभु) सर्वव्यापक है अर्थात् (परममहत्परिमाणवत्-इत्यर्थः) परममहत्-परिमाण वाला है (सर्वत्रतत्कार्योपलब्धेः) सर्वत्र उसके कार्य [शब्द] के उपलब्ध होने से [आकाश विभु है।] (अतएव) अतएव (विभुत्वात्) विभु होने से (नित्यम्-इति) वह नित्य है।

आकाश का एकत्व—

आकाश एक ही है क्योंकि उसे अनेक मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उसका एक मानना उचित भी है। ऐसा मानने पर ही एक स्थान में उत्पन्न

होने वाले शब्द का दूसरे स्थान पर श्रवण किया जा सकेगा। यदि आकाश को एक न माना जायेगा तथा अनेक आकाश माने जायेंगे तो एक स्थान के आकाश में उत्पन्न शब्द दूसरे स्थान के आकाश में पहुँच सकेगा। परिणाम यह होगा एक स्थान में उत्पन्न शब्द का श्रवण अन्य स्थान पर न किया जा सकेगा। अतः आकाश एक ही है।

आकाश के एक होने के कारण ही उसमें आकाशत्व जाति (सामान्य) भी नहीं रहा करती है क्योंकि सामान्य अथवा जाति तो वह धर्म है कि जो नित्य है तथा अनेकों में रहा करता है—"नित्यत्वे सति, अनेक समवेतत्वम् सामान्यम्।" जैसे-अनेक घटों में रहने वाला जो नित्य 'घटत्व' है वह जाति अथवा सामान्य कहा जाता है। आकाश का आकाशत्व नित्य तो अवश्य है किन्तु वह अनेकों में नहीं रहता है। अतः आकाशत्व को जाति अथवा सामान्य नहीं कहा जा सकता। फिर भी घटत्व, पटत्व आदि के सदृश आकाश शब्द के आगे भी जो 'त्व' प्रत्यय जोड़कर 'आकाशत्व' का व्यवहार किया जाता है वह सामान्य [जाति] न होकर 'उपाधि' ही है।

आकाश का विभुत्व

आकाश व्यापक है, समस्त मूर्त्तद्रव्यों के साथ संयुक्त रहता है अथवा उसे परममहत् परिमाण वाला कहना ही उपयुक्त है। उसके विभुत्व के लिये "सर्वत्र कार्योपलब्धेः" यह हेतु प्रस्तुत किया गया है। 'शब्द' का समवायी-कारण 'आकाश' है। उसका कार्य 'शब्द' है। यह शब्द सर्वत्र उपलब्ध होता है। एक समय में ही विभिन्न स्थानों पर शब्दों की उपलब्धि हुआ करती है। इसकी संभावना तभी की जा सकती है कि जब 'शब्द' के आश्रय की सर्वत्र विद्यमानता हो, क्योंकि गुणी के बिना गुण रह ही नहीं सकता। इस आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि 'शब्द' का आश्रयभूत 'आकाश' सर्वत्र है। किन्तु वह एक है। अतः एक होने से वह 'विभु' भी है।

आकाश का नित्यत्व--जो द्रव्य विभु हैं वे नित्य भी हैं। जैसे-आत्मा। आकाशविभु है। अतः वह भी नित्य है।

काल निरूपण--

कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोगविभागवान्। एको नित्यो विभुश्च। कथमस्य दिग्विपरीतपर-त्वापरत्वानुमेयत्वम्? उच्यते। सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते। व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्वि-परीतमपरत्वम्। तदिदं तत्तद्विपरीतं परत्वमपरत्वं च कार्यं तत्कारणस्य

दिगादेरसंभवात् कालमेव कारणमनुमापयति। स चैकोऽपि वर्त्तमानातीतभविष्यत्क्रियोपाधिवशाद् वर्त्तमानादिव्यपदेशं लभते, पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम्। नित्यत्वविभुत्वे चास्य पूर्ववत्।

(कालः) काल (अपि) भी (दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः) दिशा [के परत्व और अपरत्व] से विपरीत परत्व–अपरत्व के द्वारा अनुमेय है। [वह] (संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवान्) (१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग और (५) विभाग-इन पाँच गुणों से युक्त है। वह एक, नित्य और विभु है।

(अस्य) इसका (दिग्विपरीत परत्वापरत्वानुमेयत्वम्) दिशा से विपरीत परत्वापरत्व द्वारा अनुमान (कथम्) कैसे किया जाता है ? (उच्यते) कहते हैं। (सन्निहिते) समीप में स्थित अतएव (सन्निधानात्) सन्निधान [समीपता] के कारण [दैशिक दृष्टि से] (अपरत्वार्हे) अपरत्व [व्यवहार] के योग्य (वृद्धे) वृद्ध [पुरुष] में (तद्विपरीतम्) उस [अपरत्व] के विपरीत [कालिकदृष्टि से] (परत्वम्) 'परत्व' (प्रतीयते) की प्रतीति होती है। इसी प्रकार (व्यवहिते) दूरस्थित (व्यवधानात) अतएव व्यवधान [दूरी] के कारण [दैशिकदृष्टि से] (परत्वार्हे) परत्व [व्यवहार] के योग्य (यूनि) युवा-पुरुष में (तद्विपरीतम्) उस [दैशिक-परत्व] के विपरीत (अपरत्वम्) अपरत्व की प्रतीति होती है। (तत्-इदम्) वह यह (तत् तत्) उस उस [दैशिक अपरत्व और परत्व] के (विपरीतम्) विपरीत (परत्वमपरत्वं च) परत्व और अपरत्व (कार्यम्) कार्य है (तत्कारणस्य) उसका कारण (दिक् आदेः) दिक् आदि (असंभवात्) संभव न होने से (कालं-एव) काल को ही (कारणम्) कारण के रूप में (अनुमापयति) अनुमान कराता है। (च) और (स) वह (एकः अपि) एक होने पर भी (वर्त्तमानातीत भविष्यत्क्रियोपाधिवशात्) वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् क्रिया रूप उपाधि के सम्बन्ध से (वर्त्तमानादिव्यपदेशम्) वर्त्तमान आदि व्यवहार को [अथवा संज्ञा को] (लभते) प्राप्त होता है। (इव) जैसे (पच्यादिक्रियोपाधिवशात) पचन [पठन] आदि क्रिया रूप उपाधि के कारण (पुरुषः) पुरुष (पाचकपाठकादिव्यपदेशम्) पाचक, पाठक आदि व्यवहार को प्राप्त होता है। (च) और (अस्य) इस [काल] के (नित्यत्वविभुत्वे) नित्यत्व और विभुत्व (पूर्ववत्) पूर्ववर्णित [आकाश] के समान होते हैं।

काल की सिद्धि दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व से तथा दिक् की सिद्धि कालविपरीत परत्व और अपरत्व से अनुमान द्वारा हुआ करती है। इसका तात्पर्य यह है कि जो आयु में बड़ा है अथवा जिसके साथ काल का अधिक सम्बन्ध है वह कालिकदृष्टि से 'पर' अथवा ज्येष्ठ कहा जाता है। और जिसके साथ काल का अल्प सम्बन्ध है अथवा जो आयु में छोटा है उसको कालिक-दृष्टि से 'अपर' अथवा कनिष्ठ कहा जाया करता है। इसी भाँति जो दूर देश में स्थित है वह दैशिक-दृष्टि से 'पर' कहा जायगा तथा जो समीपस्थ देश में स्थित है उसे दैशिक-दृष्टि से 'अपर' कहा जायगा। ऐसी स्थिति में वृद्ध-पुरुष, युवक की अपेक्षा 'कालिक दृष्टि' से 'पर' है। किन्तु यदि वही वृद्ध पुरुष, जो काल की दृष्टि से 'पर है, युवक की अपेक्षा समीप में बैठा हो तो उसे 'अपर' कहा जायगा [दैशिक दृष्टि से]। यही दिग् विपरीत और काल विपरीत 'परत्व' और अपरत्व है। अतः दिक्विपरीत परत्वापरत्व द्वारा काल का और कालविपरीत द्वारा दिक् [दिशा] का अनुमान होता है। अब यहाँ दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व द्वारा काल का अनुमान किस प्रकार होता है ? इसीका निरूपण करते हैं :—

समीपस्थ वृद्ध-पुरुष दूरस्थित युवा की अपेक्षा समीप में स्थित होने के कारण दिशा की दृष्टि से यद्यपि 'अपर' प्रतीत होता है, किन्तु फिर भी उसमें युवा की अपेक्षा "पर" होने की प्रतीति होती है। इसी भाँति दूर स्थित युवा पुरुष में समीपवर्ती वृद्ध की अपेक्षा दूर स्थित होने के कारण दिशा की दृष्टि से 'पर' होने की प्रतीति हुआ करती है किन्तु फिर भी वृद्ध की अपेक्षा उसमें 'अपर' होने सम्बन्धी प्रतीति भी होती ही है। समीपस्थ वृद्ध-पुरुष तथा दूरस्थ युवा-पुरुष में प्रतीत होने वाला यह परत्व और अपरत्वरूप कार्य दिग्विपरीत है। इसका कारण 'दिशा' तो हो नहीं सकती क्योंकि यदि इसका कारण दिशा ही होती तो समीपस्थ वृद्ध दूरस्थ युवा की अपेक्षा 'पर' तथा दूरस्थ युवा समीपस्थ वृद्ध की अपेक्षा 'अपर' प्रतीत न होता। किन्तु इस प्रकार की परत्व और अपरत्व की प्रतीति तो होती ही है। साथ ही ये परत्व और अपरत्व कार्य हैं। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य हुआ करता है। अतः इस परत्व और अपरत्वरूप कार्य का दिशा से भिन्न कोई न कोई कारण अवश्य है, तथा जो कारण है वही 'काल' है।

'आकाश' के समान ही काल भी एक, नित्य तथा विभु है। उसके जो वर्त्तमान आदि भेद प्रतीत होते हैं तथा घण्टा, दिन, पल, विपल आदि भेद कहे जाते हैं वे सभी औपाधिक ही हैं, जैसे सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय 'दिन' कहलाता है—इत्यादि।

दिक् [दिशा] का निरूपण—

कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। एका नित्या विभ्वीच। संख्य-परिमाणपृथक्त्व-संयोग-विभागवती। पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया। तेषामन्यनिमित्तासम्भवात्। पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे स्थितस्य वस्तुनस्तादवस्थ्यात्। सा चैकाऽपि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते।

(कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक् काल विपरीत परत्व, अपरत्व से दिक् [दिशा] का अनुमान किया जाता है। [दिशा] (एका) एक; (नित्या) नित्य च और (विभ्वी) विभु [व्यापक] है। (संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवती) वह संख्या-परिमाण-पृथक्त्व, संयोग और विभाग [इन पाँच गुणों] से युक्त है। (पूर्वादिप्रत्ययैः) पूर्व [पश्चिम] आदि के ज्ञान से [भी] (अनुमेया) [वह] अनुमेय है, (तेषाम्) उनका (अन्यनिमित्तासम्भवात्) अन्य निमित्त न होने से। (पूर्वस्मिन्) पूर्व में (वा) अथवा (पश्चिमे) पश्चिम (देशे) देश में (स्थितस्य) स्थित (वस्तु नः) वस्तु के (तादवस्थ्यात्) समानरूप [यह वस्तु पूर्व में रखी है अथवा पश्चिम में—इस प्रकार का व्यवहार भेद होने का दिक् के अतिरिक्त अन्य कोई कारण न होने] होने से। (च) और (सा) वह (एकापि) एक होने पर भी (सवितुः) सूर्य के (तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात्) उस उस देश के साथ संयोग रूप उपाधि के निमित्त से (प्राच्यादिसंज्ञाम्) पूर्व [पश्चिम] आदि संज्ञा को (लभते) प्राप्त होती है।

व्यक्ति किसी एक स्थान पर स्थित रहता हुआ इस प्रकार की अनुभूति किया करता है कि "अमुक स्थान इस स्थान से पूर्व में है, अमुक स्थान इस स्थान से पश्चिम की ओर है।" इस प्रकार की पूर्व-पश्चिम आदि की प्रतीति [अनुभूति] का होना ही कार्य है। यह [प्रतीतिरूप] कार्य किसी कारण से उत्पन्न होना चाहिये। अतः इसका कोई कारण अवश्य है। वह कारण—दिशा ही है। इस भाँति तर्कभाषाकार की दृष्टि से दिशा का अनुमान किया जाता है। इसका अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा—"पूर्व आदि की प्रतीति का कोई कारण है, क्योंकि यह कार्य है, अन्य कार्यों के सदृश"। यह अनुमान किसी 'कारण' की सिद्धि करता है। पृथिवी आदि आठ द्रव्य इस प्रतीति के कारण नहीं हो सकते हैं। अतः परिशेषानुमान द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि उक्त प्रतीति का निमित्त पृथिवी आदि ८ द्रव्यों के अतिरिक्त कोई द्रव्य है, वही दिशा [दिक्] है।

दिशा एक है। एक होने पर भी भिन्न-भिन्न स्थानों के साथ सूर्य का संयोग होने के कारण 'पूर्व' आदि संज्ञायें हो जाया करती हैं। सूर्य के साथ जो दिशाओं के प्रदेशों का संयोग है वही 'पूर्व' आदि संज्ञाओं का निमित्त [उपाधि] है। जैसे—जिस दिशा के स्थानों के साथ उदित होते हुये सूर्य का सर्वप्रथम संयोग होता है उसे 'पूर्व दिशा' कहा जाता है। यही पश्चिम आदि संज्ञाओं का भी निमित्त है। एक होने से वह नित्य और विभु भी है।

[आत्मा]

आत्मा का निरूपण—

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा । सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स चोक्त एव। तस्य सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च। बुद्ध्यादयः नव विशेषगुणाः। नित्यत्वविभुत्वे पूर्ववत्।

(आत्मत्वाभिसम्बन्धवान्) आत्मत्व [जाति] के [समवाय] सम्बन्ध से युक्त (आत्मा) आत्मा है। [प्रत्येक व्यक्ति के] (सुखदुःखादिवैचित्र्यात्) सुख-दुःख आदि के पृथक-पृथक् होने से [वह] (प्रति शरीरम्) प्रत्येक शरीर में (भिन्नः) भिन्न-भिन्न है। (च) और (स) उस [आत्मा] का (उक्तः एव) निरूपण किया ही जा चुका है। (तस्य) उस [आत्मा] के (संख्यादयः) संख्या आदि (पञ्च) पाँच [संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग] (सामान्यगुणाः) सामान्यगुण हैं तथा (बुद्ध्यादयः) बुद्धि आदि [बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार] (नव) नौ (विशेषगुणाः) विशेषगुण [ये सब मिलाकर आत्मा के चौदह गुण है]। [उस आत्मा का] (नित्यत्व-विभुत्वे) नित्यत्व और विभुत्व (पूर्ववत्) पहले [आकाश] के समान है।

टिप्पणी—इस आत्मा का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

[मनः]

मन का निरूपण—

मनस्त्वाभिसम्बन्धवन्मनः। अणु, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियम्। सुखाद्युपलब्धिकरणं नित्यञ्च। संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन बाह्येन्द्रियमर्थग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धिसाधनम्। तच्च न प्रत्यक्षं अपित्वनुमानगम्यम्। तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वात्। यद्वस्तु यद्विनैवोत्पद्यते तत् तदतिरिक्तकरणसाध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्यमाना पचनक्रिया तदतिरिक्त-

वह्न्यादिकरणसाध्या । यच्चकरणं तन्मनः तच्चचक्षुराद्यतिरिक्तम् । तच्चाणुपरिमाणम् ।

(मनस्त्वभिसम्बन्धवन्मनः) मनस्त्व [जाति] के [समवाय] सम्बन्ध वाला मन है । [वह मन] (अणु) अणु [परिमाणवाला] (आत्मसंयोगि) आत्मा से संयुक्त, (अन्तरिन्द्रियम्) आन्तरिक इन्द्रिय है । (सुखाद्युपलब्धि-करणम्) सुख आदि की उपलब्धि का करण [साधन] (च) और (नित्यम्) नित्य है । (संख्याद्यष्टगुणवत्) संख्या आदि आठ [संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार] गुणों से युक्त है । (तत्संयोगेन) उस [मन] के संयोग से (बाह्येन्द्रियम्) बाह्य इन्द्रियाँ [अपने-अपने] (अर्थग्राहकम्) विषय को ग्रहण करती हैं । (अतएव) इसीलिये (सर्वोप-लब्धिसाधनम्) [सब इन्द्रियों के अपने अपने विषय में सहायक होने से] सभी [विषयों] की उपलब्धि का साधन है । (च) और (तत्) वह [मन] (प्रत्यक्षं न) प्रत्यक्ष नहीं होता है (अपितु) अपितु (अनुमानगम्यम्) अनुमान द्वारा जाना जाता है । (तथा हि) जैसे कि [अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा] (सुखाद्युपलब्धयः) सुख आदि का अनुभव (चक्षुः आदि अतिरिक्तकरणसाध्याः) चक्षु आदि [बाह्य इन्द्रियों] से अतिरिक्त [किसी] करण द्वारा साध्य है [प्रतिज्ञा], (असत्सु अपि चक्षुः आदिषु) चक्षु आदि इन्द्रियों के [व्यापार के] न होने पर भी (जायमानत्वात्) [सुख आदि के] उत्पन्न होने से [हेतु], (यद्वस्तु) जो वस्तु (यत् विना एव) जिसके बिना ही (उत्पद्यते) उत्पन्न होती है (तत्) वह (तदतिरिक्तकरणसाध्यम्) वह उससे भिन्न करण [साधन] द्वारा साध्य होती है, (यथा) जैसे (कुठारं विना) कुठार के बिना (उत्पद्यमाना) उत्पन्न होने वाली (पचनक्रिया) पचनक्रिया (तदतिरिक्त-वह्नि-आदि करण साध्या) उससे भिन्न अग्नि आदि करण [साधन] द्वारा साध्य होती है [उदाहरण] । (च) और [सुख आदि का] (यत्) जो (करणम्) करण है (तत्) वह (मनः) मन है । (च) और (तत्) वह (चक्षुः आदि-अतिरिक्तम्) चक्षु आदि बाह्य-इन्द्रियों से भिन्न है । (च) और (तत्) वह (अणुपरिमाणम्) अणुपरिमाणवाला है ।

प्रमेय के सन्दर्भ में 'मन' का विवरण आ चुका है । यहाँ तो द्रव्य के रूप में उसका वर्णन प्रस्तुत है । इसका इस प्रकार से दो बार वर्णन प्रस्तुत करने का कारण यही है कि तर्कभाषाकार ने वैशेषिक के पदार्थों का न्याय के पदार्थों के साथ समन्वय स्थापित किया है । इस ही कारण उसका दो स्थानों पर निरूपण हो गया है ।

तर्कभाषाकार के अनुसार मन का लक्षण यह है—"जिसमें मनस्त्व जाति रहा करती है वह 'मन' है। वह 'मन' अणु परिमाण से युक्त। उसे मध्यम परिमाण से युक्त नहीं माना जा सकता है। ऐसा मानने पर उसकी अनित्यता सिद्ध होने लगेगी। उसे 'विभु' भी नहीं माना जा सकता क्योंकि विभु मानने पर वह व्यापक होने के कारण चक्षु आदि सभी इन्द्रियों के साथ निरन्तर सम्बद्ध रहेगा और एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति भी हुआ करेगी। अतः मन 'अणु' परिमाण वाला ही है।

मन एक है तथा अवयवरहित होने के कारण नित्य भी है। वह आन्तरिक-इन्द्रिय अथवा अन्तःकरण है। 'आत्मा' के सुख आदि धर्मों का साक्षात्कार 'मन' इन्द्रिय द्वारा ही होता है। अतएव 'सुख' इत्यादि की उपलब्धि का कारण 'मन' ही है। यद्यपि बाह्यइन्द्रियाँ भी मन के संयोग से ही अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने में समर्थ हुआ करती हैं फिर भी रूप आदि के प्रत्यक्ष में मन साधन नहीं होता है, निमित्त (कारणमात्र) अवश्य होता है। विना मन के संयोग के बाह्य-इन्द्रिय अर्थ (विषय) का ग्रहण नहीं कर सकती है। इसी कारण सम्पूर्ण विषयों की उपलब्धि का साधन 'मन' ही माना जाता है।

मन अतीन्द्रिय है। उसका प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है क्योंकि वह रूप-रहित द्रव्य है; साथ ही उसमें महत् परिमाण भी नहीं है। अनुमान प्रमाण द्वारा ही उसकी सिद्धि हुआ करती है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा:—

"सुख आदि का प्रत्यक्षज्ञान चक्षु आदि से भिन्न करण (साधन) से उत्पन्न होता है क्योंकि चक्षु आदि के न होने पर भी वह उत्पन्न हुआ करता है। व्याप्ति यह है कि जो वस्तु जिसके विना उत्पन्न होती है वह उससे भिन्न करण (साधन) द्वारा उत्पन्न हुआ करती है। जैसे—कुठार के न होने पर भी पाक-क्रिया हुआ करती है। यह पाकक्रिया कुठार से भिन्न अग्नि आदि रूप करण (साधन) द्वारा उत्पन्न हुआ करती है। इसी प्रकार चक्षु आदि के न होने पर भी 'सुख' आदि की उपलब्धि हुआ ही करती है! अतः 'सुख' आदि की यह उपलब्धि 'चक्षु' आदि से भिन्न किसी करण (साधन) द्वारा साध्य है। अतः सुख आदि की उपलब्धि का जो करण है, वही 'मन' है।

इति द्रव्याण्युक्तानि।

(इति) इस प्रकार (द्रव्याणि) द्रव्यों का (उक्तानि) कथन अथवा निरूपण किया गया।

[गुणाः]

गुण-निरूपण—

अथ गुणा उच्यन्ते। सामान्यवान्, असमवायिकारणं, अस्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व - अपरत्व - गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुख इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-भेदाच्चतुर्विंशतिधा।

(अथ) अब (गुणाः) गुणों का (उच्यन्ते) कथन किया जाता है। (सामान्यवान्) सामान्य से युक्त, (असमवायिकारणम्) असमवायीकारण तथा (अस्पन्दात्मा) कर्म से भिन्न (गुणः) 'गुण' कहलाता है [यह गुण का लक्षण है—तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ सामान्य (जाति) का आश्रय हुआ करता है, किसी भी कार्य का समवायि कारण नहीं होता है तथा कर्म से भिन्न होता है, उसे 'गुण' कहा जाता है।]। (च) और (स) [गुण] (द्रव्याश्रितः एव) द्रव्य के आश्रित ही रहा करता है। (१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) गुरुत्व (१३) द्रवत्व (१४) स्नेह (१५) शब्द (१६) बुद्धि (१७) सुख (१८) दुःख (१९) इच्छा (२०) द्वेष (२१) प्रयत्न (२२) धर्म (२३) अधर्म और (२४) संस्कार (भेदात्) के भेद से (चतुर्विंशतिधा) चौबीस प्रकार का है।

गुण के उक्त लक्षण में तीन पदों का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक पद की अपनी-अपनी सार्थकता है। प्रथम पद "सामान्यवान्" के रखने से उक्त लक्षण सामान्य, विशेष और समवाय में अतिव्याप्त न हो सकेगा क्योंकि इनमें सामान्य (जाति) नहीं रहा करती है। "असमवायिकारणम्" इस पद को रखने से यह लक्षण 'द्रव्य' में अतिव्याप्त न हो सकेगा क्योंकि द्रव्य तो समवायी-कारण हुआ करता है। "अस्पन्दात्मा" इस पद के लक्षण में रखे जाने से कर्म में उक्त लक्षण 'अतिव्याप्त' नहीं होता है। अतः गुण के उक्त लक्षण में से किसी भी पद को पृथक नहीं किया जा सकता है।

"अस्पन्दात्मा" का अर्थ—'स्पन्द' का अर्थ है क्रिया अथवा कर्म। 'स्पन्दात्मा' का अर्थ हुआ 'कर्मस्वरूप'। जो कर्म स्वरूप नहीं है वह 'अस्पन्दात्मा' अर्थात् 'कर्मभिन्न' ही हुआ।

गुण 'द्रव्य' के आश्रित ही रहा करता है। यह भी गुण के वर्णन में स्पष्ट किया गया है। 'रूप' आदि २४ गुण हैं।

(१) रूप-निरूपण—

(१) तत्र रूपं चक्षुमात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्ति। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजं च पृथिव्याम्। तच्चानित्यं पृथिवीमात्रे। आप्यतैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

(तत्र) उन [गुणों] में (रूपम्) रूप (विशेषगुणः) विशेषगुण है। जो (चक्षुमात्रग्राह्यः) केवल चक्षु से ग्राह्य है। (पृथिव्यादित्रयवृत्ति) पृथिवी आदि [(१) पृथिवी (२) जल और (३) तेज] तीन में रहने वाला है। (च) और (तत्) वह (शुक्लादि-अनेक प्रकारकम्) शुक्ल आदि [(१) शुक्ल (२) लोहित (३) पीत (४) कृष्ण (५) हरित (६) कपिश और (७) चित्र भेद से सात] अनेक प्रकार का है। (च) और वह [रूप गुण] (पृथिव्याम्) पृथिवी में (पाकजम्) पाकज है। (च) और (तत्) वह (पृथिवीमात्रे) पृथिवीमात्र [नित्य पृथिवी तथा अनित्य पृथिवी-दोनों ही] में (अनित्यम्) अनित्य होता है। (आप्यतैजसपरमाण्वोः) जल और अग्नि के परमाणुओं में (नित्यम्) नित्य है तथा (आप्यतैजसकार्येषु) जल और अग्नि के कार्यों में (अनित्यम्) अनित्य है। (तेजसि) तेज [अग्नि] में (शुक्लभास्वरम्) शुक्ल, भास्वर एवं (अपाकजम्) अपाकज है। (तत् एव) वही [रूप-गुण] (अप्सु) जल में (अभास्वरम्) अभास्वर शुक्ल [और अपाकज] होता है।

चक्षुमात्र से प्रत्यक्ष किये जाने योग्य विशेषगुण का नाम "रूप" है। "चक्षुमात्रग्राह्यः" में 'ग्राह्य' का अर्थ "प्रत्यक्षयोग्य" [अथवा प्रत्यक्ष किये जाने योग्य] करना ही उचित है। 'रूप' के इस लक्षण में यदि 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्ष-विषय' किया जायगा तो परमाणु के रूप में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी क्योंकि "परमाणु" में महत्त्व के विद्यमान न होने से उसमें रहने वाला रूप प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है। परमाणु का रूप प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी प्रत्यक्षयोग्य तो है ही--क्योंकि यदि उस [परमाणु के रूप] के आश्रय [परमाणु] में महत्व रहा होता तो वह भी घट आदि के रूप के सदृश ही प्रत्यक्ष का विषय अवश्य रहा होता।

उपर्युक्त "प्रत्यक्षयोग्य" अर्थ करने पर भी उक्त लक्षण की चक्षु के 'रूप' में अव्याप्ति हो सकती है क्योंकि चक्षु का रूप तो उद्भूत न होने से प्रत्यक्ष-योग्य नहीं हुआ करता है। ऐसी स्थिति में "ग्राह्य" का अर्थ "प्रत्यक्षयोग्य-जाति का आश्रय होना" स्वीकार करना होगा। ऐसा अर्थ करने पर चक्षु के

रूप में अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि चक्षुमात्र से प्रत्यक्षयोग्य जाति "रूपत्व" है। वह चक्षु के रूप में भी विद्यमान है।

"चक्षुमात्रग्राह्यः विशेषगुणः" रूप के इस लक्षण में "मात्र" पद न रखा गया होता तो यह लक्षण "संख्या" नामक गुण में भी अतिव्याप्त हो जाता क्योंकि 'संख्या' भी चक्षुग्राह्य है। हां, इतना अवश्य है कि संख्या केवल चक्षु से ही ग्राह्य नहीं हैं। उसका ग्रहण तो 'त्वचा' नामक इन्द्रिय द्वारा भी किया जाता है। अतः लक्षण में 'मात्र' पद रखने से उपर्युक्त दोष नहीं आयेगा। इसी प्रकार यदि उक्त लक्षण में 'गुण' पद न रखा गया होता तो रूपत्व जाति में लक्षण अतिव्याप्त हो जाता, क्योंकि वह [रूपत्व] भी चक्षुमात्रग्राह्य है। किन्तु रूपत्व तो जाति है, गुण नहीं। अतः लक्षण में 'गुण' पद का रखा जाना आवश्यक है। फिर यदि इस लक्षण में "विशेष" पद न रखा गया होता तो 'प्रभा की संख्या' में अवशिष्ट लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। उदाहरणार्थ—किसी स्थल पर सूर्य की प्रभा पाँच भिन्न-भिन्न दीवालों पर पड़ रही है। यहाँ 'प्रभा का पञ्चत्व' (५) संख्या चक्षुमात्रग्राह्य है और वह गुण भी है। हाँ इतना अवश्य है कि उक्त (प्रभा की) संख्या सामान्यगुण है, विशेष गुण नहीं। अतः लक्षण में 'विशेष' पद रखने से 'प्रभा की संख्या' में लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी। विशेषगुण का लक्षण 'आत्मा' तथा 'आकाश' के निरूपण में किया जा चुका है।

रूप के लक्षण सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के समान ही 'रस' आदि के लक्षणों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

यह 'रूप' पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहा करता है। वह शुक्ल आदि भेद से अनेक प्रकार का हुआ करता है। उसके सात प्रकार ये हैं :—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और कर्बुर [चित्र]। यह सप्तम 'चित्र' नामक रूप विवाद का विषय है।

(२) रस-निरूपण—

(२) रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट्प्रकारो मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त भेदात्, पाकजश्च। अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुभूतास्वप्सु। कार्यभूतास्वनित्यः।

(२) (रसनेन्द्रियग्राह्यः) रसना-इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने योग्य (विशेषगुणः) विशेषगुण (रसः) 'रस' कहलाता है। (पृथिवीजलवृत्तिः) यह पृथिवी तथा जल में रहता है। (तत्र) उसमें से (पृथिव्याम्) पृथिवी में

(मधुरादिषट्प्रकारः) मधुर आदि ६ प्रकार का है—(१) मधुर, (२) अम्ल, (३) लवण, (४) कटु, (५) कषाय, (६) और तिक्त (भेदात्) भेद से [६ प्रकार का] (च) और (पाकजः) पाकज है। (अप्सु) जल में (मधुरोऽपाकजः [केवल] मधुर एवं अपाकज होता है। [वह] (नित्यः) नित्य (च) और (अनित्यः) अनित्य [दो प्रकार का] है। (परमाणुभूतासु) परमाणु रूप (अप्सु) जल में (नित्यः) नित्य है [तथा] (कार्यभूतासु) कार्यरूप जल में (अनित्यः) अनित्य है।

(३) गन्ध-निरूपण—

(३) **गन्धो घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीमात्रवृत्तिः। अनित्य एव। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्।**

(घ्राणग्राह्यः) घ्राण इन्द्रिय से ग्राह्य (विशेषगुणः) विशेषगुण (गन्धः) गन्ध है। (पृथिवीमात्रवृत्तिः) यह केवल पृथिवी में रहता है। (अनित्यः एवं) अनित्य ही है। (सः) वह [गन्ध) (सुरभिः असुरभिः च) सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद से (द्विविधः) दो प्रकार का है। (जलादौ) जल आदि में [होने वाली] (गन्धप्रतिभानम्) गन्ध की प्रतीति तो (संयुक्तसमवायेन) जल में संयुक्त पार्थिव, अंश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली गन्ध का जल में [भान] संयुक्त समवाय-सम्बन्ध से (द्रष्टव्यम्) देखना अथवा समझना चाहिये। [उस गन्ध को जल का गुण नहीं मानना चाहिये]।

ऊपर यह कहा गया है कि गन्ध केवल पृथिवी में रहा करती है। यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यदि गन्ध केवल पृथिवी में रहा करती है तो फिर "यह सुगन्धित जल है, यह सुगन्धित वायु है "ऐसी प्रतीति क्यों हुआ करती है ? इसका समाधान यह है कि जल अथवा वायु में वस्तुतः गन्ध नहीं रहा करती है। जल अथवा वायु से संयुक्त जो पुष्प आदि हुआ करते हैं उनकी गन्ध ही संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध से जल अथवा वायु में प्रतीत होने लगा करती है क्योंकि जल अथवा वायु से संयुक्त जो पुष्प इत्यादि हैं उनमें समवाय-सम्बन्ध से गन्ध रहा ही करती है।

(४) **स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्। शीतः पयसि, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः। पृथिवीमात्रे ह्यनित्यः। आप्य-तैजस-वायवीयपरमाणुषु नित्यः, आप्यादिकार्येष्वनित्यः। एते च रूपादयश्चत्वारो महत्वैकार्थसमवेतत्वे सत्युद्भूता एव प्रत्यक्षाः।**

(४) (त्वगिन्द्रियग्राह्यः) त्वक्-इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने योग्य (विशेषगुणः) विशेषगुण (गन्धः) गन्ध है। वह (पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः) पृथिवी आदि चार [(१) पृथिवी (२) जल (३) वायु और (४) अग्नि] में रहता है। (च) और (स) वह (शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्) (१) शीत, (२) उष्ण और (३) अनुष्णाशीत भेद से (त्रिविधः) तीन प्रकार का है। (शीतः) शीत [स्पर्श] (पयसि) जल में, (उष्णः) उष्ण [स्पर्श] (तेजसि) तेज में (अनुष्णाशीतः) तथा अनुष्णाशीत [स्पर्श] (पृथिवीवाय्वोः) पृथिवी और वायु में [रहता] है। (पृथिवीमात्रे) वह पृथिवीमात्र [अर्थात् परमाणु रूप तथा कार्यरूप-दोनों ही प्रकार को पृथिवी] में (अनित्यः) अनित्य है। (आप्यतैजसवायवीयपरमाणुषु) जल, तेज और वायु के परमाणुओं में (नित्यः) नित्य है तथा (आप्यादिकार्येषु) कार्यरूप जल आदि में (अनित्यः) अनित्य है। (एते) यह (रूपादयः) रूप आदि (चत्वारः) चारों [गुण] (महत्वै-कार्यसमवेतत्वे) महत् [परिमाण] के साथ एक अर्थ में समवेत और (सत्यु-भूताः) उद्भूत होने पर (एवं) ही (प्रत्यक्षाः) प्रत्यक्ष हुआ करते हैं।

रूप आदि विशेष गुणों के प्रत्यक्ष के लिये दो बातों का होना आवश्यक है (१) महत-परिमाण के साथ एक अर्थ में समवेत होना। अर्थात् जब रूप आदि ऐसे किसी अर्थ (द्रव्य) में समवाय-सम्बन्ध से रहा करते हैं कि जिसमें महत् परिमाण भी समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान रहा करता है। (२) रूपादि विशेषगुणों का उद्भूत अथवा प्रत्यक्ष के योग्य होना। अर्थात् जब रूप आदि विशेष गुण इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने योग्य अवस्था में विद्यमान रहा करते हैं। इन दोनों विशेषताओं के होने पर ही रूप आदि विशेषगुणों का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इन दोनों अथवा इन दोनों में से किसी एक के बिना भी रूप आदि का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। जैसे परमाणु और द्व्यणुक में महत् परिमाण के न होने से उनमें रहने वाले रूप-आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। और उष्ण जल में अग्नि के भास्वर शुक्ल रूप के 'उद्भूत' न होने से उस [रूप] का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है। अतः रूप आदि चारों विशेषगुणों के प्रत्यक्ष होने के लिये उन [रूप आदि गुणों] का महत्परिमाण वाले द्रव्य में समवेत होना [महत्वैकार्थसमवेत] तथा 'उद्भूत' होना-ये दोनों ही बातें आवश्यक हैं।

(५) संख्या-निरूपण—

(५) संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः। एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता। तत्रैकत्वं द्विविधं नित्यानित्यभेदात्। नित्यगतं नित्यमनि-

त्यगतमनित्यम्। स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यं च। द्वित्वं चानित्यमेव। तत्र द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्, इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्ध्या जन्यते। तत्र द्वौ पिण्डौसमवायिकारणे, पिण्डयोरेकत्वेअसमवायिकारणे, अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम्। अपेक्षाबुद्धिविनाशादेव द्वित्वविनाशः। एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया।

(एकत्वादिव्यवहारहेतुः) एकत्व आदि व्यवहार का हेतुभूत (सामान्य-गुणः) सामान्यगुण (संख्या) संख्या [कहलाता] है। (एकत्वादिपरार्द्ध-पर्यन्ता) वह एकत्व से लेकर परार्द्ध [सबसे बड़ी संख्या] तक [होती] है। (तत्र) उनमें से (एकत्वम्) एकत्व (द्विविधम्) दो प्रकार का होता है (नित्यानित्यभेदात्) (१) नित्य और (२) अनित्य के भेद से। (नित्यगतम्) नित्य [आकाश आदि नित्य द्रव्यों, पदार्थों आदि] में रहने वाला [एकत्व] (नित्यम्) नित्य और (अनित्यगतम्) अनित्य [घट आदि] में रहने वाला [एकत्व] (अनित्यम्) अनित्य होता है। (स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यञ्च) [अनित्य एकत्व] अपने आश्रय [घटादि] के समवायिकारण [कपाल-आदि] में रहने वाले एकत्व से उत्पन्न हुआ करता है। (च) और (द्वित्वम्) 'द्वित्व' तो [सर्वत्र] (अनित्यं एव) अनित्य ही हुआ करता है। (च) और (तत्) वह [द्वित्व] (द्वयोः पिण्डयोः) दो पिण्डों [घट-आदि वस्तुओं] की, (इदमेकम्) 'यह एक है' [और] (इदमेकम्) यह एक है। (इति) इस [प्रकार के ज्ञान, जिसको] (अपेक्षाबुद्ध्या) 'अपेक्षाबुद्धि' [कहते हैं] से (जन्यते) उत्पन्न होता है। (तत्र) उस [द्वित्व की उत्पत्ति] में (द्वौपिण्डौ) दोनों पिण्ड (समवायिकारणे) समवायिकारण हुआ करते हैं। (पिण्डयोः एकत्वे) दोनों पिण्डों में रहने वाले एकत्व (असमवायिकारणे) असमवायिकारण होते हैं और (अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम्) अपेक्षाबुद्धि [अर्थात् 'अयमेकः अयमेकः' यह ज्ञान] निमित्तकारण हुआ करते हैं। (अपेक्षाबुद्धिविनाशात् एव) अपेक्षा बुद्धि के विनाश से ही (द्वित्व विनाशः) द्वित्व का नाश हो जाया करता है। (एवम्) इसी प्रकार (त्रित्व-आदि-उत्पत्तिः) त्रित्व आदि की उत्पत्ति [और उनका विनाश] (विज्ञेया) जानना चाहिये।

साधारणतया 'संख्या' को एक प्रतीतिमात्र ही कहा जाता है किन्तु न्याय और वैशेषिक की दृष्टि से द्रव्यों में ही एकत्व द्वित्व आदि 'संख्या' रहा करती है। इसे भी एक 'गुण' के रूप में स्वीकार किया गया है। यह 'संख्या'

नामक गुण दो प्रकार का माना गया है (१) एक द्रव्य में रहने वाली एकत्व संख्या और (२) अनेक द्रव्यों में रहने वाली द्वित्व, त्रित्व इत्यादि संख्यायें। एकत्व संख्या भी दो प्रकार की होती हैं (१) परमाणु, आत्मा आदि नित्य पदार्थों में रहने वाली एकत्व संख्या कि जो नित्य होती है तथा (२) घट, पट आदि अनित्य पदार्थों में रहने वाली एकत्व संख्या कि जो अनित्य ही होती है। इन पदार्थों के नाश से उनमें विद्यमान एकत्व का भी नाश हो जाया करता है। अनित्य एकत्व है वह रूप आदि गुणों के सदृश ही अपने आश्रय अथवा समवायिकारण में ही उत्पन्न हुआ करता है।

'द्वित्व' आदि संख्या तो सभी द्रव्यों में 'अनित्य' ही हुआ करती है। इस द्वित्व, त्रित्व आदि की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से हुआ करती है। 'यह एक घट है', 'यह भी एक घट है', इस प्रकार से जो दो पदार्थों में एक दूसरे की अपेक्षा से 'एकत्व' संख्या की प्रतीति हुआ करती है उसी को 'अपेक्षाबुद्धि' कहा जाता है "अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरिष्यते" ॥ न्यायमुक्ता० ॥ इस अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति हुआ करती है। 'उक्त' 'अपेक्षाबुद्धि' ही 'द्वित्व' आदि की उत्पत्ति में 'निमित्त-कारण' है। 'द्वित्व' द्रो द्रव्यों में रहने वाला 'गुण' है। अतः द्वित्व के समवा-यिकारण दो द्रव्य ही हुआ करते हैं। दोनों द्रव्यों में रहने वाला 'एकत्व' ही उक्त 'द्वित्व' संख्या का असमवायिकारण है।

तर्कभाषाकार ने जिस द्वित्व आदि की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया को दिखलाया है वह प्रक्रिया वैशेषिक दर्शन का एक प्रमुख अंश है। इसका विस्तृत विवेचन प्रशस्तपाद-भाष्य में किया गया है।

प्रशस्तपाद-भाष्य में प्रदर्शित द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया में सात क्षण तथा उसके विनाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगा करते हैं। अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्व की उत्पत्ति हुआ करती है तथा अपेक्षाबुद्धि के विनाश से ही द्वित्व का विनाश भी हुआ करता है।

'द्वित्व' की उत्पत्ति की प्रक्रिया—

इस प्रक्रिया का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट रूप से किया गया है:—

आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधीः,
एकत्वोभयगोचरामतिरतो, दित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो नु, परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरम्,
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया॥ सर्वदर्शनसंग्रह॥

अर्थात् प्रथमक्षण में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है। द्वितीयक्षण में दोनों घटों में रहने वाले 'एकत्व सामान्य' का ज्ञान प्राप्त होता है। तृतीय-क्षण में उन दोनों एकत्वों ["अयं एकः", "अयं एकः"] को ग्रहण करने वाली अपेक्षाबुद्धि' उत्पन्न होती है। फिर चतुर्थक्षण में इस अपेक्षाबुद्धि से 'द्वित्व' की उत्पत्ति होती है। पंचमक्षण में उक्त द्वित्व में रहने वाली 'द्वित्वत्व' जाति का ग्रहण किया जाता है। तदनन्तर आगामी छठेक्षण में द्वित्व का ज्ञान प्राप्त होता है। फिर सप्तमक्षण में 'द्वित्व' से युक्त 'द्वे द्रव्ये' इस प्रकार का द्रव्य-ज्ञान हुआ करता है। इस भाँति द्वित्व की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रक्रिया अथवा 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति में सात क्षण लगा करते हैं।

द्वित्व के विनाश की प्रक्रिया—

पहले बतलाया जा चुका है कि द्वित्व के नाश की प्रक्रिया में ९ क्षण लगते हैं। द्वित्व के विनाश के दो कारण हैं। प्रथमकारण तो 'अपेक्षाबुद्धि' का नाश है और द्वितीयकारण 'आश्रय-द्रव्य' का नाश है। पहले 'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से द्वित्व के नाश होने सम्बन्धी प्रक्रिया को बतलाते हैं :—

ज्ञान क्षणिक है। अतः एक समय में दो ज्ञानों का अविनश्यत्—अवस्था में विद्यमान रहना संभव नहीं है। साथ ही दो ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न होना भी संभव नहीं है। अतः उत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के पश्चात् द्वितीय क्षण में एकत्व सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति, तृतीय क्षण में 'अपेक्षाबुद्धि' की उत्पत्ति और फिर चतुर्थक्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' से द्वित्व का उत्पत्ति क्रम दिखलाया था। जिस चतुर्थक्षण में द्वित्व की उत्पत्ति होगी उसी क्षण में 'अपेक्षाबुद्धि' से 'एकत्व-सामान्य-ज्ञान' का भी नाश होगा। तदन्तर पाँचवें क्षण में द्वित्व-सामान्य-ज्ञान उत्पन्न होता है। इस 'द्वित्व-सामान्य-ज्ञान' से आगामी अर्थात् छठे क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होना है तथा इसी क्षण में 'द्वित्वगुणबुद्धि' की उत्पत्ति भी होगी। इस भाँति 'द्वित्वगुणबुद्धि' की उत्पत्ति के साथ ही छठेक्षण में ही 'अपेक्षाबुद्धि' का नाश भी हो जाता है। सप्तमक्षण में कि जब 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसके पूर्व 'अपेक्षाबुद्धि' का नाश हो चुकने से द्वित्व का नाश तथा 'द्वे द्रव्ये' इस बुद्धि की उत्पत्ति, ये दोनों एक साथ इस ही क्षण में हो जाते हैं। पुनः अष्टम क्षण में संस्कार की उत्पत्ति होकर 'द्वित्वगुणबुद्धि' का नाश हो जाता है। फिर नवमक्षण में 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का भी संस्कार से विनाश हो जाता है।

उपर्युक्त द्वित्व-विनाश की प्रक्रियां को निम्नलिखित तीन श्लोकों में इस प्रकार दिखलाया गया है :—

"आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः ।
द्वित्वोदयसम पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः ॥ १ ॥
द्वित्वाख्यगुणधीकाले ततो द्वित्वं निवर्तते ।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः ॥ २ ॥
गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः ।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः ॥ ३ ॥"

इसी भाँति 'त्रित्व' आदि संख्या की उत्पत्ति भी 'अपेक्षाबुद्धि' से ही हुआ करती है तथा अपेक्षाबुद्धि के नाश से उनका विनाश भी हुआ करता है।

"अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है", यह अभी प्रदर्शित किया जा चुका है। किन्तु कभी-कभी द्वित्व का नाश अपेक्षाबुद्धि के नाश से न होकर द्वित्व के आश्रयभूत द्रव्य के नाश से भी हुआ करता है।

(६) परिमाण निरूपण—

(६) परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्चतुर्विधम्। अणु, महद्, दीर्घं, ह्रस्वञ्चेति। तत्र कार्यगतं परिमाणं संख्या-परिमाण-प्रचय-योनि। तद्यथा द्व्यणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणु-द्वित्वजनितत्वात् संख्यायोनिं, संख्याकारणकमित्यर्थः। त्र्यणुकपरिमाणञ्च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्वसंख्यायोनि। चतुरणुकादिपरिमाणन्तु स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम्। तूलपिण्डपरिमाणन्तु स्वाश्रयसमवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम्। परमाणुपरिमाणं परम-महत्परिमाणञ्चाकाशादिगतं नित्यमेव।

(मानव्यवहार-असाधारणं कारणम्) मान के व्यवहार का असाधारण कारण (परिमाणम्) परिमाण कहलाता है। (च) और (तत्) वह (चतुर्विधम्) चार प्रकार का है (१) अणु (२) महद् (३) दीर्घ (च) और (४) ह्रस्व। [यह चारों प्रकार का परिमाण नित्य तथा अनित्य के भेद से दो प्रकार का होता है, नित्य द्रव्यों में अनित्य है।] (तत्र) उनमें से (कार्यगतम्) कार्यगत चारों प्रकार का (परिमाणम्) परिमाण (संख्या-परिमाण-प्रचययोनि) (१) संख्यायोनि (२) परिमाणयोनि तथा (३) प्रचययोनि [तीन प्रकार का] होता है। (यथा) जैसे (१) (द्व्यणुकपरिमाणम्) द्व्यणुक का [जन्य] अणु परिमाण (ईश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणुद्वित्वजनितत्वात्) ईश्वर की 'अपेक्षाबुद्धि' से उत्पन्न होने वाली परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होने के कारण 'संख्यायोनि' है अर्थात् (संख्याकारणम्—इत्यर्थः) संख्या के निमित्त से उत्पन्न होने वाला है। (च) और (त्र्यणुकपरिमाणम्) त्र्यणुक

का [महत्] परिमाण (स्वाश्रयसमवायिकारणगतत्रहुत्व संख्यायोनि) अपने [अर्थात् त्र्यणुकगत महत्परिमाण के] आश्रय [त्र्यणुक] के समवायिकारण [अर्थात् तीन द्व्यणुकों] त्रहुत्व संख्या से उत्पन्न होने के कारण 'संख्या-योनि' है। (२) (तु) किन्तु (चतुरणुकादिपरिमाणम्) चतुरणुक आदि का [महत्] परिमाण तो (स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम्) अपने [परिमाण के] आश्रय [चतुरणुक आदि] के समवायिकारण [त्र्यणुक आदि] के [महत्] परिमाण से उत्पन्न होता है [अतः यह चतुरणुकादि का परिमाण 'परिमाण योनि' परिमाण है।]। (३) (तूलपिण्डपरिमाणन्तु) रुई के पिण्ड [गोले] का परिमाण तो (स्वाश्रयसमवायिकारणावयवानाम्) अपने आश्रय [तूलपिण्ड] के समवायिकारणरूप अवयवों के (प्रशिथिलसंयोगजन्यम्) प्रशिथिल संयोग से जन्य है [अतः वह रुई के पिण्ड का परिमाण 'प्रचय-योनि' कहलाता है। 'प्रचय' का अर्थ है— शिथिल अवयव-संयोग]। (परमाणुपरिमाणम्) परमाणु का [अणु] परिमाण [जिसे 'परिमाण्डल्य' नाम से भी कहा जाता है।] (च) और (आकाशादिगतम्) आकाश आदि का (परममहत्परिमाणम्) परममहत् परिमाण तो (नित्यं एव) नित्य ही होता है।

"परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर—कोई द्रव्य जिससे नापा जाय वह परिमाण है। इसी तथ्य पर परिमाण का यह किया गया है कि—"यह छोटा है, यह लम्बा है, यह चौड़ा है, किसी द्रव्य में इस प्रकार के माप का व्यवहार जिस असाधारण कारण से सम्पन्न हुआ करता है उसी को 'परिणाम' कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—

(१) अणु (२) महत् (३) दीर्घ और (४) ह्रस्व। कार्यद्रव्य में रहने वाले ये चारों परिमाण तीन प्रकार के होते हैं—

(१) संख्यायोनि (२) परिमाणयोनि और (३) प्रचययोनि।

(१) 'संख्यायोनि' का अर्थ है कि जिसकी उत्पत्ति संख्या से हो। (२) इसी प्रकार जिसकी उत्पत्ति परिमाण सें होती है उसे 'परिमाणयोनि' कहा जाता है तथा (३) जो प्रचय अर्थात् अवयवों के शिथिल संयोग से उत्पन्न होता है उसे 'प्रचययोनि' कहा जाता है।

ऊपर परिमाण के चार भेदों का वर्णन किया गया है किन्तु उनमें से केवल अणु और महत् का तो विस्तृत वर्णन उपस्थित किया गया है; शेष ह्रस्व और दीर्घ परिमाणों के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं दिया गया है। इसका कारण यह ही है कि जहाँ अणु परिमाण रहा करता है वहाँ-ह्रस्व भी रहा

करता है और जहाँ महत् परिमाण रहा करता है वही दीर्घपरिमाण भी रहा करता है। इस कारण विशेषरूप से 'अणु' और 'महत्' परिमाणों का ही निरूपण किया गया है। दूसरी बात यह है कि यह 'दीर्घ' और 'ह्रस्व' परिमाणजन्य 'महत्' तथा 'अणु' परिमाणों के साथ ही रहा करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ जन्य 'अणु' परिमाण रहा करता है वहाँ 'ह्रस्व' और जहाँ जन्य 'महत्' परिमाण रहा करता है वहाँ 'दीर्घ' व्यवहार के होने से ये दोनों परिणाम पृथकरूप से कोई विशेषमहत्त्व नहीं रखते हैं। इसी कारण इन दोनों का पृथक रूप से विशेष वर्णन किया गया है।

जो सबसे छोटा परिमाण हो सकता है वही 'अणु' परिमाण है। अणु परिमाण केवल परमाणु, द्व्यणुक तथा मन में ही रहा करता है। परमाणु में विद्यमान अणु-परिमाण नित्य ही होता है तथा उसका दूसरा नाम "परिमाण्डल्य" भी है [परिमाण्डल्यं अणुपरिमाणम्'—न्यायमुक्तावली का० १ ॥]। अतः 'परिमाण्डल्य' शब्द परमाणु के नित्य-अणुपरिमाण का ही द्योतक है।

अणु से भिन्न जो भी परिमाण है वह 'महत्' परिमाण कहलाता है। चाहे वह छोटा ही हो अथवा महान् से भी महान् से भी महान् हो। इस दृष्टि से 'महत्' के भी दो प्रकार हो जाते हैं (१) परिच्छिन्न अथवा सीमित (२) अपरिच्छिन्न अथवा विभु। त्र्यणुक, चतुरणुक, कुर्सी, मेज आदि का परिमाण 'महत्' तो है किन्तु सीमित है। अतः उसे परिच्छिन्न-महत्-परिमाण ही कहा जायगा। दूसरा महत्-परिमाण असीमित अथवा अपरिच्छिन्न हुआ करता है। जैसे—आकाश आदि का परिमाण। इसी को विभु अथवा परममहत्-परिमाण भी कहा जाता है।

'अणु' तथा 'महत्' दोनों ही परिमाण नित्य और अनित्य—भेद से दो-दो प्रकार के हुआ करते हैं नित्य द्रव्यों में रहने वाला नित्य तथा अनित्यों में रहने वाला अनित्य होता है। परमाणु तथा मन दोनों ही नित्य हैं। अतः दोनों में विद्यमान अणुपरिमाण भी नित्य ही है। किन्तु 'द्व्यणुक' तो अनित्य है। अतः उसका, उसका 'अणु' परिमाण भी अनित्य ही है। महत् परिमाण त्र्यणुक आदि से लेकर आकाश तथा आत्मा इत्यादि तक में रहा करता है। त्र्यणुक, चतुरणुक एवं घट आदि कार्यद्रव्यों में रहने वाला महत् परिमाण अनित्य होता है। अतः उसे परिच्छिन्न महत्-परिमाण कहा जाता है। किन्तु आकाश आदि नित्य पदार्थों का महत्परिमाण नित्य होता है और अपरिच्छिन्न-महत्-परिमाण कहा जाता है।

इन सभी अनित्य परिमाणों को तीन भागों में रखा जा सकता है—

(१) संख्यायोनि (२) परिमाणयोनि और (३) प्रचययोनि।

(१) संख्यायोनि [अनित्य]-परिमाण—यह परिमाण संख्या से उत्पन्न होता है। अतः इसे 'संख्यायोनि' कहा जाता है। जैसे—'द्व्यणुक' का अणु-परिमाण तथा 'त्र्यणुक' का महत्-परिमाण संख्यायोनि-परिमाण है। साधारणतया नियम तो यह है कि "करणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते" अर्थात् कारण के गुण ही कार्य के गुणों को उत्पन्न किया करते हैं। परिमाण भी एक गुण है। अतः कारण के परिमाण से कार्य का परिमाण उत्पन्न होता है, यह नियम है। किन्तु 'द्व्यणुक' तथा 'त्र्यणुक' के परिमाण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त नियम लागू नहीं होता है क्योंकि सिद्धान्त यह है कि "परिमाण अपने समानजातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक हुआ करता है"—"परिमाणस्य-स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वात्"। यदि कारण का परिमाण महत् है तो वह कार्य के महत्तर परिमाण का जनक होगा। जैसे—तन्तुओं के परिमाण से पट में जो परिमाण उत्पन्न होता है वह तन्तुओं के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। इसी भाँति कपालों के परिमाण से जो घट का परिमाण उत्पन्न होता है वह भी कपाल के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट ही होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यदि कारण का परिमाण महत् है तो वह कार्य के महत्तर परिमाण का उत्पादक होता है। इसी भाँति यदि कारण का परिमाण अणु है तो उसे भी कार्य में अणुतर परिमाण का उत्पादक होना चाहिये। जैसे—दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक की उत्पत्ति हुआ करती है। परमाणु का परिमाण अणुपरिमाण है अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार द्व्यणुक का परिमाण 'अणुतर-परिमाण' होना चाहिये। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि 'अणु परिमाण' तो सबसे छोटा परिमाण है। अतः उससे और 'अणुतर' परिमाण होना संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यही स्वीकार करना होता है कि 'द्व्यणुक' का परिमाण परमाणुओं के परिमाण से उत्पन्न नहीं होता है अपितु परमाणुओं की द्वित्व संख्या से ही उत्पन्न होता है। "संख्या" के विवेचन में यह बतलाया जा चुका है कि द्वित्व संख्या की उत्पत्ति अपेक्षा बुद्धि से होती है। इस स्थल पर यह द्वित्व संख्या परमाणुगत है। अतः मानव की अपेक्षाबुद्धि से उक्त द्वित्व संख्या उत्पन्न नहीं हो सकती है क्योंकि मानव द्वारा परमाणु का प्रत्यक्ष किया जाना संभव ही नहीं है। अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न परमाणुगत द्वित्वसंख्या से द्व्यणुक के 'अणु-परिमाण' की उत्पत्ति हुआ करती है।

'त्र्यणुक' के परिमाण के बारे में भी यही बात उत्पन्न होती है। तीन द्व्यणुकों से एक 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति है। द्व्यणुकों का परिमाण अणु-परिमाण

है। अतः इस अणु-परिमाण से जिस परिमाण की उत्पत्ति होगी वह अणुतर ही होगा। अतः द्व्यणुकों के परिमाण को त्र्यणुक के परिमाण का कारण नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में द्व्यणुकों की "त्रित्व" संख्या अथवा संख्या के बहुत्व को ही 'त्र्यणुक' के महत्-परिमाण का कारण स्वीकार किया जाता है। अथवा यह कहा जाता है कि त्र्यणुक का महत्-परिमाण अपने आश्रयभूत त्र्यणुक के समवायीकारण [द्व्यणुकों] की बहुत्व संख्या से उत्पन्न होता है। न्याय, वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार कारणबहुत्व अथवा कारण-महत्व से महत्-परिमाण की उत्पत्ति हुआ करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि द्व्यणुक का अणु-परिमाण तथा त्र्यणुक का महत्परिमाण दोनों ही परिमाणों का कारण 'संख्या' है। अतः ये दोनों "संख्यायोनि-परिमाण" कहे जाते हैं।

(२) परिमाणयोनि परिमाण—इस परिमाण की उत्पत्ति परिमाण से हुआ करती है। योनि का अर्थ है 'कारण'। इस परिमाण का कारण परिमाण ही है। जैसे-चतुरणुक आदि का परिमाण महत्-परिमाण है। चार त्र्यणुकों से एक चतुरणुक का निर्माण होता है। 'त्र्यणुक' का परिमाण महत् है। त्र्यणुक के इस महत्-परिमाण से ही चतुरणुक के महत्-परिमाण की उत्पत्ति होती है। इसी भाँति घट, पट आदि सभी कार्यद्रव्यों में महत्-परिमाण की उत्पत्ति अपने कारणों [कपाल, तन्तु इत्यादि] के महत् परिमाण से हुआ करती है।

(३) प्रचययोनि-परिमाण—प्रचय का अर्थ है "अवयवों का शिथिल-संयोग"। यह प्रचय ही जिस परिमाण का कारण होता है वह परिमाण "प्रचययोनि" परिमाण कहलाता है। जैसे—छोटे से रूई के गोले को जब धुन दिया जाया करता है तब उसके अवयवों की दृढ़ता शिथिलता में परिवर्तित हो जाया करती है। अवयवों की इस शिथिलता के कारण ही रूई का छोटा सा पिण्ड भी महत्तर परिमाण से युक्त हो जाया करता है। इसी का नाम 'प्रचययोनि'-परिमाण है।

उत्पन्न हुये इस अनित्य [अथवा जन्य] महत् परिमाण के अतिरिक्त नित्य महत्-परिमाण भी होता है जिसे 'परममहत्-परिमाण' कहा जाता है। यह परिमाण आकाश आदि विभु पदार्थों में रहा करता है। परम महत्-परिमाण किसी अन्य परिमाण का कारण नहीं हुआ करता है क्योंकि परममहत्-परिमाण से उत्कृष्ट कोई परिमाण होता ही नहीं है।

(७) पृथक्त्व-निरूपण—

(७) पृथक्त्वं पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्च द्विविधम्। एकपृथक्त्वं द्विपृथक्त्वादिकञ्च। तत्र आद्यं नित्यगतं नित्यमनित्यगत-मनित्यम्। द्विपृथक्त्वादिकञ्चानित्यमेव।

(पृथग्व्यवहारासाधारणम्) "यह द्रव्य इस द्रव्य से पृथक् है" इस प्रकार के व्यवहार का जो असाधारण (कारणम्) कारण हुआ करता है उसी को ('पृथक्त्वम्) 'पृथक्त्व' [नामक 'गुण'] कहा जाता है। (च) और तत् वह (द्विविधम्) दो प्रकार है (एकपृथक्त्वम्) एक पृथक्त्व (च) और (द्विपृथक्त्वादिकम्) द्विपृथक्त्व आदि। (तत्र) उनमें से (आद्यम्) प्रथम [अर्थात् एकपृथक्त्व] (नित्यगतम्) नित्य [परमाणु आदि] में रहने वाला (नित्यम्) नित्य (अनित्यगतम्) अनित्य [घट, पट आदि] में रहने वाला (अनित्यम्) अनित्य होता है। (द्विपृथक्त्वादिकम्) द्विपृथक्त्व आदि तो (अनित्यं एव) अनित्य ही होता है।

"यह द्रव्य अमुक द्रव्य से पृथक है" इस प्रकार का व्यवहार द्रव्यों में देखा जाता है। इस प्रकार की प्रतीति का जो असाधारण कारण है उसे ही 'पृथक्त्व' नामक गुण कहा जाता है। यहाँ एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अन्योन्याभाव [एक पदार्थ में दूसरे के तादात्म्य का अभाव—जैसे घट में पट के तादात्म्य का अभाव] के आधार पर ही इस प्रकार की प्रतीति की जा सकती है। अतः पृथक्त्व नामक गुण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अन्योन्याभाव के आधार पर होने वाली प्रतीति अभावात्मक हुआ करती है। जैसे—'यह घट, पट नहीं है" इसका अर्थ है घट में पट के तादात्म्य का अभाव है। इसके विपरीत पृथक्त्व की प्रतीति तो भावात्मक हुआ करती है। अतः पृथक्त्व को एक मानना उचित ही है। इसके अतिरिक्त इस पृथक्त्व का अन्य पदार्थों में अन्तर्भाव संभव न होने से इसे गुण मानना युक्तियुक्त ही है।

यह दो प्रकार का होता है। एक पृथक्त्व तथा द्विपृथक्त्व आदि। जहाँ एक पदार्थ से अन्य पदार्थ से पृथकता की प्रतीति होती है वहाँ एकपृथक्त्व है। जहाँ दो पदार्थों में अन्य पदार्थ अथवा पदार्थों से पृथकता की प्रतीति हो वहाँ द्विपृथक्त्व है—जैसे घट तथा पट दोनों ही खाट से पृथक हैं। इसी भाँति त्रिपृथक्त्व आदि भी हुआ करते हैं।

एकपृथक्त्व भी दो प्रकार का होता है। (१) नित्य (२) अनित्य। जल का परमाणु पृथ्वी के परमाणु से पृथक है इस प्रकार के व्यवहार में जो

परमाणुगत पृथक्त्व है वह नित्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि नित्य द्रव्यों अथवा पदार्थों में रहने वाला एकपृथक्त्व नित्य हुआ करता है और अनित्य पदार्थों अथवा द्रव्यों में रहने वाला अनित्य। द्विपृथक्त्व आदि तो सर्वत्र अनित्य ही हुआ करते हैं क्योंकि इन द्विपृथक्त्व आदि का आधार द्वित्व आदि संख्या ही हैं तथा ये द्वित्व आदि संख्यायें अनित्य हैं। अतएव द्विपृथक्त्व आदि भी अनित्य ही है।

(८) संयोग-निरूपण—

(८) संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। स द्व्याश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स च त्रिविधः। अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। तत्रान्यतरकर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः। अस्य हि श्येनक्रिया असमवायि कारणम्। उभयकर्मजो यथा सक्रिययोः मल्लयोः संयोगः। संयोगजो यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः। यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः।

(संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः) "यह द्रव्य इस द्रव्य से संयुक्त है" इस व्यवहार का असाधारण कारणभूत जो गुण है उसी को (संयोगः) संयोग नाम से कहा जाता है (स) वह [संयोग] (द्व्याश्रयः) दो पदार्थों में रहनेवाला (च) और (अव्याप्यवृत्तिः) [रूप आदि के समान सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त न होकर उसके केवल एक ही देश में रहनेवाला] अव्याप्यवृत्ति [अव्याप्य वर्त्तते इति अव्याप्तवृत्तिः] है। (च) और (स) वह (त्रिविधः) तीन प्रकार का है (अन्यतरकर्मजः) (१) अन्यतरकर्मज (उभयकर्मजः) (२) उभयकर्मज (च) और (संयोगजः) (३) संयोगज। (तत्र) उनमें से (अन्यतरकर्मजः) अन्यतरकर्मज [अर्थात् संयुक्त होनेवाले दोनों द्रव्यों अथवा पदार्थों में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न हुये] संयोग, (यथा) जैसे—(क्रियावता) क्रिया से युक्त [उड़कर आये हुये] (श्येनेन) श्येन [बाज] के (सह) साथ (निष्क्रियस्य) क्रिया से रहित (स्थाणोः) स्थाणु [वृक्ष के ठूँठ] का संयोग। (अस्य) इस [स्थाणु तथा श्येन (बाज) के संयोग का समवायिकारण तो वे दोनों ही हैं परन्तु इस] का (असमवायिकारणम्) असमवायीकारण (श्येनक्रिया) बाज की क्रिया है। (२) [उभयकर्मजः उभयकर्मज संयोग का उदाहरण—] (यथा) जैसे (सक्रिययोः मल्लयोः) दो क्रियायुक्त पहलवानों का (संयोगः) संयोग [दोनों ही पहलवान इधर-उधर से आकर भिड़ जाया करते हैं। अतः इन दोनों का संयोग दोनों के कर्म से होने के कारण 'उभयकर्मज' हुआ]। (संयोगजः) संयोगज-संयोग—(यथा) जैसे—[शरीर के] (कारणाकारण-

संयोगात्) कारण [अवयवरूप हाथ] और [उस शरीर के] अकारण [रूप वृक्ष] के संयोग—से (कार्याकार्य संयोगः) [हाथ के] कार्य [भूतशरीर] और अकार्य [भूतवृक्ष] का संयोग हो जाता है। (यथा) जैसे—(हस्ततरुसंयोगेन) हाथ [जो शरीर का कारण है] तथा वृक्ष [जो शरीर के प्रति कारण नहीं है] के संयोग से (कायतरुसंयोगः) शरीर [जो हाथ आदि अवयव का कार्य है] तथा वृक्ष [जो हाथ आदि का कार्य नहीं है] का संयोग [हो जाया करता है। यह संयोगज-संयोग का उदाहरण है।]।

'संयोग' नामक गुण एक सामान्यगुण है। यह [संयोग] दो द्रव्यों में आश्रित रहा करता है। जैसे—गेंद और मेज का संयोग। इन दोनों का संयोग 'एक' है तथा गेंद और मेज दोनों में रहता है। संयोग कभी भी केवल एक द्रव्य में नहीं रहा करता है। जिन दो द्रव्यों में संयोग हुआ करता है उन दोनों द्रव्यों को यह 'सयोग' पूर्णरूपेण व्याप्त नहीं किया करता है। वह तो दोनों के किसी एक देश में ही रहा करता है। गेंद तथा मेज के संयोग में ही देखिये—गेंद के प्रत्येक अवयव का मेज के प्रत्येक अवयव के साथ अथवा मेज के प्रत्येक अवयव का गेंद के प्रत्येक अवयव के साथ संयोग नहीं होता है। मेज के साथ गेंद के एक पार्श्व का ही संयोग हुआ करता है। इसी कारण संयोग को अव्याप्यवृत्ति [व्याप्त करके न रहने वाला] कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है जिन दो द्रव्यों आदि में संयोग हुआ करता है उन दोनों द्रव्यों के कुछ अंशों में ही उक्त संयोग रहा करता है। अवशिष्ट अंशों में नहीं रहा करता है अर्थात् संयोग सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर नहीं रहा करता है।

इस संयोग को वैशेषिक के मतानुसार तीन प्रकार का बतलाया गया है—(१) अन्यतरकर्मज (२) उभय कर्मज तथा (३) संयोगज। यह तीनों ही प्रकार का 'संयोग' जन्य है। अर्थात् संयोग नित्य नहीं हुआ करता है। परिमाण आदि तो नित्य में रहने वाला होने से नित्य भी होता है किन्तु संयोग तो नित्य पदार्थों का भी 'अनित्य' ही हुआ करता है। जैसे—नित्य परमाणु का नित्य 'आकाश' आदि के साथ संयोग। यह संयोग नित्य न होकर 'अन्यतरकर्मज' ही है। परमाणु गतिशील हुआ करता है। अतः वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर उस देश के आकाश से मिलता है। अतः इन दोनों का संयोग 'अन्यतरकर्मज-संयोग' है, नित्य नहीं। अब यहाँ 'आकाश' 'काल' आदि नित्य तथा विभु पदार्थों के संयोग का प्रश्न उपस्थित है। इस सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शन का यह सिद्धान्त है कि नित्य तथा विभु पदार्थों का परस्पर संयोग होता ही नहीं है क्योंकि 'युतसिद्ध, अर्थात् पृथक्-पृथक् सिद्ध पदार्थों

का ही संयोग हुआ करता है। यहाँ 'युतसिद्ध' का अर्थ है कि उन दोनों पदार्थों में से दोनों अथवा कोई एक पृथक्-गतिमान हो। नित्य तथा विभु पदार्थों में से तो किसी में भी पृथक् गतिमत्व नहीं रहा करता है। अतः उनका 'संयोग' होना संभव ही नहीं है।

'संयोग' के विनाश के दो कारण हुआ करते हैं। प्रथम तो यह कि जिन पदार्थों का संयोग है उनमें ही विभाग [गुण] उत्पन्न हो जाय अथवा द्वितीय यह कि उनके आश्रय के नाश से संयोग का नाश हो जाय। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि 'विभाग' संयोग का विरोधी गुण है।

(९) विभागनिरूपण—

विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः। संयोगपूर्वको द्व्याश्रयः। स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो विभागजश्चेति। तत्र प्रथमो यथा श्येनक्रियया शैलश्येनयोर्विभागः। द्वितीयो यथा मल्लयोर्विभागः। तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ, विभागे च विभागजे।
यस्य नस्खलिता बुद्धिस्तं वैशेषिकं विदुः॥

(विभक्तप्रत्ययहेतुः) "यह द्रव्य इस द्रव्य से विभक्त है" इस प्रकार की प्रतीति का जो असाधारण कारण होता है उसे (विभागः) 'विभाग' कहा जाता है। (संयोगपूर्वकः) वह संयोगपूर्वक होता है [अर्थात् जिन द्रव्यों का पहले से परस्पर संयोग रहा करता है उन्हीं का परस्पर विभाग हुआ करता है।] (द्वयाश्रयः) तथा दो [द्रव्यों] में आश्रित रहने वाला है। (च) और (स) वह (त्रिविधः) तीन प्रकार का होता है (१) (अन्यतरकर्मजः) अन्यतरकर्मज (२) उभयकर्मजः (उभयकर्मज) (च) और (विभागजः) विभागज। (तत्र) उनमें से (प्रथमः) प्रथम [अर्थात् अन्यतरकर्मज-विभाग] का [उदाहरण है–] (यथा) जैसे–(शैलश्येनयोः) पर्वत और श्येन–इन दोनों में (श्येनक्रियया) श्येन के कर्म से उत्पन्न होने वाला (विभागः) [पर्वत के साथ श्येन का] विभाग। (द्वितीयः) दूसरा [अर्थात् उभयकर्मज-विभाग का उदाहरण–] (यथा) जैसे–(मल्लयोः) [अखाड़े में लड़ते हुए] दो पहलवानों का [पैतरा बदलने के लिए किया गया परस्पर] (विभागः) विभाग। (तृतीयः) तीसरा [अर्थात् विभागज-विभाग] (यथा) जैसे (हस्ततरुविभागात्) हाथ और वृक्ष के विभाग से (कायतरुविभागः) शरीर और वृक्ष का विभाग।

न्याय एवं वैशेषिक के अनुसार 'विभाग' एक भावरूप स्वतन्त्र गुण है। संयोग के अभाव का नाम 'विभाग' नहीं है।

विभाग तीन प्रकार का होता है तथा इस तीन प्रकार के विभाग से उपर्युक्त तीन प्रकार के संयोग का नाश हुआ करता है। ये तीन हैं:—(१) अन्यतरकर्मज-विभाग (२) उभयकर्मज-विभाग तथा (३) विभागज-विभाग।

(१) **अन्यतरकर्मज-विभाग**—जिन दो द्रव्यों का परस्पर विभाग होना होता है तो उन दोनों में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग 'अन्यतरकर्मज' कहलाता है क्योंकि वह [विभाग] अपने आश्रयभूत दो द्रव्यों में से अन्यतर [किसी एक] के कर्म से जन्य हुआ करता है। जैसे—पर्वत पर श्येन बैठा है। श्येन में उड़ने रूप क्रिया उत्पन्न होती है और फिर इस क्रिया से पर्वत से श्येन का विभाग हो जाया करता है। यहाँ पर्वत और श्येन में से केवल श्येन में ही क्रिया उत्पन्न हुई है और उसी से विभाग हो गया है। अतः यह विभाग अन्यतरकर्मज हुआ।

(२) **उभयकर्मज-विभाग**—अपने आश्रयभूत दोनों द्रव्यों में उत्पन्न हुए कर्म से उत्पन्न होने वाले विभाग का नाम 'उभयकर्मज' है। जैसे-अखाड़े में दो पहलवान लड़ रहे हैं। पैतरा बदलने के लिए वे परस्पर विभक्त होते हैं। अतः दोनों पहलवानों के पीछे हटने रूप कर्म से उत्पन्न होने के कारण यह "उभयकर्मज" विभाग है।

(३) **विभागज-विभाग**—ये दो प्रकार का है। (१) **कारणमात्र के विभाग से होने वाला विभाग**—जैसे—दो कपालों से युक्त एक घड़ा है। इन दोनों कपालों में से किसी एक कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया से दोनों कपाल विभक्त हो जाते हैं। पुनः इस विभाग से दोनों कपालों के संयोग का नाश हो जाता है और इस प्रकार घड़े का नाश हो जाता है। दोनों कपालों के विभक्त हो जाने से कपाल का उस आकाश-प्रदेश से भी विभाग हो जाया करता है कि जिस आकाश-प्रदेश के साथ घड़े के नाश होने से पूर्व उस कपाल का संयोग विद्यमान था। यही [घट के कारणभूत] कपाल तथा [अकारण] आकाश का विभाग है। इस विभाग की उत्पत्ति घट के कारणभूत कपालों के विभाग से होती है। पुनः इस विभागज विभाग से कपाल तथा आकाश-प्रदेश के संयोग का विनाश हो जाता है। (२) दूसरा प्रकार है **कारण तथा अकारण के विभाग से होने वाला**—विभागज-विभाग। जब कोई व्यक्ति वृक्ष से संयुक्त अपने हाथ को हटा लेता है तो उस वृक्ष तथा हाथ का विभाग हो जाता है। वृक्ष तथा हाथ के इस विभाग से वृक्ष तथा

शरीर का विभाग हो जाता है। इस उदाहरण में हाथ शरीर का कारण (अवयव) है और वृक्ष अकारण है। इस भाँति कारण और अकारण के विभाग से शरीर (कार्य) तथा वृक्ष (अकार्य) का विभाग भी हो जाता है। साथ ही इस विभागज विभाग से संयोगज-संयोग [शरीर और वृक्ष के संयोग] का नाश भी हो जाया करता है।

यहाँ पर एक शंका यह उत्पन्न होती है कि तर्कभाषाकार द्वारा 'कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः' संयोगज-संयोग की तथा "कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभागः" विभागज-विभाग की व्याख्या की गयी है। इसके अनुसार यदि 'हस्ततरुसंयोग' से भिन्न काय-तरु-संयोग को माना जाय अथवा हस्ततरुविभाग से भिन्न कायतरुविभाग को माना जायगा तो हाथ और शरीर, कि जो अवयव और अवयवी हैं तथा जिनको 'अयुतसिद्ध' सिद्ध किया जा चुका है, को "युत-सिद्ध" मानना होगा। हाथ तथा शरीर के अयुतसिद्ध होने से हाथ तथा वृक्ष का जो संयोग है उसी को शरीर और वृक्ष का भी संयोग मानना उचित है। इसी प्रकार हाथ और वृक्ष के साथ जो विभाग है उसी को शरीर के साथ भी विभाग मानना चाहिये ! यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जायगा तो हाथ [अवयव] और शरीर [अवयवी] का अयुतसिद्धत्व नहीं बन सकेगा। ऐसी स्थिति में "संयोगज-संयोग" तथा "विभागज-विभाग" का मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान यह है--युतसिद्ध का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं युतेषु आश्रयेष्वाश्रयित्वं वा" अर्थात् दोनों में से किसी एक की पृथक् गतिमत्ता अथवा भिन्न-भिन्न आश्रयों में रहने को ही 'युत-सिद्धि' कहा जाता है। इस लक्षण का प्रथम भाग नित्य पदार्थों में तथा द्वितीय भाग अनित्य पदार्थों में घटित होता है। इस प्रकार की 'युत-सिद्धि' हाथ तथा शरीर आदि में नहीं घट सकती है। अतः उपर्युक्त दोष उत्पन्न ही नहीं होगा।

अभी तक वर्णित गुणों में 'पृथकत्व' तथा 'विभाग' नामक गुणों का भी वर्णन हुआ है। ये दोनों गुण सुनने में एक से प्रतीत होते हैं। किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इन दोनों में से 'विभाग नामक गुण क्षणिक तथा अस्थिर है और पृथक्त्व नामक गुण 'स्थिर' है। जिस पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ से विभाग हुआ करता है तब उस विभक्त हुए पदार्थ का पूर्व संयोग नष्ट होकर उत्तरदेश के साथ संयोग हो जायाक रता है और तदनन्तर 'विभाग' भी नष्ट हो जाया करता है। विभाग की सीमा उत्तरदेश-संयोग के साथ

समाप्त हो जाती है और उसके पश्चात् पृथक्त्व की सीमा का प्रारम्भ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ पहुँच कर 'विभाग' समाप्त हो जाया करता है वहाँ से पृथक्त्व का प्रारम्भ हुआ करता है।

विशेष—'विभागज-विभाग' वैशेषिक-दर्शन' के तीन महत्वपूर्ण विषयों में से एक है। "सर्वदर्शनसंग्रह" में इन तीनों का उल्लेख "द्वित्वे च" इत्यादि कारिका में किया गया है। इसका अर्थ है :—

(१) "द्वित्व-संख्या", (२) पाकज-गुण की उत्पत्ति तथा (३) विभागज-विभाग इन तीनों में जिसकी बुद्धि स्खलित नहीं हुआ करती है उस ही व्यक्ति को विद्वान्-पुरुष "वैशेषिक-दर्शन का ज्ञाता कहा करते हैं।

(१०) परत्व और (११) अपरत्व-गुणों का निरूपण—

(१०–११) परत्वापरत्वे परापरव्यवहारासाधारणकारणे। ते तु द्विविधे दिक्कृते कालकृते च। तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते। एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरिदमस्मात् सन्निकृष्टमिति बुद्ध्यानुगृहीतेन दिक्पिण्डसंयोगेनापरत्वं सन्निकृष्टे जन्यते। विप्रकृष्टबुद्ध्या तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते। सन्निकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षयासंयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्। तद्भूयस्त्वं विप्रकर्ष इति।

(परापरव्यवहारासाधारणकारणे) "यह इससे पर— दूर अथवा ज्येष्ठ है" इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारणभूत गुण को परत्व (परत्वापरत्वे) तथा यह इससे अपर-समीप अथवा कनिष्ठ है" इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारणभूत गुण को 'अपरत्व' नाम से कहा जाता है (ते) वे [दोनों] (द्विविध) दो-दो प्रकार के होते हैं (दिक्कृते) (१) दिक्कृत (च) और (कालकृते) (२) कालकृत। (तत्र) उनमें से (दिक्कृतयोः) (१) दिक्कृत [परत्व और अपरत्व] की (उत्पत्तिः) उत्पत्ति का (कथ्यते) कथन करते हैं। (एकस्याम्) एक ही (दिशि) दिशा में (अवस्थितयोः) रखे हुए (पिण्डयोः) दो पिण्डों में (इदम्) "यह (अस्मात्) उसकी अपेक्षा (सन्निकृष्टम्) समीप है" (इति) इस प्रकार के (बुद्ध्या) ज्ञान से (अनुगृहीतेन) सहकृत (दिशापिण्डसंयोगेन) दिशा और पिण्ड के संयोग द्वारा (सन्निकृष्टे) सन्निकृष्ट [पिण्ड] में (अपरत्वम्) 'अपरत्व' (जन्यते) उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार (विप्रकृष्टबुद्ध्या) ["यह उसकी अपेक्षा विप्रकृष्ट अथवा दूर है" इस प्रकार के] दूरस्थ होने के ज्ञान से युक्त [दिशा और पिण्ड के संयोग] से (तु) तो (विप्रकृष्टे) दूर स्थित [पिण्ड] में (परत्वम्) 'परत्व' (जन्यते) उत्पन्न हो जाता है [यह परत्व और अपरत्व दिशा से उत्पन्न होने के कारण

दिक्कृत 'परत्व-अपरत्व' कहलाते हैं।] (सन्निकर्षः) सन्निकर्ष [समीपता] का अर्थ (तु) तो (द्रष्टुः) देखने वाले के (शरीरापेक्षया) शरीर की अपेक्षा से (पिण्डस्य) पिण्ड से (संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्) संयुक्त [दिशा] के संयोग की न्यूनता है। और (तद्—भूयस्त्वम्) उस [संयुक्त-संयोग] की अधिकता ही (विप्रकर्षः इति) विप्रकर्ष है।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः कथ्यते। अनियतदिगवस्थितयोर्युवस्थविरपिण्डयोः 'अयमस्मादल्पतरकालसम्बद्धः' इत्यपेक्षाबुद्ध्यानुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेन यूनि, अपरत्वम्। "अयमस्माद्बहुतरकालेन सम्बद्धः" इति धिया स्थविरे परत्वम्।

अब (कालकृतयोः) कालकृत (परत्वापरत्वयोः) परत्व और अपरत्व की (उत्पत्तिः) उत्पत्ति को (कथ्यते) कहा जाता है। (अनियतदिक्—अवस्थितयोः) अनियत दिशा में स्थित (युवस्थविरपिण्डयोः) युवा और वृद्ध मनुष्य के शरीरों [पिण्डों] में "(अयम्) यह [युवा पुरुष का शरीर] (अस्मात्) इस [वृद्ध शरीर] की अपेक्षा (अल्पतरकालसम्बद्धः) अल्पतर काल से सम्बद्ध है" (इति-अपेक्षाबुद्ध्या) इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि (अनुगृहीतेन) के सहयोग से (कालपिण्डसंयोगेन) काल और शरीर के संयोगरूप (असमवायिकारणेन) असमवायिकारण से (यूनि) युवक [शरीर) में (अपरत्वम्) [कालकृत] अपरत्व [कनिष्ठत्व] की उत्पत्ति होती है। "(अयम्) यह [वृद्ध पुरुष का शरीर] (अस्मात्) इस [युवक-शरीर] की अपेक्षा (बहुतरकालेन) अधिकतर-काल से (सम्बद्धः) सम्बद्ध है", (इति) इस प्रकार की (धिया) अपेक्षाबुद्धि से (स्थविरे) वृद्ध-पुरुष के शरीर में (परत्वम्) 'परत्व' अथवा ज्येष्ठत्व की उत्पत्ति होती है।

विशेष—(१) दिक्कृत परत्वापरत्व एक ही दिशा में स्थित दो द्रव्यों आदि में उत्पन्न हुआ करता है। विभिन्न दिशाओं में स्थित द्रव्यों आदि में नहीं उत्पन्न हुआ करता है। किन्तु कालकृत परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दोनों पिण्डों की स्थिति एक ही दिशा में हो और यह भी आवश्यक नहीं कि दोनों का द्रष्टा एक ही व्यक्ति हो।

(२) "यह इसकी अपेक्षा सन्निकृष्ट है" इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि ही परत्व और अपरत्व का 'निमित्तकारण' है। दिशा और पिण्ड का संयोग ही 'असमवायिकारण' है। और जिस [द्रव्य आदि] में ये परत्व और अपरत्व उत्पन्न हुआ करते हैं वह समवायि-कारण होता है। इसी प्रकार "इदमस्माद्विप्रकृष्टम्" में भी कारणों को समझना चाहिये।

(३) अपेक्षाबुद्धि, संयोग तथा द्रव्य—इन तीनों कारणों में से एक-एक अथवा दो-दो अथवा तीनों के विनाश के आधार पर परत्व-अपरत्व का विनाश भी निम्नलिखित सात प्रकार से हुआ करता है:—

(१) कहीं अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही। (२) कहीं संयोग के नाश से ही और (३) कहीं द्रव्य के नाश से ही। (४) कहीं द्रव्य तथा अपेक्षा-बुद्धि के युगपद् विनाश से (५) कहीं द्रव्य और संयोग के नाश से तथा (६) कहीं संयोग और अपेक्षाबुद्धि के नाश से (७) कहीं समवायि, असमवायि और निमित्तकारण-इन तीनों कारणों के विनाश से परत्वाअपरत्व का नाश होता है।

(४) 'परत्व एवं अपरत्व' के सम्बन्ध में दिशा तथा काल के विवेचन में अधिक स्पष्टरूप से लिखा जा चुका है।

(१२) गुरुत्व का निरूपण—

(१२) गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्ति। यथोक्तं-संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।

(आद्यपतनासमवायिकारणम्) आद्य [सर्वप्रथम] पतन की क्रिया का असमवायिकारण (गुरुत्वम्) गुरुत्व कहलाता है। (पृथिवीजलवृत्ति) यह [गुरुत्व] पृथ्वी तथा जल में रहने वाला है। (यथा) जैसा कि (उक्तम्) [वैशेषिक सूत्रकार ने] कहा है—(संयोग वेग-प्रयत्नाभावे सति,) संयोग, वेग और प्रयत्न [ये तीनों ही पतन-क्रिया के प्रतिबन्धक हैं।] के अभाव के होने पर (गुरुत्वात्) गुरुत्व के कारण (पतनम्) पतन हुआ करता है।

किसी वस्तु के ऊपर से नीचे की ओर जाने की क्रिया का नाम 'पतन' है। यह क्रिया जिस वस्तु में हुआ करती है वह [क्रिया] उसका समवायि कारण होती है और उस वस्तु का भारीपन ही उनका असमवायिकारण हुआ करता है। वस्तु का यह भारीपन ही 'गुरुत्व' है कि जिसे वैशेषिक दर्शन के अनुसार एक 'गुण' कहा गया है। इस 'गुरुत्व' के कारण ही किसी वस्तु का प्रथम [आद्य] पतन हुआ करता है। यह गुरुत्व ही प्रथम पतन का असमवायि-कारण है। आगे जो पतन सम्बन्धी परम्परा चलती रहा करती है उसमें तो वेग आदि कारण हुआ करते हैं। इसी कारण 'गुरुत्व' के लक्षण में "आद्य" पद को रखा गया है। यदि इस पद को न रखा गया होता तो गुरुत्व का उक्त लक्षण 'वेग' में भी अतिव्याप्त हो जाता! प्रथम पतन का कारण गुरुत्व ही है। अतः वही प्रथमक्रिया का असमवायिकारण है।

द्रव्य के पतन में 'गुरुत्व' तभी कारण होता है कि जब संयोग, वेग तथा प्रयत्न का अभाव होता है। उदाहरण के लिये—जबतक फल का वृन्त [डंठल]

से संयोग रहा करता है तबतक फल गिरा नहीं करता है। व्यक्ति अपने शरीर को प्रयत्न के साथ धारण किये रहता है। अतः उसका शरीर भी नहीं गिरता। इसी भाँति जबतक वाण आदि में वेग रहा करता है तबतक वह भी नहीं गिरा करता है। इन तीनों ही स्थलों पर गुरुत्व के विद्यमान रहने पर भी संयोग, प्रयत्न तथा वेग के कारण पतन नहीं हुआ करता है। इसी कारण इन तीनों को वैशेषिक दर्शन के अनुसार पतन का प्रतिबन्धक कहा गया है। इन तीनों का अभाव होने पर ही पतन हुआ करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पतन का समवायिकारण कोई 'द्रव्य' होता है, असमवायिकारण 'गुरुत्व' आदि होता है और संयोग आदि का अभाव ही निमित्तकारण हुआ करता है।

'गुरुत्व' पृथ्वी और जल में रहा करता है। परमाणु का गुरुत्व नित्य होता है। परमाणु से भिन्न पार्थिव और जलीय पदार्थों का गुरुत्व अनित्य होता है। यह आश्रयभूत द्रव्य के गुरुत्व से उत्पन्न हुआ करता है तथा आश्रय के नाश से नष्ट हो जाया करता है।

(१३) द्रवत्व निरूपण—

(१३) द्रवत्वमाद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। भूतेजोजलवृत्ति। भूतेजसोर्घृतादि सुवर्णयोरग्निसंयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम्।

['गुरुत्व' के समान ही] (आद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्) प्रथम बहना अथवा प्रवाहित होना [स्यन्दन] क्रिया का असमवायिकारण (द्रवत्वम्) 'द्रवत्व' कहलाता है। (भूतेजोजलवृत्ति) यह पृथ्वी, अग्नि और जल में रहने वाला है। (भूतेजसोः घृत-आदि, सुवर्णयोः) इनमें से पार्थिव घृत आदि और तैजस् सुवर्ण में (अग्निसंयोगेन) अग्नि के संयोग से उत्पन्न होनेवाला (द्रवत्वम्) द्रवत्व (नैमित्तिकम्) नैमित्तिक हुआ करता है। (जले) जल में तो (नैसर्गिकम्) स्वाभाविक (द्रवत्वम्) द्रवत्व है।

बहना क्रिया में जो प्रथम बहना है उसी का नाम आद्यस्यन्दन है। उसके पश्चात् के स्यन्दन [बहना] में वेग आदि कारण हुआ करते हैं॥ जल के द्रवत्व को स्वाभाविक माना गया है। हिमं तथा ओला आदि में जल का यह स्वाभाविक द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाया करता है।

(१४) स्नेह-निरूपण—

(१४) स्नेहश्चिक्कणता। जलमात्रवृत्तिः, कारणगुणपूर्वको गुरुत्वादिवद् यावद्द्रव्यभावी।

(१४) (चिक्कणता) चिकनापन ही (स्नेहः) स्नेह नामक 'गुण' है। (जलमात्रवृत्तिः) वह केवल जल में ही रहा करता है। यह [कार्य में] (कारण-गुणपूर्वकः) कारण-गुण पूर्वक होता है [अर्थात् पहले कारणरूप द्व्यणुकादि में और तदनन्तर उसके कार्यभूत त्र्यणुक आदि में उत्पन्न हुआ करता है।] गुरुत्वादिवत्) और गुरुत्व आदि के समान (यावद्द्रव्यभावी) जब तक वह जलीयद्रव्य के रूप में रहता है तबतक उसमें 'स्नेह' गुण रहा करता है।

परमाणु में रहने वाला स्नेह नित्य तथा अन्य जल में रहने वाला स्नेह अनित्य हुआ करता है। यह अनित्य-स्नेह अपने आश्रय के समवायिकारण में विद्यमान स्नेह से उत्पन्न हुआ करता है। अतः अनित्य स्नेह को कारणगुणपूर्वक 'गुण' माना गया है। वह यावद्द्रव्यभावी है अर्थात् उसका आश्रयद्रव्य जब तक विद्यमान रहा करता है तब तक वह भी अपने आश्रय में बना रहा करता है। जब आश्रय का नाश हो जाया करता है तब वह भी नष्ट हो जाता है।

(१५) शब्द-निरूपण—

(१५) शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः। आकाशस्य विशेषगुणः।

ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणं यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते, श्रोत्रन्तु पुरुषदेशेऽस्ति।

सत्यम्। भेरी देशे जातः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुल-न्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते। स च शब्दः शब्दान्तरमिति-क्रमेण श्रोत्रदेशे जातोन्त्यः शब्दः श्रोत्रेणगृह्यते न त्वाद्यो नापि मध्यमः। एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भ-क्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति। सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नाद्यो न मध्यमः। भेरीशब्दो मया श्रुत' इति मतिस्तु भ्रान्तैव।

(श्रोत्रग्राह्यः शब्दः) श्रोत्र द्वारा जिस गुण का प्रत्यक्ष किया जाता है उसे (शब्दः) शब्द कहा जाता है। वह (आकाशस्य) आकाश का (विशेष-गुणः) विशेषगुण है।

[प्रश्न—] (अस्य) इस [शब्द] का (श्रोत्रेण) श्रोत्र से (ग्रहणम्) ग्रहण अथवा प्रत्यक्ष (कथम्) कैसे हुआ करता है ? (यतः) क्योंकि (शब्दः) शब्द तो (भेरी-आदि देशे) भेरी आदि के स्थान अथवा देश में (जायते) उत्पन्न होता है और (श्रोत्रम् तु) श्रोत्र तो उस स्थान पर होता है कि जहाँ (पुरुषदेशे) पुरुष विद्यमान रहा करता अस्ति है [अभिप्राय यह है कि दोनों के देश भिन्न-भिन्न हैं। अतः श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण कैसे किया जा सकता है ?

[उत्तर—] (सत्यम्) ठीक है (भेरी देशे जातः शब्दः) भेरी के देश में उत्पन्न होने वाला शब्द (वीचीतरङ्गन्यायेन) वीचीतरङ्गन्याय से (वा) अथवा (कदम्बमुकुलन्यायेन) कदम्बमुकुलन्याय से (सन्निहितम्) समीप में स्थित (शब्दान्तरम्) दूसरे शब्द को (आरभते) उत्पन्न करता है। (च) और (संशब्दः) वह शब्द (शब्दान्तरम्) दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। (इति क्रमेण) इस क्रम से (श्रोत्रदेशे) श्रोत्रदेश में (जातः) उत्पन्न हुआ (अन्त्यः शब्द) अन्तिम शब्दः (श्रोत्रेण) श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा (गृह्यते) गृहीत होता है, (न तु) न तो (आद्यः) आदि का अर्थात् पहला और (नापि मध्यमः) न मध्य में उत्पन्न हुआ शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। (एवम्) इसी प्रकार (वंशम्) बाँस के (पाट्यमाने) फाड़े जाने पर (दलद्वयविभागदेशे) दोनों दलों के विभाग-प्रदेश में (जातः) उत्पन्न हुआ (शब्दः) शब्द (शब्दान्तरारम्भ-क्रमेण) दूसरे शब्द को उत्पन्न करने के क्रम से (श्रोत्रदेशे) श्रोत्र देश में [सुने जाने वाले] (अन्त्यं शब्दम्) अन्तिम शब्द को (जनयति) उत्पन्न करता है। (सः) वह (अन्त्यः शब्दः) अन्तिम शब्द (श्रोत्रेण) श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा (गृह्यते) गृहीत होता है, (न आद्यः, न मध्यमः) न आदि का और न बीच का।" (भेरीशब्दः) भेरी का शब्द (मया) मैंने (श्रुतः) सुना' (इति) इस प्रकार की (मतिः तु) प्रतीति तो (भ्रान्ता एवं) भ्रान्ति ही है।

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द के ग्रहण किये जाने सम्बन्धी प्रक्रिया—

शब्द केवल आकाश का ही विशिष्ट गुण है। इसका विवेचन 'आकाश' के वर्णन में किया जा चुका है। इस 'शब्द' नामक गुण के सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भेरी [नगाड़े] आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है वह तो भेरी आदि के समीप ही रहा करता है तथा उसका श्रवण करने वाली श्रोत्र नामक इन्द्रिय शरीर में रहा करती है। इस प्रकार दोनों के स्थान पृथक्-पृथक् हैं। ऐसी स्थिति में श्रोत्र-इन्द्रिय का शब्द [अर्थ = विषय] के साथ सन्निकर्ष होना संभव नहीं है। फिर श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण कैसे किया जा सकता है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि भेरी आदि से जिस शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है, उस शब्द से दूसरा शब्द उत्पन्न हो जाता है और फिर उसे [दूसरे शब्द] से तीसरे शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है। यह प्रक्रिया उस समय तक बराबर चलती रहा करती है कि जब तक श्रोता व्यक्ति

के श्रोत्र के स्थान में शब्द उत्पन्न नहीं हो जाता। श्रोत्र-स्थान में जो शब्द उत्पन्न होता है उसका ही समवाय-सम्बन्ध से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। शब्द की इस प्रक्रिया में जिस स्थल पर भेरी विद्यमान है उस स्थल पर उत्पन्न होने वाला शब्द आद्य अथवा प्रथम शब्द है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला शब्द अन्तिम अथवा अन्त्य है। बीच में उत्पन्न हुये सभी शब्द मध्यम शब्द है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सदैव अन्तिम शब्द का ही ग्रहण किया जाया करता है, प्रथम तथा मध्यम शब्द का नहीं।

भेरी से उत्पन्न होने वाला शब्द "संयोगज–शब्द" है क्योंकि उसकी उत्पत्ति भेरी और दण्ड के संयोग से हुआ करती है।

अब "विभागज-शब्द" का उदाहरण देखिये। बाँस के फाड़ने से उत्पन्न होने वाला शब्द "विभागज-शब्द" कहलाता है क्योंकि वह बाँस के दो दलों के विभाग से उत्पन्न होता है। बाँस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है उससे भी द्वितीय तृतीय आदि शब्दों की उत्पत्ति हुआ करती है। श्रोत्र देश में पहुँचने वाला शब्द ही 'अन्तिम शब्द' हुआ करता है तथा उसी 'अन्तिम शब्द' का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा किया जाया करता है।

दूर देश में भेरी आदि से उत्पन्न होने वाला "शब्द" हमको किस भाँति सुनाई देता है? इसका उपपादन करने के लिये प्राचीन दार्शनिकों ने आधुनिक-विज्ञान के समान ही 'शब्द की धारा' को स्वीकार किया है। न्याय में शब्द की उत्पत्ति की इस प्रक्रिया के दो प्रकार माने गये हैं। इनमें से प्रथम प्रकार को "वीचीतरङ्गन्याय" तथा द्वितीय प्रकार को "कदम्बमुकुलन्याय" कहा है।

(१) वीचीतरङ्गन्याय—वीची का अर्थ "लहर" होता है तथा 'तरङ्ग' शब्द का भी यही अर्थ है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'तरङ्ग' शब्द का अभिप्राय "लहर की गति" ही लेना उचित प्रतीत होता है। जैसे किसी तालाब के पानी में एक पत्थर का टुकड़ा फेंक दीजिये तो आप देखेंगे कि उस पत्थर के चारों ओर–दशों दिशाओं में एक लहर उठी है। और फिर उस लहर से दूसरी लहर पुनः उस दूसरी से तीसरी लहर। इसी क्रम से आगे-आगे लहरें उठती जाती हैं। अतः एक के पश्चात् दूसरी, तीसरी आदि लहरों के क्रम से उत्पन्न होने वाली तरङ्गों को ही "वीचीतरङ्ग" कहा गया है। इसी भाँति भेरी तथा दण्ड के संयोग से अथवा बाँस के फाड़ने से जिस शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है उसके द्वारा चारों ओर अविच्छिन्न रूप से अथवा वृत्ताकाररूप से दूसरे-तीसरे आदि शब्द की उत्पत्ति होती चली जाती है। इसी क्रम से शब्द की तरङ्गे उत्पन्न होती जाती हैं और श्रोत्र-स्थल तक पहुँच जाया करती हैं। फिर श्रोत्र-

स्थल में पहुँचे हुये शब्द का ग्रहण श्रोता द्वारा किया जाता है अथवा यह कहिये कि उस स्थिति में श्रोता श्रोत्रस्थल तक पहुँचे हुये शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया करता है।

(२) कदम्बमुकुलन्याय—मुकुल का अर्थ है—"कली"। कदम्ब की कली। कदम्ब की कली जब विकसित होने लगा करती है तब उसके मध्यभाग [अथवा केन्द्रभाग] के चारों ओर अनेक पुष्पदलों की एक पंक्ति सी बन जाया करती है। पुनः उस पंक्ति के चारों ओर भिन्न-भिन्न पुष्पदलों की दूसरी पंक्ति और तदनन्तर उस दूसरी पंक्ति के चारों ओर भिन्न भिन्न पुष्पदलों की तीसरी पंक्ति बना करती है। इस क्रम से विभिन्न पुष्पदलों की अनेक पंक्तियों का एक पूरा पुष्प ही खिलकर तैयार हो जाता है। ठीक इसी भाँति किसी स्थान पर भेरी आदि वाद्य के बजने पर एक शब्द उत्पन्न हुआ करता है। वह शब्द अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे अनेक शब्द उत्पन्न किया करता है। पुनः ये शब्द भी अपनी-अपनी परिधि के चारो ओर अपने जैसे भिन्न भिन्न [अथवा पृथक्-पृथक्] शब्द उत्पन्न किया करते हैं। शब्द की उत्पत्ति के इस क्रम को "कदम्बमुकुलन्याय" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है।

उक्त दोनों प्रकार के न्यायों से शब्द की उत्पत्ति मानने में प्रमुख अन्तर यह है कि "वीचीतरङ्गन्याय" के अनुसार जिस शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है वह शब्द वृत्ताकारतरङ्ग के रूप में "एक" ही हुआ करता है किन्तु "कदम्बमुकुलन्याय" के अनुसार सभी ओर उत्पन्न होने वाले शब्द पृथक्-पृथक् तथा अनेक और सभी दिशाओं में भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। ["कदम्ब-मुकुलन्याय" सम्बन्धी मत में अनेक शब्दों की उत्पत्ति तथा उनके विनाश की भी कल्पना करनी होती है जो कि एक प्रकार से "गौरव" ही है। ऐसी स्थिति में "वीचीतरङ्गन्याय" सम्बन्धी मत ही न्याय एवं वैशेषिक का अभिमत सिद्धान्त मत कहा जा सकता है]।

निम्नलिखित चित्र द्वारा उपर्युक्त दोनों मतों का स्पष्टीकरण हो जाता है :–

[वीचीतरङ्गन्याय]
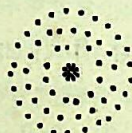
[कदम्बमुकुलन्याय]

अब यहाँ एक जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि भेरी प्रदेश से उत्पन्न हुये शब्द से दूसरा, तीसरा आदि शब्द उत्पन्न होते रहा करते हैं तथा इन शब्दों से उत्पन्न हुआ अन्तिम शब्द ही श्रोता को सुनायी पड़ा करता है। फिर

श्रोता व्यक्ति को ऐसी प्रतीति क्यों हुआ करती है कि "मैंने भेरी का शब्द सुना"। क्योकि सुनाई पड़ने वाला शब्द तो भेरी का शब्द नहीं है। वह तो शब्दज-शब्द ही है।

इसका समाधान यह है कि भेरी-स्थल से दूर खड़े हुये मनुष्य को जो यह प्रतीति हो रही है कि "मैंने भेरी का शब्द सुना", यह उसका भ्रम ही है क्योंकि जिस शब्द को वह सुनता है वह तो भेरी से साक्षात् उत्पन्न होकर उससे उत्पन्न होती हुयी शब्द परम्परा का अन्तिम शब्द है। अतः वह शब्दज-शब्द ही हुआ। [किन्तु फिर भी भ्रान्तिवश ऐसा समझ लिया जाता है कि मैंने भेरी से उत्पन्न शब्द को ही सुना है]।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि श्रोता द्वारा शब्द को ग्रहण किये जाने की वास्तविक-प्रक्रिया है? अब यहाँ वह विचार प्रस्तुत है कि शब्द की उत्पत्ति कैसे होती है और उसके विनाश की प्रक्रिया क्या है?

शब्द की उत्पत्ति तथा उसके विनाश की प्रक्रियाः—

भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणं, भेरीदण्डसंयोगो निमित्तकारणम्। एवं वंशोत्पाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणम्, दलद्वयविभागो निमित्तकारणम्। इत्थमाद्यः शब्दः संयोगजो विभागजो वा। अन्त्यमध्यशब्दास्तु शब्दसमवायिकारणका, अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः। यथोक्तम्— 'संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' इति। आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेकमेव समवायिकारणम्। कर्मबुद्धिवत् त्रिक्षणावस्थायित्वम्। तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः। अन्त्यस्तूपान्तेन उपान्तस्त्वयेन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते। इदं त्वयुक्तम्। उपान्त्येन, त्रिक्षणावस्थायिनोऽन्त्यस्य द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात्। तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति।

(भेरी शब्दोत्पत्तौ) भेरी से शब्द की उत्पत्ति में (भेर्याकाश संयोगः) भेरी और आकाश का संयोग (असमवायिकारणम्) असमवायिकारण है। (भेरीदण्डसंयोगः) भेरी तथा दण्ड का संयोग [अथवा दण्ड से भेरी का अभिघात] (निमित्तकारणम्) निमित्तकारण है। [और भेरी से अविच्छन्न आकाश ही समवायिकारण है।]। (एवम्) इसी प्रकार (वंशोत्पाटनात्) बाँस के फाड़ने से (चटचटाशब्दोत्पत्तौ) जो चट-चट का शब्द उत्पन्न होता है उस चट-चट शब्द की उत्पत्ति का [समवायि कारण बाँस के दोनो से अवच्छिन्न

आकाश ही है तथा] (वंशदलाकाशविभागः) बाँस के दोनों खण्डों [दलों] का आकाश के साथ विभाग (असमवायिकारणम्) असमवायिकारण है, (दलद्वयविभागः) बाँस के दोनों दलों [खण्डों] का परस्पर विभाग (निमित्तकारणम्) निमित्तकारण है। (इत्थम्) इस प्रकार (आद्यः) पहिला (शब्दः) शब्द या तो (संयोगजः) संयोग से उत्पन्न होने के कारण 'संयोगज' होता है अथवा (विभागजः) विभाग से उत्पन्न होने के कारण 'विभागज' होता है। (अन्त्यमध्यशब्दाः) अन्तिम और बीच के सभी शब्दों (तु) तो (शब्दसमवायिकारणकाः) शब्द असमवायिकारणवाले [अथवा अन्तिम और बीच के सभी शब्दों के असमवायिकारण उनके पूर्व पूर्व के शब्द हुआ करते है।] (अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः) और अनुकूल वायु आदि निमित्त कारण वाले [अथवा अनुकूल वायु ही उनका निमित्तकारण हुआ करता है।] होते हैं। (यथा-उक्तम्) जैसा कि [वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार ने] कहा है—"(संयोगात्) संयोग से; (विभागात्) विभाग से (च) और (शब्दात्) शब्द से (शब्दनिष्पत्तिः) शब्द की उत्पत्ति होती है। वैशे० सू० २।२।३१॥ (आद्यादीनाम्) आद्य अथवा प्रथम आदि (सर्वशब्दानाम्) सभी शब्दों का (एकम्) केवल (आकाशम्-एव) आकाश ही (समवायिकारणम्) समवायिकारण होता है। (कर्मबुद्धिवत्) कर्म और बुद्धि [ज्ञान] के समान शब्द भी (त्रिक्षणावस्थायित्वम्) तीन क्षण स्थित रहने वाला है [अभिप्राय यह है कि शब्द क्षणिक है। न्याय और वैशेषिक के मत में क्षणिक का अर्थ है—"तीन क्षण ठहरने वाला"। क्षणिक पदार्थ प्रथमक्षण में उत्पन्न होता है, दूसरा क्षण उसकी स्थिति का हुआ करता है तथा तीसरा क्षण उसके विनाश का क्षण हुआ करता है। इस भाँति तीन क्षण तक विद्यमान रहने पर भी वह "क्षणिक" ही कहलाता है। बौद्धमतानुयायी भी प्रत्येक पदार्थ आदि को क्षणिक ही मानते हैं किन्तु उनके यहाँ जो उत्पत्ति का क्षण है वही स्थिति और विनाश का भी क्षण है। अतः उनके मत में क्षणिक का अर्थ तीन क्षण तक ठहरने वाला नहीं होता है। (तत्र) उन [तीनों शब्दों] में से (आद्यमध्यमशब्दाः) आदि और मध्यम शब्द (कार्यशब्दनाश्याः) [अपने उत्पन्न होने वाले अगले, अगले] कार्य शब्दों द्वारा नष्ट होते हैं। [जब अगला शब्द उत्पन्न होता है तो वह अपने कारणभूत अपने से पहले वाले शब्द को नष्ट कर दिया करता है।] परन्तु [इस सम्बन्ध में एक मत यह भी है कि] (अन्त्यः तु) अन्तिम शब्द का (उपान्त्येन) उपान्त्य [अर्थात् अन्तिम शब्द से पूर्व] शब्द द्वारा तथा (उपान्तः तु) उपान्त्य-शब्द का (अन्त्येन) अन्तिम शब्द के द्वारा (सुन्दोपसुन्दन्यायेन) 'सुन्दोपसुन्दन्याय' से (विनश्येते)

नाश हुआ करता है। (तु) किन्तु (इदम्) यह [मत] (अयुक्तम्) ठीक नहीं है [क्योंकि] (त्रिक्षणावस्थायिनः) तीन क्षण रहने वाले (अन्त्यस्य) अन्तिम शब्द का (द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना) केवल द्वितीय क्षण में साथ रहने वाले [अर्थात्] (तृतीयक्षणे) तृतीय [अन्तिम शब्द के विनाश] क्षण में (असता) अविद्यमान (उपान्त्येन) उपान्त्य शब्द के द्वारा (अन्त्य-नाशजननासम्भवात्) अन्तिम शब्द का नाश संभव नहीं हो सकता है। (तस्मात्) इसलिये (उपान्त्यनाशात्-एव) [उपान्त्य से न होकर] उपान्त्य-शब्द के नाश से ही (अन्त्यनाशः) अन्तिम शब्द का नाश हुआ करता है।

उत्पत्ति के विचार से शब्द को तीन प्रकार का माना गया है (१) संयोगज (२) विभागज और (३) शब्दज। आद्य [प्रथम] शब्द के संयोग से अथवा विभाग से उत्पन्न हुआ करता है। [इसका वर्णन ऊपर किया ही जा चुका है।] किन्तु मध्य-शब्दों की सन्तति तथा अन्तिम शब्द [जिसे हम श्रोत्र द्वारा सुना करते हैं] शब्द से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव इनको 'शब्दज' कहा जाता है।

तर्कभाषाकार ने शब्द को त्रिक्षणावस्थायी कहा है। उनके अनुसार जैसे कर्म और ज्ञान [बुद्धि] त्रिक्षणावस्थायी हैं, उसी प्रकार 'शब्द' भी तीन क्षण ठहरने वाला है। अभिप्राय यह है कि प्रथमक्षण में शब्द उत्पन्न होता है, द्वितीयक्षण में वह स्थित रहा करता है तृतीय क्षण में उसका विनाश हो जाया करता है। 'शब्द' गुण है और गुण का नाश दो प्रकार से हुआ करता है। (१) आश्रय के नाश से अथवा (२) विरोधी गुण की उत्पत्ति से। शब्द का आश्रय तो आकाश है और वह नित्य है। अतः उसका नाश होना संभव ही नहीं है। अतएव प्रथम प्रकार से तो शब्द का नाश हो ही नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में 'शब्द' के नाश की प्रक्रिया क्या है? इसी को तर्कभाषा-कार बतलाते हैं :—

भेरी आदि के स्थलों से मनुष्य के कान तक जिस शब्द-सन्तति के प्रवा-हित होने की बात कही जा चुकी है उसमें तीन प्रकार के शब्द होते हैं (१) आद्य (२) मध्यम और (३) अन्तिम। जो भेरी के बजने पर सर्वप्रथम उत्पन्न होता है वह 'आद्य शब्द' है। प्रथम तथा अन्तिम शब्द के बीच के शब्द—'मध्यम'-शब्द कहे जाते हैं। श्रोत्र में उत्पन्न तथा श्रोत्र द्वारा सुना जाने वाला शब्द 'अन्तिम-शब्द' कहलाता है। इन तीनों प्रकार के शब्दों में से प्रथम तथा मध्यम शब्दों का नाश उनके 'कार्यभूत' शब्दों से हुआ करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रथम अथवा आद्य शब्द का नाश उससे

उत्पन्न होने वाले द्वितीय-शब्द से, द्वितीय-शब्द का नाश उससे उत्पन्न होने वाले तृतीयशब्द से होता है। इसी भाँति पूर्व-पूर्व शब्द का उत्तर-उत्तर शब्द से नाश हुआ करता है।

अन्त्य अथवा अन्तिम शब्द का नाश उसके 'कारणभूत शब्द' से हुआ करता है। [क्योंकि अन्तिम शब्द का तो कोई कार्यभूत शब्द होता ही नहीं है। अतः उसका नाश उसके कार्यभूत शब्द के द्वारा होना संभव ही नहीं है।] यह कारणभूत शब्द अन्त्य शब्द के अव्यवहित पूर्व के क्षण में उत्पन्न होने से समीपवर्त्ती होने के कारण "उपान्त्य" कहा जाता है। अन्तिम शब्द के नाश के सम्बन्ध में दो मत हैं—(१) किन्हीं के मत में अन्तिम शब्द का उपान्त्य शब्द से नाश होता है और उपान्त्य का अन्तिम शब्द से। इन अन्त्य और उपान्त्य शब्दों में सुन्द-उपसुन्द जैसा विरोध है। अतः जिस भाँति सुन्द और उपसुन्द नाम के राक्षस परस्पर विरोधी होने से आपस में लड़कर एक साथ ही नष्ट हो गये थे उस ही भाँति अन्त्य और उपान्त्य शब्द भी परस्पर-विरोधी अथवा एक दूसरे के विनाशक होने से एक साथ ही नष्ट हो जाया करते हैं। किन्तु तर्कभाषाकार को अन्त्य और उपान्त्य शब्दों का उपर्युक्त नाश्यनाशकभाव अभिमत नहीं है। उनका कथन है कि—

शब्द क्षणत्रयावस्थायी है। उपान्त्यशब्द की उत्पत्ति प्रथमक्षण में होती है और द्वितीयक्षण में उसकी स्थिति रहा करती है। उपान्त्य शब्द का यह द्वितीयक्षण ही अन्त्य शब्द का प्रथमक्षण है और इसी क्षण में अन्त्य शब्द की उत्पत्ति हुआ करती है। फिर जब तृतीयक्षण में उपान्त्य शब्द का विनाश होता है तब यह क्षण अन्त्य शब्द की स्थिति का क्षण हुआ करता है। इस तृतीयक्षण के पश्चात् उपान्त्य-शब्द विद्यमान ही नहीं रहा करता है। ऐसी स्थति में वह आगामी क्षण में अन्तिम [अन्त्य] शब्द का नाशक कैसे हो सकता है ? अतः उपान्त्य शब्द से अन्त्य शब्द का नाश नहीं होता है।

अतएव (२) तर्कभाषाकार अपने मत की पुष्टि करते हुये कहते हैं— "तस्मादुपान्त्यनाशादेव अन्त्यनाश इति" अर्थात् तृतीयक्षण में होनेवाले उपान्त्य-शब्द के नाश से अन्त्य अथवा अन्तिम शब्द का नाश हुआ करता है। क्योंकि उपान्त्य-शब्द का नाश तो अन्तिम शब्द के द्वितीयक्षण में उत्पन्न होने के पश्चात् तृतीयक्षण में भी विद्यमान रहा करता है।

मीमांसा-दर्शन में शब्द को नित्य माना गया है। इस मत के खण्डन के लिये ग्रन्थकार नें न्यायमत की दृष्टि से 'शब्द' के अनित्यत्व अथवा विनाशित्व को इस प्रकार सिद्ध किया है :—

शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि—

विनाशित्वञ्च शब्दस्यानुमानात्। तथा हि, अनित्यः शब्दःसामान्यवत्वे सत्यस्मदादिवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति। शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम्। अनित्यत्वञ्च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं, न तु विनाशावच्छिन्नसत्तयोगित्वं, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसङ्गात्। सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं हेतुः। इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने आत्मनि व्यभिचारः स्यादत उक्तं वाह्येति। एवमपि तेनैव योगिवाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादतो योगिनिसार्थमुक्तमस्मदादीति।

(च) और (शब्दस्य) शब्द का (विनाशित्वम्) विनाशित्व अथवा अनित्यत्व तो (अनुमानात्) अनुमान से [सिद्ध होता] है। (तथा हि) जैसे कि—(शब्दः अनित्यः) 'शब्द अनित्य है' [यह प्रतिज्ञा है।] (सामान्यवत्त्वे सति) सामान्य से युक्त होकर (अस्मदादिवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्) हमारी वाह्य-इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होने से [यह हेतु है।], (घटवत्-इति) घट के समान [यह उदाहरण है।]। [जैसे 'घटत्व' सामान्य से युक्त होने के कारण 'घट' सामान्यवान्' है तथा हमारी वाह्य-इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है तथा अनित्य है, उसी प्रकार 'शब्दत्व' सामान्य से युक्त होने के कारण 'शब्द' भी 'सामान्यवान्' है तथा हमारी वाह्य-इन्द्रिय श्रोत्र द्वारा गृहीत होने के कारण अनित्य है।] यहाँ (शब्दस्य-अनित्यत्वं साध्यम्) शब्द [रूप पक्ष] में अनित्यत्व साध्य है। (च) और (अनित्यत्वम्) अनित्यत्व [का लक्षण है] (विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वम्) नाशवान् स्वरूपवाला होना अर्थात् जिसके स्वरूप का विनाश हो; (विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वं न) विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्व [अर्थात् विनाश से युक्त सत्तावाला होना] को [अनित्यत्वका लक्षण] नहीं [कहा जा सकता है।] ['विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्व' को ही यदि अनित्यत्व कहा जायगा तो] (सत्ताहीने) सत्ता [जाति] से रहित (प्रागभावे) प्रागभाव में (अनित्यत्वाभावप्रसङ्गात्) अनित्यत्व का प्रभाव प्राप्त होने से [कहने का तात्पर्य यह है कि यदि विनाश से अवच्छिन्न और सत्ता से युक्त होने को ही 'अनित्यत्व' कहा जायगा तो 'प्रागभाव' का अनित्यत्व न बन सकेगा क्योंकि 'प्रागभाव' विनाश से अवच्छिन्न तो है किन्तु सत्ता (जाति) से युक्त नहीं है। अतः "विनाशावच्छिन्न स्वरूपत्व" को ही अनित्यत्व अथवा विनाशित्व मान लेने पर प्रागभाग का अनित्यत्व बना ही रहेगा।]। (सामान्यवत्त्वे सति) सामान्ययुक्त होकर (अस्मदादिवाह्येन्द्रि-

यग्राह्यत्वम्) हम जैसे पुरुषों की बाह्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यत्व [होने से] यह (हेतुः) हेतु [शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि में दिया गया] है। [अब इसका पदकृत्य दिखलाते हैं—] ('इन्द्रियग्राह्यत्वात्') केवल 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' (इतिउच्यमाने) इतना ही कहे जाने पर (आत्मनि) आत्मा [के 'मन' रूप अन्तःइन्द्रिय से ग्रहण किये जाने योग्य होने से उस (आत्मा) में भी अनित्यत्व की उपस्थिति हो जाती। किन्तु 'आत्मा' तो नित्य है, अतः उस] में (व्यभिचारः) [इस हेतु का] व्यभिचार (स्यात्) हो जाता, (अतः) इसलिये (बाह्य-इति) 'बाह्य' [पद] (उक्तम्) कहा गया है। (एवं- अपि) इतना ["बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्" हेतु] होने पर भी (तेन-एव) उस ही (योगिबाह्येन्द्रियेण) योगी की बाह्य-इन्द्रिय [चक्षु] से (ग्राह्ये) ग्राह्य (परमाणु-आदौ) परमाणु आदि में ['बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' होने पर भी विनाशित्व न होने से] (व्यभिचारः) व्यभिचार (स्यात्) होगा, (अतः) अतः (योगिनिरासार्थम्) योगी [की बाह्य-इन्द्रिय] के निराकरण के लिये (अस्मदादि-इति) 'अस्मदादि' [की बाह्य-इन्द्रिय से ग्राह्य] यह (उक्तम्) कहा गया है।

किं पुनः योगिसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते। परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवदिति। तथापि सामान्यादिना व्यभिचारोऽत उक्तं सामान्यवत्त्वे सतीति। सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वात्।

[प्रश्न—] (पुनः) फिर (योगिसद्भावे) योगी की सत्ता होने में (किं प्रमाणम्) क्या प्रमाण है ?

[उत्तर—] (उच्यते) कहते हैं। [योगी की सत्ता होने में यह अनुमान ही प्रमाण है—] (परमाणवः) परमाणु (कस्यचित्) किसी के (प्रत्यक्षाः) प्रत्यक्ष होते हैं [यह प्रतिज्ञा है], (प्रमेयत्वात्) प्रमेय होने से [यह हेतु है।], (घटवत्-इति) घट के समान [यह उदाहरण है।]। (तथापि) फिर [अस्मदादि बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व को विनाशित्व का साधक हेतु मानने पर] भी (सामान्यादिना) सामान्य आदि [के अस्मदादि के बाह्य-इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने पर भी नित्य होने] में (व्यभिचारः) व्यभिचार होगा। (अतः) इसीलिये ('सामान्यवत्त्वेसति-इति) 'समान्यवत्वे सति' यह [विशेषण पद] (उक्तम्) कहा गया है। (सामान्यादित्रयस्य) सामान्य आदि तीन [सामान्य, विशेष और समवाय] के (निःसामान्यत्वात्) सामान्य [जाति] से रहित होने से ['सामान्य'] में 'सामान्यवत्व' अंश न होने से

हमारे जैसे पुरुषों के बाह्य-इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हुये होने पर भी अनित्यत्व अथवा विनाशित्व प्राप्त नहीं होगा। अतः व्यभिचार नहीं होगा।]।

इस विवेचन में पहले 'अनित्यत्व' के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। कुछ लोगों के अनुसार "विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम् अनित्यत्वम्" अर्थात् नाश को प्राप्त होने वाली सत्ता युक्त होना ही 'अनित्यत्व' है अथवा जिसमें नाशवान् सत्ता (जाति) रहा करती है उस पदार्थ को 'अनित्य' कहा जाता है। किन्तु अनित्यत्व का यह लक्षण 'प्रागभाव' में नहीं घट सकता है। [वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव हुआ करता है, उस ही का नाम 'प्रागभाव' है।]। वस्तु की उत्पत्ति हो जाने पर वह [प्रागभाव] नहीं रहा करता है। अतः 'प्रागभाव' अनित्य है। किन्तु 'अनित्यत्व' का उक्त लक्षण, इसमें नहीं घटता है क्योंकि 'प्रागभाव' में सत्ता नामक जाति को नहीं माना गया है। न्याय, वैशेषिक के अनुसार सत्ता तो केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहा करती है। 'प्रागभाव' तो द्रव्य, गुण तथा कर्म में से कुछ नहीं है। अतः "विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम्" अनित्यत्व का यह लक्षण 'प्रागभाव' में नहीं घटता है। अतः "विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्व" [विनाश से युक्त स्वरूप होना] ही 'अनित्यत्व' का लक्षण मानना उचित है। जिसका स्वरूप नष्ट हो जाया करता है वही 'अनित्य' कहलाता है। 'प्रागभाव' के स्वरूप का भी विनाश हो जाया करता है। अतः विनाशित्व अथवा अनित्यत्व का यह लक्षण 'प्रागभाव' में ठीकरूप से घट जायगा।

'शब्द की अनित्यता' को सिद्ध करने के लिये "सामान्यवत्वे सति, अस्मदादिवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्" हेतु दिया गया है। इस हेतु में प्रत्येक पद की क्या उपयोगिता है? इसका स्पष्टीकरण भी तर्कभाषाकार द्वारा कर दिया गया है। इस भाँति हेतु के निर्दोष होने से उसके द्वारा अनुमान प्रमाण से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि की गयी है। अतः मीमांसकों द्वारा मान्य शब्दनित्यत्व का सिद्धान्त स्वयं ही समाप्त हो गया है।

(१६) बुद्धि-निरूपण—

(१६) अर्थप्रकाशो बुद्धिः। नित्याऽनित्या च। ऐसी बुद्धिर्नित्या, अन्यदीया त्वनित्या।

(अर्थप्रकाशः) अर्थ का प्रकाश [ज्ञान] (बुद्धि) 'बुद्धि' है। [उसके दो प्रकार होते हैं—] (नित्याऽनित्या च) (१) नित्य और (२) अनित्य। (ऐसी) ईश्वर की (बुद्धिः) बुद्धि [ज्ञान] (नित्या) नित्य है और (अन्यदीया) अन्यों [मनुष्य आदि] की (तु) तो (अनित्या) अनित्य है।

न्याय तथा वैशेषिक के अनुसार 'ज्ञान' तथा 'बुद्धि' शब्द समानार्थक है जैसा कि न्याय के "बुद्धिरुपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" न्यायसूत्र १.१.१५॥', इस सूत्र से स्पष्ट ही है। यह बुद्धि [ज्ञान] आत्मा का गुण है। 'आत्मा' को ही अन्तः इन्द्रिय 'मन' तथा चक्षुरादि बाह्य-इन्द्रियों द्वारा 'अर्थ' का प्रकाश अथवा ज्ञान हुआ करता है। इसी कारण "अर्थप्रकाशो बुद्धिः" यह बुद्धि का लक्षण किया गया है।

वैशेषिक-दर्शन में न्याय-दर्शन के प्रमाण आदि पदार्थों का अन्तर्भाव इस 'बुद्धि' पदार्थ के अन्तर्गत किया गया है। वैशेषिक के प्रशस्तपाद-भाष्य में सर्वप्रथम 'बुद्धि' के दो भेद किये गये हैं—(१) विद्या और (२) अविद्या। तदनन्तर अविद्या के चार भेद किये गये हैं (१) संशय (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय, और (४) स्वप्न ["तस्याः अनेकविधत्वेऽपि समासतो द्वे विधे। विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विधा, संशय-विपर्यय-अनध्ययवसायस्वप्न-लक्षणा" प्रशस्तपादभाष्य ॥]। संशय तथा अनध्यवसाय को पृथक् पृथक् माना है। "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इस प्रकार के उभयकोटिकज्ञान को संशय' कहा गया है तथा "व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रं अनध्यवसायः" यह 'अनध्यवसाय' का लक्षण किया गया है। 'स्वप्न' के भी तीन भेद किये गये हैं :—

"तत्तु त्रिविधम् (१) संस्कारपाटवात् (२) धातुदोषात् (३) अदृष्टाच्च।"

अर्थात् कारणभेद से स्वप्न के भी तीन भेद हो जाते हैं। (१) संस्कारों की प्रबलता के कारण (२) धातुदोष के कारण (३) अदृष्टवश। साधारणतया मनुष्य जिस बात का अधिक ध्यान किया करता है अथवा सोचा करता है अथवा जिसको देखने से मन पर प्रबल संस्कार पड़ा करता है, उसी वस्तु को वह स्वप्न में देखा करता है। इस प्रकार के स्वप्न 'संस्कार-पाटव' के कारण दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। 'धातु' शब्द से आयुर्वेद में 'वात', 'पित्त' और 'कफ' को माना गया है। वातप्रकृति अथवा वातदूषित व्यक्ति को प्रायः आकाश में उड़ने के स्वप्न दिखलाई पड़ा करते हैं। पित्तप्रकृति अथवा पित्तदूषित व्यक्ति अग्नि के स्वप्न तथा कफप्रकृति अथवा कफदूषित व्यक्ति जल के स्वप्न देखा करता है। यह सभी "धातुदोषात् सम्बन्धी स्वप्नों के उदाहरण हैं। कभी-कभी पुरुष इस प्रकार के स्वप्नों को भी देखा करता है कि जिनको उसने अपने जीवन में कभी देखा ही न था—इस प्रकार के स्वप्न 'अदृष्टवशात्' दिखलाई पड़ा करते हैं।

बुद्धि के दो भेद माने गये हैं (१) नित्य (२) अनित्य। ईश्वर की बुद्धि नित्य है उसका जन्म तथा विनाश नहीं होता। वह एक तथा सर्वविषयक हुआ करती है। जीव [प्राणी] की बुद्धि अनित्य हुआ करती है।

(१७) सुख (१८) दुःख (१९) इच्छा (२०) द्वेष और (२१) प्रयत्ननिरूपण—

(१७) प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनानुकूलवेदनीयम् ।
(१८) पीड़ा दुःखम् । तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम् ।
(१९) राग इच्छा ।
(२०) क्रोधो द्वेषः ।
(२१) उत्साहः प्रयत्न ।

बुद्ध्यादयः षट् मानसप्रत्यक्षाः ।

(प्रीतिः) प्रीति अथवा आनन्द का ही नाम (सुखम्) सुख है । (च) और (तत्) वह (सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम्) सम्पूर्ण आत्माओं द्वारा अनुकूल रूप में अनुभव किये जाने योग्य है ।

[सुख ही एक ऐसा विशिष्ट गुण है कि जिसे सभी लोग अनुकूल मानते हैं तथा जिसकी सभी कामना भी किया करते हैं । न्याय तथा वैशेषिक की दृष्टि से यह (सुख) आत्मा का एक विशेषगुण है] ।

(पीडा) पीडा का ही नाम (दुःखम्) दुःख है । (च) और (तत्) वह (सर्वात्मनाम्) सभी आत्माओं द्वारा (प्रतिकूलवेदनीयम्) प्रतिकूल रूप में अनुभव किये जाने योग्य है ।

['दुःख' सभी प्राणियों को प्रतिकूल रूप में ही प्रतीत हुआ करता है तथा सभी के लिये वह त्याज्य भी होता है] ।

(रागः) राग का ही नाम (इच्छा) इच्छा है । [कामना अभिलाषा, लालसा, स्पृहा आदि उसी के पर्यायवाची हैं । इसके भी दो भेद हैं (१) नित्य (२) अनित्य । ईश्वर की इच्छा नित्य होती है तथा वह एक और सर्वविषयक हुआ करती है । जीव की इच्छा अनित्य हुआ करती है] ।

(क्रोधः) क्रोध का ही नाम (द्वेषः) द्वेष [यह भी जीवात्मा का विशेष गुण है] ।

(उत्साहः) उत्साह को (प्रयत्नः) प्रयत्न कहा गया है [उसके भी दो भेद हैं (१) नित्य (२) अनित्य । ईश्वर का प्रयत्न नित्य है तथा वह एक और सर्वविषयक है । अनित्य-प्रयत्न तीन प्रकार का होता है (१) प्रवृत्ति (२) निवृत्ति तथा (३) जीवनयोनि । इनमें से 'प्रवृत्ति' का उदय 'राग' से, 'निवृत्ति' का उदय 'द्वेष' से तथा जीवनयोनि का उदय अदृष्ट अथवा प्रारब्धकर्म से होता है । इनमें से प्रथम दो प्रयत्न जाग्रत अवस्था में ही होते हैं और वह भी कभी-कभी । किन्तु तृतीय प्रयत्न निरन्तर होता रहा करता है । प्रारब्ध कर्मों के भोग की समाप्ति होने तक इस प्रयत्न की धारा चलती रहा करती] ।

(बुद्ध्यादयः) बुद्धि आदि (षठ्) छै [(१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष तथा (६) प्रयत्न] (मानसप्रत्यक्षाः) मानस प्रत्यक्ष [के विषय] हैं अर्थात् इन ६ का मानस-प्रत्यक्ष होता है।

[ये बुद्धि (ज्ञान) आदि ६ गुण आत्मा के हैं। आत्मा में ये बुद्धि आदि गुण समवाय-सम्बन्ध से रहा करते हैं। मन तथा आत्मा का संयोग-सम्बन्ध होता है। अतः संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष के द्वारा बुद्धि आदि ६ गुणों का प्रत्यक्ष 'मन' नामक इन्द्रिय के द्वारा हुआ करता है। इसी कारण इन ६ गुणों को मानसप्रत्यक्ष वाला कहा गया है]।

(२२) धर्म तथा (२३) अधर्म का निरूपण—

(२२–२३) धर्माधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणकारणे। तौ चाप्रत्यक्षावप्यागमगम्यावनुमानगम्यौ च। तथा हि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषगुणजन्यं कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात्। देवदत्त प्रयत्नजन्यवस्तुवत्। यश्च शरीरादिजनक आत्मविशेषगुणः स एव धर्मोऽधर्मश्च। प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वादिति।

[आत्मा के] (सुखदुःखयोः) सुख तथा दुःख के (असाधारणकारणे) असाधारण-कारण (धर्माधर्मौ) धर्म तथा अधर्म कहलाते हैं। (च) और (तौ) वे दोनों (अप्रत्यक्षौ अपि) प्रत्यक्ष न होने पर भी (आगमगम्यौ) आगम [प्रमाण] द्वारा समझे जानेयोग्य होते हैं (च) और (अनुमानगम्यौ) अनुमान-प्रमाण द्वारा सिद्ध किये जाने योग्य होते हैं। (तथा हि) जैसे कि [अनुमान का प्रयोग यह हो सकता है] (देवदत्तस्य) देवदत्त के (शरीरादिकम्) शरीर आदि (देवदत्तविशेषगुणजन्यम्) देवदत्त के विशेषगुणों [धर्माधर्म] से जन्य [उत्पन्न होने योग्य] हैं [प्रतिज्ञा] (कार्यत्वे सति) कार्य होते हुये (देवदत्तय) देवदत्त के (भोगहेतुत्वात्) भोग [सुख-दुःख के साक्षात्कार] के हेतु [साधन] होने से ['हेतु' है], (देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत्) देवदत्त के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले घट-पट आदि वस्तु के समान [उदाहरण]। (च) और जो (शरीरादिजनकः) शरीर आदि का जनक [उत्पादक] (आत्मविशेषगुणः) आत्मा का विशेषगुण है (स एव) वही (धर्मोधर्मः) धर्म और अधर्म है। [उनसे भिन्न] (प्रयत्नादीनाम्) प्रयत्न आदि [गुणों के] (शरीरादि-अजनकत्वात्-इति) शरीर आदि के जनक न होने से।

धर्म तथा अधर्म दोनों ही अतीन्द्रिय हैं। मन द्वारा भी उनका प्रत्यक्ष किया जाना सम्भव नहीं है। अनुमान द्वारा ही उन [धर्म और अधर्म] का

ज्ञान हमें प्राप्त होता है। अनुमान का प्रयोग यह है—"देवदत्त के शरीर आदि आत्मा के विशेषगुणों से जन्य होते हैं" यह साध्य है। 'कार्य होते हुये देवदत्त की आत्मा के सुख-दुःख रूप भोग के साधन होने से' यह हेतु है [इस हेतु में यदि "कार्यत्वेसति" इतना भाग न रखा गया होता तो इस हेतु का आत्मा में ही व्यभिचार हो जाता क्योंकि 'आत्मा' भी भोग का साधन (समावायी-कारण) है। इस हेतु में देवदत्त पद केवल उपचार की दृष्टि से रखा गया है क्योंकि जो शरीर आदि जिसके भोग का साधन हुआ करता है वह उसके ही विशेष गुण से जन्य हुआ करता है। इस अनुमान द्वारा केवल यह ही सिद्ध होता है कि शरीर आदि आत्मा के विशेषगुण से जन्य अथवा उत्पन्न हुआ करते हैं। वैसे प्रयत्न आदि भी आत्मा के विशेषगुण हैं किन्तु ये विशेषगुण शरीर आदि के जनक नहीं हुआ करते हैं क्योंकि किसी भी शरीर की उत्पत्ति से पूर्व किसी भी आत्मा के प्रयत्न आदि का होना संभव नहीं है। इस भाँति परिशेषानुमान द्वारा धर्म-अधर्म की सिद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन [धर्म अधर्म] के होने में आगम-प्रमाण भी है।

(२४) संस्कार—

(२४) संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं सस्कारः।

संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। स च क्रियाहेतुः। भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः। स चोद्बुद्ध एव स्मृतिं जनयति। उद्बोधश्च सहकारिलाभः। सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः। तथा चोक्तम्—

"सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।"

इति। स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः। अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः। एते च बुद्ध्यादयोऽधर्मान्ता-भावना च आत्मविशेषगुणाः।

गुणा उक्ताः।

(संस्कारव्यवहारासाधारणं कारणम्) संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण (संस्कारः) संस्कार है। (संस्कारः) संस्कार (त्रिविधः) तीन प्रकार का है (वेगः) (१) वेग (भावना) (२) भावना (च) और (स्थितिस्थापकः) (३) स्थितिस्थापक। (तत्र) उनमें से (वेगः) वेग (पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः) पृथिवी आदि चार (पृथिवी, जल, तेज

और वायु) तथा मन में रहा करता है। (च) और (स) वह (क्रियाहेतुः) क्रिया का हेतु होता है [अर्थात् वह (वेग नामक संस्कार) इन द्रव्यों में क्रिया का जनक होता है।]। (भावनाख्यः) 'भावना' नामक (संस्कारः) संस्कार (तु) तो (आत्ममात्रवृत्तिः) केवल आत्मा में रहा करता है। (अनुभवजन्यः) वह अनुभव से उत्पन्न होता है (स्मृतिहेतुः) तथा स्मृति का हेतु होता है [अर्थात् स्मृति का उत्पादक होता है।]। (च) और (स) वह (उद्बुद्धः एव) उद्बुद्ध होकर ही (स्मृतिं जनयति) स्मृति को उत्पन्न करता है [अभिप्राय यह है कि वह जब उद्बुद्ध होता है तभी उससे स्मृति का उदय होता है।]। (च) और (उद्बोधः) [संस्कार के] उद्बुद्ध होने का अर्थ है (सहकारिलाभः) सहकारिका का प्राप्त होना। (च) और (संस्कारस्य) संस्कार के (सहकारिणः) सहकारी हैं—(सदृशदर्शनादयः) 'सदृशदर्शन' आदि। (तथा च) जैसा कि (उक्तम्) कहा भी गया है :—

"(सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः) सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता आदि (स्मृति-बीजस्य) स्मृति के बीज [भूत संस्कार] के (बोधकाः) उद्बोधक [सहकारि] होते हैं।"

[कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वानुभव से जिस वस्तु का संस्कार उत्पन्न होकर आत्मा में सुप्तवत् रहा करता है, उस वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु का जब दर्शन हुआ करता है तब इस समानदर्शनरूप सहकारी का सन्निधान (समीपता) प्राप्त होने से उक्त संस्कार से उस वस्तु की स्मृति हो जाया करती है। यदि अनुभव के पश्चात् आत्मा में किसी संस्कार की उत्पत्ति न हुआ करती तो पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण होना भी संभव नहीं हो सकता था। अतः अनुभव से उत्पन्न भावना नामक संस्कार ही स्मृति के जनक हुआ करते हैं। किन्तु ये स्मृति के उत्पादक तभी होंगे कि जब उद्बुद्ध होंगे। इन संस्कारों के उद्बुद्ध होने में सादृश, अदृष्ट आदि ही सहायक हुआ करते हैं।]

(स्थितिस्थापकः तु) स्थितिस्थापक नामक संस्कार तो (स्पर्शवद्द्रव्य विशेषवृत्तिः) स्पर्शयुक्त द्रव्यविशेषों में रहा करता है। और [खींचने से झुक जाने के कारण] (अन्यथाभूतस्य) अन्यथाभूत (स्वाश्रयस्य) अपने आश्रय [भूत] (धनुरादेः) धनुष आदि को (पुनः) फिर (तादवस्थ्यापादकः) पूर्व अवस्था को प्राप्त कराने वाला हुआ करता है। [अर्थात् स्थितिस्थापक नामक यह संस्कार धनुष आदि जिस आश्रय में रहा करता है वह आश्रय खींचने के कारण कुछ समय के लिये यदि किसी अन्य प्रकार की स्थिति में हो

जाया करता है तो यह संस्कार उसे उसकी पूर्वस्थिति में पुनः पहुँचा दिया करता है।]

(एते) ये (बुद्ध्यादयः अधर्मान्ता) बुद्धि से लेकर अधर्म पर्यन्त [अर्थात् (१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष (६) प्रयत्न (७) धर्म और (८) अधर्म—ये आठ] (च) और (भावना) भावना [नामक संस्कार] (आत्मविशेषगुणः) ये ९ आत्मा [जीवात्मा] के विशेषगुण हैं।

इस प्रकार (गुणाः) गुणों का (उक्ताः) कथन किया गया [अर्थात् गुणों का निरूपणपूर्ण हुआ।]

अब कर्मों का निरूपण प्रारम्भ होता है :—

कर्म-निरूपण—

कर्माणि

कर्माणि उच्यन्ते। चलनात्मकं कर्म, गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति। अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं, विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च। तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुञ्चनप्रसारण-गमनभेदात् पञ्चविधम्। भ्रमणादयस्तुगमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते।

अब (कर्माणि) कर्मों का (उच्यन्ते) वर्णन करते हैं। (कर्म) कर्म (चलनात्मकम्) चलनात्मक अर्थात् गतिरूप होता है। (गुण इव) [वह] गुण के समान (द्रव्यमात्रवृत्ति) केवल द्रव्य में ही रहा करता है। वह (अविभुद्रव्यपरिमाणेन) अविभु अर्थात् विभुभिन्न द्रव्य के परिमाण, (मूर्तत्वापरनाम्ना) जिसे 'मूर्तत्व' इस दूसरे नाम से भी कहा जाता है, (सह) के साथ (एकार्थसमवेतम्) एक ही अर्थ में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। (च) और (विभागद्वारा), विभाग के द्वारा (पूर्वसंयोगनाशेसति) पूर्वसंयोग का नाश हो जाने पर (उत्तरदेशसंयोगहेतुः) उत्तरदेश के साथ संयोग का हेतु होता है। (च) और (तत्) वह (१) उत्क्षेपण [अपने आश्रय द्रव्य को ऊपर की ओर ले जाने वाली क्रिया अर्थात् ऊर्ध्वगति, २—अपक्षेपण—[नीचे की ओर ले जाने वाली क्रिया अथवा कर्म], ३—आकुञ्चन—[संकुचित करने वाली क्रिया—जैसे हाथ आदि का सिकोड़ना],

४-प्रसारण—[फैलाने वाली क्रिया अथवा कर्म—फैलाना] तथा (५) गमन—[साधारण प्रकार का गमन] इन पाँच (भेदात्) भेदों से (पञ्चविधम्) पाँच प्रकार का होता है। (भ्रमणादयः तु) भ्रमण आदि [भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्वचलन तथा तिर्यग्गमन] का तो (गमनग्रहणेन एव) गमन के ग्रहण में ही (गृह्यन्ते) ग्रहण हो जाता है अर्थात् ये पाँचों कर्म तो 'गमन' में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

कर्म का अर्थ है क्रिया अथवा गति अथवा चलना। 'अविभु' को ही 'मूर्त्तत्व' नाम से कहा। मूर्त्त से यहाँ अभिप्राय है—परिच्छिन्न—परिमाण से युक्त। यह 'कर्म' केवल मूर्त-द्रव्यों में ही रहा करता है। किन्तु आकाश आदि, जो 'परममहत्' परिमाण से युक्त हैं, में कर्म नहीं रहा करता है। 'कर्म' किसी द्रव्य के पूर्वसंयोग को नष्ट कर उत्तरदेश के साथ संयोग को कराने का हेतु हुआ करता है।

सामान्यम्

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतञ्च। तच्च द्विविधम्—परमपरञ्च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि, अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेष।

(अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः) अनुगतप्रतीति [एकाकार प्रतीति, दस घट व्यक्तियों में होने वाली 'अयं घटः', 'अयं घटः इस प्रकार की समानाकारक प्रतीति] का कारण (सामान्यम्) सामान्य [जाति] है। वह (द्रव्यादित्रयवृत्तिः) द्रव्य आदि तीन [(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म] में रहने वाला (नित्यम्) नित्य (एकम्) एक (अनेकानुगतम्) तथा अनेकों में समवेत रहती है। (च) और (तत्) वह [सामान्य अथवा जाति] (द्विविधम्) दो प्रकार की होती है (१) (परम्) पर (२) (अपरम्) अपर। उनमें से (बहुविषयत्वात्) अधिक विषय वाला [व्यापक] होने से (सत्ता) [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहने वाली] 'सत्ता' जाति (परम्) 'पर' सामान्य है। (च) और (सा) वह (अनुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात्) अनुगत प्रतीति का ही हेतु होने से (सामान्यमात्रम्) केवल सामान्य ही है [विशेष कभी नहीं होता है। इसकी अपेक्षा अधिक देश में रहने वाला अन्य कोई सामान्य नहीं हुआ करता है]। (द्रव्यत्वादि) द्रव्यत्व आदि [अन्य सामान्य उसकी अपेक्षा अल्पदेश में रहने वाला होने से (अपरम्) 'अपर' [सामान्य] है। (च)

और (तत्) वह (व्यावृत्तेः अपि हेतुत्वात्) व्यावृत्ति अर्थात् भेदबुद्धि का भी कारण होने से (सामान्यं सद्) सामान्य होते हुये भी (विशेषः) विशेष होते हैं [अर्थात् उन्हें सामान्य विशेष भी कहा जाता है]।

हमको अनेक घटों में—"यह घड़ा है", "यह घड़ा है" इस प्रकार की सामानाकारक प्रतीति हुआ करती है। इसी समानाकार अथवा एकाकार प्रतीति को 'अनुवृत्तिप्रत्यय' कहा जाता है। इस प्रकार की प्रतीति का कारण "सामान्य" कहलाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि—एक प्रकार के अनेक घट आदि में एक समानधर्म रहा करता है जिसको 'सामान्य' अथवा 'जाति' कहा जाता है—समानां भावः सामान्यम्"। इस सामान्य का लक्षण करते हुये तर्कभाषाकार ने लिखा है—"नित्यम्, एकम्, अनेकानुगतं च।" अर्थात् सामान्य [अथवा जाति] नित्य होता है, एक होता है तथा अनेक आश्रयों में समवाय सम्बन्ध से रहा करता है। इसीलिये 'न्यायमुक्तावली' आदि में 'सामान्य' का "नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्" लक्षण किया गया है।

'सामान्य' के उपर्युक्त लक्षण में यदि 'नित्यम्' पद न रखा गया होता तो 'संयोग' आदि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि संयोग भी एक होते हुये अनेक द्रव्यों में रहा करता है। उपर्युक्त लक्षण में 'नित्यम्' पद रखने से उक्त दोष नहीं आता है क्योंकि 'संयोग' नित्य नहीं होता है, अनित्य ही होता है।

इसी प्रकार यदि उपर्युक्त लक्षण में 'एकम्' पद न रखा गया होता तो जलीय-परमाणु के रूप आदि में उक्त लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। क्योंकि जलीय परमाणु का रूप नित्य होता है तथा वह [रूप] जलीय-परमाणुओं में समवाय-सम्बन्ध से रहता भी है। 'एकम्' पद को लक्षण में रखने पर यह दोष नहीं आता है क्योंकि जलीय-परमाणुओं का रूप तो भिन्न-भिन्न परमाणुओं में पृथक्-पृथक् माना गया है—एक नहीं।

इसी भाँति यदि 'सामान्य' के उपर्युक्त लक्षण में 'अनेकानुगतम्' इस पद को न रखा गया होता तो आकाश के 'परिमाण' आदि में उक्त लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। क्योंकि आकाश का परिमाण 'परममहत्' परिमाण है—वह नित्य तथा एक भी है। किन्तु 'अनेकानुगतम्' पद रखने पर उक्त दोष नहीं आयेगा क्योंकि आकाश तो एक है। अतः उसका परिमाण 'एक' में ही रहता है 'अनेकानुगत' नहीं है।

उपर्युक्त लक्षण में 'अनुगत' शब्द का अर्थ 'समवेत' करना होता है। यही ठीक भी है। यदि 'अनुगत' शब्द का अर्थ 'समवेत' न किया जाय तो

उक्त लक्षण "अत्यन्ताभाव" में अतिव्याप्त हो जायगा। क्योंकि न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के अनुसार 'अत्यन्ताभाव' नित्य हुआ करता है। साथ ही वह एक होकर अनेकों में रहा भी करता है। किन्तु वह समवाय-सम्बन्ध से कहीं भी नहीं रहता है। वह तो स्वरूप-सम्बन्ध से रहा करता है। अतः 'अनुगत' पद का 'समवेत' अर्थ करना उचित तथा दोषरहित ही है।

'सामान्य' के उपर्युक्त विवरण में यह भी बतलाया गया है कि 'सामान्य' द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहा करता है। सामान्य, विशेष और समवाय में सामान्य नहीं रहा करता है क्योंकि 'सामान्य' की परिभाषा ही यह है कि जो एक तथा नित्य हो और अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता हो। सामान्य, विशेष और समवाय में तो कोई भी पदार्थ समवाय सम्बन्ध से नहीं रहा करता है। यद्यपि न्याय और वैशेषिक के अनुसार सामान्य, विशेष और समवाय तीनों ही भावात्मक अर्थात् 'सत्' पदार्थ हैं किन्तु फिर भी उनमें 'सत्ता' नामक जाति को नहीं माना जाता है। उन्हें तो स्वरूप से ही सत् [विद्यमान] माना जाता है। अतः तर्कभाषाकार द्वारा लिखित सामान्य [जाति] सामान्य, विशेष और समवाय में नहीं रहा करता है। इसी कारण उन्होंने 'सामान्य' को 'द्रव्यादित्रयवृत्ति' कहा है।

इस सामान्य को 'पर' और 'अपर' की दृष्टि से दो प्रकार का माना गया है। अधिक देश में रहने वाला सामान्य 'पर' कहलाता है तथा उसकी अपेक्षा अल्प देश में रहने वाले सामान्य को 'अपर' कहा जाता है। अब हम इन दोनों प्रकार के सामान्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं :—

दस घट व्यक्तियों में 'अयं घटः', 'अयं घटः' इस प्रकार की अनुगत-प्रतीति अथवा एकाकार-प्रतीति हुआ करती है। इससे 'घट' में रहने वाले 'घटत्व' सामान्य की सिद्धि होती है। परन्तु यह 'घट' एक पार्थिव पदार्थ है। अतः उसमें 'पृथिवीत्व' सामान्य भी रहा करता है। इन 'घटत्व' और 'पृथिवीत्व' सामान्यों में अन्तर केवल यही है कि 'घटत्व' सामान्य तो केवल घटों में ही रहा करता है। किन्तु 'पृथिवीत्व' सामान्य घटों के अतिरिक्त पट, मठ आदि अन्य सभी पार्थिव पदार्थों में रहा करता है। अतः 'पृथिवीत्व' सामान्य, 'घटत्व' सामान्य की अपेक्षा अधिक देश में रहने वाला हुआ। अतएव 'पृथिवीत्व' सामान्य 'पर-सामान्य हुआ और घटत्व-सामान्य 'अपर-सामान्य' हुआ। इसी प्रकार 'पृथिवीत्व' सामान्य भी 'द्रव्यत्व' सामान्य की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति होने से 'अपर सामान्य है और 'द्रव्यत्व-सामान्य पर-सामान्य है। क्योंकि पृथिवी की गणना नौ द्रव्यों में की गयी है। अतः पृथिवी भी एक द्रव्य है। तथा उस

पृथिवी में 'द्रव्यत्व-सामान्य भी रहता है। इस भाँति पृथिवी में 'पृथिवीत्व-सामान्य' और 'द्रव्यत्व'-सामान्य दोनों ही विद्यमान है। किन्तु 'पृथिवीत्व' सामान्य तो केवल पृथिवी में ही रहा करता है और 'द्रव्यत्व' सामान्य पृथिवी के अतिरिक्त जल, वायु, अग्नि आदि अन्य आठ द्रव्यों में भी रहा करता है। अतः वह 'पृथिवीत्व-सामान्य' की अपेक्षा अधिक देश में रहने वाला होने के कारण 'पर-सामान्य' हुआ तथा 'पृथिवीत्व' सामान्य, 'द्रव्यत्व' सामान्य की अपेक्षा 'अपर-समान्य हुआ।

पृथिवी आदि द्रव्यों में द्रव्यत्व-सामान्य के अतिरिक्त 'सत्ता-सामान्य' भी रहा करता है। क्योंकि पृथिवी आदि सभी द्रव्य 'सत्' हैं। अतः पृथिवी आदि द्रव्यों मे 'सत्ता-सामान्य' भी माना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यों में 'द्रव्यत्व-सामान्य' तो रहता ही है। साथ ही इनमें 'सत्ता-सामान्य' भी रहा करता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि द्रव्यों में 'द्रव्यत्व-सामान्य' तथा 'सत्ता-सामान्य' दो सामान्य रहा करते हैं। इन दोनों सामान्यों में 'द्रव्यत्व-सामान्य तो केवल द्रव्यों में ही रहा करता है। किन्तु 'सत्ता-सामान्य' तो नौ द्रव्यों के अतिरिक्त गुणों और कर्मों में भी रहा करता है। अतः 'सत्ता-सामान्य 'द्रव्यत्व सामान्य' की अपेक्षा पर सामान्य हुआ और 'द्रव्यत्व सामान्य' 'सत्ता-सामान्य की अपेक्षा 'अपर-सामान्य' हुआ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि 'घट' में (१) घटत्व-सामान्य (२) पृथिवीत्व सामान्य (३) द्रव्यत्व सामान्य और (४) सत्तासामान्य—ये चार सामान्य रहा करते हैं। इन चारों में 'सत्तासामान्य' सबसे पर-सामान्य हैं और 'घटत्व-सामान्य' सबसे 'अपर-सामान्य' है। मध्य में विद्यमान 'पृथिवीत्व'-सामान्य और 'द्रव्यत्व-सामान्य' में आपेक्षिक 'परत्व' अथवा 'अपरत्व' रहा करता है। 'पृथिवीत्व-सामान्य' 'घटत्व'-सामान्य' की अपेक्षा 'पर-सामान्य' है किन्तु 'द्रव्यत्व-सामान्य' की अपेक्षा 'अपर-सामान्य है। इसी भाँति 'द्रव्यत्व-सामान्य' 'पृथिवीत्व-सामान्य' की अपेक्षा 'पर-सामान्य' है और 'सत्ता-सामान्य' की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति वाला होने के कारण 'अपर-सामान्य' है। किन्तु 'सत्ता-सामान्य' तो किसी की भी अपेक्षा 'अपर' नहीं है। इसी कारण 'सत्ता' को 'पर-सामान्य' कहा गया है। सामान्य का कार्य है—अनुवृत्तिप्रत्यय अथवा एकाकार-प्रतीति को उत्पन्न कराना। सत्ता तो सदैव 'एकाकार-प्रतीति' का ही कारण हुआ करती है। अतः उसे सदा 'सामान्य' ही कहा जाता है।

घटत्व आदि 'अपर-सामान्य' एकाकार-प्रतीति के तो कारण हुआ ही करते हैं, साथ ही वे भेद-बुद्धि के भी उत्पादक हुआ करते हैं। 'घटत्व-सामान्य' दस

घट व्यक्तियों में 'अयं घटः 'अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार-बुद्धि को उत्पन्न करता है। इसी कारण 'सामान्य' कहलाता है। किन्तु यही घटत्व पटत्व आदि घट को पट से भिन्न करने वाला भी होता है। घट पट से भिन्न क्यों हैं ? इसीलिये कि 'घटत्व' घट में ही रहता है पट में नहीं। इसी प्रकार 'पटत्व' पट में ही रहता है, घट में नहीं। इससे यह सिद्ध हो जाता है घटत्व एकाकार प्रतीत का तो कारण है ही; साथ ही वह भेद-बुद्धि का भी जनक है। अतः जब वह एकाकार-प्रतीति को उत्पन्न करता है तब उसे 'सामान्य' कहा जाता है। और जब वह भेद-बुद्धि का जनक होता है तब उसे 'विशेष' कहा जाता है। 'सत्तासामान्य' के अतिरिक्त शेष सभी सामान्य दोनों ही कार्य किया करते हैं। अतः वे 'सामान्य' होते हुए 'विशेष' भी कहलाते हैं—"सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते"। किन्तु 'सत्तासामान्य' तो केवल 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' का ही कारण हुआ करता है। अतः केवल 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' का कारण होने से वह केवल सामान्य ही है, विशेष नहीं—"सा तु अनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव"।

बौद्धमतावलम्बी लोग सामान्य अथवा जाति को नहीं मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार 'सामान्य' नित्य है तथा अनेक-समवेत-धर्म है—"नित्यत्वेसति अनेक समवेतं सामान्यम्"। इसके अनुसार सामान्य 'नित्य' ही होता है। किन्तु बौद्धजन तो क्षणभङ्गवादी हुआ करते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार 'सर्वं क्षणिकं' सब कुछ क्षणिकं ही हुआ करता है। अतः वे जाति जैसे नित्य पदार्थ को कभी स्वीकार नहीं कर सकते हैं तथा सामान्य अथवा जाति का कार्य वे "अपोह" से चलाते हैं। अपोह का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। उनकी दृष्टि में अनेक घट व्यक्तियों में जो 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार की अनुगतप्रतीति हुआ करती है उसका कारण उनमें रहने वाला 'घटत्व' सामान्य नहीं है अपितु 'अतद्व्यावृत' 'अघटव्यावृत' अथवा घटभिन्नभिन्नत्व' ही है। अतत् अर्थात् अघट अथवा घट से भिन्न सारा विश्व, फिर उससे [उस समस्त विश्व से] भिन्न 'घट' ही हुआ। यह 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' ही अनेक घटों में अनुगत्प्रतीति अथवा एकाकार प्रतीति का कारण है इसी को बौद्ध-दार्शनिक 'अपोह' शब्द द्वारा कहते हैं।

उपर्युक्त स्थिति में यह विचारणीय बात है कि नैयायिकों की दृष्टि में एकाकार प्रतीति का कारण 'घटत्व-सामान्य' है तथा बौद्धों की दृष्टि में इस एकाकार प्रतीति का आधार 'अपोह' है। इन दोनों में नाम के अन्तर के अतिरिक्त अन्य तात्विक अन्तर क्या है ? इसके उतर में यह कहा जा सकता

है कि नैयायिकों का 'सामान्य' अन्य पदार्थों से भिन्न एक भावात्मक, नित्य पदार्थ है तथा बौद्धों का 'अपोह' 'अन्योन्याभाव' रूप है। न्याय तथा वैशेषिक में जिसको 'अन्योन्याभाव' नाम से कहा गया है उसी को बौद्ध-दार्शनिक 'अपोह' अथवा 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' आदि शब्दों द्वारा कथन करते हैं। फिर ऐसी स्थिति में कि जब नैयायिक 'अन्योन्याभाव' को मानते ही हैं तथा इसी 'अन्योन्याभावरूप' अपोह से जब एकाकार-प्रतीति का उपपादन किया जाना संभव है तो फिर 'सामान्य' नाम के एक नवीन पदार्थ की कल्पना करने से क्या लाभ ?

अतः इस सामान्य के विषय में बौद्धों का कहना है :—

अत्र कश्चिदाह 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति।

तत्र वयं ब्रूमः किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु विलक्षणेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिः विना सर्वानुगतमेकम्। यच्च तदालम्बनं तदेव सामान्यमिति।

ननु तस्याऽतद्व्यावृत्तिकृतैवैकाकारा बुद्धिरस्तु। तथाहि, सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु, अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति। तेनागोव्यावृत्तिविषय एवायमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः।

मैवम्। विधिमुखेनैवैकाकारस्फुरणात्।

(अत्र) इस [सामान्य] के विषय में (कश्चित्) कोई [बौद्ध] (आह) कहता है कि (व्यक्तिव्यतिरिक्तम्) [घट आदि] व्यक्ति से अतिरिक्त [उसमें रहने वाला 'घटत्व' आदि] (सामान्यम्) सामान्य (नास्ति) नहीं है।

(तत्र) [बौद्ध द्वारा कथित] उपर्युक्त विषय के बारे में (वयम्) हम नैयायिक (ब्रूमः) [यह] कहते हैं कि [यदि सामान्य नहीं है] (तर्हि) तो (भिन्नेषु) भिन्न-भिन्न (विलक्षणेषु) [और] विलक्षण [घट-आदि] (पिण्डेषु) पिण्डों में [होने वाली] (एकाकारा बुद्धिः) एकाकार-प्रतीति का (सर्वानुगतं एकम्) सब में रहने वाले एक [घटत्व-आदि सामान्य] के (विना) बिना (किम्) क्या (आलम्बना) आधार है ? (च) और (यत्) जो (तत्) उस [एकाकार प्रतीति] का (आलम्बनम्) आधार [अथवा आलम्बन अथवा विषय] है (तदेव) वही (सामान्यम्) सामान्य है।

[इसके उत्तर में बौद्ध-दार्शनिक कहता है—] (तस्य) उस (एकाकारा-बुद्धिः) एकाकार प्रतीति को (अतद्व्यावृत्तिकृता) 'अतद्व्यावृत्ति' कृत ही

(अस्तु) कहा जाय। (तथा हि) जैसे कि (सर्वेषु एव) सब ही (गोपिण्डेषु) गो पिण्डों में (अगोभ्यः) अगो अर्थात् गोभिन्न (अश्वादिभ्यः) अश्व आदि से (व्यावृत्तिः) भिन्नता (अस्ति) [हुआ करती] है। (तेन) इसलिये (अगोव्यावृत्तिविषय एव) अ-गोव्यावृत्ति अर्थात् गोभिन्नभिन्नत्व विषयक ही (अनेकेषु) अनेक [गोपिण्ड आदि] में (अयम्) यह (एकाकारः प्रत्ययः) एकाकार ज्ञान है (विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः) भावभूत [गोत्व-आदि] सामान्य विषयक (न) नहीं।

नैयायिक इसका उत्तर देता है:—(एवम्) आपका यह कथन (मा) ठीक नहीं है। (विधिमुखेन एव) भावरूप [विधिमुख] में ही (एकाकार-स्फुरणात्) एकाकारता की प्रतीति होने से। [कहने का तात्पर्य यह है कि एकाकार-प्रतीति में 'अतद्व्यावृत्ति' स्पष्टरूप से अनुभव में नहीं आती है। इसके विपरीत भावभूत 'सामान्य' ही उस प्रतीति का विषय हुआ करता है]।

नैयायिक का कहना है कि "घटः" आदि की प्रतीति में 'अपोह' को कारण मानना अनुभवसिद्ध प्रतीत नहीं होता है। जब हम एक साथ दस घड़ों को देखते हैं तब उन सभी [घड़ों] में एक अनुगतधर्म की हमको प्रतीति हुआ करती है। उन सभी घड़ों में रहने वाले समानधर्म अथवा 'सामान्य' के आधार पर ही उन घड़ों में एकाकार-प्रतीति हुआ करती है। 'अयं घटः', 'अयं घटः' इत्यादि एकाकार की प्रतीति के समय में 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' का बोध नहीं हुआ करता है। अतः उक्त एकाकार-प्रतीति का कारण 'अपोह' को मानना अनुभव सिद्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त एकाकार-प्रतीति का कारण 'सामान्य' को ही मानना उचित है।

विशेषः

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। नित्य-द्रव्याणि त्वाकाशादीनि पञ्च। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

(नित्यद्रव्यवृत्तिः) नित्यद्रव्य [परमाणु आदि] में रहने वाला (नित्यः) नित्य [अन्तिम भेदक धर्म] 'विशेष' है। वह (व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः) केवल व्यावृत्ति [भेद-प्रतीति अथवा] बुद्धि का हेतु होता है। (नित्यद्रव्याणि) नित्यद्रव्य (तु) तो (आकाशादीनि) आकाश आदि (पञ्च) पाँच हैं [जिनमें से] (पृथिव्यादयः) पृथिवी आदि (चत्वारः) चार (परमाणुरूपाः) परमाणुरूप [ही नित्य] हैं। [इनमें रहने वाला अन्तिम भेदकधर्म 'विशेष' कहा जाता है]।

'विशेष' नाम के पदार्थ की उद्भावना करना वैशेषिक-दर्शन की एक अनुपम देन है। संभवतः इसी पदार्थ के आधार पर उक्त दर्शन का नाम भी "वैशेषिक" पड़ा होगा।

'घट' इत्यादि पदार्थों का सजातीय अन्य पदार्थों से जो भेद हुआ करता है उसका उपपादन साधारणतः अवयव के भेद के आधार पर ही हुआ करता है। एक घड़ा दूसरे घड़े से भिन्न दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण यही है कि दोनों घड़ों का निर्माण भिन्न-भिन्न अवयवों अथवा कपालों से हुआ है। उन कपालों में भी भिन्नता का कारण है उनके अवययों अथवा कपालिकाओं की पारस्परिक भिन्नता। इसी प्रकार इन कपालिकाओं की भिन्नता का कारण भी उनके अवयवों की भिन्नता ही है। इस भाँति क्रमशः चलते चलते हम परमाणुओं तक पहुँचते हैं। ये परमाणु भी भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु इनकी भिन्नता का कारण उनके अवयवों की भिन्नता नहीं कहा जा सकता है क्योंकि परमाणु के तो अवयव होते ही नहीं है। अतः इन परमाणुओं की भिन्नता का उपपादन करने के लिये ही उनमें "विशेष" नाम के पदार्थ को स्वीकार किया गया है। इस 'विशेष' नामक पदार्थ के विद्यमान होने के कारण ही एक पार्थिव-परमाणु को दूसरे पार्थिव परमाणु से भिन्न माना गया है।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह 'विशेष' क्यों भिन्न हैं? इसका उत्तर भी यही है कि 'विशेष' का स्वरूप ही है—"स्वतो-व्यावृत्त"। उसका भेद करने वाला कोई दूसरा धर्म नहीं है। यह 'विशेष' ही नित्य द्रव्यों में रहने वाला अन्तिम भेदक-धर्म है। यह 'विशेष' पृथिवी आदि [पृथिवी, जल, अग्नि और वायु] चार नित्य द्रव्यों के पामाणुओं में तथा आकाश में रहा करता है। इसीलिये कहा गया है —"नित्यद्रव्याणि त्वाकाशादीनिपञ्च"।

द्रव्य नौ माने गये हैं। शेष चार द्रव्य हैं (१) काल (२) दिक् (३) आत्मा और (४) मन। इनमें से प्रथम दो [काल और दिक्] तो एक ही एक हुआ करते हैं। उनका कोई सजातीय नहीं हुआ करता है। अतः उनमें सजातीय किसी अन्य के भेद के उपपादन की आवश्यकता ही नहीं हुआ करती है। इसी कारण इन दोनों में 'विशेष' के मानने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा तथा मन के भेदक-धर्म तो उनके अपने गुण [अदृष्ट, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि] ही हो जाया करते हैं। अतः इनमें भी 'विशेष' के मानने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथिवी आदि [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश] पाँच द्रव्य ही ऐसे हैं कि जिनमें 'विशेष' नामक पदार्थ के मानने की आवश्यकता हुआ करती है।

समवायः

समवाय पदार्थ का निरूपण—

अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। स चोक्त एव।

नन्ववयवावयविनावप्ययुतसिद्धौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवाय इत्युक्तम्। न चैतद् युक्तम्, अवयवातिरिक्तस्यावयविनोऽभावात्। परमाणव एव बहवस्तथाभूता सन्निकृष्टाः घटोऽयं घटोऽयमिति गृह्यन्ते।

अत्रोच्यते। अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः। न च सा परमाणुष्वनेकेष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति। भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत्। न। बाधकाभावात्।

(अयुतसिद्धयोः) अयुतसिद्ध अथवा अपृथक् सिद्ध दो पदार्थों के बीच जो (सम्बन्धः) सम्बन्ध हुआ करता है। उसी को (समवायः) 'समवाय' कहा जाता है। (स च उक्तः एव) उसका वर्णन प्रसङ्गवश पहले ही किया जा चुका है।

[प्रश्न]—(ननु अवयवावयविनौ) अवयव और अवयवी (अपि) भी (अयुतसिद्धौ) अयुतसिद्ध हैं, (तेन) इसीलिये (तयोः) उन दोनों [अवयव और अवयवी] का (सम्बन्धः) सम्बन्ध (समवायः) समवाय है (इति) यह बात [आपने पहिले समवाय-सम्बन्ध के वर्णन के प्रसङ्ग में] (उक्तम्) कहा था किन्तु (एतद्) यह (युक्तम्) ठीक (न) नहीं है। क्योंकि (अवयवातिरिक्तस्य) अवयव के अतिरिक्त (अवयविनः) अवयवी का (अभावात्) अभाव होने से। [बौद्धों का यह मत है कि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी [घट-आदि] की कोई सत्ता नहीं है। क्योंकि घट-इत्यादि में अवयवी नामकी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती है। उनका कहना है कि] (बहवः परमाणवः एव) बहुत से परमाणु ही (तथाभूताः) उस [घट-आदि के] रूप में (सन्निकृष्टाः) एकत्रित होकर (अयं घटः, अयं घटः) 'यह घड़ा है', 'यह घड़ा है' (इति) इस रूप में (गृह्यन्ते) ग्रहीत होते हैं। [अतः उन परमाणुरूप अवयवों के अतिरिक्त 'घट' रूप में विद्यमान कोई 'अवयवी' नहीं है।]।

(अत्र) इस बारे में [उत्तर के रूप में] (उच्यते) यह कहते हैं-(एकः) एक (स्थूलः) स्थूल, (घटः) घड़ा (अस्ति) है (इति) इस प्रकार की (प्रत्यक्षाबुद्धिः) प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। किन्तु [अवयवी के बिना माने] (अनेकेषु) अनेक (अस्थूलेषु) अस्थूल [सूक्ष्म], (प्रतीन्द्रियेषु) अतीन्द्रिय [इन्द्रिय से ग्रहण न किये जाने योग्य] (परमाणुषु) परमाणुओं में (सा) वह [अनेक परमाणुओं में एक, अस्थूल अर्थात् सूक्ष्म-परमाणुओं में स्थूल; और अतीन्द्रिय अर्थात् अप्रत्यक्ष परमाणुओं में प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली 'घटः' यह प्रतीति] (भवितुं न अर्हति) होना संभव नहीं है। (चेत्) यदि यह कहो कि (इयम्) यह [एक, स्थूल तथा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाला घड़ा, ऐसी] (बुद्धिः) बुद्धि [अथवा इस प्रकार का ज्ञान] (भ्रान्ता) भ्रम है (इति) तो ऐसा भी कहा जाना (न) ठीक नहीं है (बाधकाभावात्) बाधक का अभाव होने से [अर्थात्—क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति का कोई बाधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता है।]।

अवयव तथा अवयवी—इन दोनों के सम्बन्ध को अयुतसिद्ध कहा गया है। अर्थात् अवयव और अवयवी अयुतसिद्ध होते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध का नाम 'समवाय' है। इस सम्बन्ध में बौद्धों का कथन है कि यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि अवयव से भिन्न, अवयवी के होने में कोई प्रमाण नहीं है। हम जिसे घट, पट आदि अवयवी के रूप में कहते अथवा समझते हैं वह तो विशेष प्रकार से सन्निकृष्ट अनेक परमाणुओं का एक पुञ्जमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं है क्योंकि परमाणुओं का पुञ्ज परमाणुओं से भिन्न नहीं होता है।

इसके उत्तर में नैयायिकों का यह कथन है कि "एकः, स्थूलः, प्रत्यक्षः, घटः" इस प्रकार की प्रतीति का होना केवल परमाणुओं में कभी संभव नहीं है। अनेक परमाणुओं में 'एकः' यह प्रतीति अथवा सूक्ष्म परमाणुओं में स्थूलः घटः—इस प्रतीति को यदि मान भी लिया जाय तो इसको 'भ्रम' ही कहना होगा। किन्तु 'भ्रम प्रतीति' उसको कहा जाता है कि जिसका बाध हो। जैसे अँधेरे में पड़ी हुयी रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाया करता है किन्तु प्रकाश के लाने पर उस सर्प की प्रतीति का बाध हो जाता है। यह 'सर्प' न होकर 'रस्सी' ही है, ऐसा अनुभव होने लगा करता है। किन्तु "एकः, स्थूलः, प्रत्यक्षः, घटः" इस प्रतीति को तो भ्रम कभी भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसका बाधक कोई प्रमाण उपलब्ध ही नहीं होता है। अतः इस प्रतीति को यथार्थ प्रतीति ही कहा जायगा। इस यथार्थ प्रतीति के उपपादन के लिये परमाणु-पुञ्ज के अतिरिक्त 'घट-आदि' अवयवी को पृथक्रूप में स्वीकार

करना आवश्यक है। अतः अवयव-समुदाय से 'अवयवी' को पृथक् मानना उचित ही है। इसको विना स्वीकार किये अनेक परमाणुओं में 'एक', सूक्ष्म परमाणुओं में 'स्थूलः' और अप्रत्यक्ष परमाणुओं में 'प्रत्यक्षः घटः' इस प्रतीति का होना संभव नहीं है।

तदेवं षट्पदार्थाः द्रव्यादयो वर्णिताः। ते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव।

(एवम्) इस प्रकार (द्रव्यादयः) 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन (षट्पदार्थाः) ६ [भाव] पदार्थों का (वर्णिताः) वर्णन किया गया। (ते) ये [६ पदार्थ] (विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वात्) विधिरूप-ज्ञान का विषय होने से (भावरूपाः) भावरूप (एव) ही हैं।

'विधिमुखप्रत्यय' शब्द की व्युत्पत्ति—विधिः—सत्ता, तद्बोधकः शब्दः विधिः—'सद्' इति शब्दः, स मुखं अभिलापकः यस्य स विधिमुखः, स चासौ प्रत्ययः। इसका अर्थ हुआ—'सत्' शब्द द्वारा अभिलाप किया जाने वाला ज्ञान; वह ज्ञान जो 'नञ्' शब्द का उल्लेख न कर विधि-सत् शब्द के अर्थ का ही उल्लेख करता है। ऐसे ज्ञान का जो विषय होता है वह 'भावरूप' होता है। उपर्युक्त छहों पदार्थ इस ही प्रकार के ज्ञान के विषय हुआ करते हैं। अतः ये भावरूप कहलाते हैं।

[अभावरूपः सप्तमः पदार्थः]

इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते। स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः। संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः। प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति।

[अभावरूप सातवाँ पदार्थ]

उपर्युक्त भावरूप-प्रतीति के अतिरिक्त एक और भी प्रतीति हुआ करती है जिसका रूप है—''इस स्थान पर घड़ा नहीं है'' अथवा 'यह घट है, कलश नहीं है'—इत्यादि। इसीको 'निषेधमुख-प्रतीति' अथवा अभावात्मक प्रतीति कहा जाता है। इस प्रकार के अनुभव के आधार पर न्याय एवं वैशेषिक में एक 'अभाव' नाम के सप्तम पदार्थ को भी स्वीकार किया गया है। अब उसी 'अभाव' तथा उसके प्रकारों का वर्णन करते हैं:—

अभाव तथा उसके प्रकार—

(इदानीम्) अब (निषेधमुखप्रमाणगम्यः) निषेधमुखप्रमाण से गम्य (अभावरूपः) 'अभाव' रूप (सप्तमः) सातवें (पदार्थः) पदार्थ का (प्रति-

पाद्यते) प्रतिपादन किया जाता है। (च) और (स) वह (अभावः) अभाव (संक्षेपतः) संक्षेप में (द्विविधः) दो प्रकार का होता है। (संसर्गाभावः) (१) संसर्गाभाव (च) और (अन्योन्याभावः) (२) अन्योन्याभाव। (संसर्गाभावः अपि) संसर्गाभाव भी (त्रिविधः) तीन प्रकार का होता है। (१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (च) और अत्यन्ताभाव।

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः। यथा तन्तुषु पटाभावः। स चानादिरुत्पत्तेरभावात्। विनाशी च कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात्।

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसाभावः। प्रध्वंसो विनाश इति यावत्। यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः। स च मुद्गरप्रहारजन्यः। स चोत्पत्तिमानप्य विनाशी। नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपाभावः। अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः। 'घटः पटो न भवति इति।

(१) प्रागभाव—(उत्पत्तेः) उत्पत्ति से (प्राक्) पहले (कारणे) कारण में जो (कार्यस्य) कार्य का (अभावः) अभाव हुआ करता है उसे (प्रागभावः) 'प्रागभाव' कहा जाता है। (यथा) जैसे [पट की उत्पत्ति से पहले] (तन्तुषु) तन्तुओं में [विद्यमान] (पटाभावः) पट का अभाव। (च) और (उत्पत्तेः) उत्पत्ति के (अभावात्) न होने से (स) वह (अनादिः) अनादि होता है। (च) और (विनाशी) [अनादि होने पर भी] वह विनाशी है (कार्यस्य एव) कार्य के ही (तद्विनाशरूपत्वात्) उसके विनाशरूप होने से।

(उत्पन्नस्य) उत्पन्न हुये का जो [उसके] (कारणे) कारण में (अभावः) अभाव होता है वह (प्रध्वंसाभावः) प्रध्वंसाभाव कहलाता है। (प्रध्वंसः) प्रध्वंस का अर्थ (विनाश—इति यावत्) विनाश है। (यथा) जैसे (घटे भग्ने) घड़े के टूट जाने पर (कपालमालायाम्) कपालों में विद्यमान (घटाभावः) घटाभाव। (च) और (स) वह (मुद्गरप्रहारजन्यः) मुद्गर आदि के प्रहार से उत्पन्न हुआ करता है। (च) और (स) वह (उत्पत्तिमान् अपि) उत्पत्तिमान् होने पर भी (अविनाशी) नाशवान् नहीं हुआ करता है। क्योंकि (नष्टस्य) नष्ट हुये (कार्यस्य) कार्य की (पुनः) फिर (अनुत्पत्तेः) उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। [उस मिट्टी] से अथवा उन कपालों से यदि दुबारा घड़े का निर्माण कर भी लिया जाय तो वह दूसरा ही घड़ा होगा। पहले नष्ट हुआ घड़ा दुबारा कभी उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः प्रध्वंसाभाव 'सादि' होने पर भी अनन्त ही हुआ करता है।]

(त्रैकालिकः) तीनों कालों में रहने वाला (अभावः) अभाव (अत्यन्ताभावः) अत्यन्ताभाव कहलाता है । (यथा) जैसे (वायौ) वायु में (रूपाभावः) रूप का अभाव ।

(अन्योन्याभावः तु) अन्योन्याभाव तो (तादात्म्यप्रतियोगिताकः अभावः) 'तादात्म्यप्रतियोगिताक' [अर्थात् जिसका प्रतियोगी तादात्म्य [अभेद] सम्बन्ध से युक्त हुआ करता है ।] अभाव हुआ करता है । जैसे—(घटः) घड़ा (पटः) पट (न भवति इति) होता है ।

अभाव का लक्षण है "निषेधमुखप्रमाणगम्यत्व" । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से होगी—"निषेधः निषेधार्थकः 'नञ्' शब्दः मुखं अभिलापकः यस्य, तच्चेदं प्रमाणं—प्रत्ययः, तेनगम्यत्वम्—वेद्यत्वम् ।" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभाव का लक्षण होगा "नञ्" शब्द द्वारा अभिलाप किये जाने वाले ज्ञान का विषय होना ।" जैसे "इदं इह नास्ति", "इदं इदं न भवति" इस प्रकार के ज्ञान ही निषेधमुख-प्रत्यय कहे जाते हैं । इन ज्ञानों में 'नञ्' शब्द द्वारा जिस पदार्थ का उल्लेख किया जाया करता है उसी को 'अभाव' कहते हैं । प्रधानतः उसके दो भेद हैं (१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव । संसर्ग का अर्थ है—"सम्बन्ध" [सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं (१) संयोग और (२) समवाय । जहाँ संयोग, अथवा समवाय सम्बन्ध से एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव हुआ करता है वहाँ 'संसर्गाभाव' नामक 'अभाव' हुआ करता है । जैसे—"भूतल में घटाभाव है" । इस उदाहरण में भूतल में संयोग सम्बन्ध से 'घड़े के अभाव' को कहा गया है । इसी प्रकार पट (वस्त्र) की उत्पत्ति से पूर्व 'तन्तुओं में पट का अभाव है ।' इस उदाहरण में—तन्तुओं में समवाय-सम्बन्ध से पटाभाव दिखलाया गया है । इसी भाँति घड़े के नष्ट हो जाने पर 'कपालों में घटाभाव है । इसमें भी कपालों में समवाय-सम्बन्ध से घड़े के अभाव को दिखलाया गया है । इसी आधार पर संसर्गाभाव के तीनभेद किये गये हैं ।

'अन्योन्याभाव' शब्द का अर्थ ही है—एक वस्तु (के रूप) में दूसरी वस्तु का अभाव । जैसे—'घट पट नहीं है' अथवा 'पट घट नहीं है' यहाँ क्रमशः घट का पट के रूप में तथा पट का घट के रूप में अभाव प्रदर्शित किया गया है ।

तीन प्रकार का 'संसर्गाभाव' तथा एक प्रकार का 'अन्योन्याभाव' मिलकर अभाव चार प्रकार का हो जाता है । अब इन चारों का क्रमशः वर्णन करते हैं :—

(१) प्रागभाव—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण में जो कार्य का अभाव हुआ करता है उसी का नाम 'प्रागभाव' है। कारण में कार्य का यह अभाव आदिकाल से है किन्तु यह प्रागभाव सदा नहीं रहा करता है। जब कार्य की उत्पत्ति हो जाया करती है तो उसका प्रागभाव नहीं रहा करता है। अर्थात् वह प्रागभाव नष्ट हो जाया करता है। अतएव प्रागभाव विनाशी है। जैसे 'घट' की उत्पत्ति हो जाने से घट का 'प्रागभाव' नष्ट हो जाता है। घट का यह प्रागभाव कब से प्रारम्भ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। जब घट बना, उसके पूर्व अनादिकाल से ही उस घट का अभाव था। अतः यह प्रागभाव अनादि है ऐसा नियम है कि जो पदार्थ अनादि होता है वह अनन्त भी होता है तथा जो पदार्थ सादि होता है वह सान्त भी। किन्तु यह सामान्य नियम भावपदार्थों के विषय में ही लागू होता है; अभाव के विषय में लागू नहीं होता। अभाव में तो 'प्रागभाव' अनादि होने पर भी सान्त अथवा विनाशी होता है। किन्तु प्रध्वंसाभाव सादि होने पर भी अनन्त हुआ करता है।

(२) प्रध्वंसाभाव—किसी वस्तु की उत्पत्ति के अनन्तर उसके कारण में उस वस्तु का जो अभाव हो जाया करता है उसी को 'प्रध्वंसाभाव' कहा जाता है। जैसे—कोई व्यक्ति घड़े पर मुद्‌गर का प्रहार करता है, घट का नाश हो जाता है तथा कपालमात्र ही अवशिष्ट रह जाते हैं। इसी को घट का ध्वंस कहा जाता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यह कह दिया जाता है कि "कपालों में घट का अभाव है।" इसी को 'घट' का प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह प्रध्वंसाभाव घट के विनाश से उत्पन्न होता है। अतः यह उत्पत्ति वाला हुआ। किन्तु यह प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होने के पश्चात् सदा के लिये रहा करता है। इसका नाश कभी नहीं हुआ करता है इसका कारण यह है कि जो कार्य नष्ट हो जाया करता है उसही [कार्य] की उत्पत्ति पुनः कभी नहीं हुआ करती है। यदि प्रध्वंसाभाव का विनाश होने लगे तब तो वही कार्य भी फिर से उत्पन्न होने लगे क्योंकि 'घटाभाव' का अभाव ही 'घटरूप' हुआ करता है। इसी कारण प्रध्वंसाभाव को उत्पन्न होने वाला होने के साथ ही अविनाशी भी माना जाता है।

प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव—दोनों ही अभावों के लक्षणों में "कारणे" पद का प्रयोग किया गया है। यदि 'कारणे' पद इन दोनों अभावों के लक्षणों में न रखा गया होता तो इन लक्षणों की अतिव्याप्ति अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव में भी हो जाती। इन दोनों अभावों में कार्य का अपने कारणों में समवाय सम्बन्ध से अभाव हुआ करता है।

अत्यन्ताभाव—जो अभाव भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में निरन्तर विद्यमान रहे उस संसर्गाभाव को 'अत्यन्ताभाव' नाम से कहा जाता है। त्रैकालिक का अर्थ होता है नित्य। अतएव यह अभाव नित्य है। यह अनादि तथा अनन्त हुआ करता है। इसको सूक्ष्मशब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस अभाव का अभाव कभी न हो। जैसे—वायु में रूप का अभाव। वायु में रूप का अभाव सदा से है अतः वह अनादि हुआ तथा इस अभाव का कभी अन्त भी न होगा, अतः वह अनन्त भी है। अतएव वायु में रहने वाला रूपाभाव रूप का 'अत्यन्ताभाव' ही है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के अभावों में संयोग तथा समवाय-इन दोनों ही प्रकार के संसर्ग अथवा सम्बन्धों का अभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण इन [उपर्युक्त] तीनों अभावों को 'संसर्गाभाव' नाम से कहा जाता है।

अन्योन्याभाव—जो अभाव अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी हुआ करता है उसे 'अन्योन्याभाव' कहा गया है। तादात्म्य का अर्थ है तद्रूपता अथवा अभेद। जिस वस्तु का अभाव हुआ करता है वह वस्तु उस अभाव की प्रतियोगी कही जाती है। इस भाँति दो वस्तुओं के तादात्म्य का अभाव ही 'अन्योन्याभाव' है। जैसे–'घटः पटो न भवति' एवं 'पटः घटो न भवति' इस भाँति प्रतीत होने वाला घट में पट का तथा पट में घट का भेद। यहाँ घट तथा पट के अभेद का निषेध किया गया है। घट का स्वस्वरूप के साथ तादात्म्य तो है किन्तु पट के साथ तादात्म्य नहीं है। अतः घट और पट के तादात्म्य का अभाव ही 'अन्योन्याभाव' है।

अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का अन्तर—

अत्यन्ताभाव और अन्योंन्याभाव–ये दोनों ही अभाव त्रैकालिक तथा नित्य अभाव हुआ करते हैं। इन दोनों में प्रमुख अन्तर यही है कि तादात्म्य-सम्बन्ध से जो अभाव हुआ करता है वह 'अन्योन्याभाव' कहलाता है तथा संयोग-समवाय सम्बन्ध से जो अभाव हुआ करता है वह 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है।

तदेवमर्थाः व्याख्याताः।

(एवम्) इस प्रकार [वैशेषिक-दर्शन के] (अर्थाः) द्रव्य आदि सात पदार्थों का (व्याख्याताः) वर्णन समाप्त हुआ।

विज्ञानवादनिरासः

ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्ता न सन्ति। मैवम्। अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात्।

विज्ञानवाद का निराकरण—

[प्रश्न—] (ज्ञानात्) विज्ञान (वा) अथवा (ब्रह्मण) ब्रह्म से (व्यतिरिक्ता) अतिरिक्त (अर्थाः) [द्रव्य आदि] अर्थों की (न सन्ति) सत्ता नहीं है [अतः आप द्वारा उनका वर्णन किया जाना उपयुक्त नहीं है।]।

[उत्तर—] (एवम्) आपका ऐसा कहना (मा) उचित नहीं है। (अर्थानाम्) [द्रव्य आदि] अर्थों के (अपि) भी (प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन) प्रत्यक्ष आदि [प्रमाणों] से सिद्ध होने से (अशक्यापलापत्वात्) उनका निषेध [अपलाप] नहीं किया जा सकता है।

द्रव्य आदि पदार्थों का निरूपण कर देने के पश्चात् यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि उक्त पदार्थों की बाह्यसत्ता है वा नहीं ? क्योंकि कुछ दार्शनिक-सम्प्रदाय इन पदार्थों की बाह्यसत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार के दार्शनिक-सम्प्रदायों में बौद्ध-दर्शन तथा शांकर-वेदान्त के सम्प्रदाय प्रमुख हैं।

बौद्धों के चार मुख्य सम्प्रदाय हैं—(१) सौत्रान्तिक (२) वैभाषिक (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। इन चारों सम्प्रदायों में, सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भाव-रूप में ज्ञेय है, उस सभी को क्षणिक स्वीकार किया गया है। ये सभी सम्प्रदाय "सर्वं क्षणिकम्" के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। इन चारों में प्रथम दो सम्प्रदाय तो अर्थ की बाह्य-सत्ता को स्वीकार करते हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि सौत्रान्तिक के मतानुसार 'अर्थ' प्रत्यक्षरूप से अनुभव किये जाने योग्य हैं और वैभाषिकमत में अनुमेय हैं। 'योगाचार' सम्प्रदाय में केवल ज्ञान ही प्रमाणसिद्ध वस्तु हैं। 'अर्थ' तो उस ही का आकार है। उसके अतिरिक्त अर्थ की कोई सत्ता नहीं है। इसी कारण इस सम्प्रदाय के उक्त सिद्धान्त को 'साकार-ज्ञानवाद' के नाम से कहा गया है। माध्यमिक-सम्प्रदाय में तो 'ज्ञान' की भी सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है। इस सम्प्रदाय में ज्ञान तथा अर्थ दोनों को ही कल्पित माना गया है। इनकी दृष्टि में सर्व-शून्यता ही सत्य है। "सर्वं शून्यम्" यही इस सम्प्रदाय का स्वीकृत-सिद्धान्त है।

उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों में योगाचार का "साकारज्ञानवाद" अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण है और विशेषरूप से प्रचलित है। इसी

कारण तर्कभाषाकार द्वारा इसी मत का सूक्ष्म विवेचन तथा उसका निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

साकारज्ञानवादी "योगाचार-सम्प्रदाय" में केवल ज्ञान का ही अस्तित्व है, घट, पट आदि अर्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इन सभी अर्थों की प्रतीति स्वप्न में दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं के समान केवल कल्पित तथा भ्रमरूप ही है। उनके मतानुसार अर्थ और ज्ञान दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। लौकिक-व्यवहार की पूर्ति तो एकमात्र ज्ञान के आधार पर ही की जा सकती है। जिस प्रकार से स्वप्न-काल में घट, पट आदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं हुआ करता है, केवल उनका 'ज्ञान' ही हुआ करता है, उसी प्रकार जाग्रत-काल का भी सम्पूर्ण व्यवहार अर्थों के बिना केवल ज्ञान से ही चला करता है। अतः ज्ञान से अतिरिक्त अर्थों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। वास्तव में ज्ञान ही एक यथार्थवस्तु है तथा सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् स्वप्न के समान परिकल्पित और मिथ्या है। साकारवादी योगाचार सम्प्रदाय के मत का सार यही है।

शांकर-वेदान्त का 'ब्रह्मवाद' भी उपर्युक्त योगाचार-सम्प्रदाय के साकार-ज्ञानवाद अथवा विज्ञानवाद से मिलता-जुलता है। क्योंकि 'विज्ञान' और 'ब्रह्म' दोनों ही ज्ञान हैं तथा जगत् तो उसमें उदित होने वाला एक कल्पनामात्र ही है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि योगाचार-सम्प्रदाय का विज्ञान क्षणिक तथा आकारयुक्त है और शांकर-वेदान्त का 'ब्रह्म' नित्य तथा आकार-हीन है। अर्थ की बाह्य-सत्ता को दोनों ही स्वीकार नहीं करते हैं। इसी कारण तर्कभाषाकार ने दोनों मतों का एक साथ उल्लेख कर एक ही युक्ति द्वारा दोनों का निराकरण करते हुये स्पष्टरूप से कहा है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा अर्थ की सत्ता ज्ञान से भिन्न रूप में सिद्ध है। अतः अर्थ की उस सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है।

तर्कभाषाकार ने यह सुस्पष्टरूप से सिद्ध किया है कि जैसे प्रमाणसिद्ध होने के कारण ज्ञान के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार प्रमाणसिद्ध होने के कारण 'अर्थ' की बाह्य-सत्ता का भी निषेध नहीं किया जा सकता है।

तर्कभाषाकार के इस कथन पर यह अवश्य पूछा जा सकता है कि अर्थ की बाह्य-सत्ता में क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में "भूतले घटः अस्ति" इत्यादि प्रत्यक्ष को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रत्यक्ष प्रतीति में 'भूतल' में घट की सत्ता विद्यमान है। साथ ही भूतल भी निश्चितरूप से बाह्य-अर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि 'भूतल' तो बाह्य-पदार्थ नहीं है, वह भी तो ज्ञान का आकाररूप ही है। अतः उसे अन्तर पदार्थ ही कहा जायगा। इसी प्रकार जो भी ज्ञानगम्य पदार्थ है वह सब आन्तर-पदार्थ ही कहा जायगा। ऐसी स्थिति में किसी भी अर्थ की सत्ता को बाह्य नहीं कहा जा सकता है। तो विज्ञानवादी योगाचार-सम्प्रदाय का यह कथन भी उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान तथा उसके विषयभूत 'घट' आदि पदार्थ—ये दोनों ही यदि समानरूप से आन्तरिक होंगे तो उनमें यह व्यवहारभेद संभव न हो सकेगा कि 'घट' के लिये 'अयं घटः' इत्यादि प्रकार से अङ्गुली द्वारा निर्देश किया जा सके तथा 'ज्ञान' का अङ्गुली द्वारा निर्देश न किया जा सके।

इसके अतिरिक्त यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि ज्ञान तथा उसके विषय [ये दोनों ही] समानरूप से आन्तरिक हैं तथा विषय की बाह्य सत्ता नहीं है तो फिर ऐसी स्थिति में 'घट' आदि विषयों की खोज बाहर क्यों की जाती है? जैसे ज्ञान शरीर के भीतर ही उपलब्ध होता है वैसे ही ज्ञान का 'विषय' भी शरीर के अभ्यन्तर ही उपलब्ध होना चाहिये। जल आदि पदार्थ यदि ज्ञानाकार हैं तब तो ज्ञाता को उनकी उपलब्धि शरीर के अन्दर ही होनी चाहिये। उसकी प्राप्ति के लिये नल अथवा कुये अथवा नदी तक जाने की क्या आवश्यकता है? ऐसी स्थिति में ज्ञान और विषय की स्थितियों को पृथक्-पृथक माननना ही होगा। अतः ज्ञान एक आन्तरिक वस्तु है और उसके विषय घट, पट आदि पदार्थ बाह्य-सत्तावाली वस्तुयें हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मवादियों का ब्रह्म एक सत्यवस्तु है और जगत् उसका 'विवर्त्त' है। 'विवर्त्त' से अभिप्राय है वह कार्य जो अपने कारण को तनिक भी विचलित न करते हुये उसमें उत्पन्न होता है। जैसे अस्पष्ट प्रकाश में रास्ते में पड़ी हुयी रस्सी की पहचान न होने की अवधि पर्यन्त उसमें सर्प की प्रतीति होने लगा करती है। अतः यह सर्प ही उस रस्सी का 'विवर्त्त' होता है। इसी भाँति ब्रह्म की पहचान न होने की स्थिति में उसके स्वरूप को थोड़ा भी विचलित न करते हुये उसकी पहचान न होने की अवधि तक के लिये उसमें जगत् के प्रादुर्भूत होने और दृष्टिगोचर होने की कल्पना है। इसी को 'ब्रह्म का विवर्त्त' कहा जाता है। इस 'विवर्त्तवाद' में भी अर्थ की वास्तविक बाह्य-सत्ता का बोध नहीं हो पाता है। तर्कभाषाकार को उक्त वाद भी अभिमत नहीं है क्योंकि रस्सी में दृष्टिगोचर होने वाले सर्प तथा जगत् को एक ही रूप में देखना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि रस्सी वाला सर्प तो कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाता है और जगत् तो अनेक युगों तक भी समाप्त

नहीं हुआ करता। इसके अतिरिक्त एक अन्य बात यह भी है कि रस्सी तो एक दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु है। अतः किसी कारणवश किसी समय अपने स्वस्वरूप में न दिखलाई पड़ने पर कुछ कारणोंवश उसमें दृष्टिगोचर होनेवाले सर्प की उद्भूति मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं प्रतीत होती, किन्तु ब्रह्म तो अतीन्द्रिय तत्व है। वह दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु नहीं है। अतः उसमें दृष्टिगोचर होने वाली अन्य वस्तुओं का जन्म कैसे स्वीकार किया जा सकता है। अतः 'जगत्' को ब्रह्म का विवर्त्त मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।

परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म तथा 'योगाचार सम्बन्धी 'विज्ञान' से अतिरिक्त अर्थ की सत्ता प्रमाणों द्वारा सिद्ध है। अतः अर्थ के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया वह पूर्णरूपेण उपयुक्त ही है।

न्याय के प्रथमसूत्र द्वारा प्रमाण, प्रमेय सोलह पदार्थों का उल्लेख किया गया। तदनुसार प्रमाण के निरूपण के पश्चात् प्रमेयों के बारह प्रकारों का कथन किया गया। इन प्रमेयों में चतुर्थ प्रमेय 'अर्थ' का वर्णन वैशेषिक-दर्शन के आधार पर किया गया। अब आगे क्रम प्राप्त पञ्चम प्रमेय "बुद्धि" का निरूपण किया जाता है। यद्यपि वैशेषिक सम्बन्धी गुणों के वर्णन में बुद्धि का संक्षेप में वर्णन किया जा चुका है किन्तु 'न्याय-दर्शन' में तो उसे अलग से ही 'प्रमेय' माना गया है। अतः अब क्रम से प्राप्त 'बुद्धि' नामक पंचम का ही वर्णन प्रस्तुत है :—

(५) बुद्धि-निरूपण—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्योऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

(बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्ययः) बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय (इत्यादिभिः) इत्यादि (पर्यायशब्दैः) समानार्थक शब्दों द्वारा (या) जिसका (अभिधीयते) कथन किया जाता है (सा) वह (बुद्धिः) बुद्धि है। (वा) अथवा (अर्थप्रकाशः) अर्थ के ज्ञान को (बुद्धिः) बुद्धि कहते हैं। (च) और (सा) वह [बुद्धि] (संक्षेपतः) संक्षेप से (द्विविधा) दो प्रकार की है [एक] (अनुभवः) अनुभव (च) और [दूसरी] (स्मरणम्) स्मरण। [उनमें से] (अनुभवः अपि) अनुभव भी (द्विविधः) दो प्रकार का होता है— (१) (यथार्थः) यथार्थ (च) और (२) (अयथार्थः) अयथार्थ।

ऊपर प्रथम वाक्य में बुद्धि के कुछ पर्यायवाची शब्दों का कथन किया गया है। किन्तु इनके कथनमात्र से ही बुद्धि का लक्षण हो जाता हो, ऐसा नहीं है। इसी कारण आगे बुद्धि के वास्तविकस्वरूप को बतलानेवाला लक्षण किया गया है—"अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः"। किसी विषय का ज्ञान ही 'बुद्धि' है। घट, पट आदि रूपों में जो घट, पट आदि का आत्मा को भान होता है उसी का नाम बुद्धि अथवा ज्ञान है।

तत्र यथार्थोऽर्थाऽविसंवादी। स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते। यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमलिङ्गकमग्निज्ञानम्। गोसादृश्य-दर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्।" ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि वाक्याज्ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानञ्च।

(तत्र) उनमें (यथार्थः) यथार्थ [अनुभव] (अर्थाऽविसंवादी) अर्थ का अविसंवादी अर्थात् अर्थ के विपरीत न होने वाला अथवा अर्थ के अनुसार चलने वाला होता है। (च) और (स) वह [यथार्थ—अनुभव] (प्रत्यक्षादिप्रमाणैः) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से (जन्यते) उत्पन्न होता है। (यथा) जैसे (१) (अदुष्टैः) दोषरहित (चक्षुरादिभिः) चक्षु आदि के द्वारा (घटादिज्ञानम्) घट आदि का ज्ञान [यह प्रत्यक्ष 'यथार्थानुभव' है।]। (२) (धूमलिङ्गकम्) धूम आदि लिङ्ग से (अग्निज्ञानम्) अग्नि आदि का ज्ञान [यह यथार्थ अनुमानरूप-अनुभव हुआ। अथवा अनुमिति हुयी।] (३) (गोसादृश्यदर्शनात्) [गवय में] गोसादृश्य को देखने से (गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्) [यह प्राणी] गवय शब्द का वाच्य है। इस प्रकार का ज्ञान [अर्थात् उपमिति, अथवा उपमान प्रमाण से उत्पन्न यथार्थ-अनुभव हुआ।] (४) (स्वर्गकामः ज्योतिष्टोमेन यजेत्) स्वर्ग की इच्छा रखने वाला [व्यक्ति] ज्योतिष्टोम यज्ञ करे (इत्यादि वाक्यात्) इत्यादि [वेद] वाक्य से (ज्योतिष्टोमस्य) ज्योतिष्टोम—यज्ञ की (स्वर्गसाधनताज्ञानञ्च) स्वर्गसाधनता का ज्ञान [यह शब्द प्रमाण से उत्पन्न यथार्थ अनुभव हुआ]।

'यथार्थानुभव' का ही नाम प्रमा है, यह पहले बतलाया जा चुका है। इस स्थल पर 'यथार्थ' का अर्थ किया गया है 'अविसंवादी'। 'विसंवादी' उस ज्ञान को कहते हैं कि जो अर्थ का संवादी नहीं होता अथवा जो अर्थ से मेल नहीं खाता। इसका उल्टा अविसंवादी होता है—अर्थात् जो अर्थ से मेल खाये-अथवा जैसा पदार्थ है वैसा ज्ञान—"तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्"। यह ज्ञान चार प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष-ज्ञान (२) अनुमिति-ज्ञान (३)

उपमिति-ज्ञान तथा (४) शाब्द-ज्ञान। इन चारों प्रकार के ज्ञानों अथवा यथार्थ-अनुभवों के उदाहरण अभी ऊपर दिये जा चुके हैं।

अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः। संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति, संशयतर्कौ वक्ष्येते।

विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद्ग्रहः। भ्रम इति यावत्। यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्तिकादौ रजतारोपः, 'इदं रजतम्' इति।

(अयथार्थः तु) अयथार्थ [अनुभव] तो (अर्थव्यभिचारी) अर्थ का अनुसरण नहीं किया करता है तथा (अप्रमाणजः) वह किसी प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुआ करता है। (स) वह (त्रिविधः) तीन प्रकार का होता है (१) (संशयः) संशय (२) (तर्कः) तर्क (च) और (३) (विपर्ययः) विपर्यय। [इनमें से] (संशयतर्कौ) संशय और तर्क [इन दोनों की गणना न्याय के षोडश पदार्थों में की गयी है। अतएव ये दोनों आगे] (वक्ष्येते) कहे जावेंगे। [विपर्यय का वर्णन यहाँ करते हैं—] (अतस्मिन् तद्ग्रहः) अतत् में तत् [अर्थात् अरजत शुक्ति का आदि में रजत] की प्रतीति (विपर्ययः) विपर्यय अथवा (भ्रम इति यावत्) भ्रम है। (यथा) जैसे (पुरोवर्तिनि) सामने स्थित (अरजते शुक्तिकादौ) अरजत शुक्ति का आदि में (रजतारोपः) रजत का आरोप '(इदम्) यह (रजतम्) रजत है।' (इति) यह 'भ्रम' कहलाता है।

जो अनुभव, जैसा अर्थ होता है वैसा न होकर, उसके विपरीत (उल्टा) हुआ करता है उसे 'अयथार्थ' कहा जाया करता है। यह अर्थ का व्यभिचारी हुआ करता है क्योंकि जो अर्थ जहाँ विद्यमान नहीं हुआ करता है वहाँ भी इसकी उत्पत्ति हुआ करती है। जैसे—सीपी में चाँदी नहीं हुआ करती है किन्तु चाँदी का अयथार्थ अनुभव उसमें भी हुआ करता है। यह किसी प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुआ करता है। यह दोषयुक्त चक्षु आदि से उत्पन्न हुआ करता है।

इस अयथार्थ के तीन भेद होते हैं (१) संशय (२) तर्क और (३) विपर्यय। इनमें से प्रथम दो का वर्णन प्रमाण षोडश पदार्थों के क्रम में किया जाता है। अतः अवशिष्ट 'विपर्यय' का वर्णन यहाँ करते हैं:—

विपर्यय—

जहाँ जिस वस्तु का अभाव हुआ करता है वहाँ यदि उस वस्तु का अनुभव होने लगे तो उस अनुभव का नाम ही 'विपर्यय' होता है। इसी को 'भ्रम' शब्द द्वारा भी कहा जाता है। इस विपर्यय-ज्ञान अथवा भ्रम-ज्ञान का विश्लेषण

कई दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। इन सभी प्रकारों को पाँचरूपों में विभक्त कर "ख्याति" नाम से अभिहित किया गया है। ये ख्यातियाँ पाँच है (१) आत्मख्याति (२) असत्ख्याति (३) अख्याति (४) अन्यथाख्याति और (५) अनिर्वचनीयख्याति—

"आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्॥"

'ख्याति' शब्द का अर्थ है "ज्ञान"। भ्रम सम्बन्धी स्थल में किसका ज्ञान हुआ करता है? इसको ध्यान में रखते हुये उपर्युक्त पाँच प्रकार की "ख्यातियों" की स्थापना की गयी। इन पाँचों में से 'आत्मख्याति' और 'असत्ख्याति' ये दो ख्यातियाँ बौद्धों से सम्बंधित हैं। 'आत्मख्याति' में 'आत्म' शब्द से 'विज्ञानवादी' बौद्धों के 'विज्ञान' नामक तत्व का ग्रहण किया गया है। 'विज्ञानवाद' के अनुसार घट, पट आदि बाह्यविषयों का कोई अस्तित्व नहीं हुआ करता है। केवल 'विज्ञान' ही इन सभी पदार्थों के रूप में भासित हुआ करता है। इसका विवेचन इससे पूर्व किया जा चुका है। अतः भ्रमस्थल में भी स्वयं 'विज्ञान ही भ्रान्त घट आदि के रूप में भासा करता है। "आत्मख्याति" सम्बन्धी सिद्धान्त का सार यही है। द्वितीय "असत्ख्याति" नाम का पक्ष 'शून्यवादी' माध्यमिक बौद्धों का पक्ष है। उनके मतानुसार 'विज्ञान' का भी अस्तित्व नहीं है, केवल शून्य ही सब रूपों में भासा करता है। अतः भ्रम-स्थल में भी शून्य ही भासा करता है। "असत्-ख्याति" नामक पक्ष का सार यही है।

तृतीय "अख्याति" पक्ष प्रभाकर-सम्प्रदाय में विश्वास रखने वाले मीमांसकों का है। "अख्याति" का अर्थ है "ज्ञान का अभाव" अथवा "भेदाग्रह"। प्रभाकर में मतानुसार भ्रम रूप ज्ञान होता ही नहीं है। जैसे—शुक्ति में रजत की प्रतीति को भ्रम कहा जाता है। तर्कभाषाकार ने भी भ्रम-ज्ञान का यही उदाहरण दिया है। प्रभाकर का कहना है कि यह वस्तुतः एक ज्ञान नहीं है। अपितु इसमें 'इदम्' तथा 'रजतम्' यह दो ज्ञान पृथक्-पृथक् हैं। 'इदम्' अंश का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला 'प्रत्यक्ष' ज्ञान है तथा यह ज्ञान 'यथार्थ-ज्ञान है। 'रजतम्' यह अंश तो स्मृतिजन्य है। अतएव 'इदम्' यह अंश प्रत्यक्ष-अनुभव का विषय है तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण 'यथार्थ' ही है। 'रजतम्' यह अंश संस्कारजन्य होने के कारण स्मरणात्मक है तथा यह भी 'यथार्थ' है। ऐसी स्थिति में दोनों में से किसी भी अंश में भ्रम है ही नहीं।

'शुक्ति' को 'रजत' समझ कर उसको उठाने में मनुष्य की जो प्रवृत्ति हुआ करती है, उसका कारण यह है कि 'इदम्' यह अंश अनुभवात्मक प्रत्यक्ष है तथा 'रजतम्' यह अंश 'स्मरणात्मक'। 'अनुभव' और 'स्मरणरूप' द्विविध ज्ञान के भेद का ग्रहण न होने के कारण ही मनुष्य की उस सीप को उठाने में प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः इस व्यवहार का भेद का ज्ञान न होना ही है। इसी को 'भेदाग्रह' अथवा 'अख्याति' [भेद की अख्याति] कहा जाता है। यही प्रभाकर का 'अख्यातिवाद' नामक सिद्धान्त है।

चतुर्थ 'अनिर्वचनीय ख्याति' नामक पक्ष वेदान्तियों का है । जैसे स्वप्न में न रथ होते हैं और न रथयुक्त मार्ग ही । किन्तु फिर भी स्वप्नद्रष्टा रथों तथा रथयुक्त मार्गों की सृष्टि कर लिया करता है । जागने पर यह सब स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं। इसी भाँति भ्रम के स्थल में भी 'रजत' की स्थिति उतने ही समय तक रहा करती है जितने समय तक भ्रम की स्थिति है। अतः इसको 'प्रातिभासिक रजत' कहते हैं। इस 'प्रातिभासिक रजत' को सत्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आगे चलकर उसका बाध हो जाया करता है। साथ ही उसको नितान्त 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसकी प्रतीति तो होती ही है। ऐसी स्थिति में इस 'प्रातिभासिक रजत' को 'सत्' और 'असत्' दोनों ही दृष्टियों से कुछ भी न कह सकने के कारण 'अनिर्वचनीय-रजत' कहा जाया करता है। अतः भ्रम स्थल में 'अनिर्वचनीय-रजत' इत्यादि का ही भान हुआ करता है। इसी कारण इस सिद्धान्त को 'अनिर्वचनीय-ख्याति' नाम से कहा गया है।

पाचवाँ है—'अन्यथाख्यातिवाद'। यह नैयायिकों को अभिमत है। उनका कहना है कि 'शुक्ति-रजत' स्थल में प्रातिभासिक-रजत' की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है। किसी दोष के प्रभाव से ऐसा हो जाया करता है। जैसे पाण्डुरोग के रोगी को श्वेतवर्ण का 'शंख' भी 'पीला' दिखलायी पड़ता है। पाण्डुरोगी को तो सब पीला-पीला ही दिखलायी पड़ा करता है। यही दोष है। इसके कारण उसे श्वेतवर्ण का शंख पीला-पीला दिखलायी पड़ा करता है। इसी प्रकार किसी अन्य दोष के प्रभाव से ही शुक्ति में भी रजत की प्रतीति होने लगा करती है। इसी का नाम 'अन्यथाख्याति' है। इस 'अन्यथाख्याति को ही न्यायवैशेषिक मत में 'भ्रम' अथवा 'विपर्यय कहा जाता है।

यह अन्यथाख्याति' ही अन्य ख्यातियों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत तथा बुद्धिग्राह्य होने से तर्कभाषाकार को भी मान्य है।

स्मरण-निरूपण—

स्मरणमपि यथार्थमयथार्थञ्चेति द्विविधम् । तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वं ज्ञानं स्मरणमयथार्थञ्च । दोषवशेन तदिति स्थाने इद-मित्युदयात् ।

[संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का ही नाम 'स्मरण' है ।] (स्मरणम्-अपि) 'स्मरण' भी (द्विविधम्) दो प्रकार का होता है—(१) (यथार्थम्) यथार्थ (च) और (२) (अयथार्थम्) अयथार्थ । (जागरे) जाग्रत-अवस्था में (तत् उभयम्) यह दोनों प्रकार का [स्मरण] होता है। (स्वप्ने तु) स्वप्न में तो (सर्वज्ञानम्) सम्पूर्ण ज्ञान (स्मरणम्) स्मरणात्मक तथा (अयथार्थम्) अयथार्थ ही होता है। (दोषवशेन) [किसी] दोष के निमित्त से (तत्-इति-स्थाने) 'वह' के स्थान पर (इदम्) 'यह' (इति-उदयात्) की प्रतीति होने से ।

स्वप्न का ज्ञान संस्कारमात्रजन्य है । अतः उसे स्मरण ही कहा जायगा । निद्रा आदि दोष के कारण दूर स्थित तथा अविद्यमान वस्तु (तत्) भी समीप में स्थित तथा विद्यमान (इदम्-इति) प्रतीत होने लगा करती है । अतः यह ज्ञान अयथार्थ ही कहा जायगा । अतएव स्वप्न में केवल 'अयथार्थ-स्मरण' ही हुआ करता है ।

साकारज्ञानवाद का निराकरण—

जिस विषय का ज्ञान हुआ करता है उस विषय का आकार ज्ञान में हुआ करता है । ज्ञान की यह साकारता ही विषयता की नियामक है। बौद्धों के इस साकारज्ञानवाद का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसी साकारज्ञानवाद का निराकरण करते हुये तर्कभाषाकार कहते हैं :—

सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेव, न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारो जन्यते। साकारज्ञानवादनिराकरणात् । अतएवाकारेणार्थानुमानमपि निरस्तम् । प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्घटादेः । सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यं, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात् । घटज्ञानवानहं, इत्येतावन्मात्रं गम्यते न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते ।

(च) और (सर्वम्) सम्पूर्ण (ज्ञानम्) ज्ञान (निराकारम्—एव) निराकार ही होता है। (अर्थेन) अर्थ [विषय] के द्वारा (ज्ञाने) ज्ञान में (स्वस्य) अपना (आकारः) [कोई] आकार (न जन्यते) उत्पन्न नहीं किया जाया करता है [अर्थात् अर्थ (विषय) ज्ञान में अपना कोई आकार उत्पन्न नहीं किया करता है ।] (साकारज्ञानवादनिराकरणात्) साकारज्ञानवाद

का खण्डन हो जाने से। (अतएव) इसीलिये (आकारेण) [ज्ञान में स्थित] आकार के द्वारा (अर्थानुमानम्) अर्थ का किया जाने वाला अनुमान (अपि) भी (निरस्तम्) खण्डित हो जाता है। (घट आदेः) घट आदि [बाह्य अर्थों] के (प्रत्यक्षसिद्धत्वात्) प्रत्यक्ष से सिद्ध होने से। [विषयता सम्बन्धी नियम के लिये भी साकारज्ञानवाद की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि—] (सर्वं ज्ञानम्) सारा ज्ञान (अर्थनिरूप्यम्) अर्थ [विषय] द्वारा ही निरूपित किया जाता है। (अर्थप्रतिबद्धस्य एव) अर्थ से युक्त (तस्य) उस [ज्ञान] का ही (मनसा निरूपणात्) मन के द्वारा निरूपण किये जाने से (घटज्ञानवानहम्) 'मैं घटज्ञानवान् हूँ' (इति एतावत् मात्रं गम्यते) [विषय सहित] केवल यही प्रतीत हुआ करता है। (ज्ञानवानहम्) "मैं ज्ञानवान् हूँ" (एतावन्मात्रं न ज्ञायते) केवल इतना ही प्रतीत नहीं हुआ करता है। [अतः सम्पूर्ण ज्ञान अर्थ से ही निरूपित हुआ करता है।]।

उपर्युक्त बौद्धों के अतिरिक्त सांख्य आदि के मतानुसार बुद्धि विषयाकार में परिणत हो जाती है। अतः ज्ञान में घट आदि अर्थों (विषयों) का आकार रहा करता है। इन सभी मतों का खण्डन आचार्यों द्वारा किया जा चुका है।

न्याय-वैशेषिक आदि के मतानुसार ज्ञान निराकार है। ज्ञान की साकारता किसी भी रूप में युक्तियुक्त नहीं है।" ज्ञान स्वतः साकार है, अतः उसी से जगत के सम्पूर्ण व्यवहार की सिद्धि हो जाने से भिन्न अर्थ का अस्तित्व पूर्णतया अनावश्यक ही है; तथा "अर्थ अतीन्द्रिय होता है, ज्ञान के अनुभवसिद्ध आकार से उसका अनुमान किया जाता है"; ये दोनों बातें इस एक ही तर्क से कट जाती हैं कि जिस भाँति ज्ञान तथा उसमें गृहीत होने वाले आकार के प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण उनकी सत्ता को स्वीकार करना होता है उसी भाँति घट, पट आदि बाह्य-विषय भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। अतः उन घट, पट आदि की सत्ता को भी स्वीकार किया जाना ठीक ही है।

सभी ज्ञान अर्थ से ही निरूपित हुआ करते हैं। मन उसे उसके विषयभूत अर्थ के साथ ही ग्रहण किया करता है क्योंकि जब भी ज्ञान का ग्रहण किया जाता है तब "मुझे घट का ज्ञान है" अथवा "मुझे पट का ज्ञान है" इन रूपों में ही ज्ञान का ग्रहण हुआ करता है, केवल इस रूप में कि "मुझे ज्ञान है" ज्ञान का ग्रहण नहीं हुआ करता है।

(६) अन्तरिन्द्रियं मनः। तच्चोक्तमेव।

(अन्तः इन्द्रियम्) आन्तरिक इन्द्रिय [का ही नाम] (मनः) मन है। (च) और (तत्) वह [अथवा उस मन का] (उक्तं एव) वर्णन किया जा चुका है।

मन-निरूपण—

वस्तुतः मन एक आन्तरिक इन्द्रिय है इसी कारण उसे 'अन्तःकरण' भी कहा जाता है। यह प्रत्येक प्राणी में पृथक्-पृथक् होता है। शरीर के भीतर हुआ करता है। नित्य तथा अणु होता है। इसका सम्बन्ध आत्मा के साथ उस समय तक रहा करता है कि जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं हो जाया करती है। यह मन सभी बाह्य-इन्द्रियों का सहायक होता है तथा सभी प्रकार के ज्ञान के उदय का भी साधन यही है। इस मन के बारे में पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

(७) प्रवृत्तिः

प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहार-साधकत्वात्।

(७) प्रवृत्ति—

(धर्माधर्ममयी) धर्म, अधर्म की जनक (यागादिक्रिया) याग, हिंसा आदि शास्त्रों में विहित और निषिद्ध क्रियाओं [अथवा उन क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले धर्म और अधर्म] (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति [कहलाते] हैं। (तस्याः) उस [धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति] के (जगद्व्यवहारसाधकत्वात्) जगत के व्यवहार का साधक होने से।

यह प्रवृत्ति संसार के सम्पूर्ण व्यवहार को सिद्ध करने वाली है। यह तीन प्रकार की होती है—वाणी, मन तथा शरीर से होने वाली। इस प्रवृत्ति से ही विश्व के सभी व्यवहार सम्पादित होते हैं। पूर्व प्रवृत्तियों से नवीनकर्म और नवीनकर्मों से नवीन प्रवृत्तियों का जन्म होता है। कर्म और प्रवृत्ति की यह श्रृंखला निरन्तर चला करती है। इसी के परिणामस्वरूप मानव का उत्थान पतन हुआ करता है। यह प्रवृत्ति ही धर्म और अधर्म की निमित्त होती है।

(८) दोषाः

दोषा रागद्वेषमोहाः। राग इच्छा। द्वेषोमन्युः, क्रोधः इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानम्, विपर्यय इति यावत्।

(८) दोषाः—

(रागद्वेषमोहाः) राग, द्वेष और मोह (दोषाः)—ये दोष हैं। (राग इच्छा) राग इच्छा को कहते हैं। (द्वेषोमन्युः, क्रोधः इति यावत्) 'द्वेष' मन्यु अर्थात् क्रोध के कहते हैं। (मोहः मिथ्याज्ञानम्) 'मोह' मिथ्याज्ञान (विपर्यय इति यावत्) अर्थात् विपर्यय को कहते हैं।

इन तीनों से संसार की कारणभूत 'प्रवृत्ति' का उदय हुआ करता है।

(९) प्रेत्यभावः

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेह-सङ्घातलाभः।

(९) प्रेत्यभाव—

(पुनः उत्पत्तिः) पुनः [मृत्यु के अनन्तर] उत्पन्न होना (प्रेत्यभावः) 'प्रेत्यभाव' [प्रेत्य अर्थात् मरकर, 'भाव' अर्थात् उत्पन्न होना] है। (च) और (स) वह [पुनर्जन्म] (आत्मनः) आत्मा के (पूर्वदेहनिवृत्तिः) पूर्व शरीर की समाप्ति (अपूर्वदेहसङ्घातलाभः) नवीन शरीर आदि समूह की प्राप्ति ही है।

यहाँ पुनः उत्पत्ति अथवा पुनर्जन्म से अभिप्राय है—देह, इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा का पुनः सम्बन्ध होना। आत्मा का पुनः जन्म अथवा पुनः उत्पत्ति नहीं हुआ करती है क्योंकि आत्मा तो नित्य है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता है।

(१०) फलम्

फलं पुनर्भोगः, सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः।

(१०) फल—

(पुनः भोगः) पुनः भोग का नाम ही (फलम्) फल है। और भोग का अर्थ है (सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः) सुख अथवा दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करना। [अतः सुख अथवा दुःख में से किसी अनुभवरूप भोग का ही नाम 'फल' है]।

(११) दुःखम्

पीड़ा दुःखम्। तच्चोक्तमेव।

(११) दुःखम्—

(दुःखम्) दुःख का अर्थ है (पीडा) पीड़ा। (च) और (तत्) उसका (उक्तम् एव] वर्णन किया जा चुका है।

यह जीवात्मा का एक विशेषगुण है। इसकी उत्पत्ति अधर्म [पाप] से हुआ करती है। बारह प्रकार के प्रमेयों में इसकी गणना विशेषरूप से इस कारण की गयी है कि इसे विशेषरूप से जान लेना है। यही जीव को पीड़ित किया करता है।

(१२) अपवर्गः

मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। एकविंशतिप्रभेदास्तु शरीरम्, षडिन्द्रियाणि, षट् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखं दुःखञ्चेति गौणमुख्यभेदात्। सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात्। अनुषङ्गोऽविनाभावः। स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत्।

(१२) अपवर्गः मोक्ष—

[मोक्षः] मोक्ष का ही नाम [अपवर्गः] अपवर्ग है। [च] और [स] वह [एकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्य] इक्कीस प्रकार के दुखों की [आत्यन्तिकी] अत्यन्त [निवृत्तिः] निवृत्ति ही है। [एकविंशतिप्रभेदाः तु] [गौणमुख्यभेदात्] गौणदुःख तथा मुख्य दुख [२० + १] के भेद से वे इक्कीस भेद ये हैं:—[शरीरम्] शरीर + [षड् इन्द्रियाणि] ६ इन्द्रियाँ + [षट् विषयाः] [उनके] ६ विषय + [षड् बुद्धयः] ६ ज्ञान तथा [सुखं दुःखं च इति] सुख और दुःख [ये ही इक्कीस प्रकार के दुःख हैं जिनसे छुटकारा प्राप्त कर लेने का ही नाम 'अपवर्ग' अथवा 'मोक्ष' है]। [दुःखानुषङ्गित्वात्] दुःख से मिश्रित होने के कारण [लौकिक] (सुखम् तु) सुख तो (दुःखं एव) दुःख ही है। (अनुषङ्गोऽविनाभावः) अनुषङ्गः का अर्थ अविनाभाव है [अर्थात् दुःख के विना सुख नहीं होता]। (मधुनः विषसंयुक्ते) मधु के विष से युक्त होने पर (मधुनि अपि) मधु को भी (विषपक्षनिक्षेपवत्) विष समझे जाने के समान [लौकिक सुख को दुःख से अविनाभूत-मिश्रित होने से दुःख समझने का] (उपचारः) गौण व्यवहार होता है।

न्याय के सूत्र "तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः" [१-१-२२] का अर्थ ही है कि उस दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है। दुःख के दो भेद हैं (१) गौण (२) मुख्य। मुख्य दुःख जीवात्मा का विशिष्टगुण है जो स्वभावतः द्वेष्य है तथा अधर्म से उत्पन्न हुआ करता है। गौण दुःख २० प्रकार के हैं। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन ये षट् ज्ञानेन्द्रिय, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और योग्य आत्मगुण—ये ६ उनके विषय, इन विषयों के इन्द्रियजन्य ६ अनुभव, शरीर और सुख [दुःखानुविद्ध होने के

कारण]। इस भाँति ये २१ प्रकार के दुःख हुये। इन इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है।

उपर्युक्त २१ प्रकार के दुःखों में मुख्य दुःख तो स्वभाव से ही दुःख है। इन्द्रियाँ, विषय, विषयानुभव और शरीर—ये सभी उस दुःख के साधन हैं। अतएव ये भी दुःख कहे गये। [लौकिक] सुख तो प्राणिमात्र का चाहा जाने वाला है, जिसकी प्राप्ति हेतु मानव सब कुछ किया करता है; वह सुख भी दुःख से अनुषक्त [मिश्रित] होने के कारण दुःखरूप ही है। फिर जैसे विषमिश्रित मधु की गणना विष में ही की जाया करती है और वह त्याज्य भी होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण सांसारिक सुख भी दुःख से ही मिश्रित है। अतएव उसकी गणना भी दुःख में ही की जाती है और वह त्याज्य ही हुआ करता है। अतः लौकिक सुख को गौणवृत्ति से दुःख कहना ही उचित है तथा दुःख के ही समान उसका त्याग करना भी उचित ही है।

स पुनरपवर्गः कथं भवति ?

उच्यते। शास्त्राद् विदितसमस्तपदार्थतत्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्यमुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मानः क्लेशहीनस्य निष्कामकर्मानुष्ठानादनागतधर्माऽधर्मवनर्जयतः पूर्वोपात्तञ्च धर्माऽधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्त्तमानशरीरापगमे पूर्वशरीरोभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःखसम्बन्धो न भवति कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहानिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।

अपवर्ग अथवा मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया—

[प्रश्न—] (पुनः) फिर (स) वह (अपवर्गः) मोक्ष (कथम्) कैसे (भवति) प्राप्त होता है ?

[उत्तर—] (उच्यते) कहते हैं। [सर्वप्रथम] (शास्त्राद्) शास्त्रों के अध्ययन से (विदितसमस्तपदार्थतत्वस्य) सम्पूर्ण पदार्थों के तत्वज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले (विषयदोषदर्शनविरक्तस्य) विषयों के दोषों को देखने से [सांसारिक विषयों के प्रति] विरक्त हुये [अतएव] (मुमुक्षोः) मोक्ष की इच्छा करने वाले [तथा उसकी प्राप्ति के निमित्त योगशास्त्र में वर्णित रीति से] (ध्यायिनः) ध्यान करने वाले मुमुक्षु-साधक-पुरुष के (ध्यानपरिपाकवशात्) ध्यान के परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाने से (साक्षात्कृतात्मानः) आत्म-साक्षात्कार करने वाले [अतएव आत्म-ज्ञान हो जाने के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच ("अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभि-

निवेशा पञ्चक्लेशाः")। (क्लेशहीनस्य) क्लेशों से रहित [पुनः राग, द्वेष आदि के अभाव में] (निष्कामकर्मानुष्ठानात्) निष्कामभाव के साथ कर्मों के अनुष्ठान करने के कारण [धर्म-अधर्मरूप संस्कारों की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। अतः] (अनागतधर्माधर्मौ-अनर्जयतः) नवीन धर्म और अधर्म को अर्जित करने वाले (पूर्वोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयम्) पूर्व सञ्चित धर्म और अधर्म के समूह को (योगर्द्धिप्रभावात्) योग की सिद्धि के प्रभाव से (विदित्वा) जानकर (समाहृत्य) एक साथ (भुञ्जानस्य) भोग डालने वाले [तत्वज्ञान के हो जाने पर राग, द्वेष आदि नहीं रहा करते हैं तथा निष्कामभाव के साथ किये जाने वाले कर्मों से नये धर्माऽधर्म की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है अतएव] (पूर्वकर्मनिवृत्तौ) पूर्व कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर (वर्त्तमान-शरीरापगमे) वर्तमान शरीर के नष्ट हो जाने पर (पूर्वशरीराभावात्) नवीन शरीर की उत्पत्ति न होने के कारण (शरीर-आदि-एकविंशतिदुःखसम्बन्धः) शरीर आदि इक्कीस प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध (कारणाभावात्) [आत्मा के साथ-धर्माधर्मरूप] कारण के विद्यमान न होने से (न भवति) नहीं होता है। (अयम् स) यह ही वह (एकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहानिः) इक्कीस प्रकार के दुःखों का न होना (मोक्षः) मोक्ष है। (स) वही (अपवर्ग इति) अपवर्ग (उच्यते) कहा जाता है।

इस विवरण द्वारा 'अपवर्ग' की प्राप्ति तथा उसके साधन और क्रमों का वर्णन किया गया है। न्यायदर्शन में यह सूत्र आता है—"दुःखजन्मप्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानां उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः" ॥ न्यायसूत्र १।१।२॥ अर्थात् दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान—इनमें से उत्तर-उत्तर के विनाश से पूर्व-पूर्व का विनाश हो जाया करता है तथा 'अपवर्ग' की प्राप्ति होती है। जैसा कि भाष्यकार आदि ने भी स्पष्ट किया है कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति 'तत्वज्ञान' से हुआ करती है।

यह तत्वज्ञान शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन करने से प्राप्त होता है। शास्त्रों द्वारा प्राप्त पदार्थों के तत्वज्ञान से सांसारिक विषयों में दोष अर्थात् दुःखों में बँधा रहना आदि का दर्शन हुआ करता है। विषयों के दोषों का दर्शन हो जाने पर उनके प्रति विरक्ति उत्पन्न हुआ करती है। फिर इस विरक्ति के कारण दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने अथवा मोक्ष की प्राप्ति को इच्छा उत्पन्न हुआ करती है। परिणाम यह होता है कि फिर आत्मा सांसारिक विषयों का चिन्तन न कर अपने वास्तविक स्वरूप को जानने की ओर प्रवृत्त हुआ करता है। यह अपना वास्तविकस्वरूप उपनिषद् आदि शास्त्रों के अध्य-

यन से ज्ञात हुआ करता है। तत्पश्चात् योगशास्त्र में वर्णित प्रकार से चिरकाल-पर्यन्त चिन्तन करने के उपरान्त उसमें परिपक्वता आ जाया करती है। इस चिन्तन के फलस्वरूप साधक पुरुष को आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाया करता है। आत्मा के इस साक्षात्कार से अविद्या आदि पाँच क्लेशों [जिन्हें न्यायशास्त्र में राग, द्वेष और मोह इन तीन प्रकार के दोषों के रूप में वर्णित किया गया है।] की निवृत्ति हो जाती है। फिर साधक पुरुष जो भी कर्म किया करता है वह निष्काम भाव से ही किया करता है। निष्कामभाव से किये गये कर्मों से नवीन धर्म-अधर्म का संचय नहीं हुआ करता है। ऐसी स्थिति में उसे पूर्व जन्मों में उपार्जित धर्माधर्म से ही छुटकारा प्राप्त करने की चिन्ता रह जाया करती है। इसके निमित्त वह योगाभ्यास द्वारा प्राप्त शक्ति के द्वारा उन सभी पूर्वसंचित धर्माधर्मों की जानकारी प्राप्त कर उन सभी का एक साथ भोग करने की इच्छा करेगा। एतदर्थ जिन-जिन योनियों से सम्बन्धित शरीरों की उसे अपेक्षा होगी उन सभी योनियों से सम्बन्धित शरीरों की वह योगबल द्वारा रचनाकर लेगा तथा उन शरीरों द्वारा पूर्व जन्मों के संचित सभी कर्मों को फल-भोग द्वारा वह एक साथ ही समाप्त कर देगा।

इसके साथ ही वह प्रारब्धकर्मों [जिसके फल-भोग हेतु उसे वर्त्तमान शरीर प्राप्त है।] का भी भोग साथ ही प्राप्त कर लेगा। परिणाम यह होगा वर्त्तमान शरीर का सम्बन्ध विच्छेद होने तथा धर्म-अधर्मरूप कारणों का अभाव हो जाने से, नवीन शरीर की भी प्राप्ति न होने से शरीर आदि इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक हानि हो जायगी। सम्पूर्ण दुःखों से प्राप्त होने वाली इस आत्यन्तिक-निवृत्ति का ही नाम अपवर्ग अथवा मोक्ष है। उपरिवर्णित विधि ही अपवर्ग-प्राप्ति की विधि है जिसे अति संक्षेप में यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

कर्मों के प्रकार—

मनुष्य के कर्म, कि जिनसे वह बँधा हुआ है, तीन प्रकार के हैं (१) प्रारब्ध [२] सञ्चित और [३) क्रियमाण। जिन कर्मों के फल को भोगने के लिये इस शरीर की प्राप्ति हुयी है तथा जिनका भोग भी प्रारम्भ हो चुका है, ऐसे कर्मों को 'प्रारब्ध-कर्म' कहा जाता है। इन कर्मों का नाश भोग की पूर्णता पर ही निर्भर हुआ करता है। 'क्रियमाण' कर्म वे हैं कि जो इस समय में किये जा रहे हैं। इस कर्मों के संस्कार 'सञ्चित' होते रहा करते हैं। इनका भोग भविष्य में हुआ करता है। अतएव इन्हें 'सञ्चित-कर्म' कहा जाता है।

जिस समय तक तत्वज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाया करता है उस समय तक किये गये कर्मों से संस्कार बना करते हैं किन्तु आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर किये जाने वाले कर्मों से संस्कार नहीं बना करते हैं। अतः आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति के लिये 'प्रारब्ध' कर्म तथा 'सञ्चित' कर्मों की समाप्ति का कार्य अवशिष्ट रह जाता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों की समाप्ति हो जाने पर ही 'मोक्ष' होता है। इन दोनों में भी 'प्रारब्ध' कर्मों का भोग तो वर्त्तमान शरीर की निर्धारित आयु तक चलता ही है। जैसे कोई कुम्भकार [कुम्हार] जब एक बार अपने चाक को घुमा दिया करता है तो वह [चाक] अपने वेग-संस्कार के कारण बहुत देर तक घूमता रहा करता है। इस ही भाँति अपने प्रारब्ध कर्मों के कारण यह शरीर भी उन कर्मों के भोग की समाप्तिपर्यन्त बना रहा करता है:—

"तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः"। सांख्यकारिका–६७॥

आत्म-ज्ञान के पश्चात् जितने समय तक साधक-पुरुष इस वर्त्तमान शरीर को धारण किये रहता है उस समय तक की उसकी अवस्था को 'जीवन्मुक्ता-वस्था" कहा जाता है। इस अवस्था में वह जो भी कर्म किया करता है उसके उन कर्मों से नवीन संस्कारों का निर्माण नहीं हुआ करता है।

अब "सञ्चित" कर्मों से छुटकारा प्राप्त करने की बात शेष रह जाती है। इस सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। प्रथम तो यह कि तत्वज्ञान की अग्नि [अथवा ज्ञानाग्नि] से सम्पूर्ण सञ्चित कर्म स्वयं ही भस्मसात् हो जाया करते हैं। जैसा कि गीता में कहा भी गया है—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्म-सात् कुरुतेर्जुन"। इस मत के अनुसार तत्वज्ञान के अनन्तर योगी साधक-पुरुष के लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता है। उसकी मोक्ष प्राप्ति में वर्त्तमान शरीर के पात होने तक का ही विलम्ब शेष रह जाया करता है।

सञ्चित कर्मों के नाश का जो दूसरा प्रकार है उसी का वर्णन तर्कभाषा में किया गया है। उसका सार यह है कि तत्वज्ञान हो जाने के पश्चात् योगी साधक पुरुष को अपनी योगसामर्थ्य से इस बात का भी ज्ञान हो जाया करता है कि इस समय तक मेरे 'इतने-इतने' सञ्चितकर्म शेष पड़े हैं तथा फल-भोग-प्रक्रिया के अनुसार इन सञ्चित कर्मों का भोग मुझे अमुक-अमुक योनियों में करना होगा। इस ज्ञान के हो जाने पर योगीपुरुष अपने योगसामर्थ्य से एक ही साथ उन सभी शरीरों का निर्माण कर डाला करता है कि जिनमें उसके संचितकर्मों का भोग भोगना होता है। इस भाँति वह सम्पूर्ण सञ्चित कर्मों का भोग समाप्त कर लिया करता है। ऐसी स्थिति में उसका कोई भी सञ्चित

कर्म शेष नहीं रह जाता है। नया कर्म उत्पन्न नहीं हुआ करता है तथा प्रारब्धकर्मों का तो भोग से ही विनाश हो जाया करता है। जब कोई किसी प्रकार का कर्म शेष ही नहीं रहा तो फिर नवीन शरीर आदि की उत्पत्ति भी नहीं हुआ करती है तथा वह साधक मोक्ष भी प्राप्ति कर लिया करता है।

कर्मों की ही भाँति मोक्ष के स्वरूपविषयक दो मत—

मोक्ष-प्राप्ति के बारे में अभी दो प्रकार के मतों का विवरण दिया जा चुका है। इसी भाँति मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में भी दो प्रकार के मत हैं। नैयायिकों की दृष्टि में दुखों की अत्यन्त-निवृत्ति को ही मोक्ष कहा गया है। किन्तु 'वेदान्ती-मोक्ष' में 'दुख-निवृत्ति' के अतिरिक्त नित्य सुख की प्राप्ति को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा नित्य, विभु तथा आनन्दस्वरूप है। संसार-काल में वह शरीर आदि के सम्बन्ध के कारण नित्य-सुख की अनुभूति नहीं कर पाता है किन्तु मोक्षप्राप्ति के पश्चात् वह स्वस्वरूप भूत उस नित्य-सुख अथवा आनन्द की भी अनुभूति किया करता है।

किन्तु नैयायिक मोक्ष में नित्य-सुख की प्रतीति में विश्वास नहीं करते हैं। यही दोनों मतों में अन्तर है।

३—संशयः

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः। स च त्रिविधः। विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः यथा—"स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इति। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकञ्च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणुपुरुषयोः समानधर्ममूर्ध्वत्वादिकञ्च पश्यतः पुरुषस्य भवति संशयः "किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इति।

३—संशय [तृतीय-पदार्थ]-निरूपण—

"आत्म-शरीर-इन्द्रिय - अर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्गास्तु प्रमेयम्" इस सूत्र में वर्णित १२ बारह प्रकार के प्रमेयों का वर्णन इस 'अपवर्ग' के वर्णन के साथ समाप्त होता है। इस भाँति यहाँ तक न्याय के सोलह पदार्थों में से 'प्रमाण' और 'प्रमेय' इन दो पदार्थों का निरूपण भी समाप्त हो जाता है। अतः अब न्याय-प्रतिपादित तृतीय 'संशय' नामक पदार्थ का निरूपण करते हैं :—

(एकस्मिन्) एक (धर्मिणि) धर्मी में (विरुद्धनानार्थावमर्शः) अनेक विरुद्ध धर्मों का ज्ञान [बोध] (संशयः) संशय कहलाता है। (च) और (स) वह

(त्रिविध,) तीन प्रकार का है। (१) (विशेषादर्शने सति) विशेष का दर्शन न होने-पर (समानधर्मदर्शनजः) समानधर्म के दर्शन से उत्पन्न [संशय] (२) [विशेष का दर्शन न होने पर (विप्रतिपत्तिजः) विप्रतिपत्ति अथवा विरुद्धार्थप्रतिपादक वचनों से उत्पन्न [संशय] (३) [विशेष का दर्शन न होने पर (असाधारण-धर्मश्चइति) असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न [संशय]।

(तत्र) उनमें से (एकः) प्रथम—(विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः) विशेष का दर्शन न होने पर समानधर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय का (यथा) जैसे—[उदाहरण-] [यह] (स्थाणुः वा) स्थाणु है अथवा (पुरुषः वा इति) पुरुष। (पुरोवर्तिनि) सामने स्थित (एकस्मिन् एव द्रव्ये) एक ही [लम्बे-लम्बे] द्रव्य में (स्थाणुत्वनिश्चायकम्) स्थाणुत्व का निश्चय कराने वाला जो (वक्रकोटरादिकम्) टेढ़ी मेढ़ी कोटर आदि है तथा (पुरुषत्व-निश्चायकम्) पुरुषत्व के निश्चय कराने वाले (शिरःपाण्यादिकम्) सिर, हाथ आदि (विशेषम्) विशेषों [शारीरिक अङ्गों] को (अपश्यतः) न देखते हुये (च) और (स्थाणुपुरुषयोः) स्थाणु और पुरुष के (ऊर्ध्वत्वादिकम्) ऊँचाई आदि (समानधर्मम्) सामानधर्म को (पश्यतः) देखते हुये (पुरुषस्य) पुरुष के अन्दर (संशयः) [उस पदार्थ के बारे में] संशय (भवति] होता है कि (किम् अयम्) क्या यह (स्थाणुः) स्थाणु [वृक्ष का ठूँठ] है (वा) अथवा (पुरुषः) पुरुष है? [इनमें विशेष धर्म वक्रकोटर आदि अथवा हाथ, पैर आदि का दिखलाई न देना तथा समानधर्म लम्बाई-चौड़ाई आदि दिखलाई पड़ना संशय का कारण बनता है। इस प्रकार विशेषों का दृष्टिगोचर न होना ही सब प्रकार के संशयों का कारण है]।

द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः। स यथा 'शब्दो नित्य उत अनित्य' इति। तथाह्येको ब्रूते 'शब्दो नित्य' इति, अपरो ब्रूते 'शब्दोऽनित्य' इति। तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमयं शब्दो नित्य उतानित्य' इति।

(२) (द्वितीयः संशयः तु) दूसरे प्रकार का संशय तो (विशेषादर्शनेसति) विशेष का दर्शन न होने पर (विप्रतिपत्तिजः) विप्रतिपत्ति [विपरीता विविधा वा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः। अर्थात् एक ही पदार्थ आदि के विषय में दो व्यक्तियों का परस्पर विरुद्ध अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान ही 'विप्रतिपत्ति' कहलाता है।] अथवा विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने वाले वाक्यों से उत्पन्न होता है। (स) वह (यथा) जैसे—('शब्दो नित्य उत अनित्य' इति) शब्द नित्य है अथवा अनित्य। (तथाहि) क्योंकि (एकः) एक

[वादी-वैयाकरण] (ब्रूते) कहता है। ("शब्दो नित्यः" इति) "शब्द नित्य" है और (अपरः) दूसरा [प्रतिवादी नैयायिक] कहता है कि 'शब्द अनित्य' है। (तयोः) उन दोनों की (विप्रतिपत्त्या) विप्रतिपत्ति से (विशेषम्) विशेष [नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के निश्चय कराने वाले हेतु] को (अपश्यतः) न देख सकने वाले (मध्यस्थस्य पुंसः) मध्यस्थ पुरुष को (संशयः) संशय (भवति) हो जाता है कि (किम्) क्या (अयम्) यह (शब्दः नित्यः) शब्द नित्य है ? (उत) अथवा (अनित्यः) अनित्य ?

तृतीयोऽसाधारणधर्मदर्शनजस्तु संशयो यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रासाधारणेन गन्धवत्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वानित्यत्व संशयः। तथाहि 'सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्वेन योगाद् भूः किमनित्या, उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति संशयः।

(३) (तृतीयः) तृतीय प्रकार का (संशयः तु) संशयः तो (असाधारणधर्मदर्शनजः), असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न होता है। (यथा) जैसे—(नित्यात् अनित्यात् च) नित्य और अनित्य [दोनों प्रकार के द्रव्यों से] (व्यावृत्तेन) पृथक् रहने वाले (भूमात्रासाधारणेन) केवल पृथ्वी के असाधारण धर्म (गन्धवत्वेन) गन्धवत्व से, [नित्यत्व अथवा अनित्यत्व का निश्चय कराने वाले (विशेषम्—अपश्यतः) विशेष धर्म का दर्शन न करने वाले पुरुष को (भुवि) पृथिवी के विषय में (नित्यत्वानित्यत्वसंशयः) नित्यत्व अथवा अनित्यत्व का संशय हो जाया करता है। (तथाहि) जैसे कि [आकाश आदि] (सकलनित्यव्यावृत्तेन) सम्पूर्ण नित्य पदार्थों में न रहने वाले (गन्धवत्वेन योगाद्) गन्धवत्व [धर्म] के योग से (किम्-भू-अनित्या) क्या पृथिवी अनित्य है ? (उत) अथवा [जल, अग्नि आदि] (सकलानित्यव्यावृत्तेन) सम्पूर्ण अनित्य पदार्थों में न रहने वाले (तेन एव) उसी गन्धवत्व [धर्म] के (योगात्) योग से पृथिवी (नित्या) नित्य है' (इति संशयः) ऐसा संशय हो जाता है। [यह संशय गंधवत्वरूप असाधारणधर्म के दर्शन से हुआ करता है।]।

न्यायसूत्र १।१।२३ ["समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"] में "संशय" का वर्गीकरण तर्कभाषा में किये गये संशय के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है। न्यायसूत्र के अनुसार संशय के पाँच भेद होते हैं। तर्कभाषाकार ने केवल तीन भेदों का ही वर्णन किया है। इसमें न्यायसूत्रोक्त अन्तिम दो भेदों का उल्लेख नहीं

किया गया है क्योंकि उन दोनों का समावेश 'साधारणधर्मज' संशय में ही सम्पन्न हो जाता है।

ऊपर जो तीन प्रकार के संशय का वर्णन किया गया है उन तीनों में "विशेषादर्शने सति" पद का अन्वय होता है। विशेष का अभिप्राय है— "एक प्रकार का निश्चायक धर्म"। कहने का तात्पर्य यह है कि (१) दो पदार्थों के समानधर्म का ज्ञान हो अथवा (२) एक ही पदार्थ के विषय में विरुद्ध मतों का ज्ञान हो अथवा (३) किसी एक पदार्थ के असाधारण धर्म का ज्ञान हो; किन्तु किसी एक प्रकार के निश्चायकधर्म [विशेष] का स्मरण न हो तो 'संशय' की उत्पत्ति हो जाया करती है।

४—प्रयोजनम्

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्। तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी। तदर्थो हि प्रवृत्तिः सर्वस्य।

४—प्रयोजन-निरूपण—

न्यायोक्त षोडश पदार्थों में संशय के अनन्तर 'प्रयोजन' का स्थान आता है। अतएव अब 'प्रयोजन' का निरूपण करते हैं :—

(येन) जिससे (प्रयुक्तः) प्रयुक्त होकर मानव [किसी कार्य के करने में] (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त हुआ करता है, (तत्) वह (प्रयोजनम्) प्रयोजन कहलाता है। (च) और (तत्) वह [प्रयोजन] (सुखदुःखावाप्तिहानी) सुख की प्राप्ति और दुःख की हानि [नाश] ही है। (हि) क्योंकि (सर्वस्य) सभी की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (तदर्था) उसी के लिये होती है।

न्यायसूत्र में इस प्रयोजन का लक्षण यह किया गया है :—

"यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्" ॥१।१।२४॥

५—दृष्टान्तः

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः। स द्विविधः। एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्वस्य हेतोर्महानसम्। द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः। यथा तस्यैव हेतोर्महाह्रद इति।

५—दृष्टान्त-निरूपण—

पंचम पदार्थ 'दृष्टान्त' है जिसका न्यायसूत्र में निम्नलिखित लक्षण किया गया है :—

"लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" ॥१।१।२५॥

अर्थात् जिस अर्थ के विषय में सामान्य सांसारिक पुरुष को एक प्रकार का ज्ञान हो और दोनों ही जिसे एकरूप में स्वीकार करते हों उस अर्थ को "दृष्टान्त" कहा जाता है। इसी को तर्कभाषाकार निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत करते हैं:—

(वादिप्रतिवादिनोः) वादी और प्रतिवादी दोनों के (संप्रतिपत्तिविषयः) समान प्रतिपत्ति [अर्थात् जो दोनों को समानरूप से मान्य हो अथवा जिसके विषय में वादी तथा प्रतिवादी दोनों में मतभेद न हो ऐसा] का (विषयः) विषयभूत (अर्थः) अर्थ (दृष्टान्तः) 'दृष्टान्त' कहलाता है। (स) वह (द्विविधः) दो प्रकार का होता है। (एकः) एक (साधर्म्यदृष्टान्तः) साधर्म्यदृष्टान्त (यथा) जैसे-(धूमवत्वस्य हेतोः) धूमवत्व हेतु का [साधर्म्य दृष्टान्त] (महानसम्) महानस [रसोई] है। (द्वितीयः तु) दूसरा तो (वैधर्म्य दृष्टान्तः) वैधर्म्यदृष्टान्त है। (यथा) जैसे-(तस्य एवं हेतोः) उस ही [धूमवत्व] हेतु का (महाह्रदः इति) सरोवर [वैधर्म्य दृष्टान्त] है।

इस भाँति दृष्टान्त के दो भेद हुये (१) साधर्म्य दृष्टान्त (२) वैधर्म्य-दृष्टान्त। इनमें से प्रथम का दूसरा नाम है अन्वयीदृष्टान्त और दूसरे का दूसरा नाम है व्यतिरेकी दृष्टान्त।

६—सिद्धान्तः

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्धा—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र अधिकरण, अभ्युपगम-सिद्धान्तभेदात्। तत्र सर्वतन्त्र सिद्धान्तो यथा धर्मिमात्रसद्भावः। द्वितीयो यथा नैयायिकस्य मते मनस इन्द्रियत्वम्। तद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम्। तृतीयो यथा क्षित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्। चतुर्थो जैमिनीयस्य नित्यानित्यविचारो यथा भवतु, अस्तु, 'तावच्छब्दो गुण इति।

(६) सिद्धान्त-निरूपण—

(प्रामाणिकत्वेन) प्रामाणिक [अर्थात् प्रमाण-सिद्ध] रूप में (अभ्युपगतः) स्वीकार किया जाने वाला (अर्थः) अर्थ (सिद्धान्तः) 'सिद्धान्त' कहलाता है। (स) वह (चतुर्धा) चार प्रकार का होता है (सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण—अभ्युपगम सिद्धान्तभेदात्) (१) सर्वतन्त्र [सिद्धान्त], (२) प्रतितिन्त्र-सिद्धान्त, (३) अधिकरण-सिद्धान्त और (४) अभ्युपगम-सिद्धान्त-भेद से। (तत्र) उनमें से (सर्वतन्त्रसिद्धान्तः) (१) सर्वतन्त्रसिद्धान्त [यहाँ 'तन्त्र' शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है। जिस सिद्धान्त को सभी शास्त्र स्वीकार करते हों उसे 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' कहा जाता है।] (यथा) जैसे-(धर्मीमात्र-

सद्भावः) धर्मी (घट, पट आदि] मात्र की सत्ता को स्वीकार करना [घट, पट आदि की सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार नेत्र आदि इन्द्रियों तथा उनके विषयों को स्वीकार करने में किसी भी शास्त्र का विरोध नहीं है।] (द्वितीयः) (२) दूसरा ['प्रतितन्त्र-सिद्धान्त]'—उसे कहते हैं कि जिसकी मान्यता किसी विशेष शास्त्र में हो तथा उस शास्त्र के अपने समान शास्त्र में भी उसे स्वीकार किया जाता हो किन्तु अन्य शास्त्र जिसे न मानते हों।] (यथा) जैसे—(नैयायिकस्य मतं) नैयायिक के मत में (मनसः इन्द्रियत्वम्) मन का इन्द्रियत्व। (तत्) वह [न्यायशास्त्र के] (समानतन्त्रे) समानतन्त्र (वैशेषिके) वैशेषिक में (सिद्धम्) प्रसिद्ध है [न्यायशास्त्र में 'मन' की गणना इन्द्रियों में की गयी है। वेदान्त आदि शास्त्र मन को 'इन्द्रिय' नहीं मानते हैं। किन्तु न्याय का समानतन्त्र "वैशेषिक" शास्त्र में 'मन' को 'इन्द्रिय' कहा गया है। अतः न्यायशास्त्र में मन का इन्द्रियत्व 'प्रतितन्त्र-सिद्धान्त' है।] (३) (तृतीयः) तृतीय अथवा तीसरा ['अधिकरण-सिद्धान्त वह सिद्धान्त है कि जो अधिकरण अर्थात् आधारतभूत ऐसी बात का प्रतिपादन करता है कि जिसकी सिद्धि हो जाने पर अन्य अनेक बातें स्वयं ही सिद्ध हो जाया करती हैं।] (यथा) जैसे-(क्षित्यादिकर्तृत्व सिद्धौ) पृथिवी आदि के कर्त्ता [ईश्वर] की सिद्धि हो जाने पर (कर्त्तुः) उस कर्त्ता का (सर्वज्ञत्वम्) सर्वज्ञत्व [स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि पृथिवी आदि की रचना सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् के अतिरिक्त अन्य किसी के भी द्वारा संभव नहीं है।] (४) (चतुर्थः) चौथा [अभ्युपगम-सिद्धान्त वह सिद्धान्त है कि जिसे अपना अभिमत न होने पर भी विशेष परीक्षा के निमित्त थोड़ी देर के लिये स्वीकार कर लिया जाय।] (यथा) जैसे-(जैमिनीयस्य) मीमांसक का (नित्यानित्यविचारः) शब्द की नित्यता, अनित्यता सम्बन्धी विचार (यथाभवतु) हो सके अथवा किया जा सके, के निमित्त (अस्तु तावच्छब्दो गुणः इति) [थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाना कि] 'शब्द गुण है'। [न्याय तथा मीमांसा में शब्द की नित्यता और अनित्यता के विषय में विवाद है। मीमांसक शब्द को 'द्रव्य' मानते हैं और 'नित्य' मानते हैं किन्तु परीक्षा करने की दृष्टि से मीमांसक बिना प्रमाण के ही यह स्वीकार कर लेता है कि अच्छा, मानलिया कि 'शब्द गुण है'। थोड़ी देर के लिये मीमांसक द्वारा ऐसा स्वीकार कर लिया जाना 'अभ्युपगमसिद्धान्त' है।]

इस 'अभ्युपगम' नामक सिद्धान्त को अपनी बुद्धि के अतिशय के प्रदर्शन तथा प्रतिवादी की बुद्धि की हीनता को प्रदर्शित करने हेतु भी स्वीकार किया जाया करता है।

७—अवयवाः

अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः। प्रतिज्ञादयः पञ्च। तथा च न्यायसूत्रम्—

"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।॥ न्या० सू० १।१।३२

तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतोऽयं वह्निमानिति। तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। यथा धूमवत्वेन धूमवत्वादिति वा। सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। यथा-यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस इति। पक्षे लिङ्गोपसंहार-वचनमुपनयः। यथा वह्निव्याप्य धूमवांश्चायमिति, तथा चायमिति वा। पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा तस्मादग्निमान् इति, तस्मात्त-थेति वा। एते च प्रतिज्ञादयः पञ्चानुमानवाक्यस्यावयवा इव अवयवा, न तु समवायिकारणं, शब्दस्याकाशसमवेतत्वादिति।

(७) अवयव निरूपण—

अब क्रम प्राप्त सप्तम-पदार्थ 'अवयव' का निरूपण करते हैं:—

(अनुमानवाक्यस्य) अनुमानवाक्य के (एकदेशाः) अंश (अवयवाः) अवयव कहलाते हैं। (च) और (ते) वे (प्रतिज्ञादयः) प्रतिज्ञा आदि (पञ्च) पाँच हैं। (तथा च) जैसा कि (न्यायसूत्रम्) न्यायसूत्र में कहा भी गया है:—

(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय और (५) निगमन (अवयवाः) अवयव हैं।

(१) (तत्र) उनमें से (साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकम्) साध्य-धर्म से युक्त पक्ष का प्रतिपादन करने वाला (वचनम्) वचन (प्रतिज्ञा) कहलाता है। (यथा) जैसे (अयं पर्वतः) "यह पर्वत (वह्निमान् इति) अग्निमान है" [इसमें 'पर्वत' 'पक्ष' है, 'वह्नि' 'साध्य' है। "वह्निमान् पर्वतः" इस रूप में साध्यधर्म विशिष्ट पक्ष का प्रतिपादन करने वाला वचन होने से यह 'प्रतिज्ञा' है।] (२) (तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा) तृतीयान्त अथवा पञ्चम्यन्त (लिङ्गप्रतिपा-दकम्) लिङ्ग का प्रतिपादन करने वाला (वचनम्) वचन (हेतुः) हेतु है। (यथा) जैसे—(धूमवत्वेन धूमवत्वात् इति वा) 'धूमवत्वेन' अथवा 'धूमवत्वात्'। (३) (सव्याप्तिकम्) व्याप्ति के साथ (दृष्टान्तवचनम्) दृष्टान्त का कथन ही (उदाहरणम्) उदाहरण है (यथा) जैसे-(यः यः) जो जो (धूमवान्) धूमवान् होता है (सः) वह वह (अग्निमान्) अग्निमान होता है (यथा) जैसे-(महानसः) महानस [रसोई घर]।

(४) (पक्षे) पक्ष (पर्वत आदि) में (लिङ्गोपसंहारवचनम्) लिङ्ग का उपसंहार करने वाला वचन (उपनयः) उपनय कहलाता है। (यथा) जैसे—(वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति) यह पर्वत वह्नि के व्याप्य धूम से युक्त है, (वा) अथवा (तथा चायम्) यह [पर्वत] वैसा [महानस के समान धूमवान्] है।

(५) (पक्षे) पक्ष [पर्वत] में (साध्योपसंहारवचनम्) साध्य [वह्नि] का उपसंहार करने वाला वचन ही (निगमनम्) निगमन कहलाता है। (यथा) जैसे—(तस्मात्) इसलिये [पर्वत] अग्निमान् है। (वा) अथवा (तस्मात् तथा इति) इसलिये (पर्वत) वैसा [अग्निमान्] है।

(च) और (एते) ये (प्रतिज्ञादयः) प्रतिज्ञा आदि (पञ्च) पाँच (अनुमानवाक्यस्य) अनुमान वाक्य के (अवयवा इव) अवयव के समान [होने से गौणरूप से] (अवयवाः) अवयव [कहलाते] हैं, (समवायिकारणम् न) समवायिकारण नहीं है। (शब्दस्य) शब्द [रूप अनुमान वाक्य] के (आकाशसमवेतत्वात् इति) आकाश में समवेत होने से [आकाश ही शब्द का समवायिकारण है। प्रतिज्ञा आदि नहीं।]

वास्तव में अवयव और अवयवी दोनों में समवाय सम्बन्ध है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। अवयव अवयवी के समवायिकारण हुआ करते हैं। जैसे तन्तु पट के समवायिकारण हैं। किन्तु प्रतिज्ञा आदि पाँचो अवयव अनुमान वाक्य के इस प्रकार के अवयव नहीं है कि जिनको अनुमान-वाक्य का समवायिकारण कहा जा सके। क्योंकि वाक्य तो शब्दों से ही बना करता है और शब्द का समवायिकारण आकाश ही है। अतः शब्दरूप अनुमानवाक्य का समवायि-कारण आकाश ही होगा, प्रतिज्ञा इत्यादि अवयव नहीं। जिस प्रकार तन्तु आदि अवयव, अवयवी पट आदि के एकदेश [अंश] हुआ करते हैं उसी प्रकार ये प्रतिज्ञा आदि भी अनुमान वाक्य के एक देश हुआ करते हैं। अतः उनको भी अवयव कहा जाता है।

८—तर्कः

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत् इति।

स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः। तथाहि पर्वतोऽयं साग्निः उतानग्निः इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निरयमिति तदा तं प्रति यद्ययमनग्निरभविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्यभविष्यत् इत्यधूम-

त्वप्रसञ्जनं क्रियते । स एष प्रसङ्गस्तर्कः इत्युच्यते । अयं चानुमानस्य विषयशोधकः । प्रवर्त्तमानस्य धूमवत्त्वलिङ्गकानुमानस्य विषयमग्निमनुजानाति । अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् । अतोऽनुमानस्यभवत्यनुग्राहक इति ।

८–तर्क-निरूपण—

अब अष्टम पदार्थ "तर्क" का निरूपण करते हैं:—

(अनिष्टप्रसङ्गः) अनिष्ट प्रसङ्ग का ही नाम तर्क है (च) और (स) वह (सिद्धव्याप्तिकयोः धर्मयोः) दो व्याप्तियुक्त धर्मों में से (व्याप्याङ्गीकारेण) व्याप्य के स्वीकार करने से (अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः) अनिष्ट व्यापक की प्राप्ति होने लगना ही उसका रूप है। (यथा) जैसे (यदि) यदि (अत्र) यहाँ (घटः) घड़ा (अभविष्यत्) होना (तर्हि) तो (भूतलं इव) भूतल के समान (अद्रक्ष्यत्) दिखलाई देता । [यहाँ " जो होता है वह दिखलाई देता है" यह व्याप्ति है" इस व्याप्ति में "होना" व्याप्य है तथा 'दिखलाई देना' व्यापक है । 'यदि यहाँ घड़ा होता' इस व्याप्य को स्वीकार करके 'तो दिखलाई देता' इस अनिष्ट व्यापक की प्राप्ति होने लगना ही "तर्क" है ।

(च) और (सतर्कः) वह तर्क [स्वयं प्रमाण न होकर] (प्रमाणानाम्) प्रमाणों का (अनुग्राहकः) उपकारक है । (तथा हि) जैसे कि (अयम्) यह (पर्वतः) पर्वत (साग्निः) अग्नियुक्त है (उत) अथवा (अनग्निः) अग्नि रहित है । (इति सन्देहानन्तरम्) इस सन्देह के पश्चात् (यदि) यदि (कश्चित्) कोई मन्येत् (यह) माने अथवा कहे कि (अयं अनग्निःइति) यह अग्नि रहित है (तदा) तब (तं प्रति) उसके प्रति ("यदि अयं अनग्निः अभविष्यत्") यदि यह अग्निरहित होता (तदा) तो (अग्नित्वात्) अग्निरहित होने से (अधूमः अपि अभविष्यत्) धूमरहित भी होता है (इति) इस प्रकार (अधूमत्वप्रसञ्जनं क्रियते) [अनिष्ट] धूमरहित होने की आपत्ति [प्रसङ्ग] की जाती है । (एष स प्रसङ्गः) यह प्रसङ्ग ही (तर्कः) तर्क (इति उच्यते) कहलाता है । (च) और (अयम्) यह तर्क (अनुमानस्य) अनुमान के (विषयशोधकः) विषय का अबाधितत्व दिखलाता है । (प्रवर्त्तमानस्य) प्रवर्त्तमान (धूमत्वलिङ्गकानुमानस्य) धूमवत्वलिङ्गकअनुमान के (विषयम्) विषय [साध्य] (अग्निं अनुजानाति) अग्नि का समर्थन करता है (अनग्निमत्वस्य प्रतिक्षेपात्) अनग्निमत्व का निषेध करने से, [अर्थात् यह अग्निरहित

होने का परिहार कर देता है।] (अतः) इसीलिये (अनुमानस्य अनुग्राहकः भवति) अनुमान का अनुग्राहक अथवा उपकारक (भवति) होता है। अथवा कहा जाता है।

अत्र कश्चिदाह, 'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य।

(अत्र) इस [तर्क] के विषय में (कश्चित्) कोई (आह) कहता है कि (तर्कः) तर्क (संशये एव) संशय के अन्तर्गत ही (भवति) हो जाता है, (इति तन्न) यह ठीक नहीं है (तर्कस्य एककोटिनिश्चितविषयत्वात्) तर्क के एक कोटि में निश्चित रूप होने से [अर्थात् तर्क से उत्पन्न ज्ञान तो एक कोटिक ही हुआ करता है किन्तु संशय से उत्पन्न ज्ञान उभयकोटिक ही हुआ करता है। "स्थाणुर्वापुरुषो वा" संशय के इस उदाहरण में उसका उभयकोटिक होना स्पष्ट ही है। अतः तर्क संशय के अन्तर्गत नहीं आ सकता है अथवा तर्क का अन्तर्भाव संशय में नहीं किया जा सकता है]।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तर्क प्रमाण रूप नहीं हुआ करता है अपितु वह प्रमाणों का अनुग्राहक अथवा उपकारक ही हुआ करता है।

९—निर्णयः

निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणानां फलम्।

९—निर्णय-निरूपण—

(अवधारणज्ञानम्) निश्चयात्मक ज्ञान ही (निर्णयः) 'निर्णय' कहलाता है। (च) और (तत्) वह (प्रमाणानाम्) प्रमाणों का (फलम्) फल [होता] है।

१०—वादः

तत्वबुभुत्सोः कथा वादः। स चाष्टनिग्रहाणामधिकरणम्। ते च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकञ्च, इत्यष्टौ निग्रहाः।

१०—वाद-निरूपण—

(तत्वबुभुत्सोः) तत्वज्ञान के अभिलाषियों [वादी-प्रतिवादी] की (कथा) कथा (वादः) 'वाद' कहलाती है। (च) और (स) वह (अष्टनिग्रहाणाम्) आठ निग्रहस्थानों का (अधिकरणम्) विषय अथवा क्षेत्र है। (च) और (ते) वे (अष्टौ निग्रहाः) आठ निग्रहस्थान जो उक्त 'वाद' में लागू होते हैं— ये हैं:—(न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकञ्च) (१) न्यून (२) अधिक (३) अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास।

११—जल्पः

उभयसाधनवतीविजिगीषुकथा जल्पः। स च यथासम्भवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम्। परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च।

११—जल्प-निरूपण—

(उभयसाधनवतीविजिगीषुकथा) दोनों [वादी, प्रतिवादी दोनों के द्वारा अपने-अपने पक्ष] के साधनों से युक्त विजयेच्छुकों [वादी-प्रतिवादियों] की कथा (जल्पः) 'जल्प' कहलाती है। (च) और (स) वह (यथासम्भवम्) यथासंभव (सर्वनिग्रहाणाम्) सम्पूर्ण निग्रहस्थानों का (अधिकरणम्) अधिकरण होता है। (परपक्षे दूषिते) दूसरे के पक्ष के खण्डित हो जाने पर (स्वपक्षस्थापन-प्रयोगावसानः च) अपने पक्ष की स्थापना करने में समाप्त होने वाली [कथा] ही 'जल्प' है।

१२—वितण्डा

स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना। नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति।

कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः।

१२—वितण्डा-निरूपण—

(स्वपक्षस्थापनाहीनः) अपने पक्ष की स्थापना से रहित (स एव) वह [विजिगीषु कथारूप जल्प] ही (वितण्डा) 'वितण्डा' कहलाता है। (च) और (सा) वह [वितण्डा] (परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना) केवल परपक्ष के दूषण में समाप्त होता है। (अस्य वैतण्डिकस्य) इस वैतण्डिक का [अपना] (स्थाप्यः पक्षः न अस्ति) स्थापना किये जाने योग्य पक्ष नहीं होता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि वह अपने पक्ष का कथनकर उसकी स्थापना नहीं किया करता है। केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन करना ही अपना कर्त्तव्य समझा करता है।

(नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसंदर्भः) अनेक वक्ताओं से युक्त पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करनेवाला वाक्यसमूह (कथा) कथा कहलाता है।

जहाँ अनेक वक्ता हुआ करते हैं और उनके द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का कथन करने वाले वाक्यों का प्रयोग किया जाया करता है; इस प्रकार के विचारविनिमय हेतु किये गये संवाद को ही 'कथा' कहा जाता है। कथा में वक्ता या तो तत्वनिर्णय के इच्छुक हुआ करते हैं अथवा विजय-प्राप्ति के अभिलाषी।

वाद—तत्व-निर्णय अथवा तत्व की जिज्ञासा की दृष्टि से जो कथा की जाती है उसे 'वाद' कहा जाता है। प्रमुखरूप से यह 'वाद' गुरु तथा शिष्य के मध्य हुआ करता है अथवा वीतराग-पुरुष भी इस प्रकार का 'वाद' किया करते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य तत्वनिर्णय ही हुआ करता है। ["वादे वादे जायते तत्वबोधः"] अतएव इस 'वाद' में जो कुछ भी कहा सुना जाता है वह सब प्रमाणपूर्वक ही हुआ करता है। इसमें किसी की बौद्धिक प्रबलता अथवा दुर्बलता को प्रदर्शित करने की तनिक भी भावना नहीं हुआ करती है। फिर भी पाँच अवयवों से युक्त वाक्य का प्रयोग तथा सद् हेतु का प्रयोग तो तत्वनिर्णय के लिये आवश्यक है ही। अतएव 'वाद' में केवल उन्हीं निग्रह स्थानों का उद्भावन किया जाता है जिनके कारण तत्व का निर्णय करने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हुआ करती है। ये निग्रहस्थान आठ हैं—(१) न्यून (२) अधिक (३) अपसिद्धान्त और (४-८) पाँच हेत्वाभास।

जल्प—विजय की इच्छा से जो कथा की जाती है तथा जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष-दोनों ही पक्षों का साधन किया जाता है उसे "जल्प" कहा जाता है। चूँकि इस कथा का उद्देश्य विरोधी पर विजय प्राप्त करना होता है, अतएव इसमें प्रमाण, प्रमाणाभास, तर्क, तर्काभास-सभी का प्रयोग किया जाता है। प्रतिवादी को मूक करने हेतु अथवा उसे पराजित करने के अभिप्राय से सभ्य प्रकार के सभी संभव साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। इस 'जल्प' नामक कथा में प्रायः सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन हुआ करता है। प्रतिवादी पक्ष का खण्डन कर अपने पक्ष की स्थापना करने में ही इस कथा की समाप्ति हुआ करती है।

वितण्डा—यह भी एक प्रकार की ऐसी कथा है कि जिसमें पक्ष की स्थापना तो की ही नहीं जाती है, केवल प्रतिवादी-पक्ष का खण्डन ही किया जाता है। यह कथा भी 'जल्प' जैसी ही हुआ करती है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि जल्प में तो परपक्ष का खण्डन कर अपने पक्ष की स्थापना भी की जाती है किन्तु वितण्डा में एकमात्र पर पक्ष का खण्डन ही किया जाता है, स्वपक्ष की स्थापना नहीं।

यद्यपि वाद, जल्प तथा वितण्डा—ये तीनों ही 'कथा' कहलाती हैं किन्तु इन तीनों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर निम्नलिखित है :—

ऊपर जिन वाद, जल्प और वितण्डा-इन तीन की चर्चा की गयी है उन तीनों का सामान्य नाम "कथा" ही है। इन तीनों में "वाद" तो तत्वनिर्णय का साधन है। शेष दोनों का भी तत्वज्ञान की रक्षा के लिये उपयोग आवश्यक

है। इस भाँति इन तीनों का प्रमाणसिद्ध सुपरीक्षित सिद्धान्त की रक्षणार्थ उपयोग आवश्यक ही है।

वाद	जल्प	वितण्डा
(१) 'वाद' तत्व-जिज्ञासुओं की कथा है। (२) इसकी समाप्ति तत्व-निर्णय में ही हुआ करती है।	(१) 'जल्प' विजिगीषु-जनों की कथा है। (२) इसमें 'तत्व-निर्णय' की प्रमुखता नहीं हुआ करती है। वादी तथा प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष की सिद्धि में ही संलग्न रहा करते हैं तथा विजय की इच्छा ही प्रमुख हुआ करती है।	(१) 'वितण्डा' भी विजिगीषु-कथा ही है। (२) इसका 'तत्व-निर्णय' से कोई संबन्ध नहीं हुआ करता है। अपना कुछ भी पक्ष नहीं हुआ करता है। परपक्ष का खण्डन करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य हुआ करता है।
(३) इसमें केवल आठ निग्रहस्थानों का ही प्रदर्शन हुआ करता है।	(३) इसमें प्रायः सभी निग्रहस्थानों का प्रदर्शन किया जाता है।	(३) इसमें भी प्रायः सभी निग्रहस्थानों का प्रदर्शन किया जाता है।

इस "कथा" के उपर्युक्त तीनों रूपों के वर्णन के अनन्तर क्रम प्राप्त होने से हेत्वाभासों का दुबारा वर्णन किया जाता है। पहले अनुमान-प्रमाण के विवेचन में भी हेत्वाभासों का वर्णन किया जा चुका है किन्तु यहाँ क्रम-प्राप्त होने के कारण उनका पुनः वर्णन किया जा रहा है। किन्तु हेत्वाभासों का यह दुबारा वर्णन केवल पुनरुक्ति-मात्र नहीं है। इसमें कुछ अन्य विशेष ज्ञातव्य बातों का भी समावेश किया गया है:—

१३—हेत्वाभासाः

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट-भेदात् पञ्चैव।

१३—हेत्वाभास-निरूपण—

(उक्तानाम्) [अनुमान-प्रकरण में] कथित [पक्षधर्मत्वादिरूपाणाम्] पक्षधर्मत्व आदि [१—पक्षसत्व, २—सपक्षसत्व, ३—विपक्षव्यावृतत्व ४—अबाधितविषयत्व और ५-असत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच] रूपों के (मध्ये) मध्य में से [अथवा इन पाँचों में से] (येन केनापि रूपेण) किसी एक रूप से भी (हीनाः) हीन होने से हेतु (अहेतवः) अहेतु कहलाते हैं। (ते अपि) वे अहेतु भी (कतिपयहेतुरूपयोगात् हेतु के कतिपय रूपों के योग से (हेतुवत्) हेतु के समान (आभासमाना) आभासित होने से (हेत्वाभासाः) 'हेत्वाभास' कहलाते हैं। (च) और (ते) वे [हेत्वाभास] प्रसिद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट भेद से (पञ्च एव) पाँच ही होते हैं।

अत्रोदयनेन 'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धिलक्षणमुक्तम्। तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि सम्भवतीति साङ्कर्यं प्रतीयते। तथापि यथा न साङ्कर्यं तथोच्यते। यो हि साधने पुरः परिस्फुरति समर्थश्चदुष्टज्ञप्तौ स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत् नान्य इति। तेनैव पुरावस्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात्। तथा च सति यत्र विरोधः साध्यविपर्ययव्याप्त्याख्यः दुष्टज्ञप्तिकारकः स एव विरुद्धो हेत्वाभासः। एवं यत्र व्यभिचारादयस्तथाभूतास्तेऽनैकान्तिकादयस्त्रयः। ये पुनर्व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञप्त्यभावेन पूर्वोक्ता असिद्ध्यादयो दुष्टज्ञप्तिकारकाः, दूषणानीति यावत्। तथाभूतः सोऽसिद्धिः।

(अत्र) इनमें से [असिद्ध नामक प्रथम हेत्वाभास की व्याख्या करते समय 'न्यायवार्तिक-परिशुद्धि' के लेखक] (उदयनेन) उदयनाचार्य ने (व्याप्तस्यहेतोः पक्षधर्मतया) व्याप्ति से युक्त हेतु की पक्षधर्मता के रूप में (प्रतीतिः) प्रतीति होना ही (सिद्धिः) सिद्धि कहलाती है। (तदभावः) उसका अभाव ही (असिद्धिः) असिद्धि है (इति असिद्धिलक्षणम्—उक्तम्) यह 'असिद्धि' का लक्षण कहा है। (च) और (यद्यपि) यद्यपि (तत्) यह [असिद्धि का] लक्षण (विरुद्ध-आदिषु-अपि) विरुद्ध आदि [अन्य हेत्वाभासों] में भी (सम्भवति) संभव हो सकता है, (इति साङ्कर्यं प्रतीयते) अतः साङ्कर्य [दोष] की प्रतीति होती है। (तथापि) फिर भी (यथा साङ्कर्यं न) जिस प्रकार साङ्कर्य [दोष] न आ सके (तथा उच्यते) इस प्रकार की [उसकी व्याख्या] कहते हैं। (यः) जो [दूषण अथवा दोष] (साधने) साधन अथवा हेतु में (पुरः) प्रथमतः [पहले] (परिस्फुरति)

प्रतीत होता है (च) और (दुष्टज्ञप्तौ) [उस हेतु की] दुष्टता का ज्ञान कराने में (समर्थः) समर्थ होता है (स एव) वही [उस हेतु की] (दुष्टज्ञप्तिकारकः) दुष्टता का सूचक अथवा ज्ञापक (दूषणम् इति) दोष होता है (अन्यः न) [बाद में प्रतीत होने वाला] अन्य [दोष] नहीं [होता क्योंकि] (तेन एव) उस ही (पुरावस्फूर्तिकेन) प्रथम प्रतीत होने वाले दोष से (दुष्टौ ज्ञापितायाम्) [हेतु के] दोष का ज्ञान करादिये जाने पर [वादी अथवा प्रतिवादी के निग्रहस्थान में आ जाने से] (कथापर्यवसाने) कथा की [जय-पराजय रूप में] समाप्ति (जाते) हो जाने से (तदुपजीविनः) उसके आश्रित रहने [तथा बाद में प्रतीत होने] वाले (अन्यस्य) अन्य [दोष] का (अनुपयोगात्) [कोई] उपयोग न होने से [उस वाद में प्रतीत होने वाले का कोई मूल्य नहीं हुआ करता है।]। (च) और (तथा सति) ऐसा होने अथवा मानने पर (यत्र) जहाँ (साध्यविपर्यय-व्याप्त्याख्यः) साध्यविपर्यय [साध्याभाव] के साथ व्याप्ति होना नामक विरोध [दोष पहले प्रतीत होने से] (दुष्टज्ञप्तिकारकः) दुष्टता का ज्ञान कराता है (स एव) वही (विरुद्धः हेत्वाभासः) विरुद्ध नाम का हेत्वाभास होता है [विरोध के अनन्तर वहाँ 'असिद्ध' का लक्षण क्यों न प्रतीत हो किन्तु अत्र उसका कोई उपयोग नहीं होता। ऐसी स्थिति में वहाँ केवल 'विरुद्ध हेत्वाभास' ही व्यवहार होगा, 'असिद्ध हेत्वाभास' व्यवहार नहीं होगा। अतएव 'असिद्ध' तथा 'विरुद्ध' का सङ्कर होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।]।

(एवम्) इसी प्रकार (यत्र) जहाँ (व्यभिचारादयः) व्यभिचार आदि दोष (तथा भूताः) वैसे [अर्थात् प्रथम प्रतीत होकर हेतु की दुष्टता के ज्ञापक] हैं (ते) वे (अनैकान्तिकादयः त्रयः) अनैकान्तिक आदि तीन [हेत्वाभास होंगे। वहाँ भी बाद में 'असिद्ध' का लक्षण स्फुरित होने पर भी 'असिद्ध' हेत्वाभास सम्बन्धी व्यवहार नहीं होगा। अतः वहाँ भी साङ्कर्य का सन्देह नहीं किया जा सकता है।]। (पुनः) और फिर (व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञप्त्यभावेन) व्याप्ति और पक्ष-धर्मताविशिष्ट हेतु के स्वरूप का ज्ञापक न होने से (पूर्वोक्ताः) पूर्वोक्त (असिद्धयादयः) असिद्ध आदि (दुष्टज्ञप्तिकारकाः) हेतु की दुष्टता का ज्ञान कराने वाले (दूषणानि इति यावत्) अर्थात् दोष होते हैं। (तथाभूतः) इस प्रकार का (स) वह [दोष] (असिद्धः) असिद्ध हेत्वाभास ही है।

जिससे हेतु में दुष्टता का ज्ञान हो उसे दोष अथवा दूषण कहा जाता है। अतः हेतु में जो सर्वप्रथम ज्ञात हो तथा दुष्टता के ज्ञापन में भी समर्थ हो, उसी

को दोष कहा जायगा। वाद में प्रतीत होने वाला दोष दुष्टता के ज्ञापन में उपयुक्त नहीं हुआ करते हैं। अतएव वह दोष भी नहीं हुआ करता है। क्योंकि जिसकी प्रतीति पहले हुआ करती है उसी से दुष्टता का ज्ञान हो जाने से कथा की पूर्ति हो जाया करती है, जय-पराजय का निर्णय भी हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में वाद में प्रतीत होने वाले दोष की कुछ भी उपयोगिता नहीं रह जाती है। अतः जो दोष जहाँ वाद में—एक दोष के ज्ञान के पश्चात् ज्ञात होता है, वह अन्यत्र भले ही दोष हो किन्तु वहाँ पर दोष नहीं हुआ करता है।

उपर्युक्त स्थिति में जहाँ पहले साध्याभावव्याप्तिरूप विरोध का ज्ञान होकर हेतु में दुष्टता की प्रतीति होगी वहाँ 'विरोध' ही दोष माना जायगा। किन्तु वाद में व्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षधर्मत्व के सि सिद्ध्यभावरूप असिद्धि की उपस्थिति होने पर भी उसकी कोई उपयोगिता ही न रह जायगी। अतः उसे दोष भी न माना जायगा। इस ही भाँति जहाँ व्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाध पहले ज्ञात होकर पहले ही हेतु की दुष्टता का ज्ञापन कर देंगे वहाँ व्यभिचार आदि दोषों को ही माना जायगा। असिद्धि और विरोध यदि बाद में उपस्थित होते हैं तो वे दुष्टता के ज्ञापन में सर्वथा अनुपयोगी ही होंगे और उन्हें दोष नहीं माना जायगा। किन्तु जहाँ पर व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट हेतु की सिद्धि न होने से असिद्धि द्वारा ही हेतु में दुष्टता की प्रतीति होगी वहाँ 'असिद्धि' नामक दोष ही होगा, अन्य कोई दोष नहीं होगा। इस भाँति विचार करने पर कहीं भी किसी भी दोष में किसी अन्य दोष का साङ्कर्य नहीं हो सकेगा।

स च त्रिविधः। आश्रयासिद्ध-स्वरूपासिद्धौ—व्याप्यत्वासिद्ध-भेदात्। तत्र यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः। यथा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव।

अयमप्याश्रयासिद्धः। तथाहि "घटोऽनित्यः कार्यत्वात् पटवत्' इति। नन्वाश्रयस्य घटादेः सत्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः, सिद्धसाधकस्तु स्यात्, सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात्।

(च) और (स) वह [असिद्ध हेत्वाभास] (त्रिविधः) तीन प्रकार का होता है १—आश्रयासिद्ध २—स्वरूपासिद्ध तथा ३—व्याप्यत्वासिद्धभेद से। (तत्र) उनमें से (यस्य हेतोः) जिस हेतु का (आश्रयः) आश्रय [पक्ष] (न अवगम्यते) ही प्रतीति न होता हो (स) वह (आश्रयासिद्धः) 'आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' कहलाता है। (यथा-) जैसे—(गगनारविन्दम्)

आकाशकमल (सुरभि) सुगन्धित है (अरविन्दत्वात्) कमल होने से, (सरोजारविन्दवत्) तालाब में उत्पन्न हुये कमल के समान। (अत्र) यहाँ (गगनारविन्दम्) आकाशकमल ही (आश्रयः) आश्रय [अर्थात् पक्ष] है (च) और (स) वह [वस्तुतः] (नास्ति एव) है ही नहीं। [अतः "अरविन्दत्वात्" यह हेतु 'आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' है।]।

(अयम्-अपि) यह भी (आश्रयासिद्धः) आश्रयासिद्ध है। (तथा हि) जैसे— "(घटः अनित्यः) घड़ा अनित्य है (कार्यत्वात्) कार्य होने से (पटवत्) पट के समान"।

[प्रश्न—] यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँ (आश्रयस्य घट-आदेः) आश्रयभूत घट आदि के (सत्वात्) विद्यमान होने से [उक्त अनुमान में प्रयुक्त] ('कार्यत्वात्' इति हेतु) 'कार्यत्वात्' यह हेतु (न आश्रयासिद्धः) आश्रयासिद्ध नहीं हो सकता है। इसे (सिद्धसाधकः तु स्यात्) सिद्ध का साधक तो कहा जा सकता है (सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य) पहले से ही सिद्ध घट के अनित्यत्व का (साधनात्) साधक होने से। [अतः आप इस 'कार्यत्वात्' हेतु को 'आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' क्यों कहते हैं ?

मैवम्। न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किन्तु संदिग्धधर्मवत्वेन। तथा चोक्तं भाष्ये—

"नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपितु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते"।

न च घटेऽनित्यत्वसन्देहोऽस्ति। अनित्यत्वस्य निश्चितत्वात्। तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसन्देहाभावान्नासावाश्रय इत्याश्रयासिद्धत्वादहेतुः।

स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते। यथा 'सामान्यमनित्यं कृतकत्वात्' इति। कृतकत्वं हि हेतुराश्रये सामान्ये नास्त्येव।

[उत्तर—] (एवम् मा) ऐसा कहना ठीक नहीं है [कि 'उक्त अनुमान में 'कार्यत्वात्' हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है। क्योंकि—] (कश्चित्) कोई [घट आदि] वस्तु (स्वरूपेण) स्वरूप से ही (अनुमानस्य) अनुमान का (आश्रयः) आश्रय [अर्थात् पक्ष] (न भवति) नहीं हुआ करता है (किन्तु) किन्तु (सन्दिग्धधर्मवत्वेन) ['सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' इस लक्षण के आधार पर] सन्दिग्धधर्म का आश्रय होने से ही [अनुमान का आश्रय अथवा पक्ष बना करता है] (तथा च) जैसा कि (भाष्ये) वात्स्यायन भाष्य में (उक्तम्) कहा भी है कि:—

[सर्वथा] (अनुपलब्धे अर्थे) अज्ञात अर्थ अथवा [सर्वथा] (निर्णीते अर्थे) निश्चित [ज्ञात] अर्थ में (न्यायः) न्याय अर्थात् अनुमान (न प्रवर्त्तते) की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है (अपितु) किन्तु (संदिग्धे अर्थे) सन्दिग्ध अर्थ में ही (न्यायः प्रवर्तते) न्याय अर्थात् अनुमान की प्रवृत्ति हुआ करती है। [अतः घट भी 'सन्दिग्ध साध्यवान्' होने पर ही अनुमान का आश्रय अथवा पक्ष बन सकता है।]।

[किन्तु] (घटे) घड़े में तो (अनित्यत्व सन्देहः न अस्ति) अनित्यत्व का सन्देह नहीं है, (अनित्यत्वस्य) अनित्यत्व (निश्चितत्वात्) का निश्चय होने से। (तेन) इसलिये (यद्यपि) यद्यपि (स्वरूपेण) स्वरूप से (घटः विद्यते) घड़ा विद्यमान है (तथापि) फिर भी (अनित्यत्वसन्देहाभावात्) अनित्यत्व का सन्देह न होने से (असौ) वह [सन्दिग्ध साध्यवान् न होने से] (आश्रयः न) आश्रय [पक्ष] नहीं है। (इति) ऐसी स्थिति में ['कार्यत्वात्' हेतु] (आश्रयासिद्धत्वात्) 'आश्रयासिद्ध' होने से (अहेतुः) हेत्वाभास है [घट में अनित्यता विषयक सन्देह नहीं है। अतः वह उपर्युक्त अनुमान का आश्रय नहीं हो सकता। इस प्रकार आश्रय [पक्ष] के असिद्ध होने से यह आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास ही है।]।

(स्वरूपासिद्धः) स्वरूपासिद्ध [हेत्वाभास] (तु) तो (स) वह (उच्यते) कहलाता है कि (यः) जो (हेतुः) हेतु [अपने] (आश्रये) आश्रय में (न अवगम्यते) नहीं पाया जाता है। (यथा) जैसे—(सामान्यं अनित्यम्) सामान्य [घटत्व आदि जाति] अनित्य है, (कृतकत्वात्) कृतक अर्थात् जन्य होने से। [इस अनुमान में] (कृतकत्वं हेतुः) कृतकत्व हेतु (आश्रये) आश्रय [पक्ष) (सामान्ये) सामान्य में (नास्ति एव) नहीं है क्योंकि सामान्य तो कृतक अर्थात् जन्य नहीं है। वह तो नित्य है। अतः यहाँ 'कृतकत्व' हेतु स्वरूपासिद्ध ही है।

भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव । यथा 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवः नित्या गन्धवत्वात्' इति। इति गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु नास्ति, पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्। अतएव भागे स्वरूपासिद्धः।

तथा विशेषणासिद्ध—विशेष्यासिद्ध—असमर्थविशेषणासिद्ध-असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्धभेदाः । तत्र विशेषणासिद्धो यथा—'शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्'। अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वमात्रम्। शब्दे च द्रव्यत्वं विशेषणं नास्ति गुणत्वात्, अतो विशेषणासिद्धः। न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति।

विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। यथा दण्डमात्राऽभावे पुरुषाऽभावे वा दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः। तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्।

(भागासिद्धः अपि) भागासिद्ध भी (स्वरूपासिद्ध एव) स्वरूपासिद्ध ही है। (यथा—) जैसे—"(पृथिव्यादयः चत्वारः परमाणवः) पृथिवी आदि चार [के] परमाणु (नित्याः) नित्य हैं, (गन्धवत्वात) गन्धयुक्त होने से।" यहाँ (गन्धवत्वम्) गन्धवत्व [पक्षीकृतेषु] पक्ष बनाये हुये [पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इन चार के परमाणु] (सर्वेषु) सभी में (नास्ति) नहीं है, (पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्) केवल पृथिवी में रहने वाला होने से। (अतएव) अतएव [पक्षरूप में विद्यमान चार परमाणुओं के] (भागे) भाग [अर्थात् पृथिवी को छोड़कर शेष तीन के परमाणुओं] में [विद्यमान न होने से] (स्वरूपासिद्धः) स्वरूपासिद्ध है।

(तथा) ऐसे ही १—विशेषणासिद्ध २—विशेष्यासिद्ध ३ असमर्थविशेषणासिद्ध और ४ असमर्थविशेष्यासिद्ध (आदयः) आदि [भी] (स्वरूपासिद्धभेदाः) स्वरूपासिद्ध के भेद हैं। (तत्र) उनमें से (विशेषणासिद्धः) विशेषणासिद्ध (यथा) जैसे—(शब्दो नित्यः) 'शब्द नित्य है (द्रव्यत्वे सति अस्पर्शत्वात्) द्रव्य होकर स्पर्श रहित होने से'। (अत्र) यहाँ (द्रव्यत्वविशिष्टं अस्पर्शत्वं हेतुः) द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व हेतु है, (न अस्पर्शत्वमात्रम्) केवल अस्पर्शत्वमात्र नहीं। (च) और (शब्दे) शब्द में (द्रव्यत्वम्-विशेषणम्) विशेषणभूत द्रव्यत्व (नास्ति) नहीं है (गुणत्वात्) [शब्द के] गुण होने से। (अतः) इसलिये ["विशेषणाभावे विशिष्टस्य अपि अभावः" इस नियम के अनुसार द्रव्यत्वरूप विशेषण के अभाव में 'द्रव्यत्वे सति अस्पर्शत्वात्" यह विशिष्ट हेतु भी नहीं है।] (विशेषणासिद्धः) 'विशेषणासिद्ध' है। (असति विशेषण द्रव्यत्वे) विशेषण 'द्रव्यत्व' के न होने पर (तद्विशिष्टं अस्पर्शत्वम्) उस द्रव्यत्व से विशिष्ट अस्पर्शत्व [रूप विशिष्ट हेतु भी] (न अस्ति) नहीं है। (विशेषणाभावे) विशेषण के अभाव में (विशिष्टस्यापि अभावात्) विशिष्ट का अभाव होने से। (यथा) जैसे—["दण्डीपुरुषः" इस प्रतीति में विशेषणरूप में विद्यमान] (दण्डमात्राभावे) दण्डमात्र के अभाव में अथवा [विशेष्यरूप में विद्यमान] पुरुष के अभाव में [अर्थात् केवल दण्ड अथवा केवल पुरुष के ही होने पर] (दण्डविशिष्टस्यपुरुषस्य अभावः) दण्ड विशिष्ट-पुरुष का अभाव होता है। (तेन) इसलिये [शब्द में] (अस्पर्शत्वे सति अपि) अस्पर्शत्व [स्पर्शरहितता] के होने पर

भी (द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोः) द्रव्यत्वविशिष्ट [अस्पर्शत्वरूप] हेतु के (अभावात्) न होने से (स्वरूपासिद्धत्वम्) स्वरूपासिद्धत्व है अर्थात् स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही है ।

विशेष्यासिद्धो यथा 'शब्दोनित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्' इति । अत्रापि विशिष्टो हेतुः । न च विशेष्याऽभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति । विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव ।

असमर्थविशेषणासिद्धो यथा, 'शब्दो नित्योगुणत्वे सत्यकारणकत्वात् । अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य न किञ्चित् सामर्थ्यमस्तीति । विशेष्यस्याकारणकत्वस्यैव नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात् । अतोऽसमर्थविशेषणता । स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् ।

(विशेष्यासिद्धः) विशेष्यासिद्ध—(यथा) जैसे—[उपर्युक्त उदाहरण को ही उल्टा कर देने से] (शब्दों नित्यः) शब्द नित्य है (अस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्) स्पर्श रहित [होकर] द्रव्य होने से । (अत्रापि) यहाँ भी (विशिष्टो हेतुः) [अस्पर्शत्व से] विशिष्ट [द्रव्यत्व] हेतु है । [शब्द में विशेषणरूप अस्पर्शत्व तो है किन्तु विशेष्यरूप द्रव्यत्व नहीं है क्योंकि शब्द द्रव्य न होकर गुण ही है । अतः] (विशेष्याऽभावे) विशेष्य के अभाव में (विशिष्टं स्वरूपम्) विशिष्ट स्वरूप (न अस्ति) नहीं होता है । (च) और विशिष्ट हेतु [आश्रयभूत शब्द में] नहीं है । [अतः विशेष्यासिद्ध भी स्वरूपासिद्ध ही है ।]

('असमर्थ विशेषणासिद्धः') असमर्थविशेषणासिद्ध (यथा) जैसे-(शब्दोनित्यः) शब्द नित्य है (गुणत्वे सति अकारणकत्वात्) गुण होकर कारण रहित होने से । (अत्र) यहाँ अर्थात् इस अनुमान में [नित्यत्व की सिद्धि में] (विशेषणस्य गुणत्वस्य) विशेषण 'गुणत्व' की (किञ्चित् सामर्थ्यं न अस्ति) कुछ भी सामर्थ्य अथवा उपयोगिता नहीं है । (विशेष्यस्य) विशेष्य रूप (अकारणकत्वस्य एव) अकारणकत्व का ही (नित्यत्वसाधने) नित्यत्व सिद्धि में (सामर्थ्यात्) सामर्थ्य होने से । [कहने का तात्पर्य यह है कि नित्यत्व की सिद्धि के लिये 'अकारणकत्व' हेतु ही पर्याप्त है । जो कारण रहित होता है अथवा जिसका कोई कारण नहीं हुआ करता है वह नित्य कहलाता है, चाहे वह द्रव्य हो अथवा गुण । नित्यत्व की सिद्धि में गुणत्व अथवा द्रव्यत्व का कोई उपयोग नहीं है ।] (अतएव) अतः (असमर्थविशेषणता) 'असमर्थविशेषणता' है । (विशेषणाभावे विशिष्टस्य अपि अभावात) विशेषण के अभाव में विशिष्ट का भी अभाव हुआ करता है, अतएव (स्वरूपासिद्धत्वम्) यहाँ [उस असमर्थ विशेषण का] 'स्वरूपासिद्धत्व' ही है ।

ननु विशेषणं गुणत्वं तत्र शब्दे अस्त्येव, तत्कथं विशेषणाभावः ?

सत्यमस्त्येव गुणत्वं किन्तु न तद्विशेषणम्। तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत्। गुणत्वं तु निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव।

असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः। तथा हि, 'शब्दो नित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वात्' इति। अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव नित्यत्वसाधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम्। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे विशिष्टाभावाद्, विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात्। शेषं पूर्ववत्।

[प्रश्न–] (गुणत्वं विशेषणम्) यहाँ गुणत्व ही विशेषण है और वह (शब्दे अस्ति एव) शब्द में है ही। (तत्) तो फिर (विशेषणाभावः) विशेषण का अभाव (कथम्) कैसे है ?

[उत्तर—] (सत्यम्) ठीक है कि [शब्द में] (गुणत्वं अस्ति एव) गुणत्व तो है ही (किन्तु) किन्तु (तत् विशेषणं न) वह विशेषण नहीं है। (तदेव हि हेतोः विशेषणम्) हेतु का विशेषण वही (भवति) हुआ करता है (यत्) कि जो (अन्यव्यवच्छेदेन) अन्य का व्यावर्त्तक [व्यवच्छेदक] और (प्रयोजनवत्) प्रयोजन युक्त हो। [इस अनुमान में] (गुणत्वं तु निष्प्रयोजनम्) गुणत्व तो प्रयोजनरहित ही है। (अतः) इसलिये (असमर्थम्) सामर्थ्यहीन है (इति उक्तं एव यह बात अभी कह ही चुके हैं। [शब्द के नित्यत्व की सिद्धि में अकारणकत्व की ही उपयोगिता है। गुणत्व की कोई उपयोगिता न होने से वह व्यर्थ ही है। यह अभी कहा भी जा चुका है।]

(असमर्थविशेष्यः) असमर्थविशेष्यासिद्ध (यथा) जैसे–(तत्रैव) उस अनुमान में ही (तद्वैपरीत्येन प्रयोगः) उसका उलटा प्रयोग करने से। (तथा हि) जैसे कि–(शब्दो नित्यः) शब्द नित्य है (अकारणकत्वे सति गुणत्वात्) कारणरहित गुण होने से। (अत्र) यहाँ (तु) तो (नित्यत्वसाधने) नित्यत्व की सिद्धि में (विशेषणमात्रस्य एव) विशेषणमात्र [अकारणकत्व] का ही (सामर्थ्यत्वात्) सामर्थ्य होने से (विशेष्यम्) विशेष्य ['गुणत्वे सति' यह भाग] (असमर्थम्) असमर्थ है। [यद्यपि विशेष्यरूप में विद्यमान गुणत्व 'शब्द' में है किन्तु जो अन्य से व्यावर्त्तक तथा सप्रयोजन होता है वही विशेष्य होता है। स्वरूपतः शब्द में रहने पर भी 'गुणत्व' नित्यत्व की सिद्धि में उपयोगी न होने से 'विशेष्य' नहीं कहा जा सकता है। इसलिये] (विशेष्याभावे विशिष्टाभावात्) विशेष्य के अभाव में विशिष्ट का भी अभाव होने से (च) और

(विशिष्टस्य) विशिष्ट के (हेतुत्वेन उपादानात्) हेतुरूप में गृहीत होने से (स्वरूपासिद्धत्वम्) स्वरूपासिद्ध ही है। (शेषं पूर्ववत्) शेष पहले [असमर्थ विशेषण] के समान है।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते। स द्विविधः। एकः साध्येनासहचरितः, अपरस्तु सोपाधिक साध्यसम्बन्धी। तत्र प्रथमो यथा—'यत्सत तत् क्षणिकं यथा जलधरः, संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः' इति। अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः—न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति।

इदानींमुपाधिसहितः व्याप्यत्वासिद्धः प्रदर्श्यते। तद्यथा 'सश्यामो मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्, इति। अत्र हि मैत्री-तनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते। नच मैत्रीतनयश्यामत्वे प्रयोजकम्, किन्तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधि रुच्यते। अतो।

(व्याप्यत्वासिद्धः) व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास (तु) तो (स एव) वह ही है कि (यत्र) जहाँ (हेतोः) हेतु की (व्याप्तिः) व्याप्ति (नावगम्यते) प्रतीत नहीं हुआ करती है। [सः] वह [द्विविधः] दो प्रकार का होता है। (एकः) एक [साध्येनासहचरितः] साध्य के साथ सहचार न रखने वाला [अर्थात् व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध] और [अपरः तु] दूसरा तो [सोपाधिक साध्यसम्बन्धी] सोपाधिक साध्यसम्बन्धी [अर्थात् उपाधि-सद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध]। [तत्र] उसमें [प्रथम] पहला [यथा] जैसे— ['यत्सत् तत् क्षणिकम्"] "जो सत् है वह क्षणिक है' [यथा] जैसे [जलधरः] मेघसमूह; [च] और [विवादास्पदीभूतः शब्द आदिः सत्] विवाद का विषय शब्द आदि भी सत् है।" (अत्र) यहाँ (शब्द आदि पक्षः) शब्द आदि पक्ष है, [तस्य] उसका [क्षणिकत्वम्] क्षणिकत्व (साध्यम्) साध्य है, [सत्त्वम् हेतुः] सत्व हेतु है। [च] और [अस्य हेतोः] इस हेतु की (क्षणिकत्वेन सह] क्षणिकत्व के साथ [व्याप्तौ] व्याप्ति में [प्रमाणं न अस्ति] कोई प्रमाण नहीं है। [अतः यह व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध है।]

मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वेन सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एवोपाधिः।

यथा वाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। अतएवोपाधिसम्बन्धाद् व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः।

तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः। यथा क्रत्वन्तरवर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत् इति। न च हिंसात्वमधर्मे प्रयो-

जकं किन्तु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्धोऽयं हिंसात्वं हेतुः।

(इदानीम्) अत्र (उपाधि सहितः) सोपाधिक (व्यापत्वासिद्धः) व्याप्यत्वासिद्ध (प्रदर्श्यंते) को दिखलाते हैं (यथा) जैसे—(स श्यामः) वह श्याम है (मैत्रीतनयत्वात्) मैत्री का पुत्र होने से (परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्) दिखलाई पड़ने वाले मैत्री के पुत्रों के समुदाय के समान । (अत्र) यहाँ (मैत्रीतनयत्वेन) मैत्रीतनयत्व [मैत्री का पुत्र होना) के द्वारा (श्यामत्वम्) श्यामत्व की (साध्यते) सिद्धि की जा रही है। किन्तु (मैत्रीतनयत्वम्) मैत्रीतनयत्व तो (श्यामत्वे प्रयोजकं न) श्यामत्व में निमित्त [प्रयोजक] नहीं है (किन्तु) किन्तु (शाकाद्यन्नपरिणाम एव अत्र प्रयोजकः) शाकादि खाद्य-पदार्थ [अन्न] का परिपाक ही यहाँ [श्यामत्व में] प्रयोजक है। (च) और (प्रयोजकः) प्रयोजक को ही (उपाधिः) उपाधि (उच्यते) कहा जाता है। (अतः) इसलिये (मैत्रीतनयत्वेन) मैत्रीतनयत्व के (श्यामत्वेन) श्यामत्व के साथ (सम्बन्धे) सम्बन्ध में [व्याप्ति अथवा साध्य-साधक-भाव सम्बन्ध [मानने] में (शाकाद्यन्नपरिणाम एव) शाक आदि खाद्य पदार्थों का परिपाक ही (उपाधिः) उपाधि है। [अतः] वह उपाधिसद्भावाद व्याप्यत्वासिद्ध है।

(वा) अथवा (यथा) जिस प्रकार कि (अग्नेः धूमसम्बन्धे) अग्नि के धूम के साथ [व्याप्ति] सम्बन्ध [यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः] में (आर्द्रेन्धनसंयोगः) आर्द्र इन्धनसंयोग [उपाधि] है। [इसी भाँति 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु में भी (अतएव) इसलिये (उपाधिसम्बन्धात्) उपाधि के सम्बन्ध से अथवा सद्भाव होने से (व्याप्तिः) व्याप्ति (नास्ति) नहीं है। (इति) इस प्रकार (अयं मैत्रीनतयत्व-आदि हेतुः) यह मैत्रीतनयत्व आदि हेतु (व्याप्यत्वासिद्धः) व्याप्यत्वासिद्ध हो है।

(तथा) इसी प्रकार (परः अपि) अन्य भी (व्याप्यत्वासिद्धः) 'उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध के उदाहरण हैं। [यह एक तीसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।] (यथा) जैसे (क्रत्वन्तरवर्तिनी) " यज्ञ के अन्तर्गत की गयी (हिंसा) हिंसा (अधर्मसाधनम् ; अधर्म का साधन है अथवा अधर्मजनिका है, (हिंसात्वात्) हिंसा होने से (क्रतुबाह्यहिंसावत्) यज्ञ के बाहर की गयी हिंसा के समान।" [इस अनुमान वाक्य में 'हिंसात्व' हेतु है तथा उससे अधर्मजनकत्व साध्य है और किन्तु] (अधर्मे हिंसात्वं प्रयोजकं न) हिंसात्व अधर्मजनकत्व का प्रयोजक [निमित्त अथवा कारण] नहीं है (किन्तु निषि-

द्धत्वं उपाधिः इति) किन्तु निषिद्धत्वरूप उपाधि [ही अधर्मजनकत्व में प्रयोजक] है। इसलिये (पूर्ववत्) पूर्ववत् (उपाधिसद्भावात्) उपाधि के विद्यमान होने से (अयम्) यह (हिंसात्वं हेतुः) हिंसात्व हेतु (व्याप्यत्वासिद्धः) व्याप्यत्वासिद्ध [हेत्वाभास] है।

ननु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधिः। इत्युपाधिलक्षणम्। तच्च निषिद्धत्वे नास्ति तत् कथं निषिद्धत्वमुपाधिरिति।

मैवम्। निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि साध्यस्य अधर्मजनकत्वस्य व्यापकं निषिद्धत्वम्। यत्र यत्र अधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमिति निषिद्धत्वस्य विद्यमानत्वात्। न च यत्र यत्र हिंसात्वं, तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात्। अस्ति हि क्रत्वङ्गहिंसायां हिंसात्वं, न चात्र निषिद्धत्वमिति। तदेवं त्रिविधोऽसिद्धो दर्शितः।

[प्रश्न—] (साध्यव्याप्यकत्वे सति) साध्य में व्यापक होना (यः) जो (साधनाव्यापकः) साधन में व्यापक नहीं हुआ करती है [स उपाधिः) वह उपाधिः कहलाती है–[इति उपाधिलक्षणम्] यह उपाधि का लक्षण है। [च] और [तत्] वह (उपाधि का लक्षण] [निषिद्धत्वे] 'निषिद्धत्व उपाधि में [नास्ति] नहीं घटता है (तत्) तो फिर (निषिद्धत्वम्) 'निषिद्धत्व' को (कथं उपाधिः) उपाधि कैसे कहा जा सकता है ?

[उत्तर—] (एवम् मा) यह कहना ठीक नहीं है। (निषिद्धत्वे अपि) निषिद्धत्व में भी (उपाधिलक्षणस्य) उपाधि के लक्षण के (विद्यमानकत्वात्) विद्यमान होने से। (तथा हि) जैसे कि (साध्यस्य अधर्मजनकत्वस्य) साध्यरूप अधर्मजनकत्व का (निषिद्धत्वम्) निषिद्धत्व (व्यापकम्) व्यापक है। (यत्र यत्र) जहाँ जहाँ (अधर्मसाधनत्वम्) अधर्मजनकत्व होता है (तत्र तत्र निषिद्धत्वं अवश्यं इति) वहाँ वहाँ निषिद्धत्व अवश्य होता है, इस प्रकार (निषिद्धत्वस्य) निषिद्धत्व के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से [साध्य में तो व्यापकत्व हुआ] (च) और (यत्र यत्र) जहाँ जहाँ (हिंसात्वम्) [साधनभूत) हिंसात्व हो (तत्र तत्र) वहाँ वहाँ (निषिद्धत्वम्) निषिद्धत्व (अवश्यम्) अवश्य हो (इति न) ऐसा नहीं है (क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात्) यज्ञ की अङ्गभूत-हिंसा में [इस नियम का] (व्यभिचारात्) व्यभिचार होने से। (क्रत्वङ्ग-हिंसायाम्) यज्ञकी अङ्गभूत (हिंसायाम्) हिंसा में (हिंसात्वं अस्ति) हिंसात्व तो है। किन्तु (अत्र) यहाँ (निषिद्धत्वं न) निषिद्धत्व नहीं है। (तत्

एवम्) इस भाँति (त्रिविधः) तीन प्रकार का (असिद्धः) असिद्ध नामक हेत्वाभास (दर्शितः) दिखला दिया ।

संप्रति विरुद्धः कथ्यते । साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथा 'शब्दोनित्यः कृतकत्वात्' इति अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः। तद्विपर्ययेण चानित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं, यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव । अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुर्विरुद्धः ।

विरुद्ध-हेत्वाभास—

(सम्प्रति) अत्र (विरुद्धः) विरुद्ध नामक हेत्वाभास (कथ्यते) को कहते हैं । (साध्यविपर्ययव्याप्तः) साध्य के अभाव से व्याप्त (हेतुः) हेतु [विरुद्धः] विरुद्ध [हेत्वाभास] होता है । (यथा) जैसे–[शब्दः नित्यः] शब्द नित्य है [कृतकत्वात्] जन्य होने से । [अत्र] यहाँ [नित्यत्वम्] नित्यत्व साध्य है और (कृतकत्वम्) 'कृतकत्व' । (हेतुः) हेतु है । (तत्) इस [साध्य नित्यत्व] के [विपर्ययेण] विपरीत (अनित्यत्वेन) अनित्यत्व के साथ (कृतकत्वम्) कृतकत्व (व्याप्तम्) व्याप्त है (यतः) क्योंकि (यत् यत्) जो जो (कृतकम्) जन्य होता है (तत् तत्) वह वह (खलु) निश्चय ही (अनित्यम्–एव) अनित्य ही होता है। (अतः) इसलिये (साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात्) साध्य के विपरीत (अर्थात् साध्याभाव) के साथ व्याप्त होने से (कृतकत्वं हेतुः) कृतकत्व हेतु (विरुद्धः) 'विरुद्ध-हेत्वाभास' है ।

साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार इति वोच्यते । स द्विविधः। साधारणानैकान्तिको असाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र प्रथमः, पक्ष-सपक्ष विपक्ष वृत्तिः । यथा—'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्' इति । अत्र प्रमेयत्वं हेतुः पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्योमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ विद्यते । सर्वस्यैव प्रमेयत्वात् । तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः।

असाधारणानैकान्तिकः स एव यः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृतः पक्ष एव वर्त्तते । यथा 'भूर्नित्या गन्धत्वात्' इति । अत्र गन्धवत्वं हेतुः। स च सपक्षान्नित्याद् व्योमादेः, विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो, गन्धवत्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति ।

अनेकान्तिक हेत्वाभास—

(साध्यसंशयहेतुः अनैकान्तिकः) साध्य के संशय का हेतु अनैकान्तिक अथवा सव्यभिचार [हेत्वाभास] कहलाता है । (स) वह (द्विविधः) दो

प्रकार का होता है। (१) साधारणानैकान्तिक और (२) असाधारणानैकान्तिक (तत्र) उनमें से प्रथमः पहला [साधारणानैकान्तिक] (पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः) पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहने वाला होता है। (यथा) जैसे—(शब्दो नित्यः) "शब्द नित्य है (प्रमेयत्वात्) प्रमेय होने से।" (अत्र) यहाँ (प्रमेयत्वं हेतुः) प्रमेयत्व हेतु (शब्दे पक्षे) शब्दरूप पक्ष में, (नित्ये व्योमादौ सपक्षे) नित्य आकाश आदि सपक्ष में (च) और (अनित्ये घटादौ विपक्षे) अनित्य घट आदि विपक्ष में (विद्यते) विद्यमान है। (सर्वस्यैव प्रमेयत्वात्) सबके ही प्रमेय [ज्ञान का विषय] होने से (तस्मात्) इसलिये (प्रमेयत्वं हेतुः) प्रमेयत्व हेतु (साधारणानैकान्तिकः) साधारणानैकान्तिक है।

(असाधारणानैकान्तिकः) असाधारणानैकान्तिक (स एव यः) वह ही होता है कि जो (सपक्षविपक्षाभ्याम्) सपक्ष और विपक्ष दोनों से (व्यावृत्तः) व्यावृत्त [अर्थात् दोनों में नहीं रहा करता है]। (पक्षे एव) [केवल] पक्ष में ही रहा करता है। (यथा) जैसे—(भूर्नित्या) "पृथिवी नित्य है (गन्धवत्वात्) गन्ध से युक्त [गन्धवती] होने से।" (अत्र) यहाँ (गन्धवत्वं हेतुः) गन्धवत्व हेतु है। (च) और (स) वह (सपक्षात् नित्यात् व्योम-आदेः) सपक्षरूप नित्य आकाश आदि से (च) और (अनित्यात् जलादेः विपक्षात्) अनित्य जल आदि विपक्ष से (व्यावृत्तः) व्यावृत्त है [अर्थात् सपक्ष नित्य आकाश में और विपक्ष अनित्य जल आदि में नहीं रहा करता है।] (गन्धवत्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्) गन्धवत्व [गन्ध युक्त होना] के पृथिवीमात्र में रहने वाला होने से।

व्यभिचारस्तु लक्ष्यते। सम्भवत्सपक्षविपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः। स च द्वेधा सम्भवति। सपक्षविपक्षयोर्वृत्तौ, ताभ्यां व्यावृत्तौ च।

यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः।

['अनैकान्तिक हेत्वाभास' को सव्यभिचार इस कारण कहा जाता है कि इसमें नियमोल्लङ्घनरूप] (व्यभिचारस्तु लक्ष्यते) व्यभिचार तो दृष्टिगोचर

होता है। (सम्भवत्सपक्षविपक्षस्यहेतोः) जिस हेतु में सपक्ष तथा विपक्ष दोनों ही हो सकते हैं [अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकी हेतु] (सपक्षवृत्तित्वे सति) उसकी सपक्ष में वृत्ति [सपक्षसत्व अथवा सपक्ष में होना] होने पर (विपक्षाद् व्यावृत्तिः) विपक्ष से व्यावृत्ति होना (एव) ही (नियमः) नियम है (गमकत्वात्) क्योंकि तभी तो वह साध्य का अनुमान करने वाला होता है। (च) और (तस्य साध्यविपरीतताव्याप्तस्य) साध्य के अभाव के साथ व्याप्त न होने वाले (तत् नियमाभावः) उस हेतु का उस प्रकार का नियम न होना ही (व्यभिचारः) व्यभिचार है [अथवा साध्यविपरीत के साथ व्याप्त उस हेतु में नियम का अभाव ही व्यभिचार है]। (च) और (स) वह [व्यभिचार] (द्वेधा सम्भवति) दो प्रकार का हो सकता है। (सपक्षविपक्षवृत्तौ) (१) एक तो जब हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहा करता है और (२) दूसरे-जब हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में नहीं रहा करता है। [कहने का तात्पर्य यह है कि सपक्ष में सत्व और विपक्ष में व्यावृत्ति का नियम है किन्तु जब हेतु दोनों में रहा करता है अथवा दोनों में नहीं रहा करता है तब उक्त नियम का उल्लंघन होने से 'सव्यभिचार' कहलाता है]।

(यस्य) जिस [हेतु] का (प्रतिपक्षभूतम्) प्रतिपक्षभूत [अर्थात् साध्य के विपरीत अर्थ का साधक] दूसरा हेतु विद्यमान रहा करता है (स) वह (प्रकरणसमः) 'प्रकरणसम' कहा जाता है। (स एव) वह ही (सत्प्रतिपक्ष इति च) 'सत्प्रतिपक्ष' भी (उच्यते) कहलाता है। (तद्यथा) जैसे—[यह एक अनुमान है कि—] (शब्दः अनित्यः) शब्द अनित्य है (नित्यधर्मानुपलब्धेः) नित्य धर्म की उपलब्धि न होने से। [इसके विपरीत तुल्यबल वाला अनुमान यह है कि—] (शब्दः नित्यः) शब्द नित्य है (अनित्यधर्मानुपलब्धेः) अनित्य धर्म की उपलब्धि न होने से। (अत्र) यहाँ (साध्यविपरीतसाधकम्) साध्य के विपरीत अर्थ का साधक (समानबलम्) तुल्य बल वाला (अनुमानान्तरम्) जो दूसरा अनुमान है (प्रतिपक्ष इति उच्यते) उसे प्रतिपक्ष कहा जाता है [इसी से प्रथम अनुमान को 'सत् प्रतिपक्ष' कहा जाता है— "सत्प्रतिपक्ष" का अर्थ ही है कि जिसका प्रतिपक्ष विद्यमान हो] और (यः) जो [साध्यके विपरीत अर्थ का साधक होने पर भी] (पुनः अतुल्यबलः) तुल्य बल वाला नहीं होता (स) वह (प्रतिपक्षः) प्रतिपक्ष (न) नहीं होता है।

तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति। उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयं चेति। तत्राद्यं बाधक बलवत्वात्। यथा "अनित्यः

परमाणुर्मूर्तत्वाद् घटवत्" इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः। किन्तु बाधकमेवोपजीव्यत्वात्। तच्च धर्मिग्राहकत्वात्। नहि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि परमाणावनित्यत्वानुमानमिदं सम्भवति, आश्रयासिद्धेः। अतोऽनेनानुमानेन परमाणुग्राहकस्य प्रामाण्यमप्यनुज्ञातमन्यथास्योदयासम्भवात्। तस्मादुपजीव्यं बाधकमेव। उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद् बाध्यम्। यथेदमेवानित्यत्वानुमानम्। तृतीयं तु सत्प्रतिपक्षं, समबलत्वात्।

(तथा हि) क्योंकि (विपरीतसाधकानुमानम्) साध्यविपरीतसाधक-अनुमान (त्रिविधं भवति) तीन प्रकार का होता है (१) (उपजीव्यम्) उपजीव्य [जिसके आश्रित दूसरा अनुमान हो] २-(उपजीवकम्) उपजीवक [जो दूसरे अनुमान के आश्रित हो] ३-(अनुभयं च इति) अनुभय [अर्थात् जिसके अश्रित न तो दूसरा अनुमान हो और न जो दूसरे अनुमान के ही आश्रित हो।] (तत्र) उनमें से (आद्यम्) प्रथम [उपजीव्य-अनुमान] (बाधकम्) बाधक ही होता है (बलवत्वात्) बलवान होने से। (यथा) जैसे—(परमाणु अनित्यः) 'परमाणु अनित्य है (मूर्तत्वात्) मूर्त्त अर्थात् परिच्छिन्न परिमाणवाला होने से, (घटवत्) घड़े के समान। (इति अस्य) इस [परमाणु अनित्यत्व-साधक अनुमान] का (परमाणुसाधकानुमानम्) परमाणु साधक [दूसरा] अनुमान (नित्यत्वं साधयत् अपि) नित्यत्व को सिद्ध करने वाला होने पर भी (प्रतिपक्षः न) प्रतिपक्ष नहीं है (किन्तु) किन्तु (बाधकं एव उपजीव्यत्वात्) बाधक ही होता है उपजीव्य होने से। (च) और (तत्) वह [उपजीव्यत्व] (धर्मिग्राहकत्वात्) धर्मी [परमाणु] का साधक होने से है। (धर्मिणि परमाणौ) धर्मीरूप परमाणु के [अनुमान] (प्रमाणेन अगृह्यमाणे) प्रमाण से गृहीत न होने पर [परमाणु के] (अनित्यत्वानुमानं इदम्) अनित्यत्व का साधक यह अनुमान भी (नहि सम्भवति) नहीं हो सकता है, (आश्रयासिद्धेः) आश्रय के असिद्ध होने से। (अतः) इसलिये [आश्रय की असिद्धि से बचने के लिये] (अनेन अनुमानेन परमाणुग्राहकस्य) इस [परमाणु की अनित्यता को सिद्ध करने वाले] अनुमान ने परमाणुग्राहक [अनुमान] का (प्रामाण्यं अपि) प्रामाण्य भी (अनुज्ञातम्) स्वीकार कर लिया है [ऐसा स्वीकार करना होगा।] (अन्यथा) अन्यथा (अस्य) [आश्रय की असिद्धि के कारण] इस [परमाणु के अनित्यत्व साधक-अनुमान] का (उदयासम्भवात्) उदय ही संभव न होने से। (तस्मात्) अतएव (उपजीव्यम्) उपजीव्य

(बाधकमेव) बाधक ही होता है। (उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद् बाध्यम्) [तथा] 'उपजीवक' [किसी दूसरे अनुमान पर आश्रित होने वाला] तो दुर्बल होने से बाध्य ही होता है। (यथा) जैसे (इदं एव) यह ही (अनित्यत्वानुमानम्) [परमाणु का] अनित्यत्व [साधक] अनुमान। [इन दोनों से भिन्न] तीसरा [जो न उपजीव्य है और न उपजीवक-ऐसा साध्यविपरीतसाधक अनुभयरूप अनुमान ही] (समबलत्वात्) समान बल वाला होने से (सत्प्रतिपक्षम्) 'सत्प्रतिपक्ष' होता है।

यस्य प्रत्यक्षादिं प्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स 'कालात्ययापदिष्टः'। स एव बाधितविषय इत्युच्यते। यथा 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्'। अत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य च यत् साध्य-मनुष्णत्वं तस्याभाव प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः। त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्।

तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टो, यथा, 'घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्वं हेतुः'। तस्यापि च यत्साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञातर्कादिलक्षणेन प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम्। 'स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालकलनया घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति।

कालात्ययापदिष्ट अथवा बाधितविषय—

(यस्य) जिस [हेतु] के (साध्याभावः) साध्य का अभाव (प्रत्यक्षादिप्रमाणेन) प्रत्यक्षादि प्रमाण से (पक्षे परिच्छिन्नः) पक्ष में निश्चित हो (स) वह (कालात्ययापदिष्टः) 'कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास' होता है। (स एव) वह ही (बाधितविषयः) बाधितविषय (इत्युच्यते) भी कहलाता है। (यथा)—जैसे—" (अग्निः अनुष्णः) अग्नि अनुष्ण है (कृतकत्वात्) जन्य होने से (जलवत्) जल के समान।" (अत्र) यहाँ (कृतकत्वम्) कृतकत्व ही (हेतुः) हेतु है। (च) और (तस्य) उसका (यत्) जो (साध्यम्) साध्य (अनुष्णत्वम्) अनुष्णत्व है (तस्य) उसका (अभावः) अभाव [उष्णत्व], [अग्नि में] (प्रत्यक्षेणैव) प्रत्यक्ष के द्वारा ही (परिच्छिन्नः) निश्चित है। (त्वगिन्द्रियेण) त्वक् इन्द्रिय द्वारा ही (अग्नेः) अग्नि की (उष्णत्वपरिच्छेदात्) उष्णता का निश्चय अथवा ज्ञान हो जाने से।

(परः अपि) दूसरा भी (कालात्ययापदिष्टः) कालात्ययापदिष्ट [का उदाहरण] है। [यथा] जैसे—" (घटस्य) घड़े के (क्षणिकत्वे साध्ये) क्षणिकत्व की सिद्धि में (प्राक् उक्तम्) पहले कहा गया हुआ (सत्वं हेतुः) 'सत्व' हेतु। (तस्य) उस

[सत्व हेतु] का (अपि) भी (यत्) जो (साध्यम्) साध्य (क्षणिकत्वम्) क्षणिकत्व है (तस्य) [उसका] (अभावः) अभाव (अक्षणिकत्वम्) अक्षणिकत्व [स्थिरत्व] (प्रत्यभिज्ञातर्कादिलक्षणेन) प्रत्यभिज्ञा, तर्क आदि रूप [सहकृत] (प्रत्यक्षेण) प्रत्यक्ष [प्रमाण] द्वारा ही (परिच्छिन्नम्) निश्चित है। "(अयं स एव घटः) यह वही घड़ा है (यः मया पूर्वं उपलब्धः) जिसे मैंने पहले देखा था।" (इति) इस प्रकार की (पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृत-इन्द्रियप्रभवया) पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से युक्त इन्द्रिय द्वारा उद्भूत (पूर्वापरकालकलनया) पूर्वकाल और उत्तरकाल के सम्बन्ध को भी ग्रहण कराने वाली (प्रत्यभिज्ञया) 'प्रत्यभिज्ञा' के द्वारा (घटस्य) घड़े के (स्थायित्वपरिच्छेदात्) स्थायित्व का निश्चय हो जाने से [कहने का तात्पर्य यह है इस प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष से घट के स्थायित्व का निश्चय होने में कोई बाधा नहीं हुआ करती है।]।

[अतः उक्त हेतु भी 'कालात्ययापदिष्ट' अथवा 'बाधितविषय' हेत्वाभास ही है।]

एते चासिद्धादयः पञ्चहेत्वाभासाः यथा कथञ्चित् पक्षधर्मत्वाद्यन्यतमरूपहीनत्वादहेतवः स्वसाध्यं न साधयन्तीति।

(एते) ये (असिद्ध-आदयः) आदि (पञ्च) पाँचों (हेत्वाभासः) हेत्वाभास (यथा कथञ्चित्) किसी न किसी प्रकार (पक्षधर्मत्वादि अन्यतमरूपहीनत्वात्) पक्षधर्मत्व [अथवा पक्षसत्व अथवा सपक्षसत्व] आदि [पाँच-रूपों] में से किसी एक रूप से भी हीन होने के कारण (अहेतवः) अहेतु [अथवा हेत्वाभास] होते हैं। और इसीलिये (स्वसाध्यम्) अपने साध्य को भी (न साधयन्ति इति) सिद्ध नहीं कर पाते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि ये असिद्ध आदि पाँच हेत्वाभास होते हैं। तथा ये अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये पाँचों 'पक्षसत्व' आदि [हेतु के] पाँचरूपों में से किसी न किसी एक रूप से रहित हुआ करते हैं।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतोः त्रयो दोषा अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु पञ्चभ्योऽधिकाः। तथाहि, अतिव्याप्तिर्व्याप्यत्वासिद्धिः। विपक्षमात्राद्व्यावृत्तत्वात् सोपाधिकत्वाच्च। यथा गोलक्षणस्य पशुत्वस्य। गोत्वे हि सास्नादिमत्वं प्रयोजकं, न तु पशुत्वम्। तथा अव्याप्तिर्भागासिद्धत्वम्। यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य। एवमसम्भवोऽपि स्वरूपासिद्धिः। यथा गोलक्षणस्यैकशफत्वस्येति।

(ये) [और] जो (केवलव्यतिरेकिहेतोः) 'केवलव्यतिरेकी' हेतु रूप (लक्षणस्य) लक्षण के (अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवाः) (१) अव्याप्ति

(२) अतिव्याप्ति तथा (३) असंभव नामक (त्रयो दोषाः) तीन दोष [स्वीकार किये जाते] हैं (ते अपि) उनका भी (अत्र एव) इन [पाँच हेत्वाभासों] में ही (अन्तर्भवन्ति) अन्तर्भाव हो जाता है। (पञ्चभ्यः अधिकाः न) वे भी इन पाँच [हेत्वाभासों] से अतिरिक्त नहीं हैं। (तथा हि) जैसे कि (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्तिनामक दोष (व्याप्यत्वासिद्धिः) व्याप्यत्वासिद्ध [नामक हेत्वाभास के अन्तर्गत आ जाता] है। (विपक्षमात्रात्) [लक्षणरूप व्यतिरेकि-हेतु] विपक्षमात्र से (अव्यावृत्तत्वात्) व्यावृत होने (च) और (सोपाधिकत्वात्) सोपाधिक होने के कारण। (यथा) जैसे (गोलक्षणस्य पशुत्वस्य) गौ के लक्षण 'पशुत्व' [के करने पर] की [अतिव्याप्ति व्याप्यत्वासिद्धि ही है।]। (गोत्वे) गोत्व में अथवा गौ होने में (सास्नादिमत्वम्) सास्नादिमत्व अथवा सास्ना आदि का होना ही (प्रयोजकम्) प्रयोजक है [अर्थात् जो सास्ना आदि से युक्त है वह गौ है।] (पशुत्वं न) पशुहोना [पशुत्व] नहीं [प्रयोजक को ही 'उपाधि' कहा जाता है। अतः यह उपाधियुक्त होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध है और विपक्ष 'भैंस' आदि में विद्यमान न होने से व्याप्यत्वासिद्ध है।]। (तथा) इसी प्रकार (अव्याप्तिः) अव्याप्ति दोष (भागासिद्धत्वम्) भी भागासिद्ध के ही अन्तर्गत आ जाता है। (यथा) जैसे (गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य) गाय का लक्षण 'शाबलेयत्व' [चितकबरा होना] का [अव्याप्ति—भाग में असिद्ध होने के कारण भागासिद्ध है। भागासिद्ध भी स्वरूपासिद्ध का ही भेद है। अतः अव्याप्ति नामक दोष स्वरूपासिद्ध के अन्तर्गत आ जाता है।]। (एवम्) इसी प्रकार (असम्भवः अपि) असम्भव नामक दोष भी (स्वरूपासिद्धिः) स्वरूपासिद्ध ही है। (यथा) जैसे (गोलक्षणस्य) गाय के लक्षण (एकशफत्वस्य) एक शफ ['खुर' का मध्य से चिरा हुआ न होना] वाला होना [एकशफत्व—एक खुर से युक्त होना—लक्षण किसी भी गाय में विद्यमान न होने से असम्भव-ग्रस्त है और इसी कारण लक्ष्यभूत गौ में न पाये जाने से 'स्वरूपासिद्ध' है।]।

इस भाँति तर्कभाषाकार द्वारा पाँचों हेत्वाभासों का पहले की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार के साथ उपर्युक्तरूप में वर्णन किया गया है। यद्यपि ये सभी हेत्वाभास न्यायसम्मत ही हैं किन्तु फिर भी इनमें तथा न्यायसूत्रोक्त हेत्वाभासों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य उपलब्ध होता है। उनके नाम तथा स्वरूप—दोनों में ही अन्तर दृष्टिगोचर होता है। न्यायसूत्र में तो हेत्वाभासों के नाम निम्नलिखितरूप में दिये गये हैं :—

"सव्यभिचार-विरुद्ध प्रकरणसम-साध्यसम-अतीतकाला हेत्वाभासाः"

न्यायसूत्र १।१।४५॥

तर्कभाषाकार ने सर्वप्रथम 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास की गणना की है किन्तु उपर्युक्त न्यायसूत्र में 'असिद्ध' का कहीं भी उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता है। 'असिद्ध' के स्थान पर 'साध्यसम' नाम अवश्य मिलता है। जिसको 'असिद्ध' का स्थानापन्न कहा जा सकता है। किन्तु उक्त 'साध्यसम' हेत्वाभास को यदि 'असिद्ध' हेत्वाभास के स्थान पर माना भी जाय तो भी उसे पूर्णरूपेण सुसङ्गत कहा जाना संभव नहीं है। क्योंकि तर्कभाषा में 'असिद्ध' हेत्वाभास के जिन तीन [(१) आश्रयासिद्ध (२) स्वरूपासिद्ध और (३) व्याप्यत्वासिद्ध] भेदों का उल्लेख मिलता है उस प्रकार के भेदों का उल्लेख न तो न्यायसूत्र में ही उपलब्ध होता है और न उसके वात्स्यायन-भाष्य में ही। इसी प्रकार 'साध्यसम हेत्वाभास' का जो उदाहरण ["द्रव्यं छाया गतिमत्वात्] भाष्यकार ने दिया है वह भी तर्कभाषाकार केअसिद्ध-हेत्वाभास के उदाहरणों से भिन्न प्रकार का ही है।

इसी प्रकार अनैकान्तिक अथवा सव्यभिचार नामक हेत्वाभास का लक्षण तो सूत्रकार तथा तर्कभाषाकार का मिलता-जुलता अवश्य है किन्तु तर्कभाषाकार द्वारा जो इसके (१) साधारणाऽनैकान्तिक और (२) असाधारणानैकान्तिक ये दो भेद किये गये हैं। वह न्यायसूत्र अथवा उसके भाष्य में उपलब्ध नहीं होते हैं।

प्रकरणसम तथा विरुद्ध हेत्वाभास तो दोनों में समानस्वरूप के ही दृष्टिगोचर होते हैं। हाँ, इनके उदाहरणों में अवश्य कुछ भेद की प्रतीति होती है। 'प्रकरणसम' का दूसरा नाम 'सत्प्रतिपक्ष' भी सूत्र अथवा भाष्यकार में उपलब्ध नहीं होता है।

न्यायसूत्र का 'कालात्ययापदिष्ट' अथवा 'कालातीत' हेत्वाभास तर्कभाषा में भी उन्हीं नामों से मिलता है किन्तु फिर भी उन दोनों के स्वरूपों में पर्याप्त भेद की प्रतीति होती है।

यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि न्यायदर्शन के समानतन्त्र वैशेषिक-दर्शन में हेतु के 'पक्षसत्व' आदि पाँचरूपों के स्थान पर तीन ही रूपों को स्वीकार किया गया है। अतः उसके अनुसार (१) विरुद्ध, (२) असिद्ध और (३) संदिग्ध (अनैकान्तिक) ये तीन ही ["विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिङ्गं कश्यपोऽब्रवीत्"] हेत्वाभास कहे गये हैं। इन तीन के अतिरिक्त एक 'अनध्यवसित' हेत्वाभास भी उन्होंने माना है। हाँ, इतना अवश्य है कि तर्कभाषाकार द्वारा असिद्ध के तीन भेद किये गये हैं तथा वैशेषिक के प्रशस्त-पादभाष्य में 'असिद्ध' के चार भेद किये गये हैं।

[१४] छलम्

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्। यथा 'नव कम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण

प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशंक्य कश्चित् दूषयति। 'नास्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते कुतो नव' इति। स च वादी छलवादितया ज्ञायते।

छल—

[अभिप्राय-अन्तरेण] किसी दूसरे अभिप्राय से [प्रयुक्तस्य] प्रयुक्त [शब्दस्य] शब्द का [अर्थान्तरम्] कोई दूसरा अर्थ [परिकल्प्य] कल्पित करके [दूषणाभिधानम्] दोष दिखलाना [छलम्] 'छल' [कहलाता] है। [यथा] जैसे—"नवकम्बलः अयं देवदत्तः" [अर्थात्—'यह देवदत्त नवीन कम्बल से युक्त है। अथवा देवदत्त के पास नया कम्बल है।'] [इति वाक्ये] इस वाक्य में [नूतन-अभिप्रायेण] नूतन [नये] के अभिप्राय से [प्रयुक्तस्य] प्रयुक्त [नवशब्दस्य] 'नव' शब्द का [९ संख्या रूप] [अर्थान्तरम्] दूसरे अर्थ की [आशंक्य] कल्पना करके [कश्चित्] कोई [दूषयति] दोष दिखलाता है कि [अस्य] इसके पास [नवकम्बलाः] नौ कम्बल [न सन्ति] नहीं हैं, [दरिद्रत्वात्] दरिद्र होने से [तात्पर्य यह है कि देवदत्त तो दरिद्र है अर्थात् उसकी आर्थिक दशा दयनीय है। अतः उसके पास तो दो कम्बलों का होना भी संभव नहीं है। फिर नौ-नौ कम्बल उसके पास कहाँ से हो सकते हैं।] [हि) क्योंकि [अस्य] इसके पास तो [द्वयं अपि] दो [कम्बलों] के होने की भी [न सम्भाव्यते] संभावना नहीं की जा सकती है फिर [नव कुतः] नौ [कम्बल] कहाँ से माने जा सकते हैं। [इति] इस भाँति [अभीष्ट अर्थ का त्यागकर एक अन्य अर्थ की कल्पना करके पूर्ववक्ता द्वारा कथित बात का खण्डन करने वाला] [स वादी] वह वादी [छलवादितया] छलवादी के रूप में [ज्ञायते] जाना जाता है [किसी के कथन में इस भाँति अपने मन-गढ़न्त अर्थ की कल्पना करके दोष दिखलाने वाले व्यक्ति को 'छलवादी' समझा जाया करता है।]

यह छल तीन प्रकार का माना गया है।

[१] वाक्-छल [२] सामान्यछल तथा [३] उपचार-छल।

[१५] जातिः

असदुत्तरं जातिः। सा च उत्कर्षसम अपकर्षसम-आदिभेदेन बहुविधा। विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते। तत्राव्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण साध्ये पक्षे अव्यापकधर्मस्यापादनं उत्कर्षसमा जातिः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात्।'

जाति—

[असत् उत्तरम्] अयुक्त अथवा अनुचित उत्तर [जातिः] जाति [कह-लाता] है। [च] और [सा] वह [उत्कर्षसमअपकर्षसम-आदि भेदेन] 'उत्कर्षसमा' 'अपकर्षसमा' आदि भेद से [बहुविधा] बहुत [२४] प्रकार की होती है। [विस्तरभिया] विस्तार के भय से [इह] यहाँ [कृत्स्ना] सम्पूर्ण का [न उच्यते] कथन नहीं किया जा रहा है। [उदाहरणार्थ केवल दो ही प्रकार की जाति के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं:—] [तत्र] उनमें से [दृष्टान्तगत-अव्याप्तेन-धर्मेण] दृष्टान्त में रहने वाले अव्याप्त धर्म के द्वारा [साध्ये] साध्य अर्थात् अनुमितिविशेष्यत्वेन अभिमत [पक्षे] पक्ष में (अव्या-पकधर्मस्य] किसी अव्यापक अन्य धर्म का [आपादनम्] प्रसङ्ग दिखलाना [उत्कर्षसमा जातिः] उत्कर्षसमा जाति कहलाती है। [यथा] जैसे-[शब्दः] शब्द [अनित्यः] अनित्य है [कृतकत्वात्] कृतक अर्थात् जन्य होने से, [घटवत्] घट के समान। [किसी एक व्यक्ति के द्वारा] [इति उक्ते] ऐसा कहे जाने पर [कश्चित्] कोई [एवं आह] ऐसा कहे कि "[यदि] यदि [कृतकत्वेन हेतुना] कृतकत्व हेतु से [घटवत्] घट के समान (शब्दः) शब्द (अनित्यः) अनित्य [स्यात्] कहा जायगा [तर्हि] तो [तेन एवं हेतुना] उस ही [कृतकत्व] हेतु से [तद्वत् एवं] उस [घट] के ही समान [शब्दः] शब्द (सावयवः अपि] अवयवयुक्त भी [स्यात्] होना चाहिये।

उपर्युक्त उदाहरण द्वारा शब्द में अविद्यमान सावयवत्व [जैसे घट अवयवों से युक्त है उसी प्रकार शब्द भी अवयवों से युक्त है] रूप एक नये धर्म का आपादन किये जाने से [यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कृतकत्व' हेतु अनित्यत्व और सावयवत्व दोनों का साधन करने में समान है।] 'उत्कर्षसमा जाति' है।

अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेना धर्मेणाव्याप्तेनव्यापकस्य धर्माभावस्या-पादनम्। यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह—"यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दो अनित्यः स्यात् तेनैव हेतुना घटवदेव हि शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात्। न हि घटः श्रावण" इति।

(दृष्टान्तगतेन) दृष्टान्त में रहनेवाले (अव्याप्तेन धर्मेण) अव्याप्त धर्म के द्वारा [अव्यापकस्य धर्माभावस्य] किसी अव्यापक धर्म के [अभावस्य] अभाव का [आपादनम्] प्रसङ्ग दिखलाना (अपकर्षसमा) अपकर्षसमाजाति है। [यथा) जैसे (पूर्वस्मिन् प्रयोगे) (पूर्वोक्त) अनुमान के प्रयोग में (कश्चित्) कोई (एवम्) इस प्रकार (आह) कहता है-(यदि) यदि (कृतकत्वेन हेतुना) कृतकत्व हेतु से (घटवत्) घट के समान (शब्द अनित्यः) (शब्द अनित्य

स्यात्) होवे तो (तेनैव हेतुना) उस ही हेतु से (घटवत् एव) घट के समान ही (शब्दः) शब्द (श्रावणः अपि) श्रोत्र द्वारा ग्राह्य भी (न स्यात्) नहीं होगा (हि) क्योंकि (घटः) घट (श्रावणः) श्रोत्रद्वारा ग्रहीत (न) नहीं होता है।

न्यायसूत्र में "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" [न्यायसूत्र १-२-१८] यह जाति का लक्षण किया गया है। जब वादी व्यक्ति के द्वारा किसी साध्य को सिद्ध करने के निमित्त कोई हेतु दिया जाता है तो उसे सुनकर प्रतिवादी व्यक्ति व्याप्ति की अपेक्षा किये बिना ही केवल दृष्टान्त [उदाहरण] के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के आधार पर उसका उत्तर दे देता है तो ऐसी स्थिति में इस उत्तर को 'असत् उत्तर कहा जाता है। यह असत्-उत्तर है। "जाति" कहा जाता है।

यद्यपि उसके २४ प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है किन्तु तर्कभाषाकार ने विस्तार के भय से उन चौबीस प्रकारों में से केवल दो जातियों का ही दिग्दर्शन कराया है।

१६—निग्रहस्थानानि।

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्। तच्च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर-अप्रतिभा-मतानुज्ञा-विरोध-आदिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते। यत् विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम्। विवक्षितात् किञ्चिदधिकं अधिकम्। सिद्धान्तादपध्वंसो अपसिद्धान्तः। प्रकृतेनानभिसम्बद्धार्थवचनं अर्थान्तरम्। उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा। पराभिमतस्यार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा। इष्टार्थभङ्गो विरोधः।

(पराजय हेतुः) पराजय का हेतु (निग्रहस्थानम्) निग्रहस्थान् कहलाता है। (च) और (तत्) वह न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध (आदिभेदात्) आदि भेद से (बहुविधं अपि) बहुत [अनेक अर्थात् २२] प्रकार का होने पर भी (विस्तरभयात्) [इस ग्रन्थ के] विस्तार के भय से (इह) यहाँ (कृत्स्नम्) पूर्णरूप से (न उच्यते) नहीं कहा जा रहा है।

( ) (यत्) जो (विवक्षितार्थे) विवक्षित [वक्ता द्वारा कथन किये जाने योग्य] अर्थ के विषय में (किञ्चित्) कुछ (ऊनम्) कम रह जाय (बात अथवा विषय को पूर्ण न कहा जा सके) (तत्) उसे (न्यूनम्) "न्यून" नामक निग्रह स्थान कहा जाता है [न्यायदर्शन में इसका लक्षण—"हीनं अन्यतमेनापि अवयवेन न्यूनम्] ॥ ५।२।१२ ॥ यह किया गया है। अर्थात् किसी पक्ष के साधन हेतु प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का कथन आवश्यक हुआ करता है। अतः जब इन पाँचों में से किसी एक का प्रयोग नहीं किया जाता है तो इस न्यूनता के कारण यहाँ 'न्यूम' नामक निग्रहस्थान हुआ करता है]।

(२) (विवक्षितात्) विवक्षित अर्थ से (किञ्चित् अधिकम्) कुछ अधिक कहना (अधिकम्) "अधिक" नामक निग्रहस्थान कहा जाता है। [न्यायदर्शन में इसका लक्षण यह किया गया है—"हेतूदाहरणाधिकं अधिकम्" ॥ न्या. द. ५।२।१३॥ अर्थात् किसी पक्ष का साधन करने के निमित्त प्रयुक्त किये जानेवाले वाक्य के प्रयोग में एक ही हेतु तथा एक ही उदाहरण का प्रयोग उपयुक्त हुआ करता है किन्तु कभी-कभी दो हेतु तथा दो उदाहरणों का भी प्रयोग कर दिया जाता है। तब ऐसी स्थिति में 'अधिक' नामक 'निग्रहस्थान हुआ करता है]।

(३) (सिद्धान्तात्) [स्वीकृत] सिद्धान्त से (अपध्वंसः) च्युत हो जाना अथवा हट जाना ही 'अपसिद्धान्त' [नामकनिग्रहस्थान] है। न्यायदर्शन के अनुसार इसका लक्षण है—"सिद्धान्तमभ्युपेत्य अनियमात् कथाप्रसङ्गः अपसिद्धान्तः" न्या० द० ५।२।२४॥ अर्थात् विचारविनियम प्रारम्भ होने से पूर्व अपना कोई सिद्धान्त घोषित कर यदि नियमानुसार उस सिद्धान्त के अनुसार वार्त्ता नहीं की जाती है तथा वार्त्तालाप के बीच ही उसका त्याग कर दिया जाता है तो ऐसी स्थिति में 'अपसिद्धान्त' नाम निग्रहस्थान होता है।

(४) (प्रकृतेनानभिसम्बद्धार्थवचनम्) प्रकृत [विषय] से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ का कथन करना (अर्थान्तरम्) 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान है। [न्यायदर्शन के अनुसार इसका लक्षण है:—"प्रकृतादर्थाद-प्रतिसम्बद्धं अर्थान्तरम्" न्या० द० ५।२।७॥ अर्थात् प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ के कथन का नाम 'अर्थान्तर' है।

(५) (उत्तरापरिस्फूर्तिः) उत्तर का स्फुरण न होना अथवा उत्तर का न सूझना [अप्रतिभा] 'अप्रतिभा' नामकनिग्रहस्थान है। [न्या०द० के अनुसार लक्षण है:। उत्तरस्य अप्रतिपत्तिः अप्रतिभा" ।।५।२।१९।। जब वादी व्यक्ति अपने पक्ष की स्थापना के खण्डन में कथित बातों का उत्तर नहीं दे पाता है अथवा दूसरे की स्थापना में दोषों को दिखला नहीं पाता तब यही उसकी 'अप्रतिभा' कही जाती है। यही 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान है।]

[६] [पराभिमतस्य] दूसरे के अभीष्ट तथा [स्वप्रतिकूलस्य अर्थस्य] अपने प्रतिकूल अर्थ को [स्वयम्] स्वयं [अभ्यनुज्ञानम् स्वीकारः] स्वीकार कर लेने का नाम [मतानुज्ञा] 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान है। [न्या० द० के अनुसार लक्षण है:—"स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा" ।।५।२।२१।। जब वादी व्यक्ति अपने पक्ष में प्रदर्शित किये गये दोष का परिहार नहीं करता है किन्तु इसके स्थान पर दूसरे के पक्ष में दोषों का

प्रदर्शन करने लगा करता है तब ऐसा समझ लिया जाता है कि वादी व्यक्ति ने अपने पक्ष में निकाले गये दोषों को स्वीकार कर लिया है। ऐसी स्थिति में "मतानुज्ञा" नामका 'निग्रहस्थान' हुआ करता है।

[७] (इष्टार्थभङ्गः) अपने अभीष्ट अर्थ [विषय] का स्वयं ही खण्डन कर देना [विरोधः] 'विरोध' नामक निग्रहस्थान है। (न्यायदर्शन में इसका नाम है—"प्रतिज्ञाविरोध"। "प्रतिज्ञाहेत्वोः विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः" न्या० द० ५।२।४।। प्रतिज्ञावाक्य द्वारा कहे गये अर्थ के विरुद्ध अर्थ का हेतुवाक्यद्वारा कथन किया जाना 'प्रतिज्ञाविरोध' कहलाता है।)

जिन स्थितियों में पड़ जाने पर मध्यस्थ व्यक्ति वादी अथवा प्रतिवादी व्यक्ति को पराजित घोषित कर सके, उन्हीं का नाम 'निग्रहस्थान' है। अथवा जिस स्थिति में पहुँचने पर मनुष्य को पराजित घोषित किया जा सकता है उसी स्थिति को 'निग्रहस्थान' कहते हैं।

न्यायदर्शन में निग्रहस्थान के २२ प्रकारों का वर्णन किया गया है। किन्तु तर्कभाषाकार ने इनमें से केवल न्यून आदि सात निग्रहस्थानों का ही वर्णन किया है। इसका एकमात्र कारण यही है कि इस ग्रन्थ के विस्तार का आधिक्य हो जाना। इसी विस्तार के भय से उन्होने 'न्यून' आदि सात निग्रहस्थानों का ही उल्लेख किया है।

उपसंहारः

इहात्यन्तमुपयुक्तानां स्वरूपभेदेन भूयो भूयः प्रतिपादनम्। यदनतिप्रयोजनं तदलक्षणमदोषाय। एतावतैव बालव्युत्पत्तिसिद्धेः।

(इति श्री केशवमिश्रविरचिता तर्कभाषा समाप्ता।)

उपसंहार

(इह) यहाँ [तर्कभाषा नामक ग्रन्थ] में (अत्यन्तम्) अत्यन्त (उपयुक्तानाम्) उपयोगी [हेत्वाभास इत्यादि पदार्थों] का (स्वरूपभेदेन) स्वरूप भेद से (भूयः भूयः) बार बार (प्रतिपादनम्) निरूपण किया गया है। और (यत्) जो (अनतिप्रयोजनम्) अधिक प्रयोजन युक्त नहीं है अथवा अधिक उपयोगी नहीं है (तदलक्षणं अदोषाय) उसका लक्षण आदि न करना दोषजनक नहीं है। [क्योंकि हमारे द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादित किया गया है] (एतावता एव) उस इतने मात्र से ही (बालव्युत्पत्ति सिद्धेः) बालकों को न्यायशास्त्र सम्बन्धी सामान्य-ज्ञान सिद्ध हो जाता है।

तर्कभाषाकार का कथन है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना बालकों के अन्दर सामान्य-ज्ञान उत्पन्न करने की दृष्टि से की है। अतः इसमें भिन्न-भिन्न पदार्थ का जितना-जितना वर्णन किया गया है, उतना-उतना ही उनके सामान्य-ज्ञान के लिये पर्याप्त है। इसी कारण इस ग्रन्थ के अनावश्यक विस्तार को बचाया गया है।

इस प्रकार श्री केशवमिश्र विरचित 'तर्कभाषा' समाप्त होती है।

इत्युत्तरप्रदेशस्थ 'मैनपुरी' मण्डलान्तर्गत 'महावतपुर' ग्रामनिवासिनः
श्रीमतो दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्याः सुखदेव्याश्च तनुजनुषा
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन पी-एच० डी०
इत्युपाधिधारिणाआचार्य सुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा
विरचिता "आशुबोधिनी" व्याख्या
समाप्ता ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।